सुत्त-पिटकका

मज्झिम-निकाय

[बुद्ध-वचनामृत–१]

अनुवादक

त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन

प्रकाशक

महाबोधि सभा

सारनाथ (बनारस)

बुद्धाब्द २४७७

१९३३ ई०

प्रकाशक

ब्रह्मचारी देवप्रिय, बी० ए०

प्रधान-मंत्री, महाबोधि सभा

सारनाथ (बनारस)

मुद्रक

महेन्द्रनाथ पाण्डेय

जर्नल प्रेस, प्रयाग

समर्पण

भारतमें बुद्ध-धर्मके पुनरुद्धारक, निर्भीकता और
दृढ़ संकल्पकी साकार मूर्ति, लोकान्तरगत
भिक्षु श्री देवमित्र धर्मपालकी
पुण्य-स्मृतिमें ।

प्रकाशकीय निवेदन

हिन्दी पाठकोंके सन्मुख, महाबोधि ग्रंथमालाके द्वितीय पुष्पके रूपमें, मज्झिम-निकायके हिन्दी अनुवादको लेकर उपस्थित होनेमें हमें बहुत आनन्द आ रहा है। हमने अगले चार वर्षोंमें त्रिपिटकके कितने ही प्रधान ग्रंथोंका हिन्दी अनुवाद छापना निश्चय कर लिया है। इसी साइजके लगभग १००० पृष्ठके प्रति वर्ष निकला करेंगे। हम अपना कर्तव्य पालन करनेके लिये तैयार हैं; किन्तु इस महान् कार्यकी पूर्तिके लिये हमें हिन्दी प्रेमियोंकी सहानुभूति और सहायताकी पूरी आवश्यकता है। मूल त्रिपिटकके अनुवाद हिन्दी भाषाकी स्थायी सम्पत्ति होगी। इस कार्यमें आप दो प्रकारसे हमारी सहायता कर सकते हैं; (१) एक तो आठ आना भेजकर आप स्थायी ग्राहक बन जायें, इससे हमारी उत्साह-वृद्धि भी होगी; और आपको पुस्तक पौने मूल्यमें मिलेगी और (२) दूसरे, हमारे राजा-महाराज और लक्ष्मीपात्र द्रव्यसे हमारी सहायता करें। इस बार जल्दीके कारण यद्यपि दान संग्रहमें हम अधिक प्रयत्न न कर सके, तो भी हिन्दी-भाषा-भाषियोंके कानों तक, उनके स्वजन भगवान् बुद्धकी अमर-वाणीको पहुँचानेमें हमें निम्न दानियोंने सहायता प्रदान की है—

सेठ युगलकिशोर बिड़ला	५००)
डाक्टर कैलाशनाथ काटजू (प्रयाग)	२००)
महाराजा छत्रपुर	१००)
श्री जोज़ेफ़ एलेस् (लंका)	१००)
श्री सर्वानन्द बरुआ (चटगाँव)	१००)
डाक्टर A. L. नायर (बम्बई)	१००)

विनम्र—

(ब्रह्मचारी) देवप्रिय

प्रधान-मंत्री, महाबोधि सभा

सारनाथ (बनारस)

प्राक्-कथन

(१)

त्रिपिटक (पाली)के हिन्दी अनुवादके साथ त्रिपिटक कालीन इतिहास, भूगोल, सामाजिक रीति-रवाज तथा इसी तरहकी और वातोंपर कुछ लिखना आवश्यक है; किन्तु इस विषय पर प्रत्येक पुस्तकमें अलग अलग लिखनेमें अपूर्णता रहेगी, इसीलिये मैं इसपर कुछ विशेष तौरसे लिखनेको आगेके लिये छोड़ता हूँ। यहाँ इतनाही कहना है।—

बुद्धकी पर्यटन भूमि। बुद्ध भारतके किन किन स्थानोंमें पहुँचे थे, इसका ज्ञान हमें प्रत्येक सूत्रके आरम्भमें आये—"एक समय भगवान्...(स्थान)में...विहार करते थे"—वाक्यसे मिल सकता है। सारे त्रिपिटकके सूत्रोंकी इस दृष्टिसे छानबीन करनेसे मालूम होता है, कि वह पश्चिम में यमुनाके पार नहीं गये। यदि गये भी होंगे, तो मथुरा तक ही। मथुरामें भगवान्‌का किया उपदेश कोई नहीं मिलता। लेकिन एक बार उन्हें हम मथुरा और वेरंजा [1]के रास्ते पर जाते पाते हैं, हमें यह भी मालूम है, कि वेरंजा नगर उस रास्ते पर था, जो पश्चिमसे वेरंजा—सोरेय्य—संकास्य—कन्नौजको जाता था। कुरु देशके कम्मासदम्म[2] और थुल्लकोट्ठित[3] (राजधानी) कस्बोंमें बुद्ध गये थे। किन्तु यह नगर यमुना और गंगाके बीच वाले प्रदेश (वर्तमान मेरठ, मुजफ्फरनगर-सहारन-पुरके जिलों)में ही कहीं थे। उस पार जानेपर इन्द्रप्रस्थ जरूर पड़ता। पूर्वमें बुद्ध कजंगलामें[4] गये थे, और सम्भवतः यही उनके जानेका अन्तिम स्थान था। कजंगलाकी देशान्तर रेखाहीमें कहीं पर कोसी गंगामें मिलती थी। कोसीके पश्चिम तथा गंगाके उत्तरमें अंगुत्तराप प्रदेश था। भाषाकी दृष्टिसे आजकी तरह तब भी वह अंगका ही अंग था। अंगुत्तरापके आपण कस्बेमें बुद्धका जाना हमें मालूम है, और हम यह भी जानते हैं, कि वहाँ मगध-राज बिंबसार[5] का शासन था। अंगुत्तरापके पूर्वी सीमा तक पहुँचने पर भी, वह कोसीके पूर्व तो कदापि गये नहीं मालूम होते। दक्षिण दिशामें—दशार्ण (पश्चिमी बुन्देलखंड)में उनके जानेका पता नहीं मिलता। चेदीमें भी अधिकसे अधिक विंध्य और गंगाके बीचके ही स्थानोंमें गये होंगे। भर्ग (दक्षिणी मिर्जापुर, बनारस जिलों)में जाना तो स्पष्ट ही है, किन्तु यहाँ भी वह विंध्याटवी और उसके दक्खिन नहीं जा सके थे। विहार प्रान्तमें उनकी विचरण भूमिकी सीमा शाहाबाद और गया जिलोंको लेते, कुछ ही दूर तक हज़ारीबाग और संथाल-पर्गनाके जिलोंमें घुली थी। बुद्धकी-विचरण भूमि पाली साहित्यमें मध्यमण्डलके नामसे प्रसिद्ध है।

मध्यमंडलके शासक—कोसल-राज्य। विस्तार और प्रभावमें भी यह उस समय सबसे बड़ी शक्ति थी। अंगुलिमाल-सुत्त (पृष्ठ ३५४)से मालूम होता है, कि वैशालीके लिच्छवि और

---

[1] बुद्धचर्या, पृष्ठ १३७, १४४। [2] पृष्ठ ३५। [3] पृष्ठ ३३०। [4] पृष्ठ ३४४। [5] पृष्ठ ३८२।

मगधराज अजातशत्रु इसके पड़ोसी प्रतिद्वन्दी थे। हम जानते हैं, कि कोसलके पूर्वमें शाक्य (मेतलूप, सामगाम, कपिलवस्तु), कोलिय (देवदह), और मल्ल (कुसीनारा, पावा, अनूपिया)के प्रजातन्त्र थे। सम्भवतः शाक्य और कोलिय प्रजातन्त्र भी नौ मल्लोंमें हीसे थे। लिच्छवियोंको पड़ोसी प्रतिद्वन्दी बनानेसे, यह भी सिद्ध होता है, कि मल्ल प्रजातंत्र कोसल-राज्यके प्रभावके अन्तर्गत थे। इस बातकी पुष्टि हमें कुसीनारा निवासी बन्धुमल्ल[1] के कोसलके सेनापति जैसे महत्त्वपूर्ण पदपर प्रतिष्ठित होनेसे भी होती है। शाक्योंके ऊपर कोसलका कितना अधिकार था, यह कोसलराजके साधारण सैरके तौरपर बिना किसी विशेष तय्यारीके नगरकसे शाक्योंके मेतलूप कस्बेमें चले जानेसे मालूम होता है। दक्षिणमें कोसल राज्यकी सीमा काशी देश होते गंगा तक पहुँचती थी। काशियोंकी राष्ट्रीयताको सन्तुष्ट रखनेके लिये स्वयं प्रसेनजित्‌का छोटा भाई नाम मात्रका "काशिराज"[2] बन वाराणसीमें वैसे ही रहता था; जैसे मगधोंके हाथमें चले जानेपर भी कोई अंग-राज[3] संभवतः चम्पामें रहता था। पश्चिममें कोसल-राज्यकी सीमा पाली त्रिपिटकसे निश्चित नहीं की जा सकती। उत्तर पंचालके किसी नगर में बुद्धका जाना नहीं मिलता। लखनऊ कमिश्नरीके उत्तरी जिले और रुहेलखंडमें बहुत घने जंगल जरूर थे; तो भी वहाँ मनुष्योंकी बस्ती बिलकुल नहीं थी यह हो नहीं सकता। बल्कि थोड़ा संबलले कारवाँ (= सार्थ)के साथ चले जीवकका, तक्षशिलासे राजगृह जाते वक्त साकेत[4] (अयोध्या)में पहुँचना तो बतलाता है, कि इसी प्रदेशसे होकर उत्तरी भारतका एक महान् वणिक्-पथ जाता था, और इसी लिये इस रास्ते पर कुछ व्यापारिक नगरोंका होना भी आवश्यक था। उत्तरी पंचालमें किसी राज-शक्तिका नाम न आनेसे जान पड़ता है, यह कोसलोंके आधीन था, और इसी लिये गंगा ही कोसलकी पश्चिम-सीमा रही होगी। कोसल-राज्य अपने प्रभावान्तः-पाती प्रजातंत्रोंको लिये गंगा, मही (वर्तमान गंडक) और हिमालयसे घिरा मालूम होता है।

कोसल राज-परिवारमें मल्लिका पटरानी थी। वासभखत्तियाको प्रसेनजित्‌ने शाक्योंसे घनिष्टता पैदा करनेके लिये व्याहा था[5], इसीसे सेनापति विडूडभ पैदा हुआ था। विडूडभ द्वारा पिताका पदच्युत होना अट्ठकथा[6] से मालूम है, और यह भी मालूम है, कि कैसे शाक्योंका सर्वनाश करके लौटते वक्त अचिरवती (= रापती)की आकस्मिक बाढ़में वह भी ससैन्य डूब मरा। प्रसेनजित्‌की एक मात्र कन्या वजिरी थी[7] जिसका व्याह अजातशत्रुसे हुआ। विडूडभके बाद कोसल-राज्य पर अजातशत्रुका अधिकार हो जाना स्वाभाविक था।

मगध-राज्य। कोसल-राज प्रसेनजित्[8] और वत्सराज उदयनकी भाँति मगध-राज बिंबसार भी बुद्धका समवयस्क था। अंगुत्तराप (= भागलपुर मुंगेर जिलोंका गंगासे उत्तरीय भाग) बिंबसारके अधीन था। पूर्व और दक्षिणकी सीमापर इसके कोई वैसे प्रभावशाली राज्य न थे। अजातशत्रुके शासनकालमें मगधकी तीन प्रतिद्वन्दी शक्तियाँ थीं—कोसल राज्यके बारेमें हम कह चुके हैं, जो विस्तृत और चिरप्रतिष्ठित होते भी अवनतिकी ओर जा रहा था। लिच्छवि प्रजातंत्रकी शक्ति-शालिताका पता तो इसीसे मिलता है, कि उसके सैनिक गंगा पार हो, मगधके भीतर पाटलिग्राम (पटना) में महीनों छावनी डाले बैठे रहते थे[9]। अजातशत्रु और लिच्छवियोंकी सीमापर हिमालयसे व्यापा-

---

[1] पृष्ठ ४७३-७५। [2] बुद्धचर्या, पृष्ठ ३०७। [3] पृष्ठ ३९३। [4] बुद्धचर्या, पृष्ठ २९९।
[5] बुद्धचर्या, पृष्ठ ४०१, ४७४। [6] बुद्धचर्या, पृष्ठ ४७५-७६। [7] वही पृष्ठ ४४०।
[8] वही पृष्ठ ४७७-८०। [9] बुद्धचर्या, पृष्ठ ५२७।

रियोंका कोई मार्ग[1] आता था, जिसकी कुञ्जीके लिये दोनों शक्तियोंमें बहुत वैमनस्य[2] था। सीमांत प्रदेश अंगुत्तराप और विदेहहीकी संधि पर मालूम होता है। इससे यह भी मालूम होता है कि पुराने विदेहके एक भागका नाम विदेह होने पर भी वह लिच्छवियोंके प्रजातंत्र के अन्तर्गत था। मगधका दूसरा प्रतिद्वन्दी अवन्तिराज प्रद्योत था, जो एक वार स्वयं राजगृह पर चढ़ाई करना चाहता था; जिसके लिये मगधका प्रधानमंत्री वर्षकार सेनापति उपनन्दके साथ राजगृहकी मोर्चाबन्दी[3] करवा रहा था। प्रद्योतके राज्यकी सीमा मगधसे सीधी कहाँ मिलती थी, इसे ठीकसे नहीं कहा जा सकता। यदि पलामू—राँची जिलोंके दुर्गम जंगलोंमें मिलती हो, तो निर्जन होनेसे उसका उतना महत्त्व न था। अधिकतर संभव मालूम होता है, यह संघर्ष गङ्गा उपत्यकाके लिये ही था। प्रद्योतके दामाद वत्सराजकी प्रद्योतसे घनिष्टता होनी स्वाभाविक थी। प्रद्योतका दौहित्र बोधि राजकुमार मगधके ही लिये, सुंसुमारगिरि (चुनार)में डटा हुआ था। इस प्रकार प्रद्योत इधरसे आक्रमण कर सकता था। उस समय अवन्ती और मगधकी शक्तियाँ ही सारे उत्तरी भारतकी प्रधानताके लिये उद्योग कर रही थीं। वज्जियों और कोसलके शांतिपूर्ण विजयने अजातशत्रुके पल्लेको भारी कर दिया और इस प्रकार उज्जयिनीकी जगह पाटलिपुत्रको प्रथम भारतीय साम्राज्यकी राजधानी बननेका सौभाग्य प्राप्त हुआ।

लिच्छवि-प्रजातंत्र। कोसल और मगधकी शक्तियोंसे घिरा यह पराक्रमी प्रजातंत्र बिल्कुल स्वतंत्र था। इसके डरके मारे मगधराज पाटलिग्राममें सुदृढ़ दुर्ग बनवानेके लिये मजबूर हुये[4]। कोसलराजको भी इनकी चिन्ता कम न थी[5]। इसकी राजधानी वैशाली ग्रीसकी एथेन्स थी; जिसकी नागरिकताका अनुकरण मगधकी राजधानी (राजगृह) तक करती थी। इसके लिये मगध मेसेदोनिया और अजातशत्रु फिलिप् था। फिलिप् और ग्रीस-प्रजातंत्रोंकी कश्मकश्मका नाटक भारतमें एक शताब्दी पूर्व लिच्छवियों और अजातशत्रुके बीच अभिनीत हुआ था। उस समयकी ऐतिहासिक सामग्री यद्यपि बहुत थोड़ी मिलती है; तो भी उससे इस गौरवशाली प्रजातंत्रके इतिहासका एक अच्छा रूप खड़ा किया जा सकता है। खेद है, कि अभी तक इस तरफ अभिज्ञोंका ध्यान उतना नहीं गया। कुछ पंक्तियोंमें इसके बारेमें लिखना मैं अन्याय समझता हूँ, इसलिये इसे आगेके लिये छोड़ता हूँ।

वत्स-राज्य। पूर्व और दक्षिणमें इसके मगध और अवन्तीकी शक्तियाँ थीं। वत्सके अतिरिक्त भर्ग और चेदी देशोंका कुछ भाग इसके आधीन था। इसके पश्चिममें दक्षिण पांचाल था, जो संभवतः वत्सहीके आधीन था। पंचालको वत्सके आधीन मान लेने पर, पश्चिममें इसके दो छोटे पड़ोसी राजा दिखाई पड़ते हैं।—एक तो सूरसेनका राजा माथुर अवन्ती-पुत्र—जो उदयनकी रानी वासवदत्ता या बोधि राजकुमारकी माताकी बहिनका पुत्र तथा प्रद्योतका दौहित्र था। सम्भवतः यह माथुर राजा भी प्रद्योतके प्रभावके अन्तर्गत था। उत्तरमें थुल्लकोट्ठितका राजा कौरव्य[6] था, जो बुद्धके समय बहुत बूढ़ा हो चुका था[7]; यह कौरव्य कोई कुरुवंशीय ही राजा रहा होगा, जिस वंशका ही प्रधान पुरुष उस समय वत्सराज उदयन था। इससे यदि (पूर्व) कुरु-वत्सके प्रभावके अन्तर्गत रहा हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। और फिर सूरसेनका भी, कमसे कम प्रद्योतके प्रभावके पहिले, वत्ससे अछूता रहना सम्भव नहीं। जान पड़ता है, कोसलकी भाँति ही

---

[1] संभवतः जयनगर (दर्भंगा)से धनकुटा जानेवाला मार्ग होगा।

[2] बुद्धचर्या पृष्ठ ५२०। [3] पृष्ठ ४५५, ४५७।

[4] बुद्धचर्या पृष्ठ ५२७। [5] पृष्ठ ३४५। [6] पृष्ठ ३३४। [7] पृष्ठ ३३५।

वत्स-राज्य भी बहुत विशाल था; और उसीकी भाँति यह भी अपने रँगीले राजाके स्वभाव, तथा प्रद्योतकी प्रतिद्वन्दिताका शिकार हो रहा था। जान पड़ता है, दूसरी पीढ़ीमें वत्स वैसे ही अवन्तीका ग्रास बन गया, जैसे कोसल मगधका; और फिर बिखरी प्रतिद्वन्दिता अवन्ती और मगध दो ही महाशक्तियोंमें केन्द्रित हो गई।

(२)

मज्झिम-निकायके १५२ सुत्तन्त तीन पण्णासकों (= पचासों)में विभक्त हैं। हाँ, तृतीय या उपरि-पण्णासकमें ५० की जगह ५२ सुत्तन्त हैं। प्रत्येक पण्णासकमें दस दस सुत्तन्तोंके पाँच वग्ग हैं; उपरि-पण्णासकका चौथा (विभंग-) वग्ग इसका अपवाद है, जिसमें कि १२ सुत्तन्त हैं। वग्गों (= वर्गों)के नामोंमें कोई कोई तो किसी सुत्तन्तके नामके कारण हैं, जैसे मूल-परियाय-वग्ग...; कोई कोई वर्णित विषयके कारण जैसे सळायतन-वग्ग; कोई कोई सूत्रमें अधिकतर सम्बोधित व्यक्तिकी श्रेणी पर हैं; जैसे—परिब्बाजक-वग्गमें परिव्राजक सम्बोधित किये गये हैं, राजवग्गमें राजा और राजकुमार, ब्राह्मण-वग्गमें ब्राह्मण, गहपति-वग्गमें गृहपति (= वैश्य)।

भगवान् बुद्ध अपने उपदेशोंमें कितने ही सुन्दर दृष्टान्त या उपमायें दिया करते थे; हमने अन्तमें इनकी एक पृथक् सूची लगा दी है।

मज्झिम-निकाय सुत्तन्त (= सूत्र) बुद्धके ही कहे हुये हैं; लेकिन उनमें कुछ ऐसे भी हैं, जिन्हें बुद्धके शिष्य सारिपुत्त महाकात्यायन आदिने कहे। माधुरिय-सुत्तन्त, घोटमुख-सुत्तन्तकी भाँति भगवान्के निर्वाणके बादके भी कुछ सुत्तन्त हैं।

(३)

धम्मपदके प्रकाशनके वक्त मैंने लिखा था, कि मज्झिम-निकायका हिन्दी अनुवाद इसी सन्में पाठकोंकी सेवामें पहुँच जायेगा। यद्यपि इसके विषयमें मुझे सन्देह उतना नहीं हो रहा था, जितना कि परिस्थितियाँ प्रकट कर रही थीं। लिखने पढ़नेकी आसानीके लिये ही अबकी गर्मियोंमें मैं लदाख गया। पहिले आशा रखता था, कि साथमें किसी लिखनेवालेको ले जाऊँगा। किन्तु वैसा प्रबंध न हो सका। मैं २५ जूनको लेह (लदाख) पहुँचा, और १६ सितम्बर तकके समयमें दो चार ही दिन इधर उधर गया। यदि सिर्फ मज्झिम-निकायका अनुवाद होता, तो समय काफी था; किन्तु वहाँके बौद्धोंकी दयनीय अवस्था तथा कुछ बंधुओंके आग्रहने मुझे वहाँके लड़कोंके लिये तिब्बती भाषाकी चार पुस्तकें लिखने पर मजबूर किया। उधर कुछ और मित्रोंकी प्रेरणाने 'तिब्बत में बौद्ध-धर्मका इतिहास' को संक्षेपसे लिखवाया। अपनी तिब्बती और युरोप-यात्राओंको भी वहीं समाप्त करनी पड़ीं। यह निश्चय ही है, कि इतने कामोंके लिये उतना समय पर्याप्त न था। एक दो बार तो मैंने अपने मित्रोंको लिख भी दिया कि शायद मैं आधे ही ग्रंथको लदाखमें समाप्त कर सकूँगा।

अनुवादमें समय इस प्रकार लगा—

जुलाई	५—१५	१—२६ सुत्तन्त
अगस्त	२१—३१	३८—९८ सुत्तन्त
सितम्बर	१—२, ४—९, ११—१४	९९—१५२ सुत्तन्त
नवंबर	४—७	२७—३७ सुत्तन्त

लदाखमें अनुवाद करते वक्त मालूम हुआ, कि मेरी पाली प्रतिमें ११ सुत्तन्त (= सूत्र) गुम हैं, इसीलिये उनका अनुवाद लौटकर प्रयागमें हुआ। इस प्रकार यह सारा ग्रंथ ३८ दिनमें

अनुवादित हुआ। जल्दीके लिये अफसोस करनेकी आवश्यकता नहीं, जब कि मैं जानता हूँ, कि कामोंकी अधिकताके कारण, दूसरा कोई उपाय ही नहीं; अथवा एक अनिश्चित समयके लिये इस कामको स्थगित कर रखना पड़ता।

त्रिपिटक-वाङ्मयमें मज्झिम-निकायका स्थान सर्वोच्च है। विद्वान् लोग इसीके बारेमें कहते हैं, कि यदि सारा त्रिपिटक और बौद्ध-साहित्य नष्ट हो जाये, सिर्फ मज्झिम-निकाय ही बचा रहे; तो भी इसकी मददसे हमें बुद्धकी व्यक्ति, उनके दर्शन और अन्य शिक्षाओंके तत्त्वको समझनेमें कठिनाई न होगी। इसी कारणसे "बुद्धचर्या" और "धम्मपद"के बाद मैंने इसमें हाथ लगाया।

अनुवाद करनेमें भावोंके साथ शब्दोंका भी पूरा ख्याल रक्खा गया है, इसीलिये भाषा कुछ कठिनसी हो गई है; किन्तु, अनुवादकों ऐतिहासिकों, भाषा-तत्त्वज्ञों तथा दूसरे अन्वेषकोंके लिये भी उपयोगी बननेके लिये वैसा करना अनिवार्य था। शब्दोंका एक विस्तृत कोश मैंने ग्रंथके अन्तमें दे दिया है, और स्थल स्थलपर कोष्ठकमें भी सरल पर्याय देता गया हूँ। पाठकोंको कठिनाई मालूम होगी, कुछ बौद्ध दार्शनिक परिभाषाओंके कारण। किन्तु, संक्षेप और स्पष्ट होनेके लिये पारिभाषिक शब्दोंका प्रयोग करना ही पड़ेगा। बहुतसे पुनरुक्तोंको भी मैंने (०) चिह्न देकर हटा दिया है, इससे भी कहीं कहीं कुछ दिक्कत होगी, किन्तु उनके लिये मैं फुटनोटमें संकेत भी करता गया हूँ। यदि सभी पाठक प्रत्येक शब्द के समझनेका आग्रह न करेंगे, तो आशा है, वह अनुवादको सन्तोष-जनक पायेंगे। यह अन्तिम अनुवाद तो है नहीं, यदि इससे भविष्यके अनुवादकोंके काममें सहायता पहुँचेगी, तो यह भी इसकी एक उपयोगिता होगी।

त्रिपिटकके कुछ ग्रंथोंको पालीमें अनुवाद करनेकी बात मैंने "धम्मपद"के छपते वक्त लिखी थी। मैंने अगले चार वर्षोंके वर्षा-वासोंको इस प्रकार हिन्दी-अनुवाद-कार्यमें लगानेका निश्चय किया है—

पातिमोक्ख + महावग्ग + चुल्लवग्ग (विनय-पिटक)	१९३४ ई०
दीघ-निकाय	१९३५ "
संयुक्त-निकाय	१९३६ "
सुत्तनिपात + उदान + मिलिन्द पञ्ह	१९३७ "

अपने ज्येष्ठ सब्रह्मचारी भदन्त आनन्द कौसल्यायन, तथा शीघ्र ही लघु सब्रह्मचारी बननेवाले एक दूसरे तरुणसे आशा रखता हूँ, कि इन्हीं चार वर्षोंमें वह सम्पूर्ण जातकोंका भी हिन्दी अनुवाद कर देंगे। यदि ऐसा हुआ, तो मूल बौद्ध-साहित्यके अनुवादमें हिन्दीका स्थान भारतीय भाषाओंमें ही प्रथम नहीं हो जायेगा; बल्कि हमारी मातृभाषा युरोपीय भाषाओंसे टक्कर लेने लगेगी।

पुस्तकके साथ मज्झ-मंडल (= प्राचीन मध्यदेश)का एक मानचित्र भी दे दिया गया है, जिससे तत्कालीन भूगोलके समझनेमें आसानी होगी। ध्यानसे खींचनेपर भी जनपदों और राज्योंकी सीमायें कितनी ही जगह गलत हो सकती हैं।

"धम्मपद"के अनुवादको समाप्त करते समय मैंने श्रद्धेय भिक्षु देवमित्र धर्मपालसे कहा था—मैंने अपनी प्रथम पुस्तक बुद्धचर्या अपने पिताको समर्पित की, दूसरी अपने उपाध्यायको; और अब यह तीसरी मैं आपको समर्पित करूँगा। उन्होंने कहा—काम होना चाहिये, अपने लिये समर्पणको मैं बेकार समझता हूँ। बे-कार हो, चाहे स-कार, अब वह बेकारका शब्द ही कब उन पतले ओठोंसे सुननेको मिलेगा !!

अनुवादका काम तो मेरे हाथका था, चाहे रातको तीन बजता, चाहे चार, उसे मैं पूरा कर

सकता था; किन्तु १९३३ ई० के भीतर छाप देनेकी समस्या आसान न थी। महाबोधि सभाके प्रधान मंत्री ब्रह्मचारी देवप्रियने कई आर्थिक अड़चनोंके रहते भी छापना स्वीकार कर, उस कठिनाईको हल कर दिया। दूसरी कठिनाई थी एक मासके अल्प समयमें प्राय: आठ सौ पृष्ठोंकी सारी पुस्तकको छाप कर निकाल देना। जिस कठिनाईको दूर करनेके लिये ला-जर्नल-प्रेसके मैनेजर पंडित कृष्णप्रसाद दर, तथा पंडित सीताराम गुंठे, पं० महेन्द्रनाथ पांडेय, श्री राजनाथ और श्री बच्चूलाल विशेषतया धन्यवादके पात्र हैं। पंडित उदयनारायण त्रिपाठी, साहित्य-रत्न, M. A. और उनकी दारागंजकी शिष्य-मंडली तथा बाबू बलदेवसिंह, "विशारद" यदि प्रूफ देखनेमें सहायता न करते, तो काम बहुत कठिन हो जाता। इसके लिये मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

यदि पाठकोंकी सहायता प्राप्त होगी; तो आशा है अगले संस्करणमें ग्रंथकी बहुतसी त्रुटियाँ दूर हो जायँगी।

प्रयाग
१५—१२—३३

राहुल सांकृत्यायन

भूमिका

बुद्धके मूल सिद्धान्त[1]

बुद्धके उपदेशोंके समझनेमें सहायता मिलेगी, यदि पाठक बुद्धके इन मूल चार सिद्धान्तों—तीन अस्वीकारात्मक और एक स्वीकारात्मक—को पहले जान लें। वे चार सिद्धान्त ये हैं—

(१) ईश्वरको नहीं मानना; अन्यथा 'मनुष्य स्वयं अपना मालिक है'—इस सिद्धान्तका विरोध होगा।

(२) आत्माको नित्य नहीं मानना; अन्यथा नित्य एक रस माननेपर उसकी परिशुद्धि और मुक्तिके लिए गुंजाइश नहीं रहेगी।

(३) किसी ग्रन्थको स्वतःप्रमाण नहीं मानना; अन्यथा बुद्धि और अनुभवकी प्रामाणिकता जाती रहेगी।

(४) जीवन-प्रवाहको इसी शरीर तक परिमित न मानना; अन्यथा जीवन और उसकी विचित्रताएँ कार्यकारण नियमसे उत्पन्न न होकर; सिर्फ आकस्मिक घटनाएँ रह जायँगी।

बौद्ध धर्ममें चार बातें सर्वमान्य हैं। इन चार बातोंपर हम यहाँ अलग विचार करते हैं।

(१) ईश्वरको न मानना

ईश्वरवादी कहते हैं—"चूँकि हर एक कार्यका कारण होता है, इसलिये संसारका भी कोई कारण होना चाहिए; और वह कारण ईश्वर है—लेकिन प्रश्न किया जा सकता है—ईश्वर किस प्रकारका कारण है? क्या उपादान-कारण, जैसे घड़ेका कारण मिट्टी; कुंडलका सुवर्ण? यदि ईश्वर जगत्का उपादान-कारण है, तो जगत् ईश्वरका रूपान्तर है। फिर संसारमें जो भी बुराई-भलाई, सुख-दुःख, दया-क्रूरता देखी जाती है, वह सभी ईश्वरसे और ईश्वरमें है। फिर तो ईश्वर सुखमयकी अपेक्षा दुःखमय अधिक है, क्योंकि दुनियामें दुःखका पलड़ा भारी है। ईश्वर दयालुकी अपेक्षा क्रूर अधिक है, क्योंकि दुनियामें चारों तरफ़ क्रूरताका राज्य है। यदि वनस्पतिको जीवधारी न भी माना जाय, तो भी सूक्ष्मवीक्षणसे द्रष्टव्य कीटाणुओंसे लेकर कीड़े-मकोड़े, पक्षी, मछली, साँप, छिपकली, गीदड़, भेड़िया, सिंह-व्याघ्र, सभ्य-असभ्य मनुष्य—सभी एक-दूसरेके जीवनके ग्राहक हैं। ध्यानसे देखनेपर दृश्य-अदृश्य, सारा ही जगत् एक रोमांचकारी युद्धक्षेत्र है, जिसमें निर्बल प्राणी

---

[1] यह पहिले १९३२ ई० के "विशाल-भारत" में लेख-रूपसे निकला था।

सबलोंके ग्रास बन रहे हैं। पुनर्जन्म न माननेवाले धर्मोंको तो इसे बिना आनाकानीके स्वीकार करना पड़ेगा। पुनर्जन्मवादी कह सकते हैं कि सभी मुसीबतें पूर्वके कर्मोंके फल हैं, लेकिन यह भी चिन्त्य है। अच्छे-बुरे कर्मोंकी जवाबदेही जानकारको ही हो सकती है। पागल या नशेमें बेहोश या अबोध बालकको दूसरेकी हत्याका दोषी नहीं ठहराया जा सकता। इससे इनकार किसको हो सकता है कि मनुष्यके अतिरिक्त दूसरे प्राणी—जो अपने अच्छे-बुरे कर्मोंके जाननेकी समझ नहीं रखते, और जिनका जीवन दूसरोंकी हत्यापर ही निर्भर है—अपने कर्मोंके जिम्मेवार नहीं हो सकते ? मनुष्योंमें भी बालक, पागल आदि अलग कर देनेपर दायित्व रखनेवालोंकी संख्या बहुत कम रह जायगी। यदि दुनियामें जवाबदेह आदमियोंकी संख्या डेढ़ अरब मान ली जाय, तो फल भोगनेवाले इतने कहाँसे आयेंगे, जिनकी संख्या अपार है। डेढ़ अरबसे अधिक तो कछुये ही होंगे, जो आदमीसे अधिक दीर्घजीवी हैं, और कीटाणुओं तथा हाथी, ह्वेल आदि जैसे विशाल-काय जन्तुओंके बारेमें कहना ही क्या ?

उपादान-कारण है, तो निर्विकार कैसे हो सकता है ? यदि ईश्वरको निमित्त-कारण माना जाय, अर्थात् वह जगत्को वैसे ही बनाता है, जैसे कुम्हार घड़ेको, सुनार कुंडलको; तो प्रश्न होगा, क्या वह बिना किसी उपादान-कारणके जगत्को बनाता है, या उपादान-कारणसे ? यदि बिना उपादान-कारणके, तो अभावसे भावकी उत्पत्ति माननी होगी, और कार्य-कारणका सिद्धान्त ही गिर जायगा, तब फिर जगत्को देखकर उसके कारण ईश्वरके माननेकी ज़रूरत क्या ? यदि इन्द्रजालकी तरह उसने जगत्को बिना कारण मायामय उत्पन्न किया है, तो प्रत्यक्षके मायामय होनेपर ईश्वरके होनेका अनुमान ही किस सामग्रीके बलपर होगा ? यदि उपादान-कारणसे बनाता है, तो कुम्हारकी भाँति जगत्से अलग रहकर बनाता है, या उसमें व्याप्त होकर ? अलग रहनेपर वह सर्वव्यापक नहीं रहेगा, और सृष्टि करनेके लिए उसे दूसरे-सहायकों और साधनोंपर निर्भर होना पड़ेगा। विद्युत्कणोंसे भी सूक्ष्म नवकणों (Neutrons) तक पहुँचने और उनके मिश्रणसे क्रमशः स्थूलतर चीज़ोंके बनानेके लिए वह कौनसा हथियार, सुनारकी सँड़ासीकी तरह, प्रयोग करेगा ? और फिर सर्वशक्तिमान् कैसे रहेगा ? यदि उसे उपादान-कारणमें सर्वव्यापक मान लिया जाय, तो भी उपादान-कारणके बिना उत्पादन-करनेमें अक्षम होनेपर सर्वशक्तिमान् नहीं। ऐसी अवस्थामें अपवित्रता, क्रूरता आदि बुराइयोंका स्रोत होनेका भी वह दोषी होगा।

इस प्रकार न वह उपादान-कारण हो सकता है, न निमित्त-कारण। जगत्का कोई आदि-कारण होना ही चाहिए, यह कोई ज़रूरी नहीं। यदि 'उसका कारण कौन, उसका कारण कौन ?'—पूछनेपर जगत्की किसी सूक्ष्मतम वस्तु या उसकी विशेष शक्तिपर नहीं रुकने दिया जाय, तो ईश्वर तक ही क्यों रुका जाय ? क्यों न ईश्वरका भी कोई दूसरा कारण माना जाय ? इस प्रकार ईश्वरका आदिकारण मानना युक्तियुक्त नहीं।

कर्ता-धर्ता ईश्वर होनेपर, मनुष्य उसके हाथकी कठपुतली है, फिर वह किसी अच्छे-बुरे कामके लिए जवाबदेह नहीं हो सकता। फिर दुनियामें उसका सताया जाना क्या ईश्वरकी दया-लुताका द्योतक है ?

ईश्वर सृष्टिकर्ता है, यह मानना भी ठीक नहीं। यदि सृष्टि अनादि है, तो उसको किसी कर्ताकी ज़रूरत नहीं, क्योंकि कर्ता होनेके लिए उसे कार्यसे पहले उपस्थित रहना चाहिए। यदि सृष्टि सादि है, तो करोड़ दो करोड़, खरब दो खरब वर्ष नहीं, अचिन्त्य अनन्त वर्षोंसे लेकर सृष्टि उत्पन्न होनेके समय तक उस क्रिया-रहित ईश्वरके होनेका प्रमाण क्या ? क्रिया ही तो उसके अस्तित्वमें प्रमाण हो सकती है ?

ईश्वरके माननेपर, जैसा कि पहले कहा गया, मनुष्यको उसके अधीन मानना पड़ेगा, तब मनुष्य आप ही अपना स्वामी है, जैसा चाहे, अपनेको बना सकता है—यह नहीं माना जा सकता। फिर मनुष्यको शुद्धि और मुक्तिके लिए प्रयत्न करनेकी गुंजाइश कहाँ ? फिर तो धर्मोंके बताये रास्ते, और धर्म भी निष्फल। ईश्वरके न माननेपर, मनुष्य जो कुछ वर्तमानमें है, वह अपने ही कियेसे; और जो भविष्यमें होगा, वह भी अपनी ही करनीसे। मनुष्यके काम करनेकी स्वतन्त्रता होने ही पर धर्मके बताये रास्तों और धर्मकी सार्थकता हो सकती है। ईश्वरवादियों द्वारा सहस्राब्दियोंसे धर्मके लिए अशान्ति और ख़ूनकी धाराएँ बहाई जा रही हैं, फिर भी ईश्वर क्यों नहीं निपटारा करता ? वस्तुतः ईश्वर मनुष्यकी मानसिक सृष्टि है।

(१) आत्माको नित्य न मानना

यहाँ पहले हमें यह समझ लेना है कि बौद्ध अनात्मताको कैसे मानते हैं। बुद्धके समय ब्राह्मण, परिव्राजक तथा दूसरे मतोंके आचार्य मानते थे कि शरीरके भीतर और शरीरसे भिन्न एक नित्य चेतनशक्ति है, जिसके आनेसे शरीरमें उष्णता और ज्ञानपूर्वक चेष्टा देखनेमें आती है। जब वह शरीर छोड़ कर कर्मानुसार शरीरान्तरमें चली जाती है, तो शरीर शीतल, चेष्टा रहित हो जाता है। इसी नित्य चेतनशक्तिको वे आत्मा कहते थे। सामीय (Semitic) धर्मोंका भी, पुनर्जन्मको छोड़ कर, वही मत है। इनके अलावा बुद्धके समयमें दूसरे भी आचार्य थे, जिनका कहना था—शरीरसे पृथक् आत्मा कोई चीज़ नहीं; शरीरमें भिन्न-भिन्न परिमाणमें मिश्रित रसोंके कारण उष्णता और चेष्टा पैदा हो जाती है, रसोंके परिमाणमें कमी-बेशी होनेसे वह चली जाती है। इस प्रकार आत्मा शरीरसे भिन्न कोई वस्तु नहीं है। बुद्धने एक ओर आत्माका नित्य कूटस्थ मानना, दूसरी ओर शरीरके साथ ही आत्माका विनाश हो जाना—इन दोनों चरम बातोंको छोड़ मध्यका रास्ता लिया। उन्होंने कहा—आत्मा कोई नित्य कूटस्थ वस्तु नहीं है, बल्कि ख़ास कारणोंसे स्कन्धों (भूत, मन)के ही योगसे उत्पन्न एक शक्ति है, जो अन्य बाह्य भूतोंकी भाँति क्षण-क्षण उत्पन्न और विलीन हो रही है। चित्तके क्षण-क्षण उत्पन्न होने और विलीन होनेपर भी चित्तका प्रवाह जब तक इस शरीरमें जारी रहता है, तब तक शरीर सजीव कहा जाता है। हमारे अध्यात्म-परिवर्तन और शरीरके परिवर्तनमें बहुत समानता है।

हमारा शरीर क्षण-क्षण बदल रहा है। चालीस वर्षका यह शरीर वही नहीं है, जो पाँच वर्ष और बीस वर्षकी अवस्थामें था, और न साठवें वर्षमें वही रह जायगा। एक-एक अणु, जिससे हमारा शरीर बना है, प्रति क्षण अपना स्थान नवोत्पन्नके लिए खाली कर रहा है ; ऐसा होने पर भी हर एक विगत शरीर-निर्मापक परमाणुका उत्तराधिकारी बहुतसी बातोंमें सदृश होता है। इस प्रकार यद्यपि हमारा पहले वर्षवाला शरीर दसवें वर्षमें नहीं रहता, और बीसवें वर्षमें दस वर्षवाला भी ख़तम हुआ रहता है, तो भी सदृश परिवर्तनके कारण मोटे तौरपर हम शरीरको एक कहते हैं। इसी प्रकार आत्मा भी क्षण-क्षण बदल रहा है, लेकिन सदृश परिवर्तनके कारण उसे एक कहा जाता है। आप अपने ही जीवनको ले लीजिए। दो वर्ष पूर्व दूरसे भी आपको सिगरेटका धुआँ नागवार था, और अब उसे चावसे पीते हैं। दो वर्ष पूर्व चिड़ियोंको स्वयं मार कर फड़फड़ाते देखना, आपके लिए मनोरंजनकी चीज़ थी; लेकिन अब आप दूसरे द्वारा मारी जाती चिड़ियाको फड़फड़ाते देख स्वयं फड़फड़ाने लगते हैं। यदि आपको अपने मनके झुकाव और उसकी प्रवृत्तियों-को लिखते रहनेका अभ्यास है, तो आप अपनी पिछली दस वर्षोंकी डायरी उठा कर पढ़ डालिये। वहाँ आपको कितने ही विचार ऐसे मिलेंगे, जिन्हें दस वर्ष पूर्व आप अपना कहते थे, किन्तु दस वर्ष बाद आज यदि कोई आपके ही शब्दोंमें आपके पूर्व विचारोंको आपके सामने रखे, तो

साफ़ इनकार कर देंगे कि 'यह मेरा विचार नहीं है, न मेरा विचार कभी ऐसा था।' वस्तुतः आपका ऐसा कहना ठीक भी है, क्योंकि आपके पिछले दस वर्षके अनुभवोंने आपको बदल दिया है।

आप कह सकते हैं—मन बदलता है, आत्मा थोड़े ही बदलता है। हमारा कहना है, मनसे परे आत्मा कोई चीज़ नहीं। चित्त, विज्ञान, आत्मा—एक ही चीज़ हैं। जिस प्रकार चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और त्वक् इन्द्रियोंको हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं, वैसे मनको नहीं। हमें मनकी सत्ता क्यों स्वीकार करनी पड़ती है? आँखें इमली देखती हैं, और जिह्वासे पानी टपकने लगता है। नाक दुर्गन्ध सूँघती है, और हाथ नाकपर पहुँच जाता है। आप देखते हैं, आँख और जिह्वा एक नहीं हैं, न वे एक दूसरेसे मिली हुई हैं। इसलिए इन दोनोंको मिलानेके लिए एक तीसरी इन्द्रिय चाहिए, और वह मन है। पाँचों ही इन्द्रियाँ अपने-अपने ज्ञानको जहाँ पहुँचाती हैं, और जहाँसे शरीरके भिन्न भिन्न अंगोंको गतिका अनुशासन मिलता है, वह मन है। वही ग्रहण, चिन्तन और निर्णय करता है। वह ग्रहण आदि कैसे करता है? फ़ौजके कमाण्डरकी तरह अलग बैठ कर नहीं, बल्कि जैसे पाँच ट्यूबोंमें लाल, पीले, हरे, नीले, काले रंगका चूर्ण पड़ा हुआ हो, और नीचे एक ऐसी काँचकी नलीसे पानी बह रहा हो, जिसमें पाँचों ट्यूबोंके मुँह मिले हुए हों, और ट्यूबोंका मुँह बारी बारीसे खुल रहा हो। जिस समय जो रंग पानीपर पड़ेगा, पानी उसी रंगका हो जायगा। इसी तरह जब आँख काले साँपकी ओर लगती है, तो काले साँपका हमें दर्शन होता है। फिर यह ज्ञान तुरन्त मनमें पहुँचता है। उस क्षणका मन, जो अपने कारणभूत पुराने मनोंके अनुभवोंका बीज अपनेमें रखता है, इस नये ज्ञानरूपी चूर्णके गिरनेसे तदाकार हो, भयके रंगमें रँग जाता है। यदि एक क्षण ही साँपको देख हमें रुक जाना हो, तो भी हिला कर छोड़ दिये पहियेकी भाँति कई क्षण तक एक-एकके बाद उत्पन्न होनेवाला मन उस रंगमें रँग जायगा; यद्यपि हर द्वितीय क्षणके मनपर उसका असर फीका पड़ता जायगा। और यदि साँप कई क्षणों तक दिखाई देता रहा, और आपकी तरफ़ भी आता रहा, तो क्षण-क्षण उत्पन्न होने-वाले मनपर भयका संचार अधिक होता जायगा। जो बात भयप्रद विषयोंके बारेमें है, वही प्रीतिप्रद तथा दूसरे विषयोंके बारेमें भी समझनी चाहिए।

अस्तु, उक्त कारणसे चक्षु आदि इन्द्रियोंके अतिरिक्त हमें उनके संयोजक एक भीतरी इन्द्रियको माननेकी ज़रूरत पड़ती है, जिसे मन कहते हैं। इससे परे आत्माकी क्या आवश्यकता? यदि कहें कि पुराने अनुभवोंको स्मृतिके रूपमें रखनेके लिए, क्योंकि मन तो क्षणिक है (यद्यपि यह बात वे नहीं कह सकते, जिनके मतसे मन क्षणिक नहीं), तो हम कहेंगे—मन क्षणिक है, किन्तु वह अपने परवर्ती मनका कारण भी है। आनुवंशिक नियमके अनुसार जैसे माता-पिताकी बहुतसी बातें पुत्र-पौत्रमें आती हैं, उसी प्रकार पूर्व मन अपने अनुभवोंका बीज या संस्कार पिछले मनके लिए वरासतमें छोड़ जाता है, और वही स्मृतिका कारण है। वस्तुतः संस्कारका ठप्पा तो क्षणिक वस्तुपर ही लग सकता है। आत्माको यदि कूटस्थ नित्य मानें, तो वह अनन्तकाल तक एक रस रहनेवाला होगा। भला, सदाके लिए एक रस रहनेवाले आत्मापर अनुभवोंका ठप्पा कैसे पड़ सकता है? यदि पड़ सकता है, तो ठप्पा पड़ते ही उसका रूप-परिवर्तन हो जायगा। आत्मा कोई जड़ पदार्थ नहीं है, जिसके सिर्फ़ बाह्य अवयवपर ही लांछन लगेगा। वह तो चेतनमय है, इसलिए ऐसी अवस्थामें इन्द्रिय-जनित ज्ञान उसमें सर्वत्र प्रविष्ट हो जायगा। फिर वह राग, द्वेष, मोह—नाना प्रकारोंमेंसे किसी एक रूपवाला हो जायगा। तब फिर वह वही आत्मा नहीं हो सकता, जो ठप्पा लगनेसे पहले था। अतएव वह एक रस भी नहीं हो सकता। फिर आत्मा नित्य है कैसे? यदि थोड़ी देरके लिये मान भी लें कि ठप्पा लगता है, तो वह अभौतिक संस्कार भी नित्य आत्मा

में लगकर अविचल हो जायगा। तब फिर शुद्धि या मुक्तिकी आशा कैसे की जा सकती है?

यदि कहें—कोई नित्य आत्मा नहीं है, तो मनके क्षणिक होनेसे, शरीरके नष्ट हो जानेपर अच्छे-बुरे कर्मोंका विपाक कैसे होगा? यहाँ पहले यह समझ लें कि बौद्ध विपाक कैसे मानते हैं। वे यह नहीं मानते कि हम जो कुछ भले-बुरे काम करते हैं, उसे लिखनेके लिए ईश्वरने हमारे पीछे द्रुत लेखक लगा रक्खे हैं। हम अच्छे या बुरे जैसे भी कायिक-वाचिक कर्म करते हैं, सभी कर्मोंका उद्‌गम हमारा मन है। अतः द्वेषयुक्त काम करनेके लिए मनको द्वेषयुक्त बनना पड़ता है; रागयुक्त काम करनेके लिए मनको रागयुक्त बनना पड़ता है। मनकी उस बनावटकी, उस ध्वनिकी गूँज तब तक जारी रहती है, जब तक वह व्ययसे या विरोधी ध्वनिके आ कर टकरानेसे नष्ट नहीं हो जाती। आदमी एक दिनमें क्रूर नहीं बन जाता। आपरेशन करनेवाले डाक्टरको भी धीरे-धीरे अपने मनको कड़ा करना पड़ता है, फिर ख़ूनीकी तो बात ही क्या? जब किसी असहाय, निर-पराध बालिकाको पीटते देख दर्शकोंका मन प्रभावित हुए बिना नहीं रहता (यद्यपि वह दूसरी दिशामें—करुणाकी ओर), तो स्वयं मारनेवालेका मन सख़्त हुए बिना कैसे रह सकता है? सुतराँ हम जो काम करते हैं, उसका असर तत्काल मनपर पड़ता है। जितना ही मन कड़ा होता जाता है, उतना ही उसमें सूक्ष्म मानसिक चिन्तन और विकासकी योग्यता कम होती जाती है।

अच्छे-बुरे मनोभाव धन और ऋणकी तरह हैं। यदि धनकी राशि अधिक रही, ऋणकी कम, तो धनका पलड़ा भारी रहेगा। यह हिसाब मनकी क्षण-क्षणकी बनावटमें स्वयं होता रहता है। यहाँ हिसाबका टोटल महीनों, हफ़्तों, दिनोंके बाद नहीं, बल्कि तुरन्त-का-तुरन्त होता रहता है। मनुष्य क्या है, अपने पिछले भले-बुरे अनुभवोंका पूर्ण योग। दूसरे क्षण उत्पन्न होनेवाले मनको बहुतसी बातें अपने-जनक मनसे वरासतमें मिलती हैं। यह वरासतका सिलसिला हमारे लड़कपनसे वृद्धपन तक रहता है—इसे समझनेमें अड़चन नहीं होगी। लेकिन बुद्धकी शिक्षा के अनुसार यह सिलसिला जन्मसे पहले भी था, और मृत्युके बाद भी रहेगा। अपने पिछले अनुभवोंसे बने हुए मनकी उपमा, मृत्यु-क्षणमें जिस वक्त वह इस शरीरको छोड़नेके लिए तैयार रहता है, उस तप्त लौह-धारसे दी जा सकती है, जो एक ऐसी नालीके सहारे नीचे बहती चली आई हो, जो एक टीलेके पास आ कर रुक जाती हो। उस टीलेके दूसरी ओर एक ऐसी दूसरी नाली है, जिसके आरम्भपर पर्याप्त चुम्बक-राशि है, तो वह ज़रूर इस धारको नई नालीमें डाल-नेके लिए समर्थ होगी। इसी प्रकार मृत्युके समय चित्त-प्रवाह अपनी संस्कार-राशिके साथ इस जीवनके छोरपर खड़ी रहती है। वह संस्कार-राशिरूपी चुम्बक समान धर्मवाले समीपतम शरीरमें खींच कर फिर उसकी वही पुरानी कार्रवाई शुरू करा देता है। यही क्रम तब तक जारी रहता है, जब तक तृष्णाके क्षयसे यह सन्तति विश्रृंखलित हो, निर्वाणको नहीं प्राप्त हो जाती। इस प्रकार कर्म, कर्म-फल और जन्मान्तर होता है।

जीवको नित्य माननेमें बहुतसे दोष होते हैं। यदि आप उसे नित्य मानते हैं, तो उसे सिर्फ़ अमर ही नहीं, अजन्मा भी मानना होगा। फिर सामीय धर्मोंमें भी तो, जहाँ पुनर्जन्म नहीं मानते, यह मानना होगा कि जीव अरब-खरब वर्ष नहीं, बल्कि अनादि कालसे आज तक चुपचाप निश्चेष्ट पड़ा रहा। अब एक, पचास, या सौ वर्ष तकके लिए, बिना किसी पूर्व कर्मके, इस दुनियामें जन्मान्ध या नेत्रवान्, जन्मरोगी या स्वस्थ, मन्दबुद्धि या प्रतिभाशाली बन कर उत्पन्न हो गया है, और मरनेके बाद फिर अनन्तकाल तकके लिए अपने कुछ वर्षोंके बुरे-भले कर्मोंके कारण स्वर्ग या नरकमें डाल दिया जायगा। क्या इस तरहकी नित्यता बुद्धियुक्त मानी जा सकती है? जो लोग पुनर्जन्म भी मानते हैं, और साथ-साथ आत्माको नित्य भी, उनकी ये दोनों बातें परस्पर

विरोधी हैं। जब वह नित्य है, तो कूटस्थ भी है, अर्थात् सदा एक-रस रहेगा; फिर ऐसी एक-रस वस्तुको यदि परिशुद्ध मानते हैं, तो वह जन्म-मरण के फेरमें कैसे पड़ सकती है? यदि अशुद्ध है, तो स्वभावतः अशुद्ध होनेसे उसकी मुक्ति कैसे हो सकती है? नित्य कूटस्थ होनेपर संस्कारकी छाप उसपर नहीं पड़ सकती, यह हम पहले कह चुके हैं। यदि छापके लिए मनको मानते हैं, तो आत्माको माननेकी ज़रूरत ही क्या रह जाती है?

प्रश्न हो सकता है कि यदि मन तथा आत्मा एक है, और वह क्षणिक है, तो अनेकतामें—'मैं पहले था, मैं अब हूँ'—ऐसी एकताका भान क्यों होता है? इसका उत्तर है कि समुदायमें एकत्वकी बुद्धि दुनियाका यह सार्वभौमिक नियम है। हम संसारकी जिस किसी चीज़को ले लें, सभी हज़ारों अणुओंसे बनी हैं, जिनके बीच काफ़ी अन्तर है। यह बात लोहे, प्लेटिनम, हीरे—सभी ठोस-से-ठोस वस्तुकी है। यदि हमारी दृष्टि उतनी सूक्ष्म होती, तो हम उन्हें ऐसे ही अलग-अलग देखते, जैसे पास जानेपर जंगलके वृक्ष। इस प्रकार दुनियाके सभी दृश्य पदार्थोंके मूलमें अनेकता होनेपर भी एकताका व्यवहार किया जाता है। अनगिनत टुकड़ोंके बने हुए शरीरको हम एक शरीर कहते हैं। अनेक वृक्षोंके बने जंगलको एक जंगल कहते हैं। अनेक तारोंके झुरमुटको एक तारा कहते हैं। हाँ, एक फ़र्क ज़रूर है। जहाँ शरीर, वन, तारोंमें अंशी और अंश एक कालमें और एक देशमें मौजूद रहते हैं, वहाँ मन प्रति क्षण एकके बाद एक उत्पन्न होता रहता है। इसके लिए अच्छा उदाहरण बनेठी, चलते वायुयानका पंखा, या चलती बिजलीका पंखा ले सकते हैं। बनेठीकी रोशनी, या पंखेका पंख जल्दी-जल्दी इतने सूक्ष्म कालमें एक स्थानसे दूसरे स्थानपर पहुँचता है कि हम उसे ग्रहण नहीं कर सकते, और काल एक स्वतन्त्र मान बन उसे चक्रके रूपमें ला रखता है। इसी प्रकार मन भी इतना शीघ्र अपनी जगहपर दूसरे मनको उपस्थित कर रहा है कि बीचके अन्तरको हम नहीं ग्रहण कर पाते, और हमें चक्रकी एकताका भान होने लगता है। नदीकी धाराको भी तो आप एक कहते हैं, किन्तु क्या वह जल हज़ारों बिन्दुओंसे, और बिन्दु अगणित उद्रजन, ओषजनके परमाणुओंसे, और परमाणु अनेक धनऋण विद्युत्कणोंसे (जिनके भीतर चक्कर काटनेके लिए काफ़ी अन्तर है), और फिर सूक्ष्मतम अनेकों न्यूट्रनोंसे नहीं बने हैं? वस्तुतः संसारमें सभी जगह समुदायहीको एक कहा जा रहा है। जब हमारी भाषाका यह एक सार्वभौमिक प्रयोग है, तब क्षणिक मनकी सन्तति (=प्रवाह)को साधारण दृष्टिसे हम एक कहने लगें, तो आश्चर्य क्या है? आश्चर्य तो यह है कि सारी दुनियामें एक कही जानेवाली चीज़ोंको समूहित देखते हुए भी पूछते हैं—समूहित है, तो आत्मा क्यों एक मालूम होती है? सवाल हो सकता है—जब आत्मा क्षणिक है, दूसरे क्षण वह रहता ही नहीं, तो उसकी पूर्णता और परिशुद्धि कैसे? उत्तर यह है कि हम मनको क्षणिक मानते हुए भी मनकी सन्ततिको क्षणिक नहीं मानते। गंगाका पानी, उसका आधार, दोनों कूल और बालू सभी बराबर बदल रहे हैं, तो भी सबका प्रवाह बना रहता है, जिसे हम एक मान गंगा कहते हैं। इसी चित्त-सन्ततिकी परिशुद्धि और पूर्णता करनी होती है। जितनी ही चित्त-सन्तति राग, द्वेष, मोहके मलोंसे मुक्त होती है, उतना ही उस पुरुषके कायिक, वाचिक, मानसिक कर्म परिशुद्ध होते जाते हैं, जिसके फलस्वरूप वह व्यक्ति अपने-परायेका उपकार करनेमें समर्थ होता है। जब उसमें राग-द्वेषका गंध नहीं रह जाता, तो व्यक्तिगत स्वार्थके केन्द्रपर केन्द्रित तृष्णा क्रमशः परिवार, ग्राम, देश, भूमंडल, प्राणिमात्रके स्वार्थको अपना बना, अपनी परिधिको अनन्त तक पहुँचा देती है। उस वक्त अनन्त परिधिवाली वह तृष्णा बन्धन-रहित हो तृष्णा ही नहीं रह जाती, उस पुरुषके लिए निर्वाणका मार्ग उन्मुक्त हो जाता है, और वह दुःखके फंदेसे छूट जाता है। मुक्ति तक पहुँचनेके लिए पुरुषको निजी स्वार्थकी सीमा पार कर लोकहितार्थ सब कुछ

उत्सर्ग करना पड़ता है (आप जातककी सुन्दर कहानियोंमें देखेंगे, पूर्णताके लिए बोधिसत्वको कितना उत्सर्ग करना पड़ता है)। तृष्णाको छोड़ना दुःखके मार्गको रोकना है, क्योंकि दुनियामें अधिकांश दुःख तृष्णा और स्वार्थके कारण ही तो हैं ?

इस प्रकार मनके क्षणिक होने पर, चूँकि चित्त-सन्तति क्षणिक नहीं है, इसलिए उसकी पूर्णता और परिशुद्धि करनी पड़ती है। वस्तुतः यदि आत्माको नित्य कूटस्थ आत्मा न मान, उसके स्थान पर क्षण-क्षण उत्पन्न होनेवाले चित्तोंकी सन्ततिको माना जाय, तो शब्द पर हमारा कोई आग्रह नहीं है। चूँकि आत्म शब्द नित्य चेतन वस्तुके लिए व्यवहार होता था, इसलिए बुद्धने अन्-आत्म शब्दका प्रयोग किया।

(३) किसी ग्रन्थको स्वतः प्रमाण न मानना

स्वतः प्रमाण होनेका दावा करनेवाला सिर्फ एक ग्रन्थ नहीं है। सभी धर्मवाले अपने-अपने ग्रन्थको स्वतः प्रमाण मानते और मनवानेकी कोशिश करते हैं। ब्राह्मण वेदको स्वतः प्रमाण मानते हैं, जिसकी बहुतसी बातें अन्य धर्मवालोंकी पुस्तकों एवं विज्ञानकी कितनी ही प्रयोग द्वारा सिद्ध बातोंके विरुद्ध पड़ती हैं। फिर ऐसा ग्रन्थ स्वतः प्रमाण कैसे माना जा सकता है ? यदि कहो कि वेद विज्ञानके प्रयोग-सिद्ध सिद्धान्तोंके विरुद्ध नहीं, तो सवाल होगा—यह कैसे मालूम ? इसकी सिद्धिके लिए अन्तमें बुद्धिका ही आश्रय लेना पड़ेगा। फिर क्या इससे सिद्ध नहीं होता कि वेदकी प्रामाणिकता भी बुद्धिपर निर्भर है ? फिर तो वेदकी अपेक्षा बुद्धि ही स्वतः प्रमाण हुई। जो बात यहाँ वेदके बारेमें कही गई, वही बाइबिल, अंजील, कुरान आदि स्वतः प्रमाण मानी जाने-वाली पुस्तकोंके बारेमें भी समझना चाहिए। वस्तुतः जब ईश्वर ही नहीं, तो ईश्वरकी पुस्तक कहाँसे होगी ?

पुस्तकोंके स्वतः प्रमाण माननेसे दुनियामें कितने भयंकर अत्याचार हुए हैं। गेलेलियो-की वह दुर्गति न होती, यदि बाइबिलको स्वतः प्रमाण नहीं माना जाता। और भी कितने ही वैज्ञानिकोंको जानसे हाथ न धोना पड़ता, यदि बाइबिलको स्वतः प्रमाण न माना जाता। यवन तत्ववेत्ताओंके सहस्राब्दियोंके परिश्रम ग्रन्थरूपमें जिस सिकन्दरियाके पुस्तकालयमें सुरक्षित थे, उनको जलाकर ख़ाक न किया गया होता, यदि मुसलमान विजेता कुरानको स्वतः प्रमाण न मानते। किसी ग्रन्थका स्वतः प्रमाण मानना असहिष्णुताका कारण होता है; इसने दुनियामें हज़ारों वर्षोंसे मनुष्य-जातिको धर्मान्धता, मिथ्या-विश्वास और मानसिक दासताके गढ़ेमें ही नहीं गिरा रखा है, बल्कि इसने ज्ञानके प्रसारमें रुकावट पैदा करनेके साथ ख़ूनसे भी धरतीको रँगनेमें मदद दी है। ईसाई धर्मयुद्ध क्या थे, बाइबिल और कुरानके स्वतः प्रमाण होनेके झगड़ेके परिणाम।

किसी ग्रन्थका स्वतः प्रमाण मानना, उसमें वर्णित विषयोंपर सन्देह न कर आगेकी जिज्ञासाको रोक देना है। जिज्ञासा ही दुनियाके बड़े-बड़े वैज्ञानिक आविष्कारोंके करनेमें कारण हुई है। यदि गेलेलियो बाइबिलके कहे अनुसार पृथिवीको चिपटी मान लेता, तो उसे पृथिवीके गोल होनेके प्रमाणोंका भान न होता। यदि केप्लर बाइबिलके सूर्यभ्रमणको निर्भ्रान्त मान लेता, तो पृथिवीके घूमनेके अपने तीन नियमोंका कहाँसे आविष्कार करता ? वस्तुतः ग्रन्थके स्वतः प्रमाण माननेपर न्युटन गुरुत्वाकर्षणका पता न लगा सकता, और न आइन्स्टाइन उसके संशोधक सापेक्षताके महान् सिद्धान्तका आविष्कार कर सकता। वस्तुतः संसारमें विद्या, सभ्यता सम्बन्धी जितनी भी प्रगति हुई है, वह ग्रन्थोंके स्वतः प्रमाणके इनकारसे हुई है। व्यवहारमें कौन मनुष्य अपने धर्म-ग्रन्थकी स्वतः प्रामाणिकता मानता है ? ग्रन्थ अपने-अपने समयकी रूढ़ियों, अन्ध-विश्वासों और अज्ञताओंसे जकड़े होते हैं। वह अपने समयके धार्मिक, सामाजिक एवं राज-

नैतिक व्यवहारोंके परिपोषक होते हैं। सहस्राब्दियों बाद वह बातें मरी हुई रहती हैं, तो भी वह मरे मुर्देको गले मढ़ना चाहते हैं। सेन्टपालके समय स्त्रियोंका सिर ढकना उस समयके फैशनके अनुसार अच्छा समझा जाता हो, किन्तु उस लिखावटके कारण आज युरोपकी स्त्रियोंको गिरजेमें और न्यायालयमें कसम खाते वक्त टोपी लगानेपर मजबूर क्यों किया जाय, जब कि दूसरी जगह समाज उसकी आवश्यकता नहीं समझता है?

ग्रन्थके स्वतः प्रमाण होनेके लिए उसके कर्ताको सर्वज्ञ मानना पड़ेगा—सर्वज्ञ भी सभी देश, सभी काल, सभी वस्तुके सम्बन्धमें। फिर यदि कोई सर्वज्ञ हमारे पैदा होनेसे हजार वर्ष पूर्व हमारे द्वारा किये जानेवाले अच्छे-बुरे सभी कर्मोंको जानता था, तब तो हम आज वैसा करनेपर मजबूर हैं, अन्यथा उसकी सर्वज्ञता झूठ हो जायगी। फिर मनुष्य ऐसे सर्वज्ञके हाथमें क्या कठपुतली मात्र नहीं है? फिर कठपुतलीको अपने लिये अच्छा-बुरा काम चुनने और करनेका क्या अधिकार? और तब ऐसे धर्म उसके ग्रन्थ और उसमें कही गई शिक्षाओंका प्रयोजन क्या?

परिशुद्ध और मुक्त बननेके लिए कर्म करनेमें मनुष्यका स्वतन्त्र होना ज़रूरी है। कर्म करनेकी स्वतन्त्रताके लिए बुद्धिका स्वतन्त्र होना ज़रूरी है। बुद्धि-स्वातंत्र्यके लिए किसी ग्रन्थकी परतन्त्रताका न होना आवश्यक है। वस्तुतः किसी ग्रन्थकी प्रामाणिकता उसके बुद्धिपूर्वक होनेपर निर्भर है, न की बुद्धिकी प्रामाणिकता ग्रन्थपर।

उक्त तीन अस्वीकारात्मक बातें हैं, जिन्हें बुद्ध-धर्म मानता है।

(४) जीवन-प्रवाहको इस शरीरके पूर्व और पश्चात् भी मानना

बच्चेकी उत्पत्तिके साथ उसके जीवनका आरम्भ होता है। बच्चा क्या है? शरीर और मनका समुदाय। शरीर भी कोई एक इकाई नहीं है, बल्कि एक कालमें भी असंख्य अणुओंका समुदाय। यह अणु हर क्षण बदल रहे हैं, और उनकी जगह उनके समान दूसरे अणु उत्पन्न हो रहे हैं। इस प्रकार क्षण-क्षण शरीरमें परिवर्तन हो रहा है। वर्षों बाद वस्तुतः वही शरीर नहीं रहता, किन्तु परिवर्तन सदृश परमाणुओं द्वारा होता है, इसलिए हम कहते हैं—वह वही है। जो बात यहाँ शरीरकी है, वही मनपर भी लागू होती है, फ़र्क यही है कि मन सूक्ष्म है, उसका परिवर्तन भी सूक्ष्म है, और पूर्वापर रूपोंका भेद भी सूक्ष्म है, इसलिए उस भेदका समझना दुष्कर है। आत्मा और मन एक ही हैं, और आत्मा क्षण-क्षण बदल रहा है, यह हम दूसरी जगह कह आये हैं।

शरीर और मन (= आत्मा) दोनों बदल रहे हैं। किसी क्षणके बालकके जीवनको ले लीजिए, वह अपने पूर्वके जीवनांशके प्रभावसे प्रभावित मिलेगा। क ख सीखनेसे लेकर बीचकी श्रेणियोंमें होता हुआ जब वह एम० ए० पास हो जाता है, उसके मनकी सभी परवर्ती अवस्था उसकी पूर्ववर्ती अवस्थाका परिणाम है। वहाँ हम किसी बिचली एक कड़ीको छोड़ नहीं सकते। बिना मैट्रिकसे गुज़रे कैसे कोई एफ०ए० में पहुँच सकता है? इस प्रकार कार्य-कारण-शृंखला जन्मसे मरण तक अटूट दिखाई पड़ती है। प्रश्न है, जब जीवन इतने लम्बे समय तक कार्य-कारण-सम्बन्धपर अवलम्बित मालूम होता है और वहाँ कोई स्थिति आकस्मिक नहीं मिलती, तो जीवनके आरम्भमें उसमें कार्य-कारण नियमको अस्वीकार कर क्या हम उसे आकस्मिक नहीं मान रहे हैं? आकस्मिकता कोई सिद्धान्त नहीं है, क्योंकि उसमें कार्य-कारणके नियमोंसे ही इनकार कर देना होता है, जिसके बिना कोई बात सिद्ध नहीं की जा सकती। यदि कहें—माता-पिताका शरीर जैसे अपने अनुरूप पुत्रके शरीरको जन्म देता है, वैसे ही उनका मन तदनुरूप पुत्रके मनको जन्म देता है, तो कुछ हद तक ठीक होनेपर भी यह बात सर्वांशमें ठीक नहीं जँचती। यदि ऐसा होता, तो मन्दबुद्धि माता-पिताओंको प्रतिभाशाली पुत्र, ऐसे ही प्रतिभाशाली माता-पिताओंको

मन्दबुद्धि पुत्र न उत्पन्न होते। पंडितकी सन्तान मूर्ख बहुधा देखी जाती है। ये दिक्कतें हट जाती हैं, यदि हम जीवन-प्रवाहको इस शरीरके पहलेसे मान लें। फिर तो हम कह सकते हैं, हर एक पूर्व जीवन परवर्ती जीवनको निर्माण करता है। जिस प्रकार खानसे निकला लोहा, पिघलाकर बना कच्चा लोहा और अनेकों बार ठंडा और गरम करके बना फौलाद तीनों ही लोहे हैं, तो भी उनमें संस्कारकी मात्रा जैसी कम-ज़्यादा है, उसीके अनुसार हम उन्हें कम-अधिक संस्कृत पाते हैं। प्रतिभाशाली बालककी बुद्धि फौलादकी तरह पहलेके चिर-अभ्याससे सुसंस्कृत है। मानसिक अभ्यासका यद्यपि स्मृतिके रूपमें सर्वथा उपस्थित रहना अत्यावश्यक नहीं है, परन्तु तदनुसार न्यूनाधिक संस्कृत होना तो बहुत ज़रूरी है। इस जन्ममें भी कालेज छोड़नेके बाद, कुछ ही वर्षोंमें पाठ्य-पुस्तकोंके रटे हुए बहुतसे नियम, सूत्र भूल जाते हैं, लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि सारे अध्ययनका परिश्रम व्यर्थ जाता है। ताजे घड़ेमें कुछ दिन रखकर निकाल लिये गये घीकी भाँति, भूल जानेपर भी जो विद्याध्ययन-संस्कार मनके भीतर समा गया रहता है, वही शिक्षाका फल है। कालेज छोड़े वर्षों हो जाने, एवं पढ़ी बातोंको भूल जानेपर भी, जैसे मनुष्यकी मानसिक संस्कृति उसके पूर्वके विद्याभ्यासको प्रमाणित करती है; उसी प्रकार शैशवमें झलकनेवाले प्रतिभाको क्यों न पूर्वके अभ्यासका परिणाम माना जाय? वस्तुतः आनुवंशिकता और वातावरण मानसिक शक्तिके जितने अंशके कारण नहीं हैं—और ऐसे अंश काफी हैं (मेधाविता-मन्दबुद्धिता, भद्रता-नृशंसता आदि कितने ही अपैतृक गुण मनुष्यमें अकसर दिखाई पड़ते हैं) उनका कारण इससे पूर्वके जीवन-प्रवाहमें ढूँढ़ना पड़ेगा। एक तरुण बड़ी तपस्यासे अध्ययन कर जिस समय उत्तम श्रेणीमें एम०ए० पास करता है, उसी समय अपने परिश्रमका पारितोषिक पाये बिना उसका यह जीवन समाप्त हो जाता है; उसके इस परिश्रमको शरीरके साथ विनष्ट हो गया माननेकी अपेक्षा क्या यह अच्छा नहीं है कि उसे प्रतिभाशाली शिशुके साथ जोड़ दिया जाय? अपंडित माता-पिताके असाधारण गणितज्ञ, संगीतज्ञ शिशु देखे गये हैं। उक्त क्रमसे विचारनेपर हमें मालूम होता है कि हमारा इस शरीरका जीवन-प्रवाह एक सुदीर्घ जीवन-प्रवाहका छोटासा बीचका अंश है, जिसका पूर्वकालीन प्रवाह चिरकालसे आ रहा है, और परकालीन भी चिरकाल तक रहेगा। चिरकाल ही हम कह सकते हैं, क्योंकि अनन्तकाल कहनेपर अनन्तकालसे संचित राशिमें कुछ वर्षोंका संचित संस्कार कोई विशेष प्रभाव नहीं रख सकता, जैसे खारे समुद्रमें एक छोटीसी मिश्रीकी डली। जीवनमें हम प्रभाव होता देखते हैं, और व्यक्ति और समाज बेहतर बननेकी इच्छा रखकर तभी प्रयत्न कर सकते हैं, यदि जीवनकी संस्कृतिको अनन्तकालसे प्रयत्नका नहीं, बल्कि एक परिमित कालके प्रयत्नका परिणाम मान लें। वस्तुतः अनन्तकाल और अकाल दोनों ही भिन्न-भिन्न मानसिक संस्कृतियोंके भेदको आकस्मिक बना देते हैं। जीवन-प्रवाह इस शरीरसे पूर्वसे आ रहा है, और पीछे भी रहेगा, तो भी अनादि और अनन्त नहीं है। इसका आरम्भ तृष्णा या स्वार्थपरतासे है, और तृष्णाके क्षयके साथ इसका क्षय हो जाता है।

जीवन-प्रवाहको इस शरीरसे पूर्व और पश्चात् काल भी माननेपर हम निकम्मे-से-निकम्मे आदमीको भी बेहतर बननेकी आशा दिला सकते हैं। किसी ऊँचे आदर्शके लिए, लोक, समाज या दूसरे व्यक्तिके उत्कर्षके लिए, तभी अपने इस जीवनका उत्सर्ग तक कर देनेवाले पुरुषोंकी पर्याप्त संख्या मिल सकती है। तभी मनुष्य अपने अच्छे-बुरे कर्मोंके दायित्वको पूरी तरह समझकर दूसरेके अपकारसे अपनेको रोकनेके लिए तैयार हो सकता है। समाजके हितके लिए व्यक्तियोंका आत्म-बलिदानके लिए तैयार रहना एवं समाजके अपकार करनेसे व्यक्तियोंका आत्म-निग्रह ये दोनों बातें लोकको बेहतर बनानेके लिए अनिवार्यतया आवश्यक हैं। लोकोन्नति वस्तुतः इन्हीं दो

बातोंपर निर्भर है। इसी शरीरको आदिम और अन्तिम मान लेनेपर उन दोनों बातोंके लिए आदमीको प्रेरक वस्तुका अत्यन्ताभाव यदि नहीं, तो इतना अभाव ज़रूर हो जायगा, जिससे ऊपर बढ़नेकी गति रुक जायगी, और फलतः पीछेकी ओर गिरावट आरम्भ हो जायगी।

बुद्धकी शिक्षा और दर्शन इन चार सिद्धान्तोंपर अवलम्बित हैं। पहले तीनों सिद्धान्त बौद्धधर्मको दुनियाके अन्य धर्मोंसे पृथक करते हैं। ये तीनों सिद्धान्त जड़वाद और बुद्ध-धर्ममें समान हैं, किन्तु चौथी बात, अर्थात् जीवन-प्रवाहको इसी शरीर तक परिसीमित न मानना, इसे जड़वादसे पृथक् करता है, और साथ ही व्यक्तिके लिए भविष्यको आशामय बनानेका यह एक सुंदर उपाय है, जिसके बिना किसी आदर्शवादका कार्यरूपमें परिणत होना दुष्कर है।

चारों सिद्धान्तोंमें पहले तीन, तीन बड़ी परतन्त्रताओंसे मनुष्यको मुक्त कराते हैं। चौथा आशामय भविष्यका सन्देश देता है और शील-सदाचारके लिए नींव बनता है। चारोंका जिसमें एकत्र सम्मेलन है, वही बुद्ध-धर्म है।

राहुल सांकृत्यायन

सुत्तन्त(= सूत्र)-सूची

सुत्तन्त-(= सूत्र) अनुक्रमणी

वग्ग-अनुक्रमणी

	संख्या		संख्या
अनुपद	१२ (३।२)	यमक । चूल—	५ (१।५)
ओपम्म	३ (१।३)	,, महा—	४ (१।४)
गहपति	६ (२।१)	राज	९ (२।४)
देवदह	११ (३।१)	विभंग	१४ (३।४)
परिब्बाजक	८ (२।३)	सळायतन	१५ (३।५)
ब्राह्मण	१० (२।५)	सीहनाद	२ (१।२)
भिक्खु	७ (२।२)	सुञ्ञता	१३ (३।३)
मूलपरियाय	१ (१।१)		

विषय-सूची

मूल-परागासक

[प्रथम-पंचाशक १–५० सूत्र]

मज्झिम-निकाय

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मा संबुद्धस्स

१—मूलपरियाय-सुत्तन्त (१।१।१)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् उक्कट्ठाके सुभगवनमें सालराजके नीचे विहार करते थे। वहाँ भगवान्ने भिक्षुओंको संबोधित किया—"भिक्षुओ!"

"भदन्त!"—(कह) उन भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया।

भगवान्ने यह कहा—"भिक्षुओ! सारे धर्मोंके मूल नामक (=मूलपरियाय) (उपदेश) को तुम्हें उपदेशता हूँ। उसे सुनो, अच्छी तरह मनमें (धारण) करो, कहता हूँ।"

"हाँ, भन्ते!"—(कह) उन भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया।

भगवान्ने यह कहा—"भिक्षुओ! आर्योंके दर्शनसे वंचित, आर्यधर्मसे अपरिचित, आर्य-धर्ममें अविनीत (=न पहुँचे); सत्पुरुषों के दर्शनसे वंचित, सत्पुरुषोंके धर्मसे अपरिचित, सत्पुरुषोंके धर्ममें अविनीत; अश्रुतवान् (=अज्ञ), पृथग्जन (=अनाडी) पृथ्वीको पृथ्वीके तौर पर समझता है, पृथ्वीको पृथ्वीके तौरपर समझकर पृथ्वी मानता है, पृथिवी-द्वारा मानता है, पृथिवीसे मानता है, पृथ्वी मेरी है—मानता है, पृथ्वीका अभिनन्दन करता है। सो किसलिये?—उसे ठीकसे मालूम नहीं है—कहूँगा। पानीको पानीके तौरपर समझता है ०[1]। तेजको तेजके तौरपर समझता है ०। वायुको वायुके तौरपर समझता है ०। भूतों (=भूत-प्रेतों)को भूतके तौरपर समझता है ०। देवताओंको देवताके तौरपर समझता है ०। प्रजापतिको प्रजापतिके तौरपर समझता है ०। ब्रह्माको ब्रह्माके तौरपर समझता है ०। आभास्वर (देवताओं)को आभास्वरके तौरपर समझता है ०। सुभकिण्ह (=शुभकृत्स्न देवताओं)को, सुभकिण्हके तौरपर समझता है ०। वेहप्फल (=बृहत्फल देवताओं)को वेहप्फलके तौरपर समझता है ०। अभिभू (देवता)को अभिभूके तौरपर समझता है ०। आकासानंचायतन (=अनन्त आकाशके निवासी देवताओं)को आकासानंचायतनके तौरपर समझता है ०। विञ्ञाणंचायतन (=अनन्त विज्ञान जिनका घर है, उन देवताओं)को विञ्ञाणंचायतनके तौरपर समझता है ०। आकिंचञ्ञायतन (=जिनका आयतन कुछ नहीं है, उन देवताओं)को आकिंचञ्ञायतनके तौरपर समझता है ०। नेवसञ्ञानासञ्ञा-यतन [=जिनको न संज्ञा (=होश) है, न असंज्ञा, उन देवताओं]को नेवसञ्ञायतनके तौरपर समझता है ०। दृष्ट (=देखे)को दृष्टके तौरपर समझता है ०। श्रुत (=सुने)को श्रुतके तौरपर समझता है ०। स्मृत (=यादमें आये)को स्मृतके तौरपर समझता है ०। विज्ञात

---

[1] जहाँ (०) चिन्ह हो, वहाँ पहिले आये वाक्यसमूहको दुहराना चाहिये।

(=जाने गये)को विज्ञातके तौरपर समझता है ०। एकत्त्व (=अकेलेपन)को एकत्वके तौरपर समझता है ०। नानात्त्व (=अनेकपन)को नानात्त्वके तौरपर समझता है ०। सर्व (=सारे)को सर्वके तौरपर समझता है ०। निर्वाणको निर्वाणके तौरपर समझता है, निर्वाणको निर्वाणके तौरपर समझकर निर्वाणको मानता है, निर्वाणद्वारा मानता है, निर्वाणसे मानता है, निर्वाण मेरा है—मानता है, निर्वाणको अभिनन्दन करता है। सो किसलिये?—उसे ठीकसे मालूम नहीं है—कहूँगा।

अश्रुतवान् पृथग्जनके द्वारा प्रथम भूमिपरिच्छेद।

"भिक्षुओ! वह भिक्षु भी, जोकि सेख (=शैक्ष्य[1]=जिसको अभी सीखना बाकी है) पहुँचे-हुये-मनवाला नहीं है, सर्वोत्तम योगक्षेम (=कल्याणकारी पद)की चाहमें विहरता है; वह भी पृथ्वीको पृथ्वीके तौरपर समझता है; पृथ्वीको पृथ्वीके तौरपर समझकर या तो पृथ्वी मानता है, या पृथ्वीद्वारा मानता है, या पृथ्वीसे मानता है, या पृथ्वी मेरी है—ऐसा मानता है, या पृथ्वीका अभिनंदन करता है। सो किसलिये?—(अभी) उसे ठीकसे मालूम करना है—कहूँगा। पानीको ०। तेजको ०। वायुको ०। भूतोंको ०। देवताओंको ०। प्रजापतिको ०। ब्रह्माको ०। आभास्वरोंको ०। शुभकृत्स्नोंको ०। बृहत्फलोंको ०। अभिभूको ०। आकाशानंचायतनको ०। विञ्ञानंचायतनको ०। आकिंचञ्ञायतनको ०। नेवसञ्ञानासञ्ञायतनको ०। दृष्ट ०। श्रुत ०। स्मृत ०। विज्ञात ०। एकत्त्व ०। नानात्त्व ०। सर्व ०। निर्वाण ०।

शैक्ष्यके द्वारा द्वितीय भूमिपरिच्छेद।

"भिक्षुओ! वह भिक्षु भी, जोकि अर्हत् है, क्षीणास्रव (=राग आदिसे मुक्त), (ब्रह्मचर्य-) वास-समाप्त-कर-चुका, कृतकरणीय, व अवहितभार (=भारको फेंक चुका), सच्चे-पदार्थको-पा चुका, भव (=संसार)के बंधनोंको काट चुका, यथार्थ ज्ञानद्वारा मुक्तहो चुका है; वह भी पृथ्वीको पृथ्वीके तौर पर पहिचानता है; पृथ्वीको पृथ्वीके तौर पर पहिचानकर न पृथ्वीको मानता है, न पृथ्वीद्वारा मानता है, न पृथ्वीसे मानता है, न 'पृथ्वी मेरी है'—मानता है, न पृथ्वीको अभिनन्दन करता है। सो किस हेतुसे?—उसे (यह) ठीकसे मालूम है—कहूँगा। पानी ०। तेज ०। ०।

क्षीणास्रवके द्वारा पहिले प्रकारसे तृतीय भूमिपरिच्छेद।

"भिक्षुओ। वह भिक्षु भी, जोकि अर्हत क्षीणास्रव है ०; वह भी पृथ्वीको पृथ्वीके तौर पर पहिचानता है ० पहिचानकर न पृथिवीको मानता है, ०। सो किस हेतुसे?—रागके नष्ट हो जानेसे, वीतराग होनेसे—कहूँगा। पानी ०। ०।

क्षीणास्रवके द्वारा द्वितीय प्रकारसे चतुर्थ भूमिपरिच्छेद।

"भिक्षुओ! वह भिक्षु भी, जोकि अर्हत् क्षीणास्रव है ०; वह भी पृथिवीको पृथिवीके तौर पर पहिचानता है, ० पहिचानकर न पृथिवीको मानता है ०। सो किस वजहसे?—द्वेषके नष्ट हो जानेसे, वीतद्वेष होनेसे—कहूँगा। पानी ०। ०।

---

[1] बौद्ध शास्त्रोंमें मनुष्योंके दो विभाग किये गये हैं। जोकि सन्मार्गपर दृढ़ता पूर्वक आरूढ़ नहीं हुये हैं, उन्हें पृथग्जन कहते हैं। जो सन्मार्ग पर दृढ़तापूर्वक आरूढ़ हैं, उन्हें आर्य कहते हैं। आर्योंमें जिन्हें अभी करना और सीखना है, उन्हें शैक्ष्य (=स्रोतआपन्न, सकृदागामी, अनागामी) कहते हैं, और जो मुक्त, कृतकृत्य हैं, उन्हें अशैक्ष्य या अर्हत् कहते हैं।

क्षीणास्रवके द्वारा तृतीय प्रकारसे पंचम भूमिपरिच्छेद ।

"भिक्षुओ ! वह भिक्षुभी, जोकि अर्हत् क्षीणास्रव है ० ; वह भी पृथिवीको पृथिवीके तौर पर पहिचानता है, ० पहिचानकर न पृथिवीको मानता है ० । सो किस वजहसे ?—मोहके नष्ट हो जानेसे , वीतमोह होनेसे—कहूँगा । पानी ० । ० ।

क्षीणास्रव-द्वारा चौथे प्रकारसे षष्ठ भूमिपरिच्छेद ।

"भिक्षुओ ! तथागत[१] अर्हत् सम्यक्-संबुद्ध (= यथार्थ परमज्ञानी) भी पृथिवीको पृथिवीके तौर पर पहिचानते हैं, ० पहिचानकर न पृथिवीको मानते हैं ० । सो किस वजहसे ? तथागतने ठीकसे जान लिया है—कहूँगा । पानी ० । ० ।

शास्ता (= उपदेष्टा=बुद्ध)-द्वारा पहिले प्रकारसे सप्तम भूमिपरिच्छेद ।

"भिक्षुओ ! तथागत ० भी, ० पहिचानकर न पृथिवीको मानते हैं ० । सो किस वजहसे ? नन्दी (= तृष्णा) दुःखका मूल है—ऐसा जानकर, 'भव (= संसार)में जन्मने वालेको जरा और मरण (अवश्यंभावी) है' । इसलिये भिक्षुओ ! तथागत सारी ही तृष्णाओंके क्षय, विराग, निरोध, त्याग, विसर्जनसे, सर्वोत्तम सम्यक्-संबोधि (= यथार्थ परमज्ञान)के जानकार (= अभिसंबुद्ध= संबुद्ध) हैं—कहता हूँ । पानी ० । ० ।"

शास्ताद्वारा दूसरे प्रकारसे अष्टम भूमिपरिच्छेद ।

—भगवान्ने यह कहा, (किन्तु) उन भिक्षुओंने भगवान्के भाषणका अभिनन्दन नहीं किया ।[१]

[१] तथा=जैसे (अन्य बुद्ध संसारमें आये, आते हैं, या आयेंगे, वैसे ही जो), आगत = आया ।

२—सब्बासव-सुत्तन्त (१।१।२)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथपिंडिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे। वहाँ भगवान्ने भिक्षुओंको संबोधित किया—"भिक्षुओ !"

"भदन्त !"—(कह) उन भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया।

भगवान्ने यह कहा—"भिक्षुओ ! सारे आस्रवों (= सब्बासव)के संवर (= रोक) नाशक (उपदेश)को तुम्हें उपदेशता हूँ। उसे सुनो, अच्छी तरह मनमें (धारण) करो, कहता हूँ।"

"हाँ भन्ते !"—(कह) उन भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया।

भगवान्ने यह कहा—"भिक्षुओ ! जानते हुये देखते हुये, मैं आस्रवों (= मलों)के क्षय (के बारेमें) कहता हूँ, विना जाने विना देखे नहीं। भिक्षुओ ! क्या जान क्या देख, आस्रवोंका क्षय होता है ?—योनिसोमनसिकार (= ठीकसे मनमें धारण करना), और अयोनिसोमनसिकार (= वेठीकसे मनमें धारण करना)। वेठीकसे मनमें (धारण) करनेसे, न-उत्पन्न आस्रव उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न आस्रव बढ़ते हैं। ठीकसे मनमें (धारण) करनेसे, न-उत्पन्न आस्रव उत्पन्न नहीं होते, और उत्पन्न आस्रव नष्ट होते हैं।

"भिक्षुओ ! (१) (कोई कोई) आस्रव दर्शन (= विचार)से प्रहातव्य (= त्यागे जा सकते) हैं; (२) (कोई कोई) संवरसे त्यागे जा सकते हैं; (३) (कोई कोई) आस्रव प्रतिसेवन (= सेवन)से त्यागे जा सकते हैं; (४) (कोई कोई) आस्रव अधिवासन (= स्वीकार) करने से त्यागे जा सकते हैं; (५) (कोई कोई आस्रव परिवर्जन (= छोड़ने)से त्यागे जा सकते हैं; (६) (कोई कोई) आस्रव विनोदन (= हटाने)से त्यागे जा सकते हैं; (७) (कोई कोई) आस्रव (हैं, जो) भावनासे त्यागे जा सकते हैं।

१. "भिक्षुओ ! कौनसे आस्रव दर्शनसे प्रहातव्य हैं ?—भिक्षुओ ! अज्ञ, अनाड़ी०[1] (जन) मनमें (धारण) करने योग्य धर्मों (= पदार्थों)को नहीं जानता, (और) न मनमें न (धारण) करने योग्य धर्मोंको जानता है। वह मनसिकरणीय (= मनमें धारण करने योग्य) धर्मोंको न जान, अ-मनसिकरणीय धर्मोंको न जान; जो धर्म मनसिकरणीय नहीं हैं, उन्हें मनमें (धारण) करता है, और जो धर्म अमनसिकरणीय हैं, उन्हें मनमें नहीं करता।

क. भिक्षुओ ! कौनसे धर्म न मनसिकरणीय हैं, जिन्हें कि वह मनमें करता है ?—भिक्षुओ ! (जिन) धर्मोंके मनमें करनेसे उसके (भीतर) अनुत्पन्न काम-आस्रव (= कामना रूपी मल)

---

[1] देखो पृष्ठ ३।

उत्पन्न होता है, और उत्पन्न काम-आस्रव बढ़ता है; अनुत्पन्न भव-आस्रव (= जन्मनेकी इच्छा रूपी मल) उत्पन्न होता है, और उत्पन्न भव-आस्रव बढ़ता है; अनुत्पन्न अविद्या-आस्रव (= अज्ञान रूपी मल) उत्पन्न होता है ०। ये धर्म मनसिकरणीय नहीं हैं, जिनको कि वह मनमें करता है।

ख. "भिक्षुओ! कौनसे धर्म मनसिकरणीय हैं; जिनको कि वह मनमें नहीं करता?—भिक्षुओ! (जिन) धर्मोंको मनमें करनेसे, उस (मनुष्यके भीतर) अनुत्पन्न काम-आस्रव उत्पन्न नहीं होता, और उत्पन्न···नष्ट हो जाता है; अनुत्पन्न भव-आस्रव ०; अनुत्पन्न अविद्या-आस्रव ० नष्ट हो जाता है।—ये धर्म मनसिकरणीय हैं, जिनको कि वह मनमें नहीं करता।

ग. "अ-मनसिकरणीय धर्मोंके मनमें करनेसे, (तथा) मनसिकरणीय धर्मोंके मनमें न करनेसे, उस (पुरुषके भीतर) अनुत्पन्न आस्रव उत्पन्न होते हैं, और उत्पन्न आस्रव वृद्धिको प्राप्त होते हैं। वह (पुरुष) इस प्रकार बेठीक तरहसे मनमें (चिन्तन) करता है—(क) क्या मैं अतीतकालमें था? क्या मैं नहीं था अतीतकालमें? मैं क्या था अतीतकालमें? मैं कैसा था अतीतकालमें? अतीतकालमें मैं क्या होकर क्या हुआ था? (ख) क्या मैं भविष्यकालमें होऊँगा? क्या मैं भविष्यकालमें न होऊँगा? मैं भविष्यकालमें क्या होऊँगा? मैं भविष्यकालमें कैसा होऊँगा? मैं भविष्यकालमें क्या होकर क्या होऊँगा? (ग) अब (इस) वर्तमानकालमें अपने भीतर तर्क-वितर्क करता है—मैं हूँ न? नहीं हूँ न? मैं क्या हूँ? मैं कैसा हूँ? यह सत्व (= प्राणी) कहाँसे आया है? वह कहाँ जानेवाला होगा?

—"इस प्रकार बेठीक तौरसे मनमें (धारण) करनेसे छ दृष्टियों (= वादों, मतों)में से कोई एक दृष्टि उसे उत्पन्न होती है—(१) 'मेरा आत्मा है', इस प्रकारकी दृष्टि सत्य और दृढ़ (सिद्धान्त)के रूपमें उत्पन्न होती है। या (२) 'मेरे (भीतर) आत्मा नहीं है', इस प्रकारकी ०। (३) 'आत्माको ही आत्मा समझता हूँ,' ०। (४) 'आत्माको ही अनात्मा समझता हूँ', ०। (५) 'अनात्माको ही आत्मा समझता हूँ', ०। अथवा (६) उसकी दृष्टि (= मत) होती है—'जो यह मेरा आत्मा अनुभवकर्ता (वेदक), (तथा) अनुभव होने योग्य है, और तहाँ तहाँ (अपने) भले बुरे कर्मोंके विपाकको अनुभव करता है; वह यह मेरा आत्मा नित्य=ध्रुव=शाश्वत, अपरिवर्तन-शील (= अविपरिणामधर्मा) है, अनन्त वर्षों तक वैसा ही रहेगा'।

—"भिक्षुओ! इसे कहते हैं दृष्टि-गत (= मतवाद) दृष्टि-गहन (= दृष्टिका घना जंगल), दृष्टिकी मरुभूमि (= दृष्टिकान्तार), दृष्टिका काँटा (= दृष्टि-विशूक), दृष्टिकी कुदान, दृष्टिका फंदा (= दृष्टि-संयोजन)। भिक्षुओ! दृष्टिके फंदेमें फँसा अज्ञ अनाड़ी (पुरुष) जन्म, जरा, मरण, शोक, रोदन-क्रंदन, दुःख-दुर्मनस्कता और हैरानियोंसे नहीं छूटता, दुःखसे परिमुक्त नहीं होता—कहता हूँ।

"और भिक्षुओ! जो आर्योंके दर्शनको प्राप्त, आर्यधर्मसे परिचित, आर्यधर्ममें नीत (= प्राप्त) है; सत्पुरुषोंके दर्शनको प्राप्त, सत्पुरुष-धर्मसे परिचित, सत्पुरुष-धर्ममें नीत, बहुश्रुत आर्य-श्रावक (= सन्मार्ग पर आरूढ़ पुरुष,) है, वह मनसिकरणीय धर्मोंको जानता है, और अ-मनसिकरणीय धर्मोंको (भी) जानता है। वह मनसिकरणीय···और अ-मनसिकरणीय धर्मोंको जान, जो धर्म मनसिकरणीय नहीं हैं, उन्हें···मनमें नहीं करता; जो धर्म मनसिकरणीय हैं, उन्हें... मनमें करता है।

क. "भिक्षुओ! कौनसे धर्म मनसिकरणीय नहीं हैं···?—भिक्षुओ! (जिन) धर्मोंके

मनमें करनेसे उस (पुरुषके भीतर) अनुत्पन्न काम-आस्रव उत्पन्न होता है ०[1] । ये धर्म मनसिकरणीय नहीं हैं, जिनको कि वह मनमें नहीं करता ।

ख. "भिक्षुओ ! कौनसे धर्म मनसिकरणीय हैं, जिनको कि वह मनमें करता है ? ०[1] । ये धर्म मनसिकरणीय हैं, जिनको कि वह मनमें करता है ।

ग. "अ-मनसिकरणीय धर्मोंको मनमें न करनेसे, (तथा) मनसिकरणीय धर्मोंको मनमें करनेसे, उस (पुरुषके भीतर) न-उत्पन्न आस्रव उत्पन्न नहीं होते, और उत्पन्न आस्रव नष्ट होते हैं। (तब) वह यह ठीकसे मनमें (ज्ञान) करता है—यह दुःख है,...यह दुःख-समुदय (= दुःखका कारण) है,...यह दुःख-निरोध (= दुःखका विनाश) है,...यह दुःख-निरोध की ओर लेजानेवाला मार्ग (= प्रतिपद्) है। इस प्रकार मनमें करनेपर उसके तीन संयोजन (= फंदे, बंधन)—(१) सत्कायदृष्टि (= कायाके भीतर एक नित्य आत्माकी सत्ताको मानना), (२) विचिकित्सा (=संशय), (३) शीलव्रत-परामर्श (= शील और व्रतका अभिमान)—छूट जाते हैं। —भिक्षुओ ! यह दर्शनसे प्रहातव्य आस्रव कहे जाते हैं।

२. "भिक्षुओ ! कौनसे संवर (= ढाँकने, संयम करने) द्वारा प्रहातव्य आस्रव हैं ?—भिक्षुओ ! यहाँ (कोई) भिक्षु ठीकसे जान (= प्रतिसंख्यान) कर, चक्षु (= आँख) इन्द्रियमें संयम करके विहरता है। (तब) चक्षु-इन्द्रियमें असंयम करके विहरनेपर, जो पीड़ा और दाह देनेवाले आस्रव उत्पन्न होते, वह...संयम करके विहरनेपर उत्पन्न नहीं होते हैं। ० श्रोत्र-इन्द्रिय ०। ० घ्राण-इन्द्रिय ०। ० जिह्वा-इन्द्रिय ०। ० काय-इन्द्रिय ०। ० मन-इन्द्रियमें संयम करके ० पीड़ा और दाह देनेवाले आस्रव ० उत्पन्न नहीं होते।

"भिक्षुओ ! यह संवर-द्वारा प्रहातव्य आस्रव कहे जाते हैं।

३. "भिक्षुओ ! कौनसे प्रतिसेवन (= सेवन) द्वारा प्रहातव्य आस्रव हैं ?—(क). भिक्षुओ ! यहाँ (कोई) भिक्षु ठीकसे जानकर (उतना ही) चीवर (= वस्त्र)का सेवन करता है, जितना कि सर्दी..गर्मीकी पीड़ा, और मक्खी मच्छर-हवा-धूप-सरीसृप (= साँप बिच्छू)के आघातके रोकनेके लिये (आवश्यक) है; जितना लाजशर्म ढाँकनेके लिये (आवश्यक) है। (ख). ठीकसे जानकर भिक्षान्न (= पिंडपात) सेवन करता है; क्रीड़ा, मद, मंडन-विभूषणके लिये न करके (उतना ही भिक्षान्न सेवन करता है) जितना कि इस शरीरकी स्थितिके लिये (आवश्यक है); (भूखके) प्रकोपके शमन करने तथा ब्रह्मचर्यमें सहायताके लिये (आवश्यक है)। (यह सोचते हुये—) पुरानी (कर्म-विपाक रूपी) वेदनाओं (= पीडाओं)को स्वीकार करूँगा, नई वेदनाओंको न उत्पन्न करूँगा; मेरी (शरीर-)यात्रा निर्दोष होगी, और विहार निर्द्वन्द होगा। (ग). ठीकसे जानकर (वैसेही) निवास-गेह (= शयनासन)का सेवन करता है; जोकि सर्दी, गर्मी ०[2] के आघातके रोकनेके लिये (आवश्यक) है। जो ऋतुकी पीड़ाको हटाने और एकांत चिन्तनके लिये (उपयोगी) है। (घ). ठीकसे जानकर रोगीके लिये (उपयुक्त) पथ्य औषधकी वस्तुओंका सेवन करता है, जिससे कि उत्पन्न व्याधियाँ और पीडायें दूर हो परम निरोगताको प्राप्त हो। भिक्षुओ ! जिसके न सेवन करनेसे दाह और पीडा देनेवाले आस्रव उत्पन्न होते हैं, और सेवन करनेसे...(वह) उत्पन्न नहीं होते;...वह प्रतिसेवनद्वारा प्रहातव्य आस्रव कहे जाते हैं।

४. "भिक्षुओ ! कौनसे आस्रव अधिवासन (= स्वीकृति) द्वारा प्रहातव्य हैं ?—भिक्षुओ ! यहाँ (एक) भिक्षु ठीकसे जानकर, सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, मक्खी-मच्छर-हवा-धूप-सरीसृपोंके

---

[1] देखो पृष्ठ ७। [2] देखो ऊपर।

आघातको सहनेमे समर्थ होता है; वाणीसे निकले दुर्वचन, तथा शरीरमें उत्पन्न ऐसी दुःखमय, तीव्र, तीक्ष्ण, कटुक, अवांछित, अरुचिकर, प्राणहर पीड़ाओंको स्वागत करनेवाले स्वभावका होता है। जिनके कि भिक्षुओ ! न **अधिवासन** (= स्वीकार) करनेसे दाह और पीड़ा देनेवाले आस्रव उत्पन्न होते हैं, और अधिवासन करनेसे···(वह) उत्पन्न नहीं होते;···वह अधिवासन-द्वारा प्रहातव्य आस्रव कहे जाते हैं।

५. "भिक्षुओ ! कौनसे **परिवर्जन** (बँचने)द्वारा प्रहातव्य आस्रव हैं ?—भिक्षुओ ! यहाँ (एक) भिक्षु ठीकसे जानकर, चण्ड (= क्रूर) हाथीको (दूरसे) बँचता है, चण्ड घोड़े···, चण्ड बैल···, चण्ड कुत्ते···, साँप, खाई, काँटेकी बारी, दह, जलप्रपात, चन्दनिका (गड़हा), ओलिगल्ल (= गड़ही)से (बँचता है)। जैसे अनुचित आसनपर बैठे, जैसे अनुचित विचरण स्थानपर विचरते, जैसे बुरे मित्रोंको सेवन करते (देख) जानकर, सब्रह्मचारी (= एक जैसे व्रतपर आरूढ़ गुरुभाई) बुरे स्थानोंमें चले जायें; ठीकसे जानकर, वैसे अनुचित आसन, वैसे अनुचित विचरण-स्थान, वैसे बुरे मित्रोंके सेवनसे, बँचता है। भिक्षुओ ! जिसके परिवर्जन न करनेसे दाह और पीड़ा देनेवाले आस्रव उत्पन्न होते हैं, और परिवर्जन करनेसे···(वह) उत्पन्न नहीं होते; भिक्षुओ ! यह परिवर्जन द्वारा प्रहातव्य आस्रव कहे जाते हैं।

६. "भिक्षुओ ! कौनसे **विनोदन** (= हटाने)द्वारा प्रहातव्य आस्रव हैं ?—भिक्षुओ ! यहाँ (एक) भिक्षु ठीकसे जानकर, उत्पन्न हुये **काम-वितर्क** (= काम-वासना संबंधी संकल्प-विकल्प) का स्वागत नहीं करता, (उसे) छोड़ता है, हटाता है, अलग करता है, मिटाता है; उत्पन्न हुये **व्यापाद-वितर्क** (= द्रोहके ख्याल)का०; उत्पन्न हुये **विहिंसा-वितर्क** (= प्रतिहिंसाके ख्याल) का०; पुनः पुनः उत्पन्न होनेवाले पापी विचारों (= धर्मों)का ०। भिक्षुओ ! जिसके न हटानेसे दाह और पीड़ा देनेवाले आस्रव उत्पन्न होते हैं, और विनोदन करनेसे···(वह) उत्पन्न नहीं होते;···यही (वह) विनोदनद्वारा प्रहातव्य आस्रव कहे जाते हैं।

७. "भिक्षुओ ! कौनसे **भावना** (= चिंतन, ध्यान)द्वारा प्रहातव्य आस्रव हैं ?—भिक्षुओ ! यहाँ (एक) भिक्षु ठीकसे जानकर, विवेक-युक्त, विराग-युक्त, निरोध-युक्त, मुक्ति-परिणामवाले **स्मृति-संबोध्यंग**[1]की भावना करता है; ठीकसे जानकर, ० **धर्मविचय-संबोध्यंग**की ०; ० **वीर्य-संबोध्यंग**की ०; ० **प्रीति-संबोध्यंग**की ०; **प्रश्रब्धि-संबोध्यंग**की ०; ० **समाधि-संबोध्यंग**की ०; **उपेक्षा-संबोध्यंग**की ० भावना करता है। भिक्षुओ ! जिसकी भावना न करनेसे ०;···यही (वह) भावनाद्वारा प्रहातव्य आस्रव कहे जाते हैं।

"भिक्षुओ ! जब भिक्षुके दर्शन-द्वारा प्रहातव्य आस्रव दर्शनसे नष्ट होगये, संवर-द्वारा प्रहातव्य संवरसे ०, प्रतिसेवन-द्वारा प्रहातव्य प्रतिसेवनसे ०, अधिवासन-द्वारा प्रहातव्य अधिवासनसे०, परिवर्जन-द्वारा प्रहातव्य परिवर्जनसे ०, विनोदन-द्वारा प्रहातव्य विनोदनसे ०, भावना-द्वारा प्रहातव्य भावनासे नष्ट होगये; तो भिक्षुओ ! वह भिक्षु सारे आस्रवों (= **सब्बासव**)के संवरसे युक्त हो विहर रहा है; उसने तृष्णाको छिन्न कर दिया, संयोजन(= बंधन)को मानाऽभिसमय (= अभिमानके दर्शन)से अच्छी तरह हटा दिया; (उसने) दुःखका अन्त कर दिया।"

भगवान्‌ने यह कहा; सन्तुष्ट हो उन भिक्षुओंने भगवान्‌के भाषणका अभिनन्दन किया।

---

[1] संबोधि=परमज्ञान, उसके लिये उपयोगी अंग, संबोध्यंग। यह सात हैं—स्मृति, धर्मविचय आदि। धर्म-विचय=धर्म-अन्वेषण। वीर्य=उद्योग। प्रीति=सन्तोष। प्रश्रब्धि=शान्ति। समाधि=चित्तकी एकाग्रता।

३—धम्मदायाद-सुत्तन्त (१।१।३)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथपिंडिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे। वहाँ भगवान्ने भिक्षुओंको संबोधित किया—"भिक्षुओ!"

"भदन्त!"—(कह) उन भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया।

भगवान्ने यह कहा—"भिक्षुओ! (तुम) मेरे धर्म-दायाद[1] (=धर्मकी वरासत पानेवाले) होओ, आमिष-दायाद (=धन-वित्तकी वरासत पानेवाले) मत बनो। तुमपर मेरी अनुकम्पा है। सो क्या?—(यही कि) मेरे शिष्य धर्मदायाद होवें, आमिष-दायाद नहीं। यदि भिक्षुओ! तुम मेरे आमिषदायाद होगे, धर्मदायाद नहीं; तो तुम लोग भी ताना मारे जाओगे—'शास्ता(=उपदेष्टा, बुद्ध)के श्रावक (=शिष्य) आमिष-दायाद होकर विहरते हैं, धर्मदायाद होकर नहीं।' मैं भी उसके कारण ताना मारा जाऊँगा—"शास्ताके श्रावक आमिषदायाद होकर विहरते हैं ०।" यदि भिक्षुओ! तुम मेरे धर्मदायाद होगे, आमिषदायाद नहीं, तो तुम भी ताना नहीं मारे जाओगे, (और लोग कहेंगे)—'शास्ताके श्रावक धर्मदायाद होकर विहरते हैं, आमिष-दायाद, होकर नहीं।' इससे मैं भी ताना नहीं मारा जाऊँगा, (और लोग कहेंगे)—०। इसलिये भिक्षुओ! (तुम) मेरे धर्मदायाद होओ ०। तुमपर मेरी अनुकम्पा है। ०।

"भिक्षुओ! (मान लो) मैं इस समय भली प्रकार, परिपूर्ण, यथेच्छ, तृप्त्यनुसार भोजन कर चुका हूँ, और मेरे पास अधिक भिक्षान्न बच गया हो। तब भूखकी दुर्बलतासे पीड़ित दो भिक्षु आवें। उनको मैं यह कहूँ—'भिक्षुओ! मैं ० तृप्त्यनुसार भोजन कर चुका हूँ, और मेरे पास०। यदि इच्छा हो, तो खाओ। अगर तुम न खाओगे, तो मैं अब इसे तृणरहित (स्थान)में डाल दूँगा, या प्राणिरहित 'जलमें छोड़ दूँगा'। तब एक भिक्षुके (मनमें) हो—'भगवान् ० तृप्त्यनुसार भोजन कर चुके हैं, और यह भिक्षान्न अधिक बच गया है। यदि हम न खायेंगे, तो भगवान् इसे तृणरहित ०। किन्तु, भगवान्का यह कहा हुआ है—भिक्षुओ! मेरे धर्मदायाद होओ ०। और यह भिक्षान्न तो एक आमिष ही है। क्यों न मैं इस भिक्षान्नको विना खाये ही, इस भूखकी दुर्बलताके साथ इस दिन रातको विता दूँ।' (ऐसा सोच) वह उस भिक्षान्नको विना खाये, उस भूखकी दुर्बलताके साथ उस दिन-रातको विता दे। और दूसरे भिक्षुके (मनमें) हो—'भगवान् तृप्त हो भोजन कर चुके हैं।०। तृणरहित ०। क्यों न मैं इस भिक्षान्नको खाकर, भूखकी दुर्बलताको दूरकर इस दिन रातको विताऊँ।' (तब) वह उस भिक्षान्नको खाकर भूखकी दुर्बलता दूरकर उस दिन रातको विताये। तो (उनमें), वह पहिला ही भिक्षु मुझे पूज्यतर और प्रशंस-

---

[1] दायाद=उत्तराधिकारी।

नीयतर है। सो किसलिये ?—भिक्षुओ ! वैसा (करना) चिरकाल तक अलोभ, सन्तोष, सल्लेख (= तप), सुभरता (= सुगमता) और उद्योगपरायणताके लिये उस भिक्षुको (उपकारी) होगा। इसलिये, भिक्षुओ ! मेरे धर्मदायाद होओ०। तुमपर मेरी अनुकम्पा ०।०।"

भगवान्‌ने यह कहा। यह कहकर सुगत(= बुद्ध) आसनसे उठकर विहार(= कुटी)के अन्दर चले गये।

तब भगवान्‌के चले जानेके थोड़ी ही देर बाद, आयुष्मान् सारि-पुत्रने भिक्षुओंको संबोधित किया—

"आवुसो,[1] भिक्षुओ !"

"आवुस !" (कह) उन भिक्षुओंने आयुष्मान् सारिपुत्रको उत्तर दिया।

आयुष्मान् सारिपुत्रने यह कहा—"आवुसो ! किन (कारणों)से श्रावक (= शिष्य) शास्ता (= गुरु)से अलग हो विहरते, विवेक (= एकान्तचिन्तन)की शिक्षा नहीं ग्रहण करते; और किनसे श्रावक शास्तासे अलग हो विहरते विवेककी शिक्षा ग्रहण करते हैं ?"

"आवुस ! दूरसे भी इस भाषणका अर्थ जाननेके लिये हम आयुष्मान् सारिपुत्रके पास आते हैं। अच्छा हो, आयुष्मान् सारिपुत्र ही इस वचनका अर्थ कहें। आयुष्मान् सारिपुत्र (के मुख)से (उसे) सुनकर भिक्षु धारण करेंगे।"

"तो, आवुसो ! सुनो, अच्छी तरह मनमें करो, कहता हूँ।"

"अच्छा, आवुस !" (कह) उन भिक्षुओंने आयुष्मान् सारिपुत्रको उत्तर दिया।

आयुष्मान् सारिपुत्रने यह कहा—"आवुसो ! यहाँ (कोई) शिष्य, गुरुसे अलग हो विहरते विवेककी शिक्षा नहीं ग्रहण करते, जिन बातों (= धर्मों)को शास्ता (= गुरु)ने छोड़नेको कहा, उन्हें नहीं छोड़ते। जोड़ने-बटोरनेवाले होते हैं। भागनेमें पहिले, और एकान्त-चिन्तनमें जुआ-गिरादेनेवाले होते हैं। इसमें स्थविर (= वृद्ध) भिक्षु तीन कारणोंसे निन्दाके पात्र होते हैं—(१) गुरुसे अलग हो विहरते, शिष्य विवेककी शिक्षा नहीं ग्रहण करते; यह पहिला कारण है, स्थविर भिक्षुओंके निन्दनीय होनेका। (२) जिन बातोंको शास्ताने छोड़नेको कहा, उन्हें नहीं छोड़ते; यह दूसरा कारण है ०। (३) जोड़ने-बटोरनेवाले होते हैं ०, यह तीसरा कारण है ०।

"आवुसो ! इन तीन कारणोंसे स्थविर भिक्षु निन्दनीय होते हैं। आवुसो ! वहाँ मध्यम (वयस्क) भिक्षु तीन कारणोंसे ०। नव (-वयस्क) भिक्षु तीन कारणोंसे निन्दनीय होते हैं—(१) गुरुसे अलग ०। इन कारणोंसे आवुसो ! शास्ताके अभावमें विहार करते शिष्य विवेककी शिक्षा ग्रहण नहीं करते।

"आवुसो ! किन कारणोंसे शास्ताके अभावमें विहरते शिष्य विवेककी शिक्षाको ग्रहण करते हैं ?—आवुसो ! यहाँ शास्ताके अभावमें विहरते श्रावक विवेककी शिक्षा ग्रहण करते हैं। जिन बातोंको शास्ताने छोड़नेको कहा, उन्हें छोड़ते हैं। जोड़ने-बटोरनेवाले नहीं होते। भागनेमें जुआ गिरा देनेवाले होते हैं; और एकान्त-चिन्तन (= प्रविवेक)में पहिले होते हैं। यहाँ, आवुसो ! स्थविर भिक्षु तीन बातोंसे प्रशंसनीय होते हैं—(१) शास्ताके अभावमें ० शिक्षा ग्रहण करते हैं, यह पहिली बात है, जिससे स्थविर ०। (२) जिन बातोंको शास्ताने छोड़नेको कहा, उन्हें छोड़ते

---

[1] स्नेह सूचक संबोधन है जो पहिले बड़ेके लिये भी प्रयुक्त किया जाता था, किन्तु बुद्धनिर्वाणके बाद छोटोंके लिये ही रह गया।

हैं ०। (३) जोड़ने-बटोरनेवाले नहीं होते ०। आवुसो ! स्थविर भिक्षु इन तीन बातोंसे प्रशंसनीय होते हैं। वहाँ मध्यम (-वयस्क) भिक्षु ०। नव(-वयस्क) भिक्षु तीन बातोंसे प्रशंसनीय होते हैं ०।०। आवुसो ! इन तीन बातोंसे भिक्षु प्रशंसनीय होते हैं। इन (बातों)से शास्ताके अभावमें विरहते श्रावक विवेककी शिक्षा ग्रहण करते हैं।

"आवुसो ! लोभ बुरी (वस्तु) है, और द्वेष बुरी (वस्तु) है। लोभ···और द्वेषके विनाश-के लिए आँख देनेवाली, ज्ञान देनेवाली मध्यमा-प्रतिपद् (= बीचका मार्ग) है, जो कि शांति, दिव्यज्ञान, संबोधि (= परमज्ञान) और निर्वाण (के प्राप्त करने)के लिये है। आवुसो ! कौन है वह आँख देनेवाली ० मध्यमा प्रतिपद् (जो कि) ० निर्वाणके लिये है ?—यही आर्यअष्टांगिक-मार्ग; जैसे कि—सम्यग् (=ठीक)-दृष्टि, सम्यक्-संकल्प, सम्यग्-वचन, सम्यक्-कर्मान्त (= कार-बार), सम्यग्-आजीव (= रोजी), सम्यग्-व्यायाम (= उद्योग), सम्यक्-स्मृति, और सम्यक्-समाधि। यह है आवुसो ! वह आँख देनेवाली ० मध्यमाप्रतिपद्, (जो कि) ० निर्वाणके लिये है।

"आवुसो ! वहाँ क्रोध बुरी (चीज़) है, और उपनाह (= पाखंड) बुरी चीज है ०; म्रक्ष (= अमरख) ०; प्रदाश (= पलास=निष्ठुरता) ०; ईर्ष्या ०; मात्सर्य (= कंजूसी) ०; माया (= धोखा देना) ०; शाठ्य (= शठता) ०; थम्भ (= जड़ता) ०; सारम्भ (= हिंसा) ०; मान ०; अतिमान ०; मद ०; प्रमाद (= भूल) बुरी (चीज) है। मद और प्रमादके विनाशके लिये आँख देनेवाली ० मध्यमा प्रतिपद् है ०। आवुसो कौन है ०।"

आयुष्मान् सारिपुत्रने यह कहा; (और) सन्तुष्ट हो उन भिक्षुओंने आयुष्मान् सारिपुत्रके भाषणका अभिनन्दन किया।

४—भयभेरव-सुत्तन्त (१।१।४)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथपिंडिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे।

तब जानुस्सोणि ब्राह्मण, जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया। जा कर भगवान्से···यथायोग्य (कुशल प्रश्न पूछ) एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठकर जानुस्सोणि ब्राह्मणने भगवान्से यह कहा—

"हे गौतम! जो यह (सारे) कुल-पुत्र आप गौतमको (नेता) मान, श्रद्धापूर्वक घरसे बेघर हो प्रव्रजित (=संन्यासी) हुये हैं; आप गौतम उनके अग्रगामी हैं, ० बहु-उपकारी हैं, ० उप-देष्टा हैं; यह जनसमुदाय आप गौतमके देखे (मार्ग) का अनुगमन करता है।"

"ऐसा ही है, ब्राह्मण! ऐसा ही है, ब्राह्मण! जो यह कुल-पुत्र मुझे (नेता) मानकर ०।"

"हे गौतम! कठिन हैं अरण्य वन-खंड, और सूनी कुटियाँ (=शयनासन); दुष्कर है एकान्त रमण (=प्रविवेक); समाधि न प्राप्त होने पर अभिरमण न करनेवाले भिक्षुके मनको, अकेला पा (यह) वन मानों हर लेते हैं।"

"ऐसा ही है, ब्राह्मण! ऐसा ही है, ब्राह्मण! कठिन है अरण्य ०। ब्राह्मण! सम्बोधि (=परमज्ञान) प्राप्त होनेसे पहिले, बुद्ध न होनेके वक्त, जब मैं बोधिसत्त्व[1] (ही था), तो मुझे भी ऐसा होता था—'कठिन हैं अरण्य ०।

"तब, ब्राह्मण! मेरे (मनमें) ऐसा हुआ—जो कोई अशुद्ध कायिक कर्मसे युक्त श्रमण (=संन्यासी) ब्राह्मण अरण्य, वनखण्ड, और सूनी कुटियोंका सेवन करते हैं; अशुद्ध कायिक कर्मके दोषके कारण, वह आप श्रमण-ब्राह्मण बुरे भय-भेरव (=भय और भीषणता)का आह्वान करते हैं; (लेकिन) मैं तो अशुद्ध कायिक कर्मसे युक्त हो अरण्य ० सेवन नहीं कर रहा हूँ। मेरे कायिक कर्म (=कर्मान्त) परिशुद्ध हैं, जो परिशुद्ध कायिक कर्मवाले आर्य अरण्य ० सेवन करते हैं, मैं उनमेंसे एक हूँ। ब्राह्मण! अपने भीतर इस परिशुद्ध कायिक कर्मके भावको देखकर, मुझे अरण्यमें विहार करनेका और भी अधिक पल्लोम (=उत्साह) हुआ।

"तब, ब्राह्मण! मेरे (मनमें) ऐसा हुआ—जो कोई अशुद्ध वाचिक कर्मवाले श्रमण-ब्राह्मण अरण्यमें ०।·० अशुद्ध मानसिक कर्मवाले श्रमण ब्राह्मण ०। ० अशुद्ध आजीविकावाले श्रमण-ब्राह्मण अरण्यमें ०। (लेकिन) मैं तो अशुद्ध आजीविकासे युक्त हो अरण्य ० सेवन नहीं कर रहा हूँ ०। ०। ब्राह्मण! अपने भीतर इस परिशुद्ध आजीविका (=रोज़ी) की विद्यमानताको देखकर, मुझे अरण्यमें विहार करनेका और भी अधिक उत्साह हुआ।

---

[1] अपने अनेक जन्मोंके परिश्रमसे पुण्य और ज्ञानका जो इतना संचय कर चुका है, कि आगे चल कर उसका बुद्ध होना निश्चित है।

"तब, ब्राह्मण ! मेरे (मनमें) ऐसा हुआ—जो श्रमण ब्राह्मण लोभी काम (-वासनाओं) में तीव्र राग रखनेवाले (हो) अरण्यमें ०। (लेकिन) मैं तो लोभी और कामोंमें तीव्र राग रखनेवाला न हो अरण्यमें ० । ० । ब्राह्मण ! अपने भीतर इस निर्लोभिता (=अन्-अभिध्यालुता) को देख० ।

"तब, ब्राह्मण ! ० हिंसायुक्त चित्तवाले और मनमें दुष्ट संकल्प रखनेवाले ० । ० ।

"तब, ब्राह्मण ! ० स्त्यान (=शारीरिक आलस्य)—मृद्ध (= मानसिक आलस्य)से प्रेरित हो ० । ० ।

"तब, ब्राह्मण ! ० उद्धत और अशान्त चित्तवाले हो ० । ० ।

"० लोभी, कांक्षावाले और संशयालु (= विचिकित्सी) हो ० । ० । ० ।

"० अपना उत्कर्ष (चाहने)वाले तथा दूसरेको निन्दनेवाले हो ० । ० ।

"० जड़ और भीरु प्रकृतिवाले हो ० । ० ।

"० लाभ, सत्कार और प्रशंसाकी चाहना करते ० । ० ।

"० आलसी उद्योग हीन हो ० । ० ।

"० नष्टस्मृति और सूझ (= सम्पजान)से वंचित हो ० । ० ।

"० व्यग्र (-चित्त) और विभ्रान्त-चित्त हो ० । ० ।

"० दुष्प्रज्ञ भेड़-गूंगे (जैसे) हो ० । ० ।

"ब्राह्मण ! तब मेरे (मनमें) ऐसा हुआ—जो वह सन्मानित (= अभिज्ञात) = अभिलक्षित रातियाँ हैं, (जैसे कि) पक्षकी चतुर्दशी (= अमावास्या), पूर्णमासी (= पंचदशी) और अष्टमीकी रातें; वैसी रातोंमें, जो यह भयप्रद रोमांचकारक आराम-चैत्य[1], वन-चैत्य, वृक्ष-चैत्य हैं, वैसे शयनासनों(= वासस्थानों)में विहार करूँ, शायद तब (कुछ) भय-भैरव देखूँ। तब, ब्राह्मण ! दूसरे समय ० सम्मानित ० रातोंमें ० वैसे शयनासनोंमें विहार करने लगा। तब, ब्राह्मण ! वैसे विहरते (समय) मेरे पास (जब कोई) मृग आता था, या मोर काठ गिरा देता था, या हवा पल्लवोंको फरफराती; तो मेरे (मनमें) होता—जरूर, यह वही भय-भैरव आ रहा है। तब, ब्राह्मण ! मेरे (मनमें) यह होता—क्यों मैं दूसरेमें भयकी आकांक्षाले विहर रहा हूँ ? क्यों न मैं जिस जिस अवस्थामें रहते, जैसे मेरे पास वह भय-भैरव आता है, वैसी वैसी अवस्थामें रहते उस भय-भैरवको हटाऊँ। जब, ब्राह्मण ! टहलते हुये मेरे पास वह भय-भैरव आता, तब मैं ब्राह्मण ! न खड़ा हो जाता, न बैठता, न लेटता; टहलते हुएही उस भय-भैरवको हटाता। जब ० खड़े हुये रहते मेरे पास वह भय-भैरव आता ० । ० बैठे रहते ० । ० । ० लेटे रहते ० । ० ।

"ब्राह्मण ! कोई कोई ऐसे श्रमण-ब्राह्मण हैं, (जो) रात होनेपर भी (उसे) दिन अनुभव करते हैं, दिन होनेपर भी (उसे) रात अनुभव करते हैं। इसे मैं उन श्रमण-ब्राह्मणोंके लिये संमोह (Hypnotization) का विहार कहता हूँ। मैं तो ब्राह्मण ! रात होने पर (उसे) रात ही अनुभव करता हूँ, और दिन होने पर दिन ०। जिसके बारेमें ब्राह्मण ! यथार्थमें कहते वक्त कहना चाहिये—लोकमें बहुत जनोंके हितार्थ, बहुत जनोंके सुखार्थ, लोकानुकम्पार्थ, देव-मनुष्योंके अर्थ-हित-सुखके लिये सम्मोह-रहित पुरुष उत्पन्न हुआ है। सो वह यथार्थमें कहते वक्त मेरे लिये ही कहना होगा—लोकमें ०।

---

[1] चैत्य=देवताओं भूतोंके चौरे, जिनकी पूजा उस समय बहुत प्रचलित थी। मूर्तिके अभावमें लोग इन्हीं चैत्योंकी पूजा करते थे।

"ब्राह्मण! मैंने न दबनेवाला वीर्य (= उद्योग) आरम्भ किया था, (उस समय) मेरी अमुषित स्मृति जागृत थी, (मेरा) शान्त काय अव्यग्र (= असारद्ध) था, समाधिनिष्ठचित्त एकाग्र था। (१) सो मैं ब्राह्मण! कामोंसे रहित बुरी बातों (= अकुशलधर्मों)से रहित, विवेकसे उत्पन्न स-वितर्क और स-विचार प्रीति और सुखवाले **प्रथम ध्यान**को प्राप्त हो विहरने लगा। (२) (फिर) वितर्क और विचारके शान्त होने पर भीतरी शांत तथा चित्तकी एकाग्रता वाले वितर्करहित विचाररहित प्रीति-सुखवाले **द्वितीय ध्यान**को प्राप्त हो विहरने लगा। (३) (फिर) प्रीतिसे विरक्त हो, उपेक्षक बन **स्मृति-संप्रजन्य** (= होश और अनुभव)से युक्त हो शरीरसे सुख अनुभव करते, जिसे कि आर्य उपेक्षक, स्मृतिमान् सुख-विहारी कहते हैं; उस **तृतीय ध्यान**को प्राप्त हो विहरने लगा। (४) (फिर) सुख और दुःखके परित्यागसे सौमनस्य (= चित्तोल्लास) और दौर्मनस्य (= चित्तसंताप)के पहिले ही अस्त हो जानेसे, सुख-दुःख-रहित— जिसमें उपेक्षासे स्मृतिकी शुद्धि हो जाती है, उस **चतुर्थ-ध्यानको** प्राप्त हो विहरने लगा।

[१](१) "सो इस प्रकार चित्तके एकाग्र, परिशुद्ध = पर्यवदात, अंगण-रहित = उपक्लेश (= मल)-रहित, मृदुभूत=कार्योपयोगी, स्थिर=अचलता प्राप्त (और) समाधियुक्त हो जाने पर, पूर्व जन्मोंकी स्मृतिके ज्ञान (= पूर्वनिवासानुस्मृति)के लिये मैंने चित्तको झुकाया। फिर मैं अनेक पूर्व-निवासोंको स्मरण करने लगा, जैसे कि एक जन्मको भी, दो जन्मको भी, तीन॰, चार॰, पाँच॰, दस॰, वीस॰, तीस॰, चालीस॰, पचास॰, सौ॰, हजार॰, सौ हजार॰॰॰अनेक संवर्त (= प्रलय) कल्पोंको भी, अनेक विवर्त (= सृष्टि-)कल्पोंको भी, अनेक संवर्त विवर्त्त-कल्पोंको (भी) स्मरण करने लगा—(तबमैं) अमुक स्थानपर इस नाम॰॰॰गोत्र॰॰॰वर्ण॰॰॰आहारवाला अमुक प्रकारके सुख दुःखको अनुभव करता इतनी आयु तक रहा। वहाँसे च्युत हो अमुक स्थानमें उत्पन्न हुआ। वहाँ भी इस नाम॰॰॰गोत्र ०। फिर वहाँ से च्युत हो (अब) यहाँ उत्पन्न हुआ— इस प्रकार आकार और उद्देश्यके सहित अनेक प्रकारके पूर्व-निवासोंको स्मरण करने लगा। ब्राह्मण! इस प्रकार प्रमाद रहित, तत्पर (तथा) आत्मसंयमयुक्त विहरते हुये, रातके पहिले याममें मुझे यह पहली विद्या प्राप्त हुई, अविद्या नष्ट हुई, विद्या उत्पन्न हुई, तम नष्ट हुआ, आलोक उत्पन्न हुआ।

(२) "सो इस प्रकार चित्तके समाहित (= एकाग्र), परिशुद्ध=पर्यवदात ०[२] होने पर प्राणियोंके च्युति (= मृत्यु) और उत्पत्तिके ज्ञानके लिये चित्तको झुकाया। सो मैं अ-मानुष, विशुद्ध, दिव्य चक्षुसे अच्छे बुरे, सुवर्ण-दुर्वर्ण, सुगतिवाले, दुर्गतिवाले प्राणियोंको मरते उत्पन्न होते देखने लगा, कर्मानुसार गतिको प्राप्त होते प्राणियोंको पहिचानने लगा—यह आप प्राणधारी (लोग) कायिक दुराचारसे युक्त, वाचिक दुराचारसे युक्त, मानसिक दुराचारसे युक्त, आर्योंके निन्दक, मिथ्यामत-रखनेवाले, (= मिथ्या-दृष्टि), मिथ्या-दृष्टि (से प्रेरित) कर्मको करनेवाले थे। वह काया छोड़नेपर मरनेके बाद अपाय=दुर्गति, पतन, नर्क (= निरय)में प्राप्त हुये हैं। यह आप प्राणधारी (लोग) कायिक, वाचिक, मानसिक सदाचार (= सुचरित)से युक्त, आर्योंके अ-निन्दक सम्यग्-दृष्टिक (= सच्चे सिद्धान्तवाले), सम्यग्-दृष्टि-संबंधी कर्मको करनेवाले (थे); वह काया छोड़नेपर मरनेके बाद सुगति, स्वर्गलोकको प्राप्त हुये हैं। इस प्रकार अ-मानुष, विशुद्ध दिव्य चक्षुसे ०। ब्राह्मण! ० रातके मध्यम याममें यह मुझे दूसरी **विद्या** प्राप्त हुई ०।

---

[१] यही तीन विद्यायें हैं। [२] देखो ऊपर।

(३) "० ० आस्रवोंके क्षयके ज्ञानके लिये चित्तको झुकाया। फिर मैंने—'यह दुःख है' इसे यथार्थसे जान लिया, 'यह दुःख-समुदय (=दुःखका कारण) है'०, 'यह दुःख-निरोध है' ०, 'यह दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपद् है' इसे यथार्थसे जान लिया। 'यह आस्रव[1] है' ०, 'यह आस्रव-समुदय है' ०, 'यह आस्रव-निरोध है' ०, 'यह आस्रवनिरोधगामिनी प्रतिपद् है' ०। सो इस प्रकार देखते, इस प्रकार जानते मेरा चित्त काम (= काम-वासना रूपी)-आस्रवोंसे मुक्त हो गया, ० भव (= जन्म ले लेनेके लोभ रूपी) आस्रवोंसे ०, अ-विद्या-आस्रवोंसे मुक्त हो गया। छूट (= विमुक्त हो) जानेपर 'छूट गया' ऐसा ज्ञान हुआ। 'जन्म खतम होगया, ब्रह्मचर्य पूरा होगया, करना था सो कर लिया, अब यहाँ करनेके लिये कुछ (शेष) नहीं है'—इसे जान लिया। ब्राह्मण! ० रातके अन्तिम याममें यह मुझे तीसरी विद्या प्राप्त हुई ०।

"ब्राह्मण! शायद तेरे (मनमें) ऐसा हो—'आज भी श्रमण गौतम अ-वीतराग, अ-वीत द्वेष, अ-वीतमोह है, इसीलिये अरण्य, वनखंड तथा सूनी कुटियाका सेवन करता है'। ब्राह्मण! इसे इस प्रकार नहीं देखना चाहिये। ब्राह्मण! दो बातोंके लिये मैं अरण्य ० सेवन करता हूँ—(१) इसी शरीरमें अपने सुखविहारके ख्यालसे; और (२) आनेवाली जनतापर अनुकम्पाके लिये (जिसमें) मेरा अनुगमनकर वह भी सुफल-भागी हो।"

"आप गौतम द्वारा आनेवाली जनता अनुकम्पित सी है, जो कि आप गौतम सम्यक् संबुद्धने अनुकंपाकी। आश्चर्य! भो गौतम! आश्चर्य! भो गौतम! जैसे औंधेको सीधा कर दे, ढँकेको उघाड़ दे, भूलेको रास्ता बतला दे, अंधकारमें तेलका प्रदीप रख दे—जिसमें कि आँखवाले रूपको देखें; ऐसेही आप गौतमने अनेक प्रकार (= पर्याय)से धर्मको प्रकाशित किया; यह मैं भगवान् गौतमकी शरण जाता हूँ, धर्म और भिक्षु-संघकी भी। आप गौतम आजसे मुझे अंजलि-बद्ध शरणागत उपासक स्वीकार करें।"

५—अनङ्गण-सुत्तन्त (१।१।५)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथपिंडिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे।

वहाँ आयुष्मान् सारिपुत्रने भिक्षुओंको संबोधित किया—"आवुसो! भिक्षुओ!"

"आवुस"—(कह) उन भिक्षुओंने आयुष्मान् सारिपुत्रको उत्तर दिया।

आयुष्मान् सारिपुत्रने यह कहा—

"आवुसो! लोकमें चार (प्रकारके) पुद्गल (= व्यक्ति) विद्यमान हैं। कौनसे चार?—(१) आवुसो! एक व्यक्ति अंगण-(= चित्तमल)-सहित होता हुआ भी, मेरे भीतर अंगण है, इसे ठीकसे नहीं जानता। (२) यहाँ कोई व्यक्ति अंगण-सहित होता हुआ, मेरे भीतर अंगण है, इसे ठीकसे जानता है। (३) यहाँ कोई व्यक्ति अंगण-रहित होता हुआ, मेरे भीतर अंगण नहीं है, इसे ठीकसे नहीं जानता है। (४) यहाँ कोई व्यक्ति अंगण-रहित होता हुआ, मेरे भीतर अंगण नहीं है, इसे ठीकसे जानता है।

"आवुसो! इनमेंसे जो वह व्यक्ति अंगणसहित होता हुआ भी, मेरे भीतर अंगण है—इसे ठीकसे नहीं जानता, वह इन अंगणसहित दोनों व्यक्तियोंमें हीन (= नीच) पुरुष कहा जाता है। और आवुसो! उनमेंसे जो वह व्यक्ति अंगण-सहित होता हुआ, मेरे भीतर अंगण है—इसे ठीकसे जानता है, वह इन अंगण सहित दोनों व्यक्तियोंमें श्रेष्ठपुरुष कहा जाता है। आवुसो! वहाँ जो वह व्यक्ति अंगणरहित होता हुआ, मेरे भीतर अंगण नहीं है—इसे ठीकसे नहीं जानता, वह इन अंगणरहित दोनों व्यक्तियोंमें हीन (= नीच)-पुरुष कहा जाता है। और आवुसो! ० अंगण-रहित होता हुआ, ० इसे ठीकसे जानता है, वह ० श्रेष्ठ पुरुष कहा जाता है।"

ऐसा कहनेपर आयुष्मान् महामौद्गल्यायनने आयुष्मान् सारिपुत्रसे यह कहा—"आवुस सारिपुत्र! क्या हेतु है, क्या कारण है, जो अंगण-सहित होते हुये इन दोनों व्यक्तियोंमें एक कहा जाता है हीन पुरुष, और एक कहा जाता है श्रेष्ठ पुरुष। और आवुस सारिपुत्र! ० क्या कारण है, जो अंगण-रहित होते हुये उन दोनों व्यक्तियोंमेंसे एक कहा जाता है हीन पुरुष, और एक कहा जाता है श्रेष्ठ पुरुष?

"आवुस! वहाँ जो वह व्यक्ति अंगणसहित होता भी ० ठीकसे नहीं जानता; उससे आशा होगी, कि वह उस अंगण (= चित्त-मल)के विनाशके लिये न प्रयत्न करेगा, न उद्योग करेगा, न वीर्यारम्भ (= प्रयत्न) करेगा; वह राग-युक्त, द्वेष-युक्त, मोह-युक्त, अंगण-युक्त, मलिन-चित्त ही मृत्युको प्राप्त करेगा। जैसे आवुस! कांसेकी थाली (= कंसपाती) रज और मलसे लिप्त (ही) दूकानसे या कसेरेके घरसे लाई जाये, (और) मालिक न उसका उपयोग करें, न पर्यवदापन (= साफ) करें, (तथा) कचरेमें उसे डाल दें। इस प्रकार आवुस! वह कांसेकी थाली, कालान्तरमें और भी

अधिक कलूटी, मलगृहीत हो जायेगी (न) ?"

"हाँ, आवुस !"

"ऐसेही आवुस ! जो वह व्यक्ति अंगण-सहित होता भी ० ठीकसे नहीं जानता, उससे आशा होगी०[1] मलिन चित्तही मृत्युको प्राप्त करेगा। आवुस ! उनमें जो वह व्यक्ति अंगण-सहित होता ० ठीकसे जानता है, उससे आशा होगी, कि वह उस अंगणके विनाशके लिये प्रयत्न ०, उद्योग ०, वीर्यारम्भ करेगा; वह राग-रहित, द्वेष-रहित, मोह-रहित, अंगण-रहित निर्मल-चित्त हो मृत्युको प्राप्त होगा। जैसे आवुस ! रज और मलसे लिप्त कांसेकी थाली दूकानसे या कसेरेके घरसे लाई जाये, और मालिक उसका उपयोग करें, साफ करें, और कचरेमें न डालें। इस प्रकार आवुस! वह कांसेकी थाली कालान्तरमें अधिक परिशुद्ध (तथा अधिक) निर्मल हो जायेगी (न)?"

"हाँ, आवुस !"

"ऐसेही आवुस ! जो वह व्यक्ति अंगण-रहित होते ० हुये ठीकसे जानता है, उससे आशा होगी ० निर्मल-चित्त हो मृत्युको प्राप्त होगा। आवुस ! वहाँ जो वह व्यक्ति अंगण-रहित होता हुआ, मेरे भीतर अंगण नहीं है—इसे ठीकसे नहीं जानता, उससे उम्मीद होगी, (कि) वह शुभ-निमित्त (=वस्तुके एकतरफा सौन्दर्यकी ओर अधिक झुकाव)को मनमें करेगा, शुभ-निमित्तके मनमें करनेसे उसके चित्तमें राग चिपट जायेगा, (इस प्रकार) वह राग-द्वेष-मोह-सहित, अंगण (=राग, द्वेष, मोह यह तीन चित्त मल)-सहित, (और) मलिन-चित्त (हो) मृत्युको प्राप्त होगा। जैसे, आवुस ! (कोई) परिशुद्ध और निर्मल कांसेकी थाली दूकानसे लाई जाये, उसे मालिक न उपभोग करें, न साफ रक्खें (बल्कि) कचरेमें डालदें। इस प्रकार आवुस ! वह काँसेकी थाली कालान्तरमें और भी अधिक कलूटी, मल-गृहीत हो जायेगी (न) ?"

"हाँ, आवुस !"

"ऐसेही आवुस ! ० ०। आवुस ! उनमें जो वह व्यक्ति अंगण-रहित होता उसे ठीकसे जानता है, उससे आशा होगी, (कि) वह शुभ-निमित्तको मनमें न करेगा, शुभ-निमित्त को मनमें न करनेसे, राग उसके चित्तमें न चिपटेगा, (इस प्रकार) वह राग-द्वेष-मोह-रहित, अंगणरहित (एवं) निर्मल-चित्त (रह) मृत्युको प्राप्त होगा। जैसे आवुस ! (कोई) परिशुद्ध और निर्मल काँसेकी थाली दूकानसे ० लाई जाये; (और) मालिक उसका उपयोग करें, साफ रखें, (और उसे) कचरेमें न डालें। इस प्रकार आवुस ! वह कंस-पाती कालान्तरमें और भी अधिक परिशुद्ध और निर्मल हो जायेगी (न) ?"

"हाँ, आवुस !"

"ऐसेही आवुस ! ० ०। आवुस मोग्गलान ! यह हेतु है, यह कारण है, जो अंगण-सहित होते हुये उन दोनों व्यक्तियोंमें ०[1]। यह हेतु है ० जो अंगणरहित होते हुये भी उन दोनों व्यक्तियोंमें ०[1]।"

"आवुस ! 'अंगण, अंगण' कहा जाता है। आवुस ! यह अंगण किस (चीज) का नाम है ?"

"आवुस ! पापकों (=खराबियों), बुराइयों (=अकुशलों) और इच्छाकी परतंत्रताओंका नाम (ही) यह अंगण है।

---

[1] पृष्ठ १७।

(क). हो सकता है, आवुस ! कि यहाँ एक भिक्षुके (मनमें) इच्छा उत्पन्न हो—'मैं, अपराध (= आपत्ति) करूँ, (लेकिन) मेरे बारेमें भिक्षु न जानें कि इसने आपत्ति की है।' हो सकता है, आवुस ! कि उस भिक्षुके बारेमें (दूसरे) भिक्षु जान जायें—'इसने आपत्ति की है।' फिर वह (भिक्षु)—'(सारे) भिक्षु मेरे बारेमें जानते हैं, कि मैंने अपराध किया है'—यह (सोच), कुपित होवे, अप्रतीत (=नाराज) होवे। आवुस ! यह जो कोप है, यह जो अ-प्रत्यय (= नाराजगी) है, दोनों ही अंगण हैं। (ख). हो सकता है, आवुस ! कि यहाँ एक भिक्षुके (मनमें) इच्छा उत्पन्न हो—'मैं अपराध करूँ, (लेकिन) भिक्षु मुझे अकेलेमें दोषी ठहरावें, संघमें नहीं।' हो सकता है, आवुस ! कि भिक्षु, उस भिक्षुको संघके बीचमें अपराधी ठहरावें, अकेलेमें नहीं। फिर वह (भिक्षु)—'भिक्षु मुझे संघके बीच में अपराधी ठहराते हैं, अकेलेमें नहीं'—यह (सोच) कुपित होवे ०। यह जो कोप है ०। (ग). हो सकता है, आवुस ! ०—'मैं अपराध करूँ, (किन्तु) सप्रतिपुद्‌गल (= बराबरका व्यक्ति) मुझे दोषी ठहरावे, अ-प्रतिपुद्‌गल नहीं।' ०। (घ). ०—"शास्ता (= बुद्ध) मुझे ही पूछ पूछ कर भिक्षुओंको धर्मोपदेश करें, दूसरे भिक्षुको पूछ पूछ कर भिक्षुओंको धर्मोपदेश न करें।' हो सकता है, आवुस ! कि शास्ता दूसरे भिक्षु को पूछ पूछ कर भिक्षुओंको धर्मोपदेश करें, उस भिक्षुको पूछ पूछ कर नहीं ०। फिर वह (भिक्षु)—'शास्ता, मुझे पूछ पूछ कर भिक्षुओंको धर्मोपदेश नहीं करते, दूसरे भिक्षुको पूछ पूछ कर ० करते हैं'—यह (सोच) कुपित होवे ०।०। (ङ). ०—'अहो ! मुझे ही आगे करके भिक्षु गाँवमें भोजनके लिये प्रविष्ट होवें, दूसरे भिक्षुको आगे करके नहीं...। ०। (च). ०—'अहो ! भोजनके समय मुझे ही अग्र (= प्रथम)-आसन, अग्र-उदक, अग्र-पिंड (= प्रथम परोसा) मिले, दूसरे भिक्षुको नहीं...। ०। (छ). ०—'अहो ! भोजन समाप्त हो जानेपर, मैं ही (अन्नदाताके दानके पुण्यका) अनुमोदन करूँ, दूसरा भिक्षु नहीं...। ०। (ज). ०—'अहो ! मैं ही आराम (= आश्रम) में आये भिक्षुओंको धर्मोपदेश करूँ, दूसरा भिक्षु नहीं...। ०। ०—'अहो ! मैं ही आराममें आई भिक्षुणियोंको ०। ०। ० आराममें आये उपासकोंको ०। ०। ० आराममें आई उपासिकाओंको धर्मोपदेश करूँ, दूसरा भिक्षु नहीं...। ०। (झ). ०—'अहो ! भिक्षु मेरा ही सत्कार=गुरुकार, मान और पूजा करें, दूसरेका नहीं...। ०। ० भिक्षुणियाँ ० उपासक ०। ०। ० उपासिकायें मेरा ही सत्कार ० करें, दूसरेका नहीं...। ०।

(ञ). ०—'अहो ! मैं ही उत्तम चीवरों (= वस्त्रों) का पानेवाला होऊँ...;...उत्तम भिक्षान्नोंका...;...उत्तम वास स्थानोंका...;...रोगियोंके उत्तम पथ्य-औषधकी चीजोंका पानेवाला होऊँ, दूसरा भिक्षु नहीं...। ०। आवुस ! इन्हीं पापकों=बुराइयों (और) इच्छाकी परतंत्रताओंका नाम अंगण है। आवुस ! जिस किसी भिक्षुके यह पापक=बुराइयाँ, इच्छाकी परतंत्रतायें अविनष्ट दिखाई पड़ती हैं, सुनाई देती हैं; चाहे वह वनवासी, एकान्त कुटी निवासी, भिक्षान्नभोजी (= पिंडपाती), बिना-ठहरे-भिक्षाचारी, पांसुकूलिक (= फेंके चीथड़ोंको सीकर पहननेवाला), (और) रूक्षचीवरधारी ही क्यों न हो, (किन्तु) स-ब्रह्मचारी (= एक व्रतके व्रती) उसका सत्कार=गुरुकार, मान, पूजा नहीं करते। सो किस लिये ?—वह देखते और सुनते हैं, कि उस आयुष्मान् की वह ० बुराइयाँ ० नष्ट नहीं हुईं। जैसे आवुस ! एक परिशुद्ध, निर्मल काँसे की थाली दुकान या कसेरेके घरसे लाई गई हो। (फिर) मालिक उसमें मुर्दे साँप, मुर्दे कुत्ते, या मुर्दे मनुष्य (के मांसको) भरकर, दूसरी कांसेकी थालीसे ढाँककर बाजार (आपण=दूकान)में रख दें। उसे देखकर लोग कहें—'अहो ! यह क्या चमचमाता हुआ रक्खा है ?' फिर उसे उठा-कर देखें। उसे देखते ही उनके (मनमें) घृणा, प्रतिकूलता जुगुप्सा उत्पन्न हो जाये। भूखोंको

भी खानेकी इच्छा न हो, पेटभरोंकी तो बात ही क्या ? इसी प्रकार आवुस ! जिस किसी भिक्षुकी वह बुराइयाँ ० नष्ट नहीं हुई ०, तो चाहे वह वनवासी ० ही क्यों न हो, ०। आवुस ! जिस किसी भिक्षुकी वह ० बुराइयाँ ० नष्ट हो गई हैं; तो चाहे वह ग्राममें रहनेवाला, निमंत्रण खानेवाला, गृहस्थों (के दिये नये) चीवरोंको पहिननेवाला ही क्यों न हो, तोभी स-ब्रह्मचारी उसका सत्कार=पूजा करते हैं। सो किस लिये ?—वह देखते और सुनते हैं, कि इस आयुष्मान्‌की वह ० बुराइयाँ ० नष्ट हो गई हैं। जैसे, आवुस ! एक स्वच्छ निर्मल काँसेकी थाली दुकान या कसेरेके घरसे लाई गई हो। (फिर) मालिक उसमें साफ किये शालीके चावलको अनेक प्रकारके सूप (=दाल आदि तियँन) और व्यंजनके साथ सजाकर एक दूसरी कंसपातीसे ढाँककर बाजारमें रख दें। उसे देखकर लोग कहें—'अहो ! यह क्या चमचमाता रक्खा है !' फिर उसे उठाकर खोल कर देखें। उसे देखते ही उनके (मनमें) प्रसन्नता, अनुकूलता और अ-जुगुप्सा उत्पन्न हो जाये। पेटभरेको भी खानेकी इच्छा हो आये, भूखोंकी तो बात ही क्या ? इसी प्रकार आवुस ! जिस किसी भिक्षुकी वह ० बुराइयाँ ० नष्ट हो गई हैं ०। ०।"

ऐसा कहनेपर आयुष्मान् **मौद्गल्यायन** (=मोग्गलान)ने आयुष्मान् **सारिपुत्र** (=सारिपुत्त)को यह कहा—"आवुस सारिपुत्त ! (इसी संबंधमें) मुझे एक उपमा (=दृष्टान्त) सूझ रही है।"

"उसे कहो, आवुस मौद्गल्यायन !"

"आवुस ! एक समय मैं **राजगृह, गिरिव्रजमें** विहार कर रहा था। तब मैं पूर्वाह्नके समय (वस्त्र) पहिन, (भिक्षा-)पात्र और चीवर लेकर **राजगृहमें** भिक्षाटनके लिये प्रविष्ट हुआ। उस समय **समिति यानकारपुत्त**, रथके (चक्केकी) पुट्ठीको गढ़ रहा था, और उसके पास भूत-पूर्व यानकार-वंशिक **पंगुपुत्त आजीवक**[1] उपस्थित था। तब ० **पंगुपुत्त** आजीवकके चित्तमें ऐसा वितर्क उत्पन्न हुआ—अहो ! (अच्छा हो जो) यह **समिति यानकार-पुत्त** इस पुट्ठीके इस वंक (=टेढ़ापन) = इस जिह्म, इस दोषको गढ़ डाले, और इस प्रकार यह पुट्ठी (= नेमि) वंक-जिह्म-दोषसे रहित हो, ठीक सारमें प्रतिष्ठित हो जाये। आवुस ! जैसा जैसा ० **पंगुपुत्त** आजीवकके चित्तमें वितर्क होता था, वैसाही वैसा **समिति यानकारपुत्त** उस पुट्ठीके वंक ० को गढ़ता था। तब आवुस ! ० **पंगुपुत्त** आजीवक प्रसन्न चित्त हो बोल उठा—'हृदयसे (मेरे) हृदय की (बात) को जानकर मानो गढ़ रहा है'। ऐसे ही आवुस ! जो पुद्गल (=व्यक्ति) अश्रद्धालु हैं, जो (धर्ममें) श्रद्धासे नहीं बल्कि जीविकाके लिये घरसे बेघर बन प्रव्रजित हुये हैं, जोकि शठ, मायावी, पाखंडी (= केटुभी), उद्धत, अभिमानी (=उन्नल), चपल, मुखर, असंयतभाषी, असंयत-इन्द्रिय, भोजनकी मात्राको न जाननेवाले, जागरणमें न तत्पर, श्रामण्य (=संन्यासके आदर्श) की पर्वाह न करनेवाले, भिक्षुओं की शिक्षाके प्रति तीव्र आदर न रखनेवाले, जोड़ने बटोरने वाले, भागनेमें अग्रगामी, एकान्त चिन्तनमें धुरा (= जुआ) फेंक देनेवाले, आलसी (= कुसीती), अनुद्योगी, मुषित-स्मृति, बेसमझ, विभ्रान्त-चित्त, दुष्प्रज्ञ, गूँगे-भेड़ जैसे (पुरुष) हैं; इस उपदेश द्वारा उनके हृदयको हृदयसे जान कर मानो आयुष्मान् सारिपुत्र गढ़ रहे हैं। और जो कुलपुत्र श्रद्धापूर्वक घरसे बेघर हो प्रव्रजित हुये हैं, जोकि अ-शठ, अ-मायावी, पाखंड-रहित, अनुद्धत, अन्-अभिमानी, अ-चपल, अ-मुखर संयत-भाषी, संयत-इन्द्रिय, भोजनकी मात्रा जाननेवाले, जागरणमें तत्पर, श्रामण्यका ख्याल रखनेवाले, शिक्षा के प्रति तीव्र आदर भाव रखने

[1] उस समयके नंगे साधुओंका एक सम्प्रदाय।

वाले, न जोड़ने बटोरनेवाले, भागनेमें जुआ फेंक देनेवाले, एकान्त-चिन्तन (= प्रविवेक)में अग्रगामी, निरालस, उद्योगी, संयमी (= पहितत्ता), स्मृति-संयुक्त, समझदार, समाहित=एकाग्र-चित, प्रज्ञावान्, गूँगे-और-भेड़से नहीं हैं, वह आयुष्मान् सारिपुत्रके इस धर्मोपदेशको सुनकर मानो वचन और मनसे पान कर रहे हैं, आहार कर रहे हैं। क्या खूब ? (आपने) सब्रह्मचारियोंको बुराइयोंसे उठाकर भलाइयोंमें स्थापित कर दिया। जैसे, आवुस ! शौकीन अल्पवयस्क तरुण स्त्री या पुरुष शिरसे स्नान कर, कमलकी माला, या जूहीकी माला, या मोगरे (= अतिमुक्तका) की मालाको पा दोनों हाथोंसे उसे ग्रहण कर, (अपने) उत्तम-अंग=शिरपर रक्खे; इसी प्रकार आवुस ! जो कुल-पुत्र श्रद्धापूर्वक घरसे प्रव्रजित हुये हैं०[1] गूँगे—और-भेड़ से नहीं हैं; वह, आयुष्मान् सारिपुत्रके इस धर्मोपदेशको सुनकर मानो वचन और मनसे पानकर रहे हैं ०।"

इस प्रकार दोनों महानागों (= महावीरों)ने एक दूसरेके सुभाषितका अनुमोदन किया।

६—आकङ्खेय्य-सुत्तन्त (१।१।६)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथपिंडिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे। वहाँ भगवान्‌ने भिक्षुओंको संबोधित किया—"भिक्षुओ !"

"भदन्त !" (कह) उन भिक्षुओंने भगवान्‌को उत्तर दिया।

भगवान्‌ने यह कहा—"भिक्षुओ! शील सम्पन्न होकर विहरो; प्रतिमोक्ष-संवर (= सदाचार-नियम रूपी संरक्षण)से संरक्षित हो विहरो; आचार-गोचर (= धर्माचरण)से संयुक्त हो, छोटी सी भी बुराईसे भयखाते शिक्षापदों (= आचार-नियमों)को ग्रहणकर, उनका अभ्यास करो। भिक्षुओ! यदि भिक्षु चाहता है कि वह सब्रह्मचारी (= गुरुभाई) भिक्षुओंका प्रिय = मनाप और सम्मान-भाजन होवे; तो वह शीलोंका पूरा करनेवाला बने, भीतरसे चित्तको शमन करनेमें तत्पर, अखंडित ध्यान (तथा) विपश्यना (= प्रज्ञा)से युक्त हो, सूने घरोंकी शरण ले।

"भिक्षुओ! यदि भिक्षु चाहता है, कि वह चीवर (= वस्त्र), पिंडपात (= भिक्षान्न), शयनासन (= वासस्थान) (और) ग्लान-प्रत्यय-भैषज्य-परिष्कार (रोगीके पथ्य और औषधकी चीज़ें) का पाने वाला हो, तो वह शीलोंका ही पूरा करनेवाला बने ०।

"भिक्षुओ! यदि भिक्षु चाहता है, कि जिनके चीवर, पिंडपात, शयनासन, ग्लान-प्रत्यय-भैषज्य-परिष्कारका मैं उपयोग करता हूँ, उनके वह (दान-)कार्य महाफलवाले=महानृशंसवाले हों, तो वह शीलोंका ही पूरा करनेवाला बने ०।

"० जो मेरे जातिवाले रक्त-संबंधी मृत-प्रेत (लोकान्तर-प्राप्त) हैं। (और जोकि) प्रसन्न-चित्तसे मेरी याद करते हैं, उनका वह कर्म महाफल=महानृशंस होवे, तो वह ०।

"० मैं अ-रति (= उचाट)को हरानेवाला होऊँ, अ-रति मुझे न हरा सके, उत्पन्न अ-रति को मैं पराजित करके विहरूँ; तो वह ०।

"० मैं भय-भैरवको हरानेवाला होऊँ ०; तो वह ०।

"० इसी जन्ममें सुख-पूर्वक विहार करनेवाला, चित्त-सम्बन्धी चारों ध्यानोंका पूर्णतया विना दिक्कत और कठिनाईके लाभी (= पानेवाला) होऊँ; तो वह ०।

"० जो वह रूप(-लोक)[1] से परे आरूप्य (= लोक-संबंधी) शान्त विमोक्ष (= मुक्ति) हैं, उन्हें मैं कायासे प्राप्त कर विहरूँ; तो वह ०।

---

[1] इस संसारसे परे लोक जहाँ तेजोमय प्राणी निवास करते हैं, उससे भी परे अ-रूप-लोक है।

"०तीनों संयोजनों[1]के क्षयसे स्रोत-आपन्न बन पतन-रहित, नियत, संबोधि (=परमज्ञान)-परायण होऊँ; तो वह ०।

"०तीनों संयोजनोंके क्षयसे, राग-द्वेष-मोहके क्षीण होनेसे सकृदागामी होऊँ, इस लोकमें एक ही वार और आकर दुःखका अन्त करूँ; तो वह०।

"०पाँच अवरभागीय संयोजनोंके क्षयसे औपपातिक (=दिव्ययोनि-उत्पन्न) उस (अगले जन्म लेनेवाले) लोकमें निर्वाण प्राप्त करनेवाला होऊँ, उस लोकसे फिर लौटकर (यहाँ) आनेवाला न होऊँ, तो वह ०।

"०मैं अनेक प्रकारकी ऋद्धियोंका अनुभव करूँ—एक होकर अनेक हो जाऊँ, आविर्भाव, तिरोभाव, दीवार-प्राकार-पर्वतमें निर्लिप्त हो वैसे ही चलूँ, जैसे आकाशमें पक्षी उड़ते हैं; पृथिवीमें वैसे ही डूबूँ उतराऊँ, जैसे पानीमें; पानी पर (भी) वैसे ही बिना भीगे चलूँ, जैसे पृथिवी पर; आकाशमें आसन मारकर वैसे ही चलूँ, जैसे पक्षी=शकुन; ऐसे महाऋद्धिवाले=महानुभाव इन चाँद और सूर्यको भी हाथसे छूऊँ, परिमार्जन करूँ; (इसी) कायासे ब्रह्मलोकपर्यन्त (सब) को अपने वशमें कर लूँ; तो वह ०।

"०मैं अ-मानुप विशुद्ध दिव्य श्रोत्र-इन्द्रियसे उभय प्रकारके शब्दोंको सुनूँ—दिव्य (शब्दों)को भी, और मानुष(शब्दों)को भी, दूरवालेको भी और समीप वाले (शब्द)को भी; तो वह ०।

"०मैं दूसरे सत्वों दूसरी व्यक्तियोंके चित्तोंको (अपने) चित्तसे देखकर जानलूँ—सराग चित्त होने पर 'सराग चित्त है'—जान जाऊँ, वीतराग चित्त०, स-द्वेषचित्त०, वीत-द्वेष चित्त०, स-मोह चित्त०, वीत-मोह चित्त०, संक्षिप्त (=एकाग्र)-चित्त०, विक्षिप्त चित्त०, महद्गत (=विशाल) चित्त०, अ-महद्गत चित्त०, स-उत्तर (=जिससे बढ़कर भी कोई हो) चित्त०, अनुत्तर (=अनुपम) चित्त०, समाहित चित्त ०, अ-समाहित, चित्त०, विमुक्त चित्त०, अ-विमुक्त चित्त०; तो वह०।

"०अनेक प्रकारके पूर्व-निवासों(=पूर्वजन्मों)को जानूँ, जैसे कि—एक जन्मको भी ०[2]; तो वह ०।

"०मैं अ-मानुप विशुद्ध दिव्य चक्षुसे अच्छे-बुरे, सुवर्ण-दुर्वर्ण०[2] प्राणियोंको ०[3] देखूँ—यह आप प्राणी ०[3]; तो वह ०।

"०मैं आस्रवोंके क्षयसे जो आस्रव-रहित चित्तकी विमुक्ति है, प्रज्ञाद्वारा विमुक्ति (=मुक्ति) है, उसे इसी जन्ममें स्वयं जान कर, साक्षात्कार कर, प्राप्त कर, विहार करूँ; तो वह०।

"भिक्षुओ! शील[4]-सम्पन्न हो विहरो ०[5]।

भगवान्‌ने यह कहा, सन्तुष्ट हो उन भिक्षुओंने भगवान्‌के भाषणका अनुमोदन किया।

---

[1] मानसिक बंधन। [2] दे०, पृष्ठ, १५। [3] दे०, पृष्ठ, १५,१६।
[4] हिंसा आदि आठ पापकर्मोंसे विरत होना। [5] दे० पृष्ठ २२।

७—वत्थ-सुत्तन्त (१।१।७)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथपिंडिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे। वहाँ भगवान्‌ने भिक्षुओंको संबोधित किया—"भिक्षुओ !"

"भदन्त !" (कह) उन भिक्षुओंने भगवान्‌को उत्तर दिया।

भगवान्‌ने यह कहा—"भिक्षुओ ! जैसे कोई मैला कुचैला वस्त्र (= वत्थ) हो, उसे रंगरेज (= रजक) ले जाकर जिसकिसी रंगमें डाले—चाहे नीलमें, चाहे पीतमें, चाहे लोहित (= लाल) में, चाहे मांजिष्ट (= मजीठके रंग)में; वह बदरंग ही रहेगा, अशुद्धवर्ण ही रहेगा। सो किस लिये ?—भिक्षुओ ! वस्त्रके अशुद्ध होनेसे। ऐसे ही भिक्षुओ ! *चित्तके मलिन होनेसे दुर्गति अ-निवार्य है।*

"जैसे, भिक्षुओ ! उजला साफ वस्त्र हो, उसे रंगरेज ले जाकर जिसकिसी ही रंगमें डाले०, वह सुरंग निकलेगा, शुद्धवर्ण निकलेगा। सो किस लिये ?—भिक्षुओ ! वस्त्रके शुद्ध होनेके कारण। ऐसे ही भिक्षुओ ! चित्तके अन्-उपक्लिष्ट (= निर्मल) होने पर सुगति अ-निवार्य (= लाजिमी) है (= प्रातिकांक्ष्या)।

"भिक्षुओ ! कौनसे चित्तके उपक्लेश (= मल) हैं ?—(१) अभिध्या = विषम लोभ चित्तका उपक्लेश है; (२) व्यापाद (= द्रोह)०, (३) क्रोध०, (४) उपनाह (= पाखंड)०; (५) म्रक्ष (= अमरख)०; (६) प्रदाश (= निष्ठुरता)०; (७) ईर्ष्या०; (८) मात्सर्य (= कंजूसी) ०; (९) माया (= वंचना)०; (१०) शाठ्य ०; (११) स्तम्भ (= जडता)०; (१२) सारम्भ (= हिंसा) ०; (१३) मान ०; (१४) अतिमान ०, (१५) मद ०; (१६) प्रमाद ०।

"भिक्षुओ ! जो भिक्षु—'अभिध्या = विषम लोभ चित्तका उपक्लेश है'—यह जानकर अभिध्या ० चित्तके उपक्लेशको त्यागता है। 'व्यापाद चित्तका उपक्लेश है'—यह जानकर ०। क्रोध०। उपनाह ०। म्रक्ष ०। प्रदाश ०। ईर्ष्या ०। मात्सर्य ०। माया०। शाठ्य०। स्तम्भ ०। सारम्भ ०। मान ०। अतिमान ०। मद ०। प्रमाद ०।

"भिक्षुओ ! जब भिक्षुने—'अभिध्या = विषमलोभ चित्तका उपक्लेश है,—यह जानकर चित्तके उपक्लेश अभिध्या ० को त्याग दिया है। व्यापाद ०। क्रोध ०। उपनाह ०। म्रक्ष ०। प्रदाश ०। ईर्ष्या ०। मात्सर्य ०। माया ०। शाठ्य ०। स्तम्भ ०। सारम्भ ०। मान ०। अतिमान ०। मद ०। प्रमाद ०। तो वह बुद्धमें अत्यन्त श्रद्धा (= प्रसाद)से युक्त होता है—'वह भगवान् अर्हत् सम्यक्-संबुद्ध (= परमज्ञानी), विद्या-और-आचरणसे संपन्न (= परिपूर्ण), सुगत (= सुन्दर गतिको प्राप्त) लोकविद्, पुरुषोंको दमन करने (= सन्मार्गपर लाने)के लिये अनुपम चाबुक सवार, देव-मनुष्योंके शास्ता (= उपदेशक) बुद्ध (= ज्ञानी) भगवान् हैं'। वह

धर्ममें अत्यन्त श्रद्धासे युक्त होता है—'भगवान्‌का धर्म स्वाख्यात (सुन्दररीतिसे कहा गया) है, (वह) सांदृष्टिक (= इसी शरीरमें फल देनेवाला), अकालिक (= कालान्तरमें नहीं, सद्यः फलप्रद), एहिपश्यिक (= यहीं दिखाई देनेवाला), औपनयिक (= निर्वाणके पास लेजानेवाला), विज्ञ (पुरुषों)को अपने अपने भीतर (ही) विदित होनेवाला है' । वह [1] संघमें अत्यन्त श्रद्धासे युक्त होता है—'भगवान्‌का श्रावक (= शिष्य-संघ) सुमार्गारूढ़ (= सुप्रतिपन्न) है, ० ऋजु-प्रतिपन्न (= सरल मार्गपर आरूढ़) है,० न्याय (मार्ग)-प्रतिपन्न है, ० सामीचि-प्रतिपन्न (= ठीक मार्गपर आरूढ़) है, यह जो चार पुरुष-युगल (= स्रोतआपन्न, सकृदागामी, अनागामी, अर्हत्), आठ पुरुष-पुद्गल (= स्त्री पुरुष भेदसे स्रोत आपन्न आदि आठ) हैं, यही भगवान्‌का श्रावकसंघ है, (जो कि) आह्वान करने योग्य है, पाहुना बनने योग्य, दक्षिणेय (= दानदेने योग्य), हाथ जोड़ने योग्य, और लोकके लिये पुण्य (बोने)का क्षेत्र है' ।

"जब उसके वह (मल) त्यक्त, वमित, मोचित, नष्ट, विसर्जित होते हैं; (और)—'मैं बुद्धमें अत्यन्त श्रद्धासे युक्त हूँ'—यह (सोचकर) वह अर्थ-वेद (= अर्थज्ञान), धर्मवेद (= धर्म-ज्ञान)को पाता है, (और) धर्मवेद संबंधी प्रमोद (= प्रामोद्य) को पाता है। प्रमुदित (पुरुष)को प्रीति (= संतोष) होती है। प्रीतिमान्‌की काया शांत होती है, प्रश्रब्धकाय सुख अनुभव करता है। सुखीका चित्त एकाग्र होता है—'मैं धर्ममें अत्यन्त श्रद्धासे युक्त हूँ'—यह (सोचकर) वह ०। 'मैं संघमें अत्यन्त श्रद्धासे युक्त हूँ'—यह (सोचकर) वह ०। जब उसके वह (मल) त्यक्त ० होते हैं, तो वह अर्थवेद को, धर्म-वेद को पाता है ०। सुखीका चित्त एकाग्र होता है।

"भिक्षुओ ! वह ऐसे शीलवाला, ऐसे धर्मवाला, ऐसी प्रज्ञावाला, भिक्षु चाहे काली (भुसी आदि) चुनकर बने शालीके भातको, अनेक सूप और व्यंजनके साथ खाये, तो भी उसको अन्तराय (= विघ्न) नहीं होगा। भिक्षुओ ! जैसे मैला कुचैला वस्त्र स्वच्छ जलको प्राप्त हो शुद्ध साफ हो जाता है; उल्कामुख (= भट्ठीकी घड़िया)में पड़कर सोना शुद्ध साफ हो जाता है; ऐसेही भिक्षुओ ! ऐसे शीलवाला, ऐसे धर्मवाला, ऐसी प्रज्ञावाला भिक्षु चाहे० शालीके भातको० ।

"वह मैत्री-युक्त चित्तसे एक दिशाको परिपूर्णकर विहरता है, वैसे ही दूसरी दिशाको, वैसे ही तीसरी०, ० चौथी०। इस प्रकार ऊपर नीचे आड़े-बेड़े, सबका विचार रखनेवाला, सबके अर्थ, विपुल, महान्, प्रमाणरहित, वैररहित, व्यापार-रहित, मैत्री-युक्त चित्तसे सारे लोकको पूर्ण-कर विहार करता है।

"वह करुणा-युक्त चित्तसे एक दिशाको०। मुदिता-युक्त चित्तसे एक दिशाको०। उपेक्षा-युक्त चित्तसे एक दिशाको० ।

"वह जानता है कि 'यह निकृष्ट है', 'यह उत्तम (= प्रणीत) है'—इन (लौकिक) संज्ञाओंसे ऊपर निस्सरण (= निकास) है। ऐसा जानते, ऐसा देखते हुये, उसका चित्त काम (वासना रूपी) आस्रवसे मुक्त हो जाता है, भव-आस्रवसे ०, अविद्या-आस्रवसे०। मुक्त (= छूट) जानेपर, 'मुक्त होगया हूँ'—यह ज्ञान होता है; और जानता है—जन्म क्षीण होगया, ब्रह्मचर्य-वास समाप्त होगया, करना था सो कर लिया, अब दूसरा यहाँ (कुछ करनेको) नहीं है। भिक्षुओ ! यह भिक्षु स्नान करे बिना ही स्नात (= नहाया) कहा जाता है।"

---

[1] यही तीनों वाक्य समूह त्रि-रत्न (= बुद्ध-धर्म-संघ)की अनुस्मृति (= स्मरण) कही जाती है।

उस समय सुन्दरिक भारद्वाज ब्राह्मण भगवान्‌के अविदूरमें बैठा था। तब सुन्दरिक भारद्वाज ब्राह्मणने भगवान्‌से यह कहा—

"क्या आप गौतम स्नानके लिये बाहुकानदी चलेंगे ?"

"ब्राह्मण ! बाहुकानदीसे क्या (लेना) है ? बाहुकानदी क्या करेगी ?"

"हे गौतम ! बाहुकानदी लोकमान्य (= लोक-संमत) है, बाहुकानदी बहुत जनोंद्वारा पवित्र (= पुण्य) मानी जाती है। बहुतसे लोग बहुकानदीमें (अपने) किये पापोंको बहाते हैं।"

तब भगवान्‌ने सुन्दरिक भारद्वाज ब्राह्मणको गाथाओंमें कहा—

"बाहुका, अधिकक्क, गया, और सुन्दरिकामें।
सरस्वती, और प्रयाग तथा बाहुमती नदीमें।
काले कर्मोंवाला मूढ़ चाहे नित्य नहाये, (किन्तु) शुद्ध नहीं होगा।
क्या करेगी सुन्दरिका, क्या प्रयाग, और क्या बाहुलिका नदी ?
(वह) पापकर्मी = कृतकिल्बिष दुष्ट नरको नहीं शुद्ध कर सकते।
शुद्ध (नर)के लिये सदाही फल्गू है, शुद्धके लिये सदा ही उपोसथ[1] है।
शुद्ध और शुचिकर्माके व्रत सदा ही पूरे होते रहते हैं।
ब्राह्मण ! यहीं नहा, सारे प्राणियोंका क्षेम कर।
यदि तू झूठ नहीं बोलता, यदि प्राण नहीं मारता।
यदि बिना दिया नहीं लेता, (और) श्रद्धावान् मत्सर-रहित है।
(तो) गया जाकर क्या करेगा, क्षुद्र जलाशय (= उदपान) भी तेरे लिये गया है।"

ऐसा कहने पर सुन्दरिक भारद्वाज ब्राह्मणने भगवान्‌को यह कहा—

"आश्चर्य ! हे गौतम !! आश्चर्य ! हे गौतम !!०[2] यह मैं भगवान् गौतमकी शरण जाता हूँ, धर्म और भिक्षु-संघकी भी। आप गौतमके पास मैं प्रव्रज्या (= संन्यास) पाऊँ, उपसम्पदा[3] पाऊँ।"

सुन्दरिक भारद्वाज ब्राह्मणने भगवान्‌के पास प्रव्रज्या, उपसम्पदा पाई। उपसम्पदा पानेके बाद, आयुष्मान् भारद्वाज एकान्तमें प्रमादरहित, उद्योगयुक्त, आत्मनिग्रही हो विहरते, थोड़े ही समयमें जिसके लिये कुलपुत्र घरसे बेघर हो प्रव्रजित होते हैं, उस अनुपम ब्रह्मचर्यके अन्त (= निर्वाण)को, इसी जन्ममें स्वयं जानकर, साक्षात्कर, प्राप्तकर विहरने लगे। 'जन्म क्षीण होगया०[4] नहीं है'—जान लिया। आयुष्मान् भारद्वाज अर्हतोंमेंसे एक हुये।

८—सल्लेख-सुत्तन्त (१।१।८)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथपिंडिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे।

तब आयुष्मान् महाचुन्द सायंकालमें प्रतिसल्लयन(= ध्यान)से उठकर, जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये। जाकर भगवान्को अभिवादनकर एक ओर बैठ गये। एक ओर बैठकर आयुष्मान् महा-चुन्दने भगवान्को यह कहा—

"भन्ते! जो यह आत्मवाद-संबन्धी या लोकवाद-संबन्धी अनेक प्रकारकी दृष्टियाँ (= दर्शन, मत) दुनियामें उत्पन्न होती हैं; भन्ते! इस प्रकार (इनके) आदिको ही मनमें (विचार) करनेसे इन दृष्टियोंका प्रहाण (= नाश) होता है, इन दृष्टियोंका परित्याग होता है?"

"चुन्द! जो यह० दृष्टियाँ दुनियामें उत्पन्न होती हैं; (उनको) जहाँ यह दृष्टियाँ उत्पन्न होती हैं, जहाँ यह आश्रय ग्रहण करती हैं, जहाँ पर व्यवहृत होती हैं, (वहाँ)—'यह मेरा नहीं', 'न यह मैं हूँ', 'न मेरा यह आत्मा है'—इसे इस प्रकार यथार्थ तौरपर ठीकसे जानकर देखनेपर, इन दृष्टियोंका प्रहाण होता है, इन दृष्टियोंका परित्याग होता है।

"हो सकता है, चुन्द! यहाँ कोई भिक्षु कामोंसे विरहित[१]० प्रथम-ध्यानको प्राप्त हो विहरे। उसके (मनमें) ऐसा हो—'मैं सल्लेख(= तप)के साथ विहर रहा हूँ'। लेकिन, चुन्द! आर्य-विनय (= आर्यधर्म)में इन्हें सल्लेख नहीं कहा जाता; आर्यविनयमें इन्हें दृष्टधर्म-सुखविहार (= इसी जन्ममें सुखपूर्वक विहार करना) कहते हैं।

"हो सकता है, चुन्द! यहाँ कोई भिक्षु वितर्क और विचारके शान्त होनेपर ०[१] द्वितीय ध्यानको प्राप्त हो विहरे। उसको ऐसा हो—०। इन्हें आर्यविनयमें दृष्टधर्म-सुखविहार कहते हैं।

"हो सकता है, चुन्द! यहाँ कोई भिक्षु प्रीतिसे विरक्त हो०[१] तृतीय-ध्यानको प्राप्त हो विहरे। ०। ०।

"हो सकता है, चुन्द! ० ०[१] चतुर्थ-ध्यानको प्राप्त हो विहरे। ०। इसे आर्यविनयमें दृष्टधर्म-सुखविहार कहते हैं।

"हो सकता है, चुन्द! यहाँ कोई भिक्षु रूप-संज्ञा (= रूपके विचार)को सर्वथा छोड़नेसे, प्रतिघ (= प्रतिहिंसा)की संज्ञाओंके सर्वथा अस्त हो जानेसे, नानापनकी संज्ञाओंको मनमें न करनेसे, 'आकाश अनन्त है'—इस आकाश-आनन्त्य-आयतनको प्राप्त हो विहरे। उसको ऐसा हो—'मैं सल्लेखके साथ विहर रहा हूँ'। लेकिन, चुन्द! आर्य विनयमें इन्हें सल्लेख नहीं कहा जाता; आर्यविनयमें इन्हें शान्तविहार कहते हैं।

---

[१] देखो पृष्ठ १५।

"होसकता है, चुन्द ! ० आकाशानन्त्यायतनको सर्वथा अतिक्रमण कर 'विज्ञान अनन्त है'—इस विज्ञान-आनन्त्य-आयतनको प्राप्त हो विहरे। ० इन्हें शान्तविहार कहते हैं।

"० ० विज्ञानानन्त्यायतनको सर्वथा अतिक्रमण कर, 'कुछ नहीं'—इस आकिंचन्य (= न-कुछ-भी-पना) आयतनको प्राप्त हो विहरे। ० ०।

"० ० अकिंचन्यायतनको सर्वथा अतिक्रमण कर, नैवसंज्ञा-नासंज्ञायतन (=जहाँ न संज्ञाही हो न असंज्ञा ही) को प्राप्त हो विहरे। ० ०।

"किन्तु, चुन्द ! यहाँ सल्लेख (= तप) करना चाहिये—(१) दूसरे हिंसक (= विहिंसक) होंगे, हम यहाँ अहिंसक रहेंगे—यह सल्लेख करना चाहिये। (२) दूसरे प्राण मारनेवाले होंगे, हम यहाँ प्राण मारनेसे विरत रहेंगे—यह सल्लेख करना चाहिये। (३) दूसरे विना दिया लेनेवाले ०। (४) दूसरे अ-ब्रह्मचारी ०। (५) दूसरे मृषा(= झूठ)-वादी ०। (६) दूसरे पिशुनभाषी (=चुगुलखोर) ०। (७) दूसरे परुष (=कठोर)-भाषी ०। (८) दूसरे संप्रलापी (=बकवादी) ०। (९) दूसरे अभिध्यालु (=लोभी) ० हम यहाँ अनभिध्यालु रहेंगे। (१०) दूसरे व्यापन्न(= हिंसक)चित्त ० अव्यापन्न चित्त ०। (११) दूसरे मिथ्या-दृष्टि ० सम्यग्दृष्टि ०। (१२) दूसरे मिथ्या-संकल्प ० सम्यक्-संकल्प०। (१३) दूसरे मिथ्याभाषी ० सम्यग्-भाषी ०। (१४) दूसरे मिथ्या-कर्मान्त (= कायिककर्म) ० सम्यक्-कर्मान्त०। (१५) ० मिथ्या-आजीव (= अनुचितरीतिसे रोजी कमानेवाले) सम्यग्-आजीव ० (१६) ० मिथ्या-व्यायाम (= प्रयत्न) ० सम्यग् ० व्यायाम ०। (१७) ० मिथ्या(= अयुक्त)स्मृति ० सम्यक् स्मृति ०। (१८) ० मिथ्या-समाधि ० सम्यक्-समाधि ०। (१९) ० मिथ्या-ज्ञानी ० सम्यग्-ज्ञानी ०। (२०) ० मिथ्या-विमुक्ति ० सम्यग्-विमुक्ति (-मुक्ति) (२१) ० स्त्यान ० मृद्ध (= शरीर और मनके आलस्य)-संयुक्त ० स्त्यान-मृद्ध-रहित ०। (२२) ० उद्धत ० अनुद्धत ०। (२३) ० विचिकित्सक (= संशयालु) ० विचिकित्सा पारंगत ०। (२४) ० क्रोधी ० अक्रोधी ०। (२५) ० उपनाही (= पाखंडी) ० अनुपनाही ०। (२६) ० म्रक्षी (=कीनावाले) ० अम्रक्षी ०। (२७) प्रदाशी (= निष्ठुर) ० अ-प्रदाशी०। (२८) ० ईर्ष्यालु ० ईर्ष्यारहित ०। (२९) ० मत्सरी ० अ-मत्सरी ०। (३०) ० शठ ० अ-शठ ०। (३१) ० मायावी (= वंचक) ० अ-मायावी ०। (३२) ० स्तब्ध (= जड़) ० अ-स्तब्ध। (३३) ० अतिमानी (= अभिमानी) ० अनतिमानी ०। (३४) ० दुर्वचा ० सुवचा ०। (३५) ० पाप-मित्र (= बुरोंको दोस्त बनानेवाले) ० कल्याण-मित्र ०। (३६) ० प्रमत्त ० अ-प्रमत्त ०। (३७) ० अश्रद्धालु ० श्रद्धालु ०। (३८) ० निर्लज्ज ० लज्जावान् ०। (३९) ० अनपत्रपी (= उचित भयको भी न माननेवाले) ० अपत्रपी ०। (४०) ० अल्पश्रुत (= अशिक्षित) ० बहुश्रुत ०। (४१) ० कुसीद (= आलसी) ० उद्योगी ०। (४२) ० मूढ़-स्मृति ० उपस्थित-स्मृति ०। (४३) ० दुष्प्रज्ञ ० प्रज्ञा-सम्पन्न ०। (४४) दूसरे सान्दृष्टि (= ऐहिकलाभ)-परामर्षी (= सोच करनेवाला) आधान-ग्राही (= हठी), दुष्प्रतिनिस्सर्गी (= कठिनाईसे त्याग करनेवाले) होंगे, हम यहाँ अ-सान्दृष्टि-परामर्षी अनाधान-ग्राही सुप्रतिनिस्सर्गी रहेंगे—यह सल्लेख करना चाहिये।

"चुन्द ! अच्छी बातों (= धर्मों)के विषयमें विचारके उत्पन्न होनेको भी मैं हितकर कहता हूँ, काया और वचनसे (उनके) अनुष्ठानके बारेमें तो कहना ही क्या है ? चुन्द ! (१) दूसरे हिंसक होंगे, और हम अहिंसक रहेंगे—यह विचार उत्पन्न करना चाहिये ०। (४४) दूसरे सान्दृष्टि-परामर्षी०—यह विचार उत्पन्न करना चाहिये।

"जैसे; चुन्द ! कोई ! विषम (= कठिन) मार्ग है, और उसके परिक्रमण (=फेर खाने)-

के लिये दूसरा सम-मार्ग हो; जैसे चुन्द ! विषम तीर्थ (= नावका घाट) हो, और उसके परिक्रमण-के लिये दूसरा सम तीर्थ हो; ऐसे ही चुन्द ! (१) हिंसक पुरुष पुद्गल (= व्यक्ति)को अहिंसा परिक्रमणके लिये होती है। ०। (४४) सान्दृष्टि-परामर्षी आधान-ग्राही दुष्प्रतिनिस्सर्गी पुरुषपुद्गलको असान्दृष्टिता अ-परामर्षिता अनाधान-ग्राहिता सुप्रतिनिस्सर्गिता परिक्रमणके लिये होती है।

"जैसे चुन्द ! जो कोई भी अकुशल धर्म (= बुरे काम) हैं, वह सभी अधोभाव (= अधोगति)को पहुँचानेवाले हैं; जो कोई भी कुशल धर्म (= अच्छे काम) हैं, वह सभी उपरि-भावको पहुँचानेवाले हैं; वैसे ही चुन्द ! (१) हिंसक पुरुष = पुद्गलको अहिंसा ऊपर पहुँचानेवाली होती है। ०। (४४) सान्दृष्टिपरामर्षी आधात-ग्राही दुष्प्रतिनिस्सर्गी पुरुष = पुद्गलको असान्दृष्टिता, अ-परा-मर्षिता अनाधान-ग्राहिता सुप्रतिनिस्सर्गिता ऊपर पहुँचानेवाली होती है।

"चुन्द ! जो स्वयं गिरा हुआ है, वह दूसरे गिरे हुयेको उठायेगा, यह सम्भव नहीं है; किन्तु, जो चुन्द ! अपने गिरा हुआ नहीं है, वह दूसरे गिरे हुयेको उठायेगा, यह सम्भव है। चुन्द ! जो स्वयं अदान्त (= मनके संयमसे रहित), अ-विनीत, अ-परिनिर्वृत (= निर्वाणको न प्राप्त) है, वह दूसरेको दान्त, विनीत, परिनिर्वृत करेगा, यह सम्भव नहीं; किन्तु, जो चुन्द ! स्वयं दान्त, विनीत, परिनिर्वृत है, वह दूसरेको दान्त, विनीत, परिनिर्वृत करेगा, यह सम्भव है। ऐसेही चुन्द ! (१) हिंसक पुरुषके लिये अहिंसा परिनिर्वाणके लिये होती है। ०। (४४) सान्दृष्टि-परामर्षी आधानग्राही दुष्प्रतिनिस्सर्गी पुरुष-पुद्गलको असान्दृष्टिता-अपरामर्षिता अनाधान-ग्राहिता सुप्रतिनिस्सर्गिता परिनिर्वाण(= दुःखविनाश)के लिये होती है।

"यह मैंने चुन्द ! सल्लेख-पर्याय (= सल्लेख नामक धर्मोपदेश) उपदेशा, चित्तुप्पाद-पर्याय उपदेशा, परिक्रमण-पर्याय उपदेशा, उपरिभाव-पर्याय उपदेशा, परिनिर्वाण-पर्याय उपदेशा।

"चुन्द ! श्रावकों(= शिष्यों)के हितैषी, अनुकम्पक, शास्ता(= उपदेशक)को अनुकम्पा करके जो करना चाहिये, वह तुम्हारे लिये मैने कर दिया। चुन्द ! यह वृक्षमूल हैं, यह सूने घर हैं, ध्यानरत होओ। चुन्द ! मत प्रमाद (= गफलत) करो, मत पीछे अफसोस करनेवाले बनना—यह तुम्हारे लिये हमारा अनुशासन (= उपदेश) है।"

भगवान्‌ने यह कहा, सन्तुष्ट हो आयुष्मान् चुन्दने भगवान्‌के भाषणका अनुमोदन किया।

(चालीस पदों और पांच संधियों में (जो) उपदेशा गया। सागरसमान-गंभीर (यह) सल्लेख नामक सुत्रान्त है।)

९—सम्मादिट्ठि-सुत्तन्त (१।१।९)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथपिंडिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे।

वहाँ आयुष्मान् सारिपुत्रने भिक्षुओंको संबोधित किया—"आवुसो भिक्षुओ !"

"आवुस !" (कह) उन भिक्षुओंने आयुष्मान् सारिपुत्रको उत्तर दिया।

आयुष्मान् सारिपुत्रने यह कहा—"आवुसो ! सम्यग्-दृष्टि (= सम्मादिट्ठि) सम्यग्दृष्टि कही जाती है, आवुसो ! कैसे आर्यश्रावक (= आर्यधर्मी) सम्यग्दृष्टि (= ठीक सिद्धांतवाला) होता है ? उसकी दृष्टि सीधी, वह धर्ममें अत्यन्त श्रद्धावान्, (और) इस सद्धर्मको प्राप्त (होता है) ?"

"आवुस ! इस भाषणका अर्थ जाननेके लिये हम दूरसे भी आयुष्मान् सारिपुत्रके पास आते हैं। अच्छा हो, आयुष्मान् सारिपुत्र ही इस वचनका अर्थ कहें। आयुष्मान् सारिपुत्र (के मुख)से सुनकर भिक्षु धारण करेंगे।"

"तो आवुसो ! सुनो, अच्छी तरह मनमें करो कहता हूँ।"

"अच्छा आवुस !" (कह) उन भिक्षुओंने आयुष्मान् सारिपुत्रको उत्तर दिया।

आयुष्मान् सारिपुत्रने यह कहा—"जब, आवुसो ! आर्यश्रावक अकुशल(= बुराई)को जानता है, अकुशल-मूलको जानता है; कुशल(= भलाई, पुण्य)को जानता है; कुशलमूलको जानता है; इतनेसे आवुसो ! आर्यश्रावक सम्यग्-दृष्टि होता है। उसकी दृष्टि सीधी (होती है), वह धर्ममें अत्यन्त श्रद्धावान्, (और) इस सद्धर्मको प्राप्त होता है।

"क्या है, आवुसो ! अ-कुशल ? क्या है अ-कुशलमूल ? क्या है कुशल ? क्या है कुशल-मूल—? आवुसो ! (१) प्राणातिपात (= हिंसा) अकुशल है; (२) अदत्तादान (= चोरी) अकुशल है; (३) काम(= स्त्री-संसर्ग)में मिथ्याचार (= दुराचार) ०; (४) मृषावाद (= झूठ बोलना) ०; (५) पिशुनवचन (= चुगली) ०; (६) परुषवचन (= कठोर भाषण) ०; (७) संप्रलाप (= बकवाद) ०; (८) अभिध्या (= लालच) ०; (९) व्यापाद (= प्रतिहिंसा) ०; (१०) मिथ्यादृष्टि (= झूठी धारणा) ०।—यह आवुसो ! अकुशल कहा जाता है। क्या है आवुसो ! अकुशल-मूल ?—(१) लोभ अकुशल-मूल है, (२) द्वेष ० (३) मोह अकुशल-मूल है।—यह आवुसो ! अकुशल-मूल कहा जाता है। क्या है आवुसो ! कुशल ?—(१) प्राणातिपातसे विरति (= विरत होना) कुशल है; (२) अदत्तादानसे विरति ०; (३) कामोंमें मिथ्याचारसे विरति ०; (४) मृषावादसे विरति ०; (५) पिशुनवचनसे विरति ०; (६) परुष-वचनसे विरति ०; (७) संप्रलापसे विरति ०; (८) अन्-अभिध्या ०; (९) अ-व्यापाद ०; (१०) सम्यग्दृष्टि कुशल है।—यह आवुसो ! कुशल कहा जाता है। क्या है आवुसो ! कुशलमूल ?—(१) अ-लोभ कुशल-मूल

है; (२) अ-द्वेष ०; (३) अ-मोह कुशल-मूल है।—यह आवुसो! कुशल-मूल कहा जाता है। जब आवुसो! आर्यश्रावक इस प्रकार अकुशलको जानता है, इस प्रकार अकुशल-मूलको जानता है। इस प्रकार कुशलको जानता है। इस प्रकार कुशलमूलको जानता है; (तो) वह राग-अनुशय (= ० मल) का परित्यागकर, प्रतिघ(= प्रतिहिंसा)अनुशयको हटाकर, अस्मि (= मैं हूँ) इस दृष्टि-मान (= धारणाके अभिमान)-अनुशयको उन्मूलन कर, अविद्याको नष्ट कर, विद्याको उत्पन्न कर, इसी जन्ममें दुःखोंका अन्त करनेवाला होता है। इतनेसे भी आवुसो! आर्य-श्रावक सम्यग्दृष्टि होता है०।

"ठीक आवुस!" (कह) उन भिक्षुओंने आयुष्मान् सारिपुत्रके भाषणका अभिनन्दन कर अनुमोदन कर, आयुष्मान् सारिपुत्रसे आगेका प्रश्न पूछा—"क्या आवुस! और भी पर्याय (= प्रकार) है, जिससे कि आर्यश्रावक सम्यग्-दृष्टि होता है ०?"

"है, आवुसो! जब आवुसो! आर्यश्रावक आहारको जानता है, आहार-समुदय (= आहारकी उत्पत्ति)को जानता है, आहार-निरोध ०, आहार-निरोध-गामिनी प्रतिपद् (= आहारके विनाशकी ओर ले जानेवाले मार्ग)को जानता है। इतनेसे आवुसो! आर्यश्रावक सम्यग्दृष्टि होता है ०। क्या है आवुसो! आहार, क्या है आहार-समुदय,० आहार-निरोध,० आहार निरोध गामिनी प्रतिपद्?—आवुसो! सत्त्वोंकी स्थिति (और) होने वालोंकी सहायताके लिये भूतों (= प्रणियों)के यह चार आहार हैं। कौनसे चार?—(१) स्थूल या सूक्ष्म कवलिंकार (= ग्रास-करके खाया जानेवाला) आहार, (२) स्पर्श दूसरा (३) मनकी संचेतना (= ख्याल) तीसरा, (४) विज्ञान चौथा। तृष्णाका समुदय (= उत्पत्ति) (ही) आहारका समुदय है। तृष्णाका निरोध आहारका निरोध है। यह आर्य-अष्टांगिक मार्ग आहार-निरोध गामिनी प्रतिपद् है; जैसे कि—(१) सम्यग्-दृष्टि (= ठीक धारणा), (२) सम्यक्-संकल्प, (३) सम्यग्-वचन, (४) सम्यग्-कर्मान्त (= कर्म) (५) सम्यग्-आजीव, (६) सम्यग्-व्यायाम (= ०उद्योग), (७) सम्यक्-स्मृति; (८) सम्यक्-समाधि। जब आवुसो! आर्यश्रावक इस प्रकार आहारको जानता है ०, तो वह सर्वथा रागानुशयका परित्याग कर ०[1] दुःखोंका अन्त करनेवाला होता है। इतने से आवुसो!।

"ठीक आवुस!" यह (कह) उन भिक्षुओंने ०[1] आगेका प्रश्न पूछा—०[1]।"

"है, आवुसो! जब आवुसो! आर्यश्रावक दुःख को जानता है, दुःख-समुदय (= दुःखकी उत्पत्ति, या कारण)को जानता है, दुःख-निरोधको जानता है, (और) दुःख-निरोधगामिनी प्रतिपद्को जानता है; तब आवुसो! आर्यश्रावक सम्यग्दृष्टि होता है०[1]। क्या है आवुसो! दुःख, क्या है दुःख-समुदय, क्या है दुःख-निरोध, क्या है दुःख निरोध-गामिनी प्रतिपद्?—जाति (= जन्म) भी दुःख है, जरा भी दुःख, व्याधि भी दुःख, मरण भी दुःख, शोक परिदेव (= रोना-काँदना) दुःख=दौर्मनस्य (= मनःसंताप) उपायास (= परेशानी) भी दुःख है, किसी (चीज)की इच्छा करके उसे न पाना (यह) भी दुःख है; संक्षेपमें पाँचों उपादान (= विषयके तौर पर ग्रहण करने योग्य) स्कन्ध (ही) दुःख हैं। इसे आवुसो! दुःख कहा जाता है। क्या है आवुसो! दुःख-समुदय? यह जो नन्दी उन उन (भोगों)का अभिनन्दन करनेवाली, रागसे संयुक्त, फिर फिर जन्मने की तृष्णा है; जैसे कि—(१) काम (= इंद्रिय-संभोग)की तृष्णा, (२) भव (= जन्मने)की तृष्णा, (३) विभव(= धन)की तृष्णा।—यह आवुसो! दुःख-समुदय कहा

---

[1] देखो ऊपर।

जाता है। क्या है आवुसो ! दुःख-निरोध ?—जो उस तृष्णाका संपूर्णतया विराग, निरोध, त्याग=प्रतिनिस्सर्ग, मुक्ति, अनालय (= उसमें लीन न होना) ।—यह कहा जाता है आवुसो ! दुःखनिरोध। क्या है आवुसो ! दुःखनिरोध-गामिनी प्रतिपद् ?—यह आर्य-अष्टांगिक-मार्ग ० है। (४) जैसे कि (१) सम्यग् दृष्टि ०[1] (८) सम्यक्-समाधि। जब आवुसो ! आर्य-श्रावक इस प्रकार दुःखको जानता है ०। ०। इतनेसे आवुसो ! ०।

"ठीक, आवुस ! ०[1]।"

"है, आवुसो ! जब आवुसो ! आर्यश्रावक जरा-मरणको जानता है, ० समुदय ०, ० निरोध ०, ० निरोध गामिनी प्रतिपद्को जानता है, तब आवुसो ! आर्यश्रावक ०[1]। क्या है आवुसो ! जरा-मरण, ० समुदय, ० निरोध, ० निरोध-गामिनी प्रतिपद् ?—जो उन उन प्राणियोंकी उन उन प्राणि-शरीरोंमें जरा (=बुढापा) जीर्णता, खाण्डित्य (=दाँत टूटना), पालित्य (=बाल पकना), वलित्वक्ता (=झुर्री पड़ना), आयु-क्षय, इन्द्रिय-परिपाक (= ० विकार) ।—यह कही जाती है आवुसो ! जरा क्या है आवुसो ! मरण ?—जो उन उन प्राणियोंकी उन उन प्राणि-शरीरोंसे च्युति=च्यवन होना, भेद (=वियोग), अन्तर्धान, मृत्यु, मरण=कालक्रिया, स्कन्धोंका विलग होना, कलेवरका निक्षेप (= पतन) ।—यह कहा जाता है आवुसो ! मरण। इस प्रकार यह जरा और यह मरण (दोनों मिलकर) जरा-मरण होते हैं। जाति-समुदय (= जन्मका होना) जरा-मरण-समुदय है, जाति-निरोध (होनेसे), जरा-मरण-निरोध होता है। यही आर्य-अष्टांगिक-मार्ग जरा मरण निरोध गामिनी प्रतिपद् है; जैसे कि ०[1]। जब आवुसो ! ०[1]।"

"ठीक आवुस ! ०[1]"

"है, आवुसो ! जब आवुसो ! आर्यश्रावक तृष्णाको जानता है, ० समुदय ०, ० निरोध ०, ० निरोधगामिनी प्रतिपद्को जानता है; तब आवुसो ! आर्यश्रावक०[1]। क्या है, आवुसो ! तृष्णा, ० समुदय, ० निरोध, ० निरोधगामिनी प्रतिपद् ?—आवुसो ! तृष्णाके यह छः आकार (= काय, =समुदाय) हैं—रूप-तृष्णा, शब्द-तृष्णा, गन्ध-तृष्णा, रस-तृष्णा, स्प्रष्टव्य-(= त्वक्का विषय)-तृष्णा, धर्म (=मनके विषयकी)-तृष्णा। वेदना (=अनुभव, महसूस-करना)-समुदय (ही) तृष्णा-समुदय है, वेदना-निरोध (ही) तृष्णा-निरोध है। यही आर्य-अष्टांगिक-मार्ग तृष्णा-निरोध गामिनी प्रतिपद् है; जैसे कि ०[1]। जब आवुसो ! ०[1]।"

"ठीक, आवुस ! ०[1]"

"है, आवुसो ! ० वेदनाको जानता है, ० समुदय ०, ० निरोध०, ० निरोध-गामिनी प्रतिपद्को जानता है। तब आवुसो ! आर्यश्रावक ०[1]। क्या है, आवुसो ! वेदना, ० समुदय, ० निरोध, ० निरोध गामिनी प्रतिपद् ?—आवुसो ! वेदनाके यह छ आकार हैं—(१) चक्षुः-संस्पर्शजा (=चक्षुके संयोगसे उत्पन्न) वेदना (= एहसास, अनुभव), (२) श्रोत्र-संस्पर्शजा वेदना, (३) घ्राण-संस्पर्शजा वेदना, (४) जिह्वा-संस्पर्शजा वेदना, (५) काय-संस्पर्शजा वेदना, (६) मनः-संस्पर्शजा वेदना। स्पर्श (= इन्द्रिय और विषयका संयोग)-समुदय (से ही) वेदना-समुदय (होता है), स्पर्श-निरोध से वेदना-निरोध होता है। यही आर्य-अष्टांगिक-मार्ग-वेदना-निरोध गामिनी प्रतिपद् है, जैसे कि ०[1]। जब आवुसो ०[1]।

"ठीक आवुस !०[1]"

"है, आवुसो ! ० स्पर्श(=इन्द्रिय और विषयका संयोग)को जानता है, ० समुदय, ००। तब आवुसो ! आर्यश्रावक ०[1] । क्या है आवुसो ! स्पर्श, ० समुदय, ० ० ?—आवुसो ! स्पर्शके यह प्रकार (या समुदाय) हैं—(१) चक्षुः-संस्पर्श, (२) श्रोत्र-संस्पर्श, (३) घ्राण-संस्पर्श, (४) जिह्वा-संस्पर्श, (५) काय-संस्पर्श, (६) मनः-संस्पर्श। षड्-आयतन (= चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय या त्वक् और मन यह छः इन्द्रियाँ)-समुदय (ही) स्पर्श-समुदय है। षडायतन-निरोध (से) स्पर्श-निरोध (होता है)। यही आर्य-अष्टांगिक-मार्ग स्पर्श-निरोध-गामिनी प्रतिपद् है, जैसे कि ०[1] । जब आवुसो ०[1] ।

"ठीक आवुस ! ० [1]"

"है, आवुसो ! ० षडायतनको जानता है, ० समुदय ०। ००। तब आवुसो ! आर्यश्रावक ०[1]। क्या है आवुसो ! षडायतन, ० निरोध, ०० ?—आवुसो ! यह छ आयतन (=इन्द्रिय) हैं—(१) चक्षुः-आयतन, (२) श्रोत्र-आयतन, (३) घ्राण-आयतन, (४) जिह्वा-आयतन, (५) काय-आयतन, (६) मन-आयतन। नाम-रूप (=विज्ञान और रूप Mind and matter)-समुदय, षडायतन-समुदय है, नाम-रूप-निरोध (ही) षडायतन-निरोध है। यही आर्य-अष्टांगिक-मार्ग ०[1] ।०[1] ।

"ठीक आवुस ! ०[1] "

"है, आवुसो ! ० नाम-रूपको जानता है, ० समुदय ०,००। तब आवुसो ! आर्यश्रावक ०[1]। क्या है आवुसो ! नाम-रूप, ० निरोध, ०० ?—(१) वेदना (= विषय और इन्द्रियके संयोगसे उत्पन्न मन पर प्रथम प्रभाव), (२) संज्ञा (=वेदनाके अनंतरकी मनकी अवस्था), (३) चेतना (= संज्ञाके अनंतरकी मनकी अवस्था) (४) स्पर्श, मनसिकार (= मनपर संस्कार),—यह आवुसो ! नाम हैं। चार महाभूत और चार महाभूतों को लेकर (बने) रूप, यह आवुसो रूप कहा जाता है। इस प्रकार यह नाम, (और) यह रूप, (दोनों मिलकर) आवुसो ! नाम-रूप कहा जाता है। विज्ञान-समुदय नाम-रूप-समुदय है। विज्ञान-निरोध, नाम-रूप-निरोध है। यही आर्य-अष्टांगिक-मार्ग ०[1] ।०[1] ।

"ठीक आवुस ! ० [1]"

"है, आवुसो ! ० विज्ञानको जानता है, ० समुदय, ०० । तब आवुसो ! आर्यश्रावक ०[1] । क्या है आवुसो ! विज्ञान, ० समुदय, ०० ?—आवुसो ! यह छ विज्ञानके समुदाय (=काय) हैं—(१) चक्षुः-विज्ञान, (२) श्रोत्र-विज्ञान, (३) घ्राण-विज्ञान, (४) जिह्वा-विज्ञान, (५) काय-विज्ञान, (६) मनो-विज्ञान। संस्कार-समुदय विज्ञान-समुदय है, संस्कार-निरोध विज्ञान-निरोध है। यही आर्य-अष्टांगिक-मार्ग ०[1] । ०[1] ।

"ठीक आवुस ! ०[1]"

"है, आवुसो ! ० संस्कारोंको जानता है। ० समुदय, ००। तब आवुसो ! आर्य-श्रावक ०[1] । क्या है आवुसो ! संस्कार, (= क्रिया, गति) ० समुदय, ०० ?—आवुसो ! यह तीन संस्कार हैं—(१) काय-संस्कार, (२) वचन-संस्कार, (३) चित्त-संस्कार-निरोध है । यही आर्य-अष्टांगिक-मार्ग ०[1] ।०[1] ।

"ठीक आवुस ! ०[1]"

"है, आवुसो ! ० अविद्याको जानता है, ० समुदय, ००। तब आवुसो ! आर्यश्रावक ०[1] ।

---

[1] देखो पृष्ठ ३१ ।

क्या है आवुसो अविद्या, ० समुदय, ०० ?—आवुसो ! जो यह दुःखके विषयमें अज्ञान, दुःख समुदयके विषयमें अज्ञान, दुःख-निरोधके विषयमें अज्ञान, दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपद्के विषयमें अज्ञान; इसे आवुसो ! अविद्या कहा जाता है। आस्रव-समुदय अविद्या-समुदय है। आस्रव-निरोध अविद्या-निरोध है। यही आर्य-अष्टांगिक-मार्ग ०[1]। ०[1]।

"ठीक आवुस ! ०[1]"

"है, आवुसो ! ० आस्रव (=चित्तमल)को जानता है, ० समुदय, ००। तब आवुसो ! आर्यश्रावक ०[1]। क्या है आवुसो ! आस्रव, ० समुदय, ०० ?—आवुसो ! यह तीन आस्रव हैं—(१) काम-आस्रव, (२) भव-(=जन्मनेका) आस्रव, (३) अविद्या-आस्रव। अविद्या-समुदय आस्रव-समुदय है, अविद्या-निरोध आस्रव-निरोध है। यही आर्य-अष्टांगिक-मार्ग ०[1]।

इतनेसे आवुसो ! आर्यश्रावक सम्यग्-दृष्टि होता है, उसकी दृष्टि सीधी (होती है), वह धर्ममें अत्यन्त श्रद्धावान्, (और) इस सद्धर्मको प्राप्त होता है।"

आयुष्मान् सारिपुत्रने यह कहा, सन्तुष्ट हो उन भिक्षुओंने आयुष्मान् सारिपुत्रके भाषण-का अभिनन्दन किया।

१०—सति-पट्ठान-सुत्तन्त (१।१।१०)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् कुरु[1] (देश)में कुरुओंके निगम (=कस्बा) कम्मास-दम्ममें विहार करते थे।

वहाँ भगवान्ने भिक्षुओंको संबोधित किया—"भिक्षुओ !"

"भदन्त !" (कह) भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया।

"भिक्षुओ ! यह जो चार स्मृति-प्रस्थान (= सति-पट्ठान) हैं, वह सत्त्वोंके—शोक कष्टकी विशुद्धि के लिए; दुःख = दौर्मनस्यके अतिक्रमणके लिये, न्याय (= सत्य)की प्राप्तिके लिये, निर्वाण-की प्राप्ति और साक्षात्करनेके लिये, एकायन (= अकेला) मार्ग है। कौनसे चार ?—भिक्षुओ ! वहाँ (इस धर्ममें) भिक्षु कायामें [2]काय-अनुपश्यी हो, उद्योगशील अनुभव (= संप्रजन्य) ज्ञान-युक्त, स्मृति-मान्, लोक (= संसार या शरीर)में अभिध्या (= लोभ) और दौर्मनस्य (= दुःख)-को हटाकर विहरता है। वेदनाओं (= सुखादि)में [3]वेदनानुपश्यी हो ० विहरता है। चित्तमें चित्तानुपश्यी ०। धर्मोंमें धर्मानुपश्यी ०।

"भिक्षुओ ! कैसे भिक्षु [4]कायामें, कायानुपश्यी हो विहरता है ?—भिक्षुओ ! भिक्षु अरण्यमें, वृक्षके नीचे, या शून्यागारमें, आसन मारकर, शरीरको सीधाकर, स्मृतिको सामने रखकर बैठता है। वह स्मरण रखते साँस छोड़ता है, स्मरण रखते ही साँस लेता है। लम्बी साँस छोड़ते वक्त, 'लम्बी साँस छोड़ता हूँ'—जानता है। लम्बी साँस लेते वक्त, 'लम्बी साँस लेता हूँ'—जानता है। छोटी साँस छोड़ते, 'छोटी साँस छोड़ता हूँ'—जानता है। छोटी साँस लेते 'छोटी साँस लेता हूँ'—जानता है। सारी कायाको जानते (= अनुभव करते) हुये, साँस छोड़ना सीखता है। सारी कायाको जानते हुये साँस लेना सीखता है। कायाके संस्कार (= गति, क्रिया)को शांत करते साँस छोड़ना सीखता है। कायाके संस्कारको शांत करते साँस लेना सीखता है। जैसे कि—भिक्षुओ ! एक चतुर खरादकार (= भ्रमकार) या खरादकारका अन्तेवासी लम्बे (काष्ट)को रंगते समय 'लम्बा रंगता हूँ'—जानता है। छोटेको रंगते समय 'छोटा रंगता हूँ'—जानता है। ऐसेही भिक्षुओ ! भिक्षु लम्बी साँस छोड़ते ०, लम्बी साँस लेते ०, छोटी साँस छोड़ते ०, छोटी साँस लेते ० जानता है। सारी

---

[1] कुरुके बारेमें देखो बुद्धचर्या पृष्ठ ११८। [2] शरीरको उसके असल स्वरूप केश-नख-मल-मूत्र आदि रूपमें देखनेवाला 'काये कायानुपश्यी' कहा जाता है। [3] सुःख, दुःख, न दुःख न सुख इन तीन चित्तकी अवस्था रूपी वेदनाओंको जैसा हो वैसा देखनेवाला 'वेदनामें वेदनानुपश्यी ०।' [4] यही आनापान (= प्राणायाम) कहलाता है।

कायाको जानते (=अनुभव करते) हुये साँस छोड़ना सीखता है, ० साँस लेना ०। काय-संस्कारको शांत करते साँस छोड़ना सीखता है; ० साँस लेना ०। इस प्रकार कायाके भीतरी भागमें कायानुपश्यी हो विहरता है। कायाके बाहरी भागमें ०। कायाके भीतरी और बाहरी भागमें कायानुपश्यी विहरता है। कायामें समुदय (= उत्पत्ति) धर्मको देखता विहरता है। कायामें व्यय (= खर्च, विनाश) धर्मको देखता विहरता है। कायामें समुदय-व्यय (= उत्पत्ति-विनाश) धर्मको देखता विहरता है। 'काया है'—यह स्मृति, ज्ञान और स्मृतिके प्रमाणके लिये उपस्थित रहती है। (तृष्णा आदिमें) अ-लग्न हो विहरता है। लोकमें कुछ भी (मैं, और मेरा करके) नहीं ग्रहण करता। इस प्रकार भी भिक्षुओ! भिक्षु कायामें काय बुद्धि रखते विहरता है।

"[1] फिर भिक्षुओ! भिक्षु जाते हुये 'जाता हूँ'—जानता है। बैठे हुये 'बैठा हूँ'—जानता है। सोये हुये 'सोया हूँ'—जानता है। जैसे जैसे उसकी काया अवस्थित होती है, वैसेही उसे जानता है। इसी प्रकार कायाके भीतरी भागमें कायानुपश्यी हो विहरता है; कायाके बाहरी भागमें कायानुपश्यी विहरता है। कायाके भीतरी और बाहरी भागोंमें कायानुपश्यी विहरता है। कायामें समुदय-(= उत्पत्ति)-धर्म देखता विहरता है, ० व्यय-(= विनाश) धर्म ०, ० समुदय-व्यय-धर्म ०। ०।

"[2] और भिक्षुओ! भिक्षु जानते (= अनुभव करते) हुये गमन-आगमन करता है। जानते हुये आलोकन=विलोकन करता है। ० सिकोड़ना फैलाना ० [3] संघाटी, पात्र, चीवरका धारण करता है। जानते हुये आसन, पान, खादन, आस्वादन, करता है। ० पाखाना (= उच्चार), पेशाव (= पस्साव), करता है। चलते, खड़े होते, बैठते, सोते, जागते, बोलते, चुप रहते, जानकर करनेवाला होता है। इस प्रकार कायाके भीतरी भागमें कायानुपश्यी हो विहरता है। ०।

"[4] और भिक्षुओ! भिक्षु पैरके तलवेसे ऊपर, केश-मस्तकसे नीचे, इस कायाको नाना प्रकारके मलोंसे पूर्ण देखता (= अनुभव करता) है—इस कायामें हैं—केश, रोम, नख, दाँत, त्वक् (= चमड़ा), मांस, स्नायु, अस्थि, अस्थि (के भीतरकी) मज्जा, वृक्क, हृदय (कलेजा), यकृत, क्लोमक, प्लीहा (=तिल्ली), फुफ्फुस, आँत, पतली आँत (= अंत-गुण), उदरस्थ (वस्तुयें), पाखाना, पित्त, कफ, पीव, लोहू, पसीना, मेद (=वर), आँसू, वसा (=चर्बी), लार, नासा-मल, [5] लसिका, और मूत्र। जैसे भिक्षुओ! नाना अनाज शाली, व्रीही (= धान), मूँग, उड़द, तिल, तण्डुलसे दोनों मुखभरी डेहरी (= मुढोली, पुटोली) हो, उसको आँखवाला पुरुष खोलकर देखे—यह शाली हैं, यह व्रीही हैं, यह मूँग हैं, यह उड़द हैं, यह तिल हैं, यह तंडुल हैं। इसी प्रकार भिक्षुओ! भिक्षु पैरके तलवेके ऊपर केश-मस्तकसे नीचे इस कायाको नाना प्रकारके मलोंसे पूर्ण देखता है—इस कायामें हैं ०। इस प्रकार कायाके भीतरी भागमें कायानुपश्यी हो विहरता है। ०।

"और फिर भिक्षुओ! भिक्षु इस [6] कायाको (इसकी) स्थितिके अनुसार (इसकी) रचनाके अनुसार देखता है—इस कायामें हैं—पृथिवी धातु (= पृथिवी महाभूत), आप (= जल)-धातु, तेज (=अग्नि) धातु, वायु-धातु। जैसे कि भिक्षुओ! दक्ष (=चतुर) गो-घातक या गो-घातकका अन्तेवासी, गायको मारकर बोटी बोटी काटकर चौरस्तेपर बैठा हो। ऐसे ही भिक्षुओ! भिक्षु इस कायाको स्थितिके अनुसार, रचनाके अनुसार देखता है। ०। इस प्रकार कायाके भीतरी भागको ०।

---

[1] यही ईर्या-पथ है। [2] यही संप्रजन्य है। [3] भिक्षुओंकी दोहरी चादर। [4] प्रतिकूल-मनसिकार।
[5] केहुनी आदि जोड़ोंमें स्थित तरल पदार्थ। [6] धातु-मनसिकार।

"[1]और भिक्षुओ ! भिक्षु एक दिनके मरे, दो दिनके मरे, तीन दिनके मरे, फूले, नीले पड़ गये, पीव-भरे, (मृत)-शरीरको श्मशानमें फेकी देखे। (और उसे) वह इसी (अपनी) कायापर घटावै—यह भी काया इसी धर्म (=स्वभाव)-वाली, ऐसी ही होनेवाली, इससे न बच सकनेवाली है। इस प्रकार कायाके भीतरी भाग०। ०।

"और भिक्षुओ ! भिक्षु कौओंसे खाये जाते, चील्होंसे खाये जाते, गिद्धोंसे खाये जाते, कुत्तोंसे खाये जाते, नाना प्रकारके जीवोंसे खाये जाते, श्मशानमें फेंके (मृत-)शरीरको देखै। वह इसी (अपनी) कायापर घटावै—यह भी काया०। ०।

"और भिक्षुओ ! भिक्षु माँस-लोहू-नसोंसे बँधे हड्डी-कंकालवाले शरीरको श्मशानमें फेंका देखे ०। ०।

"० माँस-रहित लोहू-लगे, नसोंसे बँधे०। ०। ० माँस-लोहू-रहित नसोंसे बँधे०। ०। ० बंधन-रहित हड्डियोंको दिशा-विदिशामें फेंकी देखे—कहीं हाथकी हड्डी है, ० पैरकी हड्डी ० ० जंघाकी हड्डी ०, ० उरुकी हड्डी ०, कमरकी हड्डी ०, ० पीठके काँटे ०, ० खोपड़ी ०; और इसी (अपनी) [2]कायापर घटावे ०। ०।

"और भिक्षुओ ! भिक्षु शंखके समान सफेद वर्णके हड्डीवाले शरीरको श्मशानमें फेंका देखे ०। ०। ० वर्षों-पुरानी जमाकी हड्डियोंवाले ०। ०। ० सड़ी चूर्ण होगई हड्डियोंवाले ०। ०।

"कैसे भिक्षुओ ! भिक्षु [3]वेदनाओंमें वेदनानुपश्यी (हो) विहरता है ?—भिक्षुओ ! भिक्षु सुख-वेदनाको अनुभव करते 'सुख-वेदना अनुभव कर रहा हूँ'—जानता है। दुःख-वेदनाको अनुभव करते 'दुःखवेदना अनुभवकर रहा हूँ'—जानता है। अदुःख-असुख वेदनाको अनुभव करते 'अदुःख-असुख-वेदना अनुभवकर रहा हूँ'—जानता है। स-आमिष (= भोग-पदार्थ-सहित) सुख-वेदनाको अनुभव करते ०। निर्-आमिष सुख-वेदना ०। स-आमिष दुःख-वेदना ०। निर्-आमिष दुःख-वेदना ०। स-आमिष अदुःख-असुख-वेदना ०। निर्-आमिष अदुःख-असुख-वेदना ०। इस प्रकार कायाके भीतरी भाग ०। ०।

"कैसे भिक्षुओ ! भिक्षु चित्तमें [4]चित्तानुपश्यी हो विहरता है ?—यहाँ भिक्षुओ ! भिक्षु स-राग चित्तको 'स-राग चित्त है'—जानता है। विराग (= राग-रहित)) चित्तको 'विराग चित्त है'—जानता है। स-द्वेष चित्तको 'सद्वेष चित्त है'—जानता है। वीत-द्वेष (= द्वेष-रहित) चित्तको 'वीत-द्वेष चित्त है'—जानता है। स-मोह चित्तको ०। वीत-मोह चित्तको ०। संक्षिप्त चित्तको ०। विक्षिप्त चित्तको ०। महद्-गत (= महापरिमाण) चित्तको ०। अ-महद्गत चित्तको ०। स-उत्तर ०। अन्-उत्तर (= उत्तम) ०। समाहित (= एकाग्र) ०। अ-समाहित ०। विमुक्त ०। अ-विमुक्त ०। इस प्रकार कायाके भीतरी भाग ०। ०।

"कैसे भिक्षुओ ! भिक्षु धर्मोंमें [5]धर्मानुपश्यी हो विहरता है ?—भिक्षुओ ! भिक्षु पाँच नीवरण धर्मोंमें धर्मानुपश्यी (हो) विहरता है। कैसे भिक्षुओ ! भिक्षु पांच [6]नीवरण धर्मोंमें धर्मानुपश्यी हो विहरता है ?—यहां भिक्षुओ ! भिक्षु विद्यमान भीतरी काम-च्छन्द (= कामुकता)को 'मेरेमें भीतरी काम-च्छन्द विद्यमान है'—जानता है। अ-विद्यमान भीतरी कामच्छन्दको 'मेरेमें भीतरी कामच्छन्द नहीं विद्यमान है'—जानता है। अन्-उत्पन्न कामच्छन्दकी जैसे

---

[1] श्मशान। [2] चौदह (१) कायानुपश्यना समाप्त। [3] (२) वेदनानुपश्यना। [4] (३) चित्तानुपश्यना। [5] (४) धर्मानुपश्यना। [6] पाँच नीवरण—कामच्छन्द, व्यापाद, स्त्यानमृद्ध, औद्धत्य-कौकृत्य, विचिकित्सा।

उत्पत्ति होती है, उसे जानता है। जैसे उत्पन्न हुये कामच्छन्दका प्रहाण (= विनाश) होता है, उसे जानता है। जैसे विनष्ट कामच्छन्दकी आगे फिर उत्पत्ति नहीं होती, उसे जानता है। विद्यमान भीतरी व्यापाद (= द्रोह)को—'मेरेमें भीतरी व्यापाद विद्यमान है'—जानता है। अ-विद्यमान भीतरी व्यापादको—'मेरेमें भीतरी व्यापाद नहीं विद्यमान है'—जानता है। जैसे अन्-उत्पन्न व्यापाद उत्पन्न होता है, उसे जानता है। जैसे उत्पन्न व्यापाद नष्ट होता है, उसे जानता है। जैसे विनष्ट व्यापाद आगे फिर नहीं उत्पन्न होता, उसे जानता है। विद्यमान भीतरी स्त्यान-मृद्ध (= थीन-मिद्ध = शरीर-मनकी अलसता) ०। ०।

० भीतरी औद्धत्य-कौकृत्य (= उद्धच्च-कुक्कुच्च = उद्वेग-खेद,) ०। ०।

० भीतरी विचिकित्सा (= संशय) ०। ०।

"इस प्रकार भीतर धर्मोंमें धर्मानुपश्यी हो विहरता है। बाहर धर्मोंमें (भी) धर्मानुपश्यी हो विहरता है। भीतर-बाहर ०। धर्मोंमें समुदय (= उत्पत्ति) धर्मका अनुपश्यी (= अनुभव करनेवाला) हो विहरता है।। ० व्यय (= विनाश)-धर्म ०। ० उत्पत्ति-विनाश-धर्म ०। स्मृतिके प्रमाणके लिये ही, 'धर्म है'—यह स्मृति उसकी बराबर विद्यमान रहती है। वह (तृष्णा आदिमें) अ-लग्न हो विहरता है। लोकमें कुछ भी (मैं और मेरा) करके ग्रहण नहीं करता। इस प्रकार भिक्षुओ ! भिक्षु धर्मोंमें धर्म-अनुपश्यी हो विहरता है।

"और फिर भिक्षुओ ! भिक्षु पाँच उपादान [1]स्कंध धर्मोंमें धर्म-अनुपश्यी हो विहरता है। कैसे भिक्षुओ ! भिक्षु पाँच उपादान स्कंध धर्मोंमें धर्म-अनुपश्यी हो विहरता है ? भिक्षुओ ! भिक्षु (अनुभव करता है)—'यह रूप है', 'यह रूपकी उत्पत्ति (= समुदय)', 'यह रूपका अस्त-गमन (= विनाश) है'। ० संज्ञा ०। ० संस्कार ०। ० विज्ञान ०। इस प्रकार अध्यात्म (= शरीरके भीतरी) धर्मोंमें धर्म-अनुपश्यी हो विहरता है। बहिर्धा (= शरीरके बाहरी) धर्मोंमें धर्म-अनुपश्यी ०। शरीरके भीतरी-बाहरी धर्मों (= वस्तुओं)में समुदय (= उत्पत्ति)—धर्मको अनुभव करता विहरता है। वस्तुओंमें विनाश (= व्यय)—धर्मको अनुभव करता विहरता है। वस्तुओंमें उत्पत्ति-विनाश-धर्मको अनुभव करता विहरता है। सिर्फ ज्ञान और स्मृतिके प्रमाणके लिये ही 'धर्म है'—यह स्मृति उसको बराबर विद्यमान रहती है। वह अ-लग्न हो विहरता है। लोकमें कुछ भी नहीं ग्रहण करता। इस प्रकार भिक्षुओ ! भिक्षु पांच उपादान-स्कंधोंमें धर्म (= स्वभाव) अनुभव करता (= धर्म-अनुपश्यी) विहरता है।

"और फिर भिक्षुओ ? भिक्षु छः आध्यात्मिक (= शरीरके भीतरी), बाह्य (= शरीरके बाहरी) [2]आयतन धर्मोंमें धर्म अनुभव करता विहरता है। कैसे भिक्षुओ ! भिक्षु छः भीतरी बाहरी आयतन(-रूपी) धर्मोंमें धर्म अनुभव करता विहरता है ?—भिक्षुओ ! भिक्षु चक्षुको अनुभव करता है, रूपोंको अनुभव करता है, और जो उन दोनों (= चक्षु और रूप) करके संयोजन[3] उत्पन्न होता है, उसे भी अनुभव करता है। जिस प्रकार अन्-उत्पन्न संयोजनकी

---

[1]स्कंध—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान।

[2]आयतन—चक्षुः, श्रोत्र, घ्राण (= नासिक), जिह्वा (= रसना), काय (= त्वक्), मन। इनमें पहिले पांच बाह्यआयतन हैं, मन आध्यात्मिक (= शरीरके भीतरका) आयतन है।

[3]संयोजन दश यह हैं—प्रतिघ (= प्रतिहिंसा), मान (= अभिमान), दृष्टि (धारणा, मत), विचिकित्सा (= संशय), शील-व्रत-परामर्श (= शील और व्रतका ख्याल), भव-राग (आवागमन-प्रेम), ईर्षा, मात्सर्य और अ-विद्या। संयोजनका शब्दार्थ बन्धन है।

उत्पत्ति होती है, उसे भी जानता है। जिस प्रकार उत्पन्न संयोजनका प्रहाण (= विनाश) होता है, उसे भी जानता है। जिस प्रकार प्रहीण (= विनष्ट) संयोजनकी आगे फिर उत्पत्ति नहीं होती, उसे भी जानता है। श्रोत्रको अनुभव करता है; शब्दको अनुभव करता है ०। घ्राण (सूंघनेकी शक्ति, घ्राण-इंद्रिय)को अनुभव करता है। गंधको अनुभव करता है ०। जिह्वा ० र ०। ०। काया (= त्वक्-इंद्रिय, ठंडा गर्म आदि जाननेकी शक्ति) ०, स्प्रष्टव्य (= ठंडा गर्म आदि ०। ०। मनको अनुभव करता है। धर्म (= मनके विषय)को अनुभव करता है। दोनों (= मन और धर्म) करके जो [1]संयोजन उत्पन्न होता है, उसको भी अनुभव करता है। ०। इस प्रकार अध्यात्म (= शरीरके भीतर) धर्मों (= पदार्थों)में धर्म (= स्वभाव) अनुभव करता विहरता है, वहिर्धा (= शरीरके वाहर) ०, अध्यात्म-वहिर्धा ०। धर्मोंमें उत्पत्ति-धर्मको ०, ० विनाश-धर्मको ०, ० उत्पत्ति-विनाश-धर्मको ०। सिर्फ ज्ञान और स्मृतिके प्रमाणके लिये ०। इस प्रकार भिक्षुओ! भिक्षु शरीरके भीतर और वाहर वाले छः आयतन धर्मों (=पदार्थों) में धर्म (= स्वभाव) अनुभव करता विहरता है।

"और भिक्षुओ! भिक्षु सात [2]वोधि-अङ्ग धर्मों(= पदार्थों)में धर्म (= स्वभाव) अनुभव करता विहरता है। कैसे भिक्षुओ। ०? भिक्षुओ! भिक्षु विद्यमान भीतरी (= अध्यात्म) स्मृति संवोधि-अङ्गको 'मेरे भीतर स्मृति संवोधि-अङ्ग है'—अनुभव करता है। अ-विद्यमान भीतरी स्मृति संवोधि-अङ्गको 'मेरे भीतर स्मृति संवोधि-अङ्ग नहीं है'—अनुभव करता है। जिस प्रकार अन्-उत्पन्न स्मृति संवोधि-अङ्गकी उत्पत्ति होती है; उसे जानता है। जिस प्रकार उत्पन्न स्मृति संवोधि अङ्गकी भावना परिपूर्ण होती है; उसे भी जानता है। ० भीतरी धर्म-विचय (= धर्म-अन्वेषण) संवोधि-अङ्ग ०। ०वीर्य ०। ० प्रीति ०। ० प्रश्रब्धि ०। ० समाधि ०। विद्यमान भीतरी उपेक्षा संवोधि-अङ्गको 'मेरे भीतर उपेक्षा संवोधि-अङ्ग है'—अनुभव करता है। अ-विद्यमान भीतरी उपेक्षा संवोधि-अङ्गको 'मेरे भीतर उपेक्षा संवोधि-अङ्ग नहीं है'—अनुभव करता है। जिस प्रकार अन्-उत्पन्न उपेक्षा संवोधि-अङ्गकी उत्पत्ति होती है; उसे जानता है। जिस प्रकार उत्पन्न उपेक्षा संवोधि-अङ्गकी भावना परिपूर्ण होती है; उसे जानता है। इस प्रकार शरीरके धर्मोंमें धर्म अनुभव करता विहरता; शरीरके वाहर ०, शरीरके भीतर-वाहर ०। ०। इस प्रकार भिक्षुओ! भिक्षु शरीरके भीतर और वाहर वाले सात संवोधि-अङ्ग धर्मोंमें धर्म अनुभव करता विहरता है।

"और फिर भिक्षुओ! भिक्षु चार [3]आर्य-सत्य धर्मोंमें धर्म अनुभव करते विहरता है। कैसे ०? भिक्षुओ! 'यह दुःख है'—ठीक ठीक (= यथाभूत = जैसा है वैसा) अनुभव करता है। 'यह दुःखका समुदय (= कारण) है'—ठीक ठीक अनुभव करता है। 'यह दुःखका निरोध

---

[1] संयोजन दश यह हैं—प्रतिघ (= प्रतिहिंसा), मान (=अभिमान), दृष्टि (= धारणा, मत), विचिकित्सा (= संशय), शील-व्रत-परामर्श (= शील और व्रतका ख्याल), भव-राग (= आवागमन-प्रेम), ईर्षा, मात्सर्य और अ-विद्या। संयोजनका शब्दार्थ बन्धन है।

[2] सात बोध्यङ्ग—स्मृति, धर्म-विचय (= धर्म-अन्वेषण), वीर्य (= उद्योग), प्रीति (= हर्ष), प्रश्रब्धि (= शांति), समाधि, उपेक्षा। संबोधि = बोधि (= परम ज्ञान) प्राप्त करनेमें यह परम सहायक हैं, इसलिये इन्हें बोधि-अङ्ग कहा जाता है।

[3] आर्य-सत्य चार हैं—दुःख, समुदय, निरोध, निरोध-गामिनी-प्रतिपद्।

(= विनाश) है'—ठीक ठीक अनुभव करता है। 'यह दुःखके निरोधकी ओर ले जानेवाला मार्ग (= दुःख-निरोध गामिनी-प्रतिपद्) है'—ठीक ठीक अनुभव करता है।

"इस प्रकार भीतरी धर्मोंमें धर्मानुपश्यी हो विहरता है। ०। अ-लग्न हो विहरता है। लोकमें किसी (वस्तु)को भी (मैं और मेरा) करके नहीं ग्रहण करता। इस प्रकार भिक्षुओ! भिक्षु चार आर्य-सत्य धर्मोंमें धर्मानुपश्यी हो विहरता है।

"जो कोई भिक्षुओ! इन चार स्मृति-प्रस्थानोंकी इस प्रकार सात वर्ष भावना करे, उसको दो फलोंमें एक फल (अवश्य) होना चाहिये—इसी जन्ममें आज्ञा (= अर्हत्व)का साक्षात्कार, या [1]उपाधि शेष होनेपर अनागामी-भाव। रहने दो भिक्षुओ! सात वर्ष, जो कोई इन चार स्मृति-प्रस्थानोंको इस प्रकार छः वर्ष भावना करे ०। ० पाँच वर्ष। चार वर्ष ०। ० तीन वर्ष ०। ० दो वर्ष ०। ० एक वर्ष ०। ० सात मास ०। ० छः मास ०। ० पाँच मास ०। ० चार मास ०। ० तीन मास ०। ० दो मास ०। ० एक मास ०। ० अर्द्ध मास ०। ० सप्ताह ०।

"भिक्षुओ! 'वह जो चार स्मृति-प्रस्थान हैं; वह सत्त्वोंके शोक-कष्टकी विशुद्धिके लिये, दुःख दौर्मनस्यके अतिक्रमणके लिये, न्याय (= सत्य)की प्राप्तिके लिये, निर्वाण की प्राप्ति और साक्षात् करनेके लिये, एकायन मार्ग है।' यह जो (मैंने) कहा, इसी कारणसे कहा।"

भगवान्‌ने यह कहा, सन्तुष्ट हो, उन भिक्षुओंने भगवान्‌के भाषणको अभिनन्दित किया।[2]

१—इति मूलपरियायवग्ग (१। १)

११–चूल-सीहनाद-सुत्तन्त (१।२।१)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथपिंडिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे। वहाँ भगवान्‌ने भिक्षुओंको संबोधित किया—"भिक्षुओ !"

"भदन्त !" (कह) उन भिक्षुओंने भगवान्‌को उत्तर दिया।

भगवान्‌ने यह कहा—"भिक्षुओ ! यहाँ ही प्रथम श्रमण (= संन्यासी महात्मा) (है), यहाँ द्वितीय श्रमण, यहाँ तृतीय श्रमण, यहाँ चतुर्थ श्रमण है, दूसरे मत (= प्रवाद) श्रमणोंसे शून्य हैं।—इस प्रकार भिक्षुओ ! अच्छी तरहसे सिंहनाद (= सीहनाद) करो।

"हो सकता है भिक्षुओ ! अन्य तैर्थिक (= दूसरे मतवाले) यह कहें—'आयुष्मानोंको क्या आश्वास = क्या बल है, जिससे कि तुम आयुष्मान् यह कहते हो—यहाँ ही श्रमण है, ०'। ऐसा कहनेवाले अन्य मतानुयायियोंको भिक्षुओ ! तुम ऐसा कहना—'आवुसो ! उन भगवान् जाननहार, देखनहार, अर्हत् सम्यक् संबुद्धने हमें चार धर्म (=बात) बतलाये हैं, जिनको हम अपने भीतर देखतेहुये ऐसा कहते हैं—'यहाँ ही श्रमण है ०। कौनसे चार ?—आवुसो ! (१) हमारी शास्ता (= उपदेशक)में श्रद्धा (= प्रसाद) है, (२) धर्ममें श्रद्धा है, (३) शील (= सदाचार)में परिपूर्ण कारिता (= पूरा करनेवाला होना), (४) सहधर्मी गृहस्थ और प्रव्रजित हमारे प्रिय = मनाप हैं। आवुसो ! उन भगवान् ० सम्यक्-सम्बुद्धने हमें यह चार धर्म बतलाये हैं, जिनको हम अपने भीतर देखतेहुये ऐसा कहते हैं—यहाँ ही श्रमण ०।'

"हो सकता है, भिक्षुओ ! अन्य मतानुयायी यह कहें—'आवुसो ! (१) जो हमारा शास्ता (= गुरु) है, (उस) शास्तामें हमारी भी श्रद्धा है; जो हमारा धर्म है, (उस) धर्ममें हमारी भी श्रद्धा है; (३) जो हमारे शील (= सदाचार) हैं, (उन) शीलोंमें हमारी भी परिपूर्णकारिता है। हमारे भी सहधर्मी गृहस्थ और प्रव्रजित प्रिय = मनाप हैं। आवुसो ! तुम्हारे और हमारेमें यहाँ क्या विशेष = नाना-करण = अधिप्पाय है ? ऐसा कहनेवाले अन्यमतानुयायियोंको भिक्षुओ ! तुम ऐसा कहना—'आवुसो ! क्या (आप लोगोंकी) एकनिष्ठा है, या पृथग् (= अलग) निष्ठा ?' ठीकसे उत्तर देनेपर भिक्षुओ ! अन्यमतावलम्बी यह उत्तर देंगे—'एक निष्ठा है आवुसो ! पृथग् निष्ठा नहीं है।' 'आवुसो ! वह निष्ठा क्या सरागके सम्बन्धमें है, या वीतरागके सम्बन्धमें ?' ठीकसे उत्तर देनेपर अन्यमतावलम्बी यह कहेंगे—'वीतरागके सम्बन्धमें है वह निष्ठा, आवुसो ! सरागके सम्बन्धमें नहीं।' 'आवुसो ! वह निष्ठा क्या सद्वेषके सम्बन्धमें है या वीतद्वेषके सम्बन्धमें ० ?' ०'० वीतद्वेषके सम्बन्धमें ०।' '० समोहके सम्बन्ध में, या वीतमोहके ० ?' ० '० वीतमोहके सम्बन्धमें ०।' '० स-तृष्णके सम्बन्धमें, या वीत-तृष्णके ० ?'० '० वीततृष्णके सम्बन्धमें ०।' '० स-उपादान (= बटोरनेवाले)के सम्बन्धमें, या अनुपादानके ० ?' ०'० अनुपादानके

सम्बन्धमें ०।' '० विद्दसु (= ज्ञानी) ० या अ-विद्दसुके ०?' ० '० विद्दसुके सम्बन्धमें ०।' '० अनुरुद्ध = प्रतिविरुद्धके सम्बन्धमें या अनू-अनुरुद्ध = अप्रतिविरुद्धके ० ०?' ० '० अननुरुद्ध = अप्रतिविरुद्धके सम्बन्धमें ०।' '० प्रपंचाराम = प्रपंचरतिके सम्बन्धमें या निष्प्रपंचारामके ०?' ० '० निष्प्रपंचारामके सम्बन्धमें वह निष्ठा है आवुसो! प्रपंचाराम = प्रपंचरतिके सम्बन्धमें नहीं।'

"भिक्षुओ! दो प्रकारकी दृष्टियाँ (= धारणायें) हैं—भव (= संसार)-दृष्टि, विभव (= अ-संसार)दृष्टि। भिक्षुओ! जो कोई श्रमण ब्राह्मण भवदृष्टिमें लीन, भवदृष्टिको प्राप्त, भवदृष्टिमें तत्पर हैं; वह विभवदृष्टिसे विरुद्ध हैं; और, भिक्षुओ! जो श्रमण ब्राह्मण विभवदृष्टिमें लीन, विभवदृष्टिको प्राप्त, विभवदृष्टिमें तत्पर हैं, वह भवदृष्टिसे विरुद्ध हैं। भिक्षुओ! जो श्रमण ब्राह्मण इन दोनों दृष्टियोंके समुदय (= उत्पत्ति) अस्तगमन, आस्वाद, आदिनव (= परिणाम) निस्सरण (= निकास) को यथार्थतया नहीं जानते, वह सराग (हैं), सद्वेष, समोह, सतृष्णा, स-उपादान, अ-विद्दसु (= अज्ञानी), अनुरुद्ध = प्रतिविरुद्ध, प्रपंचाराम प्रपंचरत, हैं; वह जाति, जरामरण, शोक-परिदेव (= क्रंदन)-दुःख-उपायासोंसे नहीं छूटे हैं—यह मैं कहता हूँ। (और) भिक्षुओ! जो श्रमण ब्राह्मण इन दोनों दृष्टियोंके समुदय ०को यथार्थतया जानते हैं, वह वीतराग (हैं), वीतद्वेष ० निष्प्रपंचरत हैं, वह जाति, जरामरण, ०से छूटे हैं—यह मैं कहता हूँ।

"भिक्षुओ! यह चार उपादान (= आग्रह, ग्रहण) हैं। कौनसे चार?—(१) काम (= इन्द्रियभोग)-उपादान। (२) दृष्टि (= धारणा)-उपादान, (३) शील-व्रत-उपादान; (४)-आत्मवाद-उपादान।

भिक्षुओ! कोई कोई श्रमण ब्राह्मण (अपनेको) सर्व-उपादान-परिज्ञावादी (= सारे उपादानोंके त्यागका मत रखनेवाले) कहतेहुये भी, वह ठीक तौरसे सारे उपादानोंके परिज्ञा (= परित्याग) को प्रज्ञापित नहीं करते। काम-उपादान की परिज्ञाको कहते हैं, (किन्तु) दृष्टि ०, शील-व्रत ०, आत्मवाद-उपादानकी परिज्ञाको नहीं प्रज्ञापित करते। सो किस कारण?—यह आप श्रमण ब्राह्मण (उन) तीन बातों (= स्थानों)को ठीकसे नहीं जानते, इसीलिये वह श्रमण ब्राह्मण (अपनेको) सर्व-उपादान-परिज्ञावादी कहते भी ०, आत्मवाद-उपादानकी परिज्ञाको नहीं प्रज्ञापन करते।

"भिक्षुओ! कोई कोई श्रमण ब्राह्मण (अपनेको) सर्व-उपादान-परिज्ञा-वादी कहते भी ०। काम ०, (और) दृष्टि-उपादानकी परिज्ञाको प्रज्ञापते हैं, (किन्तु) शीलव्रत ०, (और) आत्मवाद-उपादानकी परिज्ञाको नहीं प्रज्ञापते। सो किस कारण?— ० उन दो बातोंको ठीकसे नहीं जानते ०।

"भिक्षुओ! कोई कोई ० कहते भी ०। काम ०, दृष्टि ०, (और) शीलव्रत-उपादानकी परिज्ञा (= परित्याग)को प्रज्ञापते (= बतलाते) हैं, (किन्तु) आत्मवाद-उपादानकी परिज्ञा नहीं प्रज्ञापते। सो किस कारण?— ० इस एक बातको ठीकसे नहीं जानते ०।

"भिक्षुओ! इस प्रकारके धर्मविनय (= मत)में जो शास्ताके सम्बन्धमें श्रद्धा है, वह सम्यग्गत (= ठीक स्थानमें) नहीं कही जाती; जो धर्ममें श्रद्धा ०; जो शीलोंमें परिपूर्ण-कारिता ०; जो सहधर्मियोंमें प्रिय-मनापता है, वह सम्यग्गत नहीं कही जाती। सो किस कारण? क्योंकि यह ऐसे धर्म-विनय (= मत)के विषयमें है, (जो कि) दुराख्यात (= ठीकसे नहीं व्याख्यान किया गया) दुष्प्रवेदित (= ठीकसे न जाना गया), अ-नैर्याणिक (= न पार करानेवाला), अनू-उपशम-संवर्तनिक (= शांतिको न प्राप्त करानेवाला), अ-सम्यक्-संबुद्ध-प्रवेदित (= यथार्थज्ञानी द्वारा नहीं जाना गया) है।

"भिक्षुओ! तथागत अर्हत् सम्यक्-संबुद्ध (अपनेको) सर्व-उपादान-परिज्ञावादी कहतेहुये,

ठीक तौरसे सभी उपादानोंकी परिज्ञाको प्रज्ञापते हैं—काम-उपादान ०, दृष्टि ०, शीलव्रत ०, (और) आत्मवाद (= आत्मा कोई नित्यवस्तु है, यह सिद्धान्त)-उपादानकी परिज्ञाको प्रज्ञापते हैं। भिक्षुओ! ऐसे धर्ममें जो शास्ताके सम्बन्धमें श्रद्धा है, वह सम्यग्गत (= ठीक स्थानमें) कही जाती है; ० ०। सो किस हेतु?—क्योंकि यह ऐसे धर्मके विषयमें है, (जो कि) सु-आख्यात, सुप्रवेदित, नैर्याणिक, उपशम-संवर्तनिक (और) सम्यक्-संबुद्ध-प्रवेदित है।

"भिक्षुओ! यह चार उपादान किस निदान(= कारण)वाले = किस समुदयवाले, किस जातिवाले = किस प्रभव(= उत्पत्ति)वाले हैं?—यह चारों उपादान तृष्णा-निदानवाले, तृष्णा-समुदयवाले, तृष्णा-जातिवाले, (और) तृष्णा-प्रभववाले हैं।

"भिक्षुओ! तृष्णा किस निदानवाली है, ०?—वेदना-निदानवाली ०।

"० वेदना किस निदानवाली, ०?—स्पर्श-निदानवाली ०।

"० स्पर्श किस निदानवाला, ०?—षडायतन[१]-निदानवाला ०।

"० षडायतन किस निदानवाला, ०?—नाम-रूप-निदानवाला ०।

"० नामरूप किस निदानवाला, ०?—विज्ञान-निदानवाला ०।

"० विज्ञान किस निदानवाला, ०?—संस्कार-निदानवाला ०।

"० संस्कार किस निदानवाले, ०?—अविद्या-निदानवाले ०।

"जब भिक्षुओ! भिक्षुकी अविद्या नष्ट हो जाती है, और विद्या उत्पन्न हो जाती है; अविद्याके विरागसे (तथा) विद्याकी उत्पत्तिसे न काम-उपादान पकड़ा (= उपात्त) जाता है, न दृष्टि-उपादान, ० न आत्मवाद-उपादान पकड़ा जाता है; उपादान (= पकड़ना) न करनेसे भयभीत नहीं होता, भयभीत न होनेपर इसी शरीरसे निर्वाणको प्राप्त हो जाता है। 'जन्म क्षीण हो गया, ब्रह्मचर्यवास पूरा हो गया, करना था सो कर लिया, और अब यहाँ कुछ (करने को) नहीं है'—यह जान लेता है।"

भगवान्‌ने यह कहा। सन्तुष्ट हो उन भिक्षुओंने भगवान्‌के भाषणका अभिनंदन किया।

१२—महासीहनाद-सुत्तन्त (१।२।२)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् वैशालीमें अवरपुर-वन-संडमें विहार करते थे।

उस वक्त सुनक्खत्त लिच्छविपुत्तको इस धर्मको छोड़कर चले गये थोड़ाही समय हुआ था। वह वैशालीमें परिषद्में इस प्रकार कहता था—"श्रमण गौतमके पास आर्य-ज्ञान-दर्शनकी पराकाष्ठता, उत्तरमनुष्यधर्म (=दिव्य-शक्ति) नहीं है। विमर्ष (=चिन्तन)से सोचे, अपने प्रतिभासे जाने, तर्कसे प्राप्त धर्मको (ही) श्रमण गौतम उपदेशता है। जिस (मनुष्य)के लिये धर्म उपदेशता है, वह अपने दुःख-क्षयको प्राप्त होता है।"

तब आयुष्मान् सारिपुत्र पूर्वाह्न समय पहिन कर पात्र-चीवर (= भिक्षापात्र, वस्त्र) ले वैशालीमें भिक्षाके लिये प्रविष्ट हुये। आयुष्मान् सारिपुत्रने सुनक्खत्त (= सुनक्षत्र) लिच्छविपुत्र को वैशालीमें परिषद्के बीचमें यह वचन बोलते सुना—"श्रमण गौतमके पास ० (= दिव्य शक्ति) नहीं ०।

तब आयुष्मान् सारिपुत्र वैशालीमें पिंडचार करके, भोजनके पश्चात् भिक्षान्नसे निवृत्त हो, जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये। जाकर भगवान्को अभिनन्दनकर एक ओर बैठ गये। एक ओर बैठकर आ. सारिपुत्रने भगवान्से यह कहा—

"भन्ते! हालहीमें इस धर्मको छोड़कर गया हुआ, सुनक्षत्र लिच्छविपुत्र, वैशालीमें परिषद्के बीचमें यह वचन बोल रहा है—'श्रमण गौतमके पास० (दिव्य शक्ति) नहीं है०।"

१—"सारिपुत्र! सुनक्खत्त मोघ-पुरुष (= फ़ज़ूलका आदमी) क्रोधी है, क्रोधसे ही उसने यह वचन कहा होगा। सारिपुत्र! निन्दा करनेके ख्यालसे (बोलते हुये) भी सुनक्खत्त मोघपुरुषने तथागतकी प्रशंसा ही करी। सारिपुत्र! यह तथागतकी प्रशंसा ही है, जो कोई ऐसा कहे—जिसके लिये धर्म उपदेशता है, वह अपने दुःख क्षयको प्राप्त होता है।' सारिपुत्र! सुनक्खत्त मोघपुरुषका यह भी मुझमें धर्म-सम्बन्ध नहीं—"वह भगवान् अर्हत् ०[1] बुद्ध भगवान् हैं।' सारिपुत्र! सुनक्खत्त मोघपुरुषका यह भी० नहीं—'इस प्रकार वह भगवान् अनेक प्रकारकी ऋद्धियोंका अनुभव करते हैं—एक होकर अनेक हो जाते हैं ०[2]। कायासे ब्रह्मलोक पर्यन्तको अपने वशमें कर लेते हैं।' सारिपुत्र ०!—'वह भगवान् अमानुष विशुद्ध दिव्य श्रोत्रोंसे उभय प्रकारके शब्दोंको सुनते हैं ०[2]। सारिपुत्र! ० —'वह भगवान् दूसरे सत्त्वों-दूसरे व्यक्तियोंके चित्तोंको (अपने) चित्तसे देखकर जान लेते हैं—०[2] अविमुक्त चित्त होनेपर 'अविमुक्त चित्त है'—जान लेते हैं।'

२—"सारिपुत्र! तथागतके यह दश तथागत-बल हैं, जिसको प्राप्तकर तथागत उच्च

---

[1] देखो पृष्ठ २४। [2] देखो पृष्ठ २३।

(= आर्षभ) स्थानको पाते हैं, परिषद्में सिंहनाद करते हैं, ब्रह्मचक्र (= धर्मचक्र)को चलाते हैं, कौनसे दस ?—(१) सारिपुत्र ! तथागत स्थानको स्थानके तौरपर, और अ-स्थानको अ-स्थानके तौरपर, यथार्थतया जानते हैं। जो कि सारिपुत्र ! तथागत स्थानको० जानते हैं, यह भी तथागत के लिये तथागत-वल है, जिस वलको प्राप्तकर ० ब्रह्मचक्र चलाते हैं।

"(२) और फिर सारिपुत्र ! तथागत अतीत, भविष्य और वर्तमानके किये कर्मोंके विपाकको स्थान, और हेतुपूर्वक ठीकसे जानते हैं ०। ब्रह्मचक्र चलाते हैं।

"(३) और फिर सारिपुत्र ! तथागत सर्वत्रगामिनी प्रतिपद् (= मार्ग, ज्ञान)को ठीकसे जानते हैं ०। ब्रह्म ०।

"(४) और फिर सारिपुत्र ! तथागत अनेक धातु (= ब्रह्मांड) नाना धातुवाले लोकोंको ठीकसे जानते हैं ०। ब्रह्म ०।

"(५) ० नाना अधिमुक्ति (= स्वभाव)वाले सत्त्वों (= प्राणियों)को ठीकसे जानते हैं ०। ०।

"(६) ० दूसरे सत्त्वों = दूसरे पुद्गलोंकी इन्द्रियोंके परत्व-अपरत्व (= प्रबलता दुर्बलता)को ०। ०।

"(७) ० ध्यान, विमोक्ष,[1] समाधि, समापत्ति,[2] के संक्लेश (= मल), व्यवदान (= निर्मल-करण), उत्थान, को ०। ०।

"(८) ० अनेक प्रकारके पूर्व-निवासको याद करते हैं ०[3] इस प्रकार आकार और उद्देश्य सहित अनेक प्रकारके पूर्व-निवासोंको स्मरण कर सकते हैं ०।

"(९) ० अमानुष विशुद्ध दिव्य-चक्षुसे ०[4] प्राणियोंको उत्पन्न होते मरते ०[3] स्वर्गलोक को प्राप्त हुये हैं। ०

"(१०) और फिर सारिपुत्र ! आस्रवों (= चित्तमलों)के क्षयसे आस्रव-रहित चित्तकी विमुक्ति (= मुक्ति) प्रज्ञाकी विमुक्तिको इसी जन्ममें साक्षात्कार कर प्राप्त कर विहरते हैं। जो कि सारिपुत्र ! तथागत आस्रवोंके क्षयसे ० प्राप्त कर विहरते हैं; यह भी तथागतके लिये तथागत-वल है, जिस वलको प्राप्त कर तथागत उच्च स्थानको पाते हैं, (और) परिषद्में सिंहनाद करते हैं, ब्रह्म-चक्र चलाते हैं।

"सारिपुत्र ! तथागतके यह दस तथागत-वल हैं, जिन वलोंको प्राप्त कर ० ब्रह्म चक्र चलाते हैं।

"सारिपुत्र ! ऐसे जाननेवाले, ऐसे देखनेवाले मुझे जो कहे—'श्रमण गौतमके पास ० [4]उत्तर-मनुष्य-धर्म नहीं है ०। तर्कसे प्राप्त धर्मको श्रमण गौतम उपदेशता' है। सारिपुत्र ! यदि वह उस वचनको न छोड़े, उस चित्त (= ख्याल)को न छोड़े, उस दृष्टिको विसर्जित न करे, तो नर्कमें डाला जैसा होगा। जैसे सारिपुत्र ! शील-सम्पन्न (= सदाचारयुक्त), समाधि-सम्पन्न, प्रज्ञा-सम्पन्न, भिक्षु इसी जन्ममें आज्ञा (= मोक्ष) को पाये, वैसेही इस सम्पद्को भी मैं सारिपुत्र ! कहता हूँ, कि यदि (वह) उस वचनको न छोड़े ० नर्कमें डाला जैसा होगा।

३—"सारिपुत्र ! यह चार तथागतके वैशारद्य हैं, जिन वैशारद्यों (= विशारदपन) को

---

[1] विमोक्ष आठ हैं, देखो शब्दानुक्रमणी।　　[2] एक प्रकारका ध्यान।

[3] देखो पृ० १५।　　[4] देखो पृष्ठ ४४।

प्राप्त कर तथागत ० परिषद्में सिंहनाद करते हैं ०। कौनसे चार ?—(१) 'अपनेको सम्यक् सम्बुद्ध कहनेवाले मैंने इन धर्मों (बातों)को नहीं बोध किया, सो उनके विषयमें कोई श्रमण, ब्राह्मण, देव, मार, ब्रह्मा या लोकमें कोई (दूसरा) धर्मानुसार पूछ न बैठे'—मैं ऐसा कोई कारण सारिपुत्र ! नहीं देखता। सारिपुत्र ! ऐसे किसी कारणको न देखते मैं क्षेमको प्राप्त हो, अभयको प्राप्त हो, वैशारद्यको प्राप्त हो, विहरता हूँ। (२) 'अपनेको क्षीणास्रव (= अर्हद्) कहनेवाले मेरे यह आस्रव (= चित्त-दोष) क्षीण नहीं हुये, सो उनके विषयमें कोई श्रमण ० धर्मानुसार पूछ न बैठे'—ऐसा कोई कारण ० विहरता हूँ। (३) 'जो अन्तराय-धर्म (= विघ्नकारी कर्म) कहे गये हैं, उन्हें सेवन करनेसे वह अन्तराय (= विघ्न) नहीं कर सकते' ० यहाँ उनके विषयमें कोई श्रमण ० धर्मानुसार पूछ न बैठें'—ऐसा कोई कारण ० विहरता हूँ। (४) 'जिस मतलबके लिये धर्म उपदेश किया, वह ऐसा करनेवालेको भली प्रकार दुख-क्षयकी ओर नहीं ले जाता—इसके विषयमें कोई श्रमण ० धर्मानुसार पूछ न बैठें'—ऐसा कोई कारण सारिपुत्र ! नहीं देखता। ० विहरता हूँ।

सारिपुत्र ! यह चार तथागतके वैशारद्य हैं ० जिन वैशारद्योंको प्राप्त कर ० तथागत परिषद्में सिंहनाद करते हैं, ब्रह्मचक्र चलाते हैं।

"सारिपुत्र ! ऐसा जाननेवाले, ऐसा देखनेवाले मुझे जो कहे—'श्रमण गौतम ० [1]जैसा होगा। जैसे सारिपुत्र ! शील सम्पन्न ०[2]।

४—"सारिपुत्र ! यह आठ परिषद् (=सभा) हैं। कौनसी आठ?—(१) क्षत्रिय-परिषद्, (२) ब्राह्मण-परिषद्, (३) गृहपति(= वैश्य)-परिषद्, (४) श्रमण-परिषद्, (५) चातुर्महाराजिक-परिषद्, (६) त्रायस्त्रिंश[3]-परिषद्, (७) मार-परिषद्, (८) ब्रह्म-परिषद्। सारिपुत्र ! यह आठ परिषद् हैं। सारिपुत्र ! इन चार वैशारद्योंको प्राप्तकर तथागत इन आठ परिषदोंमें जाते हैं, अवगाहन करते हैं। जानता हूँ, सारिपुत्र! मैं अनेकशत क्षत्रिय-परिषदोंमें जानेको और वहाँ पर भी, पहिले भाषण किये जैसा, पहिले आये जैसा साक्षात्कार (होता है)। सारिपुत्र ! ऐसी कोई बात देखनेका कारण नहीं पाता, कि वहाँ मुझे भय या घबराहट हो। क्षेमको प्राप्त हो अभयको प्राप्त हो, वैशारद्यको प्राप्त हो, मैं विहार करता हूँ। जानता हूँ सारिपुत्र ! मैं अनेक शत ब्राह्मण-परिषदोंमें जानेको ०। ० गृहपति-परिषदोंमें ०। ० श्रमण ०। ० ० ब्रह्माकी परिषदों में०।

"सारिपुत्र ! ऐसा जाननेवाले, ऐसा देखनेवाले मुझे ०[4]।

५—"सारिपुत्र ! यह चार योनियाँ हैं। कौनसी चार ?—(१) अंडज योनि, (२) जरायुज योनि, (३) स्वेदज योनि, (४) औपपातिक योनि। क्या है सारिपुत्र! अंडज-योनि ?—सारिपुत्र ! जो प्राणी अण्डेके कोशको फोड़ कर उत्पन्न होते हैं, यह सारिपुत्र ! अण्डज-योनि कही जाती है। क्या है सारिपुत्र ! जरायुज-योनि ?—सारिपुत्र ! जो प्राणी वस्तिकोष (= जरायु)को फोड़कर उत्पन्न होते हैं ०। क्या है सारिपुत्र ! स्वेदज-योनि ?—सारिपुत्र ! जो प्राणी सड़ी मछलीमें उत्पन्न होते हैं, सड़े मुर्देमें उत्पन्न होते हैं, सड़े कुल्माप (= दाल) में ०, चन्दनिका (गड्हे) में, या ओलगिल्ल (= गड्ही) में उत्पन्न होते हैं ०। क्या है सारिपुत्र ! औपपातिक-योनि ?—सारिपुत्र ! देवता, नरकके जीव, कोई कोई मनुष्य और कोई कोई विनिपातिक (= नीचे गिरनेवाले); यह सारिपुत्र ! औपपातिक-योनि कही जाती है।

---

[1] देखो पृष्ठ ४४। [2] देखो पृष्ठ ४४। [3] देव समुदायों के नाम। [4] देखो पृष्ठ ४४।

"सारिपुत्र ! ऐसा जाननेवाले ०[1] ।

६—"सारिपुत्र ! यह पाँच गतियाँ हैं । कौनसी पाँच—(१) नरक, (२) तिर्यग् (= पशु पक्षी आदि) योनि, (३) प्रेत्य-विषय (=प्रेत), (४) मनुष्य, (५) देवता । सारिपुत्र ! मैं नरकको जानता हूँ, नरकगामी मार्गको = निरयगामिनी प्रतिपद्को भी जैसे (मार्गपर) आरूढ़ हो काया छोड़नेपर, मरनेके अनन्तर (प्राणी) अपाय = दुर्गति = विनिपात नरकमें उत्पन्न होते हैं, उसको जानता हूँ । सारिपुत्र ! मैं तिर्यग्-योनिको जानता हूँ, तिर्यग् योनिगामी मार्ग ० उसको जानता हूँ । सारिपुत्र ! मैं प्रेत्य-विषयको जानता हूँ, प्रेत्य-विषयगामी मार्ग० उसको जानता हूँ । सारिपुत्र ! मैं मनुष्यको जानता हूँ ० । ० । ० देवोंको जानता हूँ, देवलोकगामी मार्गको = देवलोकगामिनी प्रतिपदको भी; जैसे मार्गपर आरूढ़ हो काया छोड़नेपर मरनेके बाद सुगति स्वर्गलोकमें उत्पन्न होते हैं, उसको जानता हूँ । सारिपुत्र ! मैं निर्वाणको जानता हूँ, निर्वाणगामी मार्गको = निर्वाण-गामिनी प्रतिपद्को; जैसे मार्गपर आरूढ़ हो आस्रवोंके क्षय, चित्तकी विमुक्तिको इसी शरीरमें जान कर साक्षात् कर = प्राप्त कर विहरता है; उसे भी जानता हूँ ।

(क) "सारिपुत्र ! यहाँ मैं किसी व्यक्ति(= पुद्गल)को इस प्रकार चित्तसे परख करके जानता हूँ; कि यह पुद्गल जैसे मार्गपर आरूढ़ है, जैसी चालढाल रखता है, उस मार्गपर आरूढ़ हो, काया छोड़नेपर मरनेके बाद जैसे अपाय = दुर्गति = विनिपात नरकमें उत्पन्न होगा । फिर दूसरे समय अ-मानुष दिव्य विशुद्ध चक्षुसे, उसे काया छोड़, मरनेके बाद ० नरकमें उत्पन्न हो अत्यन्त दुःखमय, तीव्र कटु वेदना (= यातना)को अनुभव करते देखता हूँ । जैसे कि सारिपुत्र ! पुरुष-भर (= पोरिसा)से अधिक ऊँचा लौ-विना, धूमविना, अंगारोंका ढेर हो । (कोई) घाम (=धूप)में तप्त घामसे पीड़ित, थका, प्यासा पुरुष एकायन मार्गसे उसी अंगारका ध्यान करके आये । उसको (कोई) आँखवाला पुरुष देखकर यह कहे—'यह पुद्गल जैसे मार्गपर आरूढ़ है, जैसी चालढाल रखता है, ऐसे मार्गपर आरुढ़ हो, इन्हीं अंगारोंमें पहुँचेगा' । फिर दूसरे समय उसे अंगारोंमें गिरकर अत्यन्त दुःख-मय ० वेदनाको अनुभव करते देखे; ऐसेही सारिपुत्र ! यहाँ किसी व्यक्तिको इस प्रकार चित्तसे परख करके जानता हूँ ० । ० अनुभव करते देखता हूँ ।

(ख) "सारिपुत्र ! यहाँ मैं किसी व्यक्तिको इस प्रकार चित्तसे परखकर जानता हूँ, यह पुद्गल जैसे मार्गपर आरूढ़ है ०[2] मरनेके बाद तिर्यग्-योनिमें उत्पन्न होगा । फिर दूसरे समय अमानुष ०[2] देखता हूँ । जैसे कि सारिपुत्र ! पुरुष-भरसे अधिक ऊँचा ० । ० अनुभव करते देखता हूँ ।

(ग) "सारिपुत्र ! यहाँ मैं किसी व्यक्तिको इस प्रकार चित्तसे परखकर जानता हूँ, ० ०[2] मरनेके वाद प्रेत्यविषयमें उत्पन्न होगा । फिर दूसरे समय अमानुष ०[2] दिव्य चक्षुसे, उसे काया छोड़ मरनेके बाद प्रेत्य-विजयमें उत्पन्न हो दुःखमय तीव्र, कटु वेदना अनुभव करते देखता हूँ । जैसेकि सारिपुत्र ! (किसी) विषम (= प्रतिकूल) भूमिमें उत्पन्न पत्र = पलाश से कृश कवरी छाया (= घनी छाया नहीं) वाला वृक्ष हो । तब कोई घाम में तप्त ० पुरुष एकायन मार्ग (= एक मात्र मार्ग)से उसी वृक्षका ख्याल करके आये । उसको (कोई) आँखवाला पुरुष देखकर यह कहे— 'यह पुद्गल जैसे मार्गपर आरूढ़ है, जैसी चालढाल रखता है, ऐसे मार्गपर आरूढ़ हो (यह) इसी वृक्षके पास आयेगा' । फिर दूसरे समय (उसे) उस वृक्षकी छायामें बैठे या लेटे दुःखमय वेदना अनुभव करते देखे । ऐसे ही सारिपुत्र ! यहाँ किसी व्यक्तिको इस प्रकारसे चित्तसे परखकर जानता हूँ, ० ० वेदना अनुभव करते देखता हूँ ।

---

[1] देखो पृष्ठ ४४ । [2] देखो ऊपर।

(घ) "सारिपुत्र! यहाँ किसी व्यक्तिको इस प्रकार चित्तसे परखकर जानता हूँ, ०[1] मनुष्यों में उत्पन्न होगा। ० अमानुष ० दिव्य चक्षुसे ०[1] उत्पन्न हो बहुत सुखमय वेदना अनुभव करते देखता हूँ। जैसे सारिपुत्र! (किसी) सम (= अनुकूल)भूमिमें उत्पन्न बहुत पत्र = पलाशयुक्त घनी छायावाला वृक्ष हो। तब घाममें तप्त ० पुरुष एकायन मार्गसे उसी वृक्षका ख्याल करके आये ०[2]। फिर दूसरे समय उस वृक्षकी छायामें बैठे या लेटे बहुत सुखमय वेदना अनुभव करते देखे। ऐसे ही सारिपुत्र! यहाँ किसी व्यक्तिको इस प्रकार चित्तसे परखकर जानता हूँ, ० ० वेदना अनुभव करते देखता हूँ।

(ङ) "सारिपुत्र ०,०[3] सुगति स्वर्गलोकमें उत्पन्न होगा। ० अमानुष ० दिव्य-चक्षुसे ० उत्पन्न हो बहुत सुखमय वेदना अनुभव करते देखता हूँ। जैसे सारिपुत्र! एक प्रासाद हो, जिसमें लिपापुता शांत (= निवात), कपाटयुक्त, जंगलेबन्द कूटागार (= ऊपरी तलका मकान) हो; उसमें बैलके चमड़ेके बिछौनेवाला, पटिक (= गलीचे) पटलिक बिछौनेवाला पलंग हो, जिसपर उत्तरच्छद (ऊपरसे ढाँकनेकी चद्दर)सहित कादलिमृग (= समूरी चर्म)का श्रेष्ठ प्रत्यस्तरण (=लिहाफ) हो, (सिरहाने, पैरहाने) दोनों ओर लाल तकिये हों। तब कोई घाममें तप्त ० पुरुष एकायन मार्गसे उसी प्रासादका ख्याल करके आये। उसको कोई आँखवाला पुरुष देखकर यह कहे—'० यह इसी प्रासादके पास आयेगा।' फिर दूसरे समय (उसे) उसी प्रासादमें, उसी कूटागारमें, उसी पलंगपर बैठकर या लेटकर एकान्त सुखमय वेदनाको अनुभव करते देखे। ऐसेही सारिपुत्र! यहाँ किसी व्यक्तिको ०, ० ० वेदना अनुभव करते देखता हूँ।

(च) "सारिपुत्र! ०, ०[3] आस्रवोंके क्षय=चित्तकी विमुक्ति प्रज्ञाकी विमुक्तिको इसी शरीर में जानकर साक्षात् कर=प्राप्त कर विहरेगा। फिर दूसरे समय उसे आस्रवोंके क्षय चित्तकी विमुक्ति प्रज्ञाकी विमुक्तिको इसी शरीरमें जानकर, साक्षात् कर, प्राप्त कर विहरते हुये देखता हूँ, एकान्त सुखमय वेदनाको अनुभव करते देखता हूँ। जैसे सारिपुत्र! (कोई) स्वच्छ जलवाली, शीतल जलवाली, सुन्दर जलवाली, सफेद सुन्दर घाटवाली, रमणीय पुष्करिणी हो, उसके तीरपर करीबमें वन खण्ड हो। तब कोई घाममें तप्त ० पुरुष ० उसी पुष्करिणीका ख्याल करके आये। ०। फिर दूसरे समय उसे उस पुष्करिणीमें प्रविष्ट हो स्नानकर, पानकर, सारी पीड़ा-थकावटको दूर कर, निकल कर, उसी वन खण्डमें बैठे या लेटे नितान्त सुखमय वेदनाको अनुभव करते देखे। ऐसेही सारिपुत्र। ० ०।

"सारिपुत्र! ऐसा जाननेवाले ०[4]।

७—"सारिपुत्र! मैं चतुरंग (= चार अंगों)से युक्त ब्रह्मचर्यका पालन करना जानता हूँ—(१) तपस्वियोंमें मैं परम तपस्वी होता था; (२) रूक्षाचारियोंमें मैं परम रूक्षाचारी (=लखू) होता था; (३) जुगुप्सुओं)में मैं परम जुगुप्सु (=अनुकम्पा रखनेवाला) होता था; (४) प्रविविक्तों (= एकान्तसेवियों, विवेककर्त्ताओंमें मैं परम विविक्त था।

(१) वहाँ सारिपुत्र! मेरी यह तपस्विता (= तपश्चर्या) थी—मैं अ-चेलक (= नग्न) था, मुक्ताचार (= सरभंग), हस्ताऽपलेखन (= हाथ-चट्टा), नएहिभादन्तिक (= बुलाई भिक्षाका त्यागी), न-तिष्ठ-भदन्तिक (= ठहरिये कह, दी गई भिक्षाका त्यागी) था; न अभिहट (= अपने लिये की गई भिक्षा) को, न (अपने) उद्देश्यसे किये गयेको (और) न निमंत्रणको

[1] देखो पृष्ठ ४७। [2] देखो पृष्ठ ४७। [3] देखो पृष्ठ ४७। [4] देखो पृष्ठ ४४।

खाता था; न कुम्भी (=घड़े)के मुखसे ग्रहण करता था, न खलोपी (=पथरी)के मुखसे ०, न (दो) पटरोंके बीचसे ०, न (दो) डंडोंके बीचसे ०, न मुसलोंके बीचसे ०, न दो भोजन करने वालोंका (०) न गर्भिणीका (०), न (दूध) पिलातीका (०), न अन्य पुरुषके पास गईका (०) न संकित्ती (=चंदावाले)में (०), (वहाँसे) जहाँ (कि) कुत्ता खड़ा हो; न (वहाँ) जहाँ (कि) मक्खी भनभना रही हो; न मछली, न मांस, न सुरा (=अर्क उतारी शराब), न मेरय (=कच्ची शराब), न तुषोदक (=चावलकी शराब ?) पीता था; सो मैं एकागारिक (=एकही घरमें भिक्षा करनेवाला) होता था; या एक कवल (भर) खानेवाला होता था; या द्वि-आगारिक दो (वार) आहार करनेवाला होता था; या दो कवल खानेवाला होता था, (०) सप्त-आगारिक (=सात घरोंसे भिक्षा लेनेवाला) होता था, या सात कवल खानेवाला; एक कलछी (=दत्ती) भर भोजनसे भी गुजारा करता था; दो कलछी ०; (०) ; सात कलछी ०; एकाहिक (=एक दिनमें एक वार) आहार करता था; द्व्याहिक (=दो दिन में एकवार) आहार करता था ; सप्ताहिक आहार करता था; इस प्रकार अर्धमासिक वारी वारीसे भोजन ग्रहण करता विहरता था; शाकाहारी था, सँवाभोजी भी था; नीवार (=तिन्नी) भक्षी भी था; दद्दुल (=कोदो ?) भक्षी था, कट (=एक तृण) भक्षी था; कण (=खेतमें छुटे हुये अनाजके दानोंका)-भक्षी था; आचाम (=माँड)-भक्षी था; पिण्याक(=खली)-भक्षी था; तृण-भक्षी था; गोबर-भक्षी था; वनमूल फलाहारसे गुजारा करता था, (जमीन पर) गिरे फलोंका खानेवाला था; सनके वस्त्र धारण करता था, श्मशान (-वस्त्र) भी धारण करता था; मुर्देके कपड़ेको धारता था; पांसुकूल (=फेंके कपड़े) भी धारता था; तिरीट (=एक छाल) भी धारता था; अजिन (=मृगचर्म) भी धारता था; अजिनक्षिप (=मृगचर्म खंड) भी धारता था; कुशचीरको भी धारता था, वल्कल चीर भी धारता था; (काष्ठ-) फलक-चीर भी धारता था, केश-कम्बल भी ०; वाल-कम्बल भी ०; उलूक-पक्षको भी ०; केश-दाढ़ी नोचनेवाला था, केश-दाढ़ी नोचनेके व्यापारमें लग्न होते उब्भट्ठिक (=ठड़े-सरी) भी था; आसन-त्यागी वन उकड़ूँ बैठनेवाला भी था; उकड़ूँ बैठनेके व्यापारमें लग्न हो काँटे पर सोनेवाला भी था; कंटकके प्रश्रय (=खाट)पर शय्या करता था, शामको जल शयनके व्यापारमें लग्न होता था।—ऐसे अनेक प्रकारसे कायाके आतापन सन्तापनके व्यापारमें लग्न हो विहरता था, सारिपुत्र ! यह मेरी तपस्विता (=तपश्चर्या) थी।

(२) "वहाँ सारिपुत्र ! यह मेरा रूक्षाचार था।—पपड़ी पड़े अनेक वर्षके मैलको शरीरमें संचित किये रहता था; सारिपुत्र ! जैसे पपड़ी पड़ा अनेक वर्षोंका तिन्दुका काष्ट हो, इसी प्रकार सारिपुत्र ! पपड़ी पड़े ०। वैसा होते (भी) मुझे यह न होता था—अहोवत ! इस अपने मैलको अपने हाथसे परिमार्जित करूँ, या दूसरे मेरे इस मैलको (अपने) हाथसे परिमार्जित करें—मुझसे यह भी सारिपुत्र ! न होता था। यह सारिपुत्र ! मेरा रूक्षाचार था।

(३) "वहाँ सारिपुत्र ! यह मेरी जुगुप्सा (=अनुकम्पा) थी;—मैं सारिपुत्र ! (प्राणियोंकी) याद करते जाता था, याद करते आता था; जलके विन्दु तकमें मुझे दया वनी रहती थी—विषम (स्थानोंमें) स्थित क्षुद्र प्राणियोंको कहीं मार न दूँ। यह सारिपुत्र ! मेरी अनुकम्पा थी।

(४) "वहाँ, सारिपुत्र ! यह मेरा प्रविवेक (=एकान्त सेवन) था। मैं सारिपुत्र ! किसी अरण्य-स्थानमें प्रवेश कर विहरता था। जब मैं (किसी) गोपालक (=ग्वाले)को या पशु-पालकको, या तृणहारक(=घसियारे)को, या काष्टहारक (=लकड़हारे)को, या वनकर्मिक (=वनमें काम करनेवाले)को देखता; तो (एक) वनसे (दूसरे) वनमें, गहनसे गहनको, निम्न (=खड्ड)से निम्नको, स्थलसे (दूसरे) स्थलको, चला जाता था। सो किस कारण ?—'वह

मुझे न देखें, और मैं उन्हें न देखूँ'। जैसे सारिपुत्र! आरण्यक मृग मनुष्यको देखकर वनसे वनको ० चला जाता है; ऐसे ही सारिपुत्र! जब मैं (किसी) गोपालकको ०। यह सारिपुत्र! मेरा प्रविवेक था।

"सो मैं सारिपुत्र! छिपकर (= चतुर्गुण्ठित) उन गोष्ठोंमें जाता था, जिससे गायें और गोपाल चले गये होते। जाकर जो वह तरुण (= बहुत छोटे) दूध पीनेवाले बछड़ोंके गोबर होते उन्हें खाता; यहाँ तक कि सारिपुत्र! मुझे अपना ही मूत्र-करीष (= मल) भी त्याज्य न होता; अपने ही मूत्र-करीषका आहार करता। यह सारिपुत्र! मेरा विकट भोजन था।

"सो मैं सारिपुत्र! एक भीषण वन-खण्डमें प्रवेश कर विहरता था। सारिपुत्र! उस भीषण वन-खण्डकी भीषणता यह थी; कि जो कोई अ-वीतराग (पुरुष) उस वन-खण्ड में प्रवेश करता, (उसके) रोम बहुत अधिक खड़े हो जाते थे। सो मैं सारिपुत्र! हेमन्तकी हिमपात समय वाली अन्तराष्टक[1] रातोंमें रात भर चौड़ेमें विहरता था, (और) दिनको वनखण्डमें। ग्रीष्मके अन्तिम मासमें दिनको चौड़ेमें विहरता और रातको वनखण्डमें। (उस समय) सारिपुत्र! अश्रुत पूर्व यह अद्भुत गाथा मुझे प्रतिभासित हुई—

"अकेला भीषण वनमें (ग्रीष्म)-तप्त (और) शीत-पीड़ित वह नग्न आगके-पास-न-बैठा, एषणा (= इच्छाओं)से दूर मुनि।'

"सो मैं सारिपुत्र! मुर्देकी हड्डियोंका सिरहाना बना श्मशानमें शयन करता था। (उस समय) सारिपुत्र! गोमण्डल (= चरवाहे) पास आकर (मेरे ऊपर) थूकते भी थे, मूतते भी थे, धूल भी फेंकते थे, कर्ण-छिद्रोंमें सींक भी करते थे, (तो भी) सारिपुत्र! उनके विषयमें मुझे कोई बुरा भाव उत्पन्न होता नहीं मालूम होता। यह सारिपुत्र! मेरा उपेक्षा-विहार था।

८—"सारिपुत्र! कोई कोई श्रमण ब्राह्मण 'आहारसे शुद्धि होती है'—इस वाद (= मत) वाले इस प्रकारकी दृष्टिवाले होते है। 'मैं बेरसे गुजारा करूँगा'—कह, वह बेरको खाते हैं, बेर-चूर्ण खाते हैं, बेरके शर्बतको पीते हैं; अनेक प्रकारके बेरसे बने भोजनको खाते हैं। (एक समय) मैं भी सारिपुत्र! एक बेरके बराबर आहरको ही जानता था। शायद सारिपुत्र! तुम्हारे मनमें हो—'उस समय बेर बड़ा होता होगा'। सारिपुत्र! ऐसा नहीं ख्याल करना चाहिये। उस समय भी बेर इतना ही बड़ा होता था, जितना कि आजकल। सो सारिपुत्र! एक बेर (भर) आहार करनेसे मेरा शरीर अत्यन्त कृश हो गया। उस अल्पाहारतासे वैसे मेरे अंग प्रत्यंग हो गये थे, जैसे आसीतिक (= असली वर्षके बूढ़े)के पोर (= पर्व) या काल (= वृक्ष)के पर्व। ० जैसे ऊँटका पाँव, वैसे मेरे कूल्हे हो गये थे,। ० जैसे वट्टनावली (= रस्सीकी ऐंठन) वैसे ही उन्नत-अवनत मेरे पीठ-कीं (हड्डीवाले) काँटे हो गये थे। ० जैसे पुरानी शालामें कड़ियाँ अवलग्न-विलग्न (= खिसकी) होती हैं, वैसे ही मेरी पसलियाँ हो गईं। ० जैसे गहरे कूयें (= उदपान)में (कूयेंकी) गहराईके कारण आकायिक (= तारे) दिखाई पड़ते हैं, वैसे ही अक्षि-कूपों (= आँखके गड़हों)में नीचे धँस जानेके कारण आँखकी पुतलियाँ दिखाई पड़ती थीं। ० जैसे सारिपुत्र! कच्चा ही तोड़ा कड़वा अलाबु (= लौका) धूप हवासे सम्पुटित (= चिचुक) हो जाता है, मुर्झा जाता है, ऐसे ही मेरे शिरका चमड़ा हो गया था। ० जब मैं सारिपुत्र! पेटके चमड़ेको पकड़ता तो पीठके कांटेको ही पकड़ लेता था; पृष्ठकंटकों को पकड़ते वक्त पेटके चमड़ेको ही पकड़ लेता था। मेरे पेटका चमड़ा

---

[1] माघके अन्तकी चार और फागुनके आरम्भकी चार रातें।

सारिपुत्र ! पृष्ठ-कंटक से सट गया था। ० सो मैं सारिपुत्र ! मल-मूत्रके परित्याग करनेके लिये उठना चाहता था, तो वहीं भहराकर गिर जाता था। ० उसी अल्पाहारताके कारण सो मैं सारिपुत्र ! उस शरीरको सहारा देते गात्रको (जब) हाथसे सहराता तो सड़ी जड़वाले लोम शरीरसे उखड़ पड़ते थे।

"सारिपुत्र ! कोई कोई श्रमण ब्राह्मण, 'आहारसे शुद्धि होती है'—इस तरहके वादवाले, इस तरहकी दृष्टिवाले होते हैं। 'मूँग पर गुजारा करूँगा' ०[1]। 'तिलसे गुजारा करूँगा'—०[2]। 'तंडुलसे गुजारा करूँगा'—कह, वह तंडुल खाते हैं, तण्डुल चूर्ण खाते हैं, तण्डुलका पानी पीते हैं, ० तण्डुलसे बने अनेक प्रकारके आहारको खाते हैं। मैं भी सारिपुत्र ! (एक समय) तण्डुल बराबर आहारको ही जानता था। शायद सारिपुत्र ! ०[3] लोम शरीरसे उखड़ पड़ते थे।

"सारिपुत्र ! उस ईर्या (= आचार)से भी, उस दुष्कर-कारिका (= तपस्या)से भी मैं उत्तर-मनुष्य-धर्म (= दिव्य-शक्ति) अलमार्य-ज्ञान-दर्शन (= उत्तम ज्ञान-दर्शनकी पराकाष्ठा)-को नहीं पा सका। सो किस हेतु ?—इसी आर्य-प्रज्ञा (= उत्तम ज्ञान)के न पानेसे, जो यह आर्य प्रज्ञा किसे, मिलनेपर, वैसा करनेवालेको अच्छी प्रकार दुःख-क्षयकी ओर ले जाती है।

९—"सारिपुत्र ! कोई कोई श्रमण ब्राह्मण—'संसारके (= जन्म मरण)से शुद्धि होती है'—इस तरहके वादवाले इस तरहकी दृष्टिवाले होते हैं। (किन्तु) सारिपुत्र ! ऐसा संसार सुलभ नहीं है, जिसमें इस दीर्घ कालमें मैंने वास न किया हो; सिवाय शुद्धावास देवताओंके; यदि शुद्धावास देवताओंमें मैं संसरण करता, तो सारिपुत्र ! मैं इस लोकमें न आता।

१०—"सारिपुत्र ! कोई कोई श्रमण ब्राह्मण—'उत्पत्ति से शुद्धि होती है'— ० दृष्टिवाले होते हैं ०[1] न आता।

११—"०—'आवाससे शुद्धि होती है'— ० दृष्टिवाले ०[3]।

१२—"०—"यज्ञसे शुद्धि होती है'— ० दृष्टिवाले होते हैं। किन्तु सारिपुत्र ! ऐसा यज्ञ सुलभ नहीं, जिसे कि मैंने इस दीर्घ कालमें न किया हो; और उसे (दूसरे) मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजाने या महाशाल (= महाधनी) ब्राह्मणने किया हो।

१३—"०'—अग्निपरिचर्या(= हवन)से शुद्धि होती है'—०[4]।

१४—"०—'जब तक यह पुरुष दहर (= तरुण) युवा बहुत ही काले केशोंवाला प्रथम वयस सुन्दर यौवनसे युक्त होता है; तब (यह) परम प्रज्ञा (और) नैपुण्यसे युक्त होता है। जब यह पुरुष जीर्ण=वृद्ध=महल्लक=अध्वगत=वयःप्राप्त जन्मसे ८०, ९० या सौ वर्षका हो जाता है; तो उस प्रज्ञा (और) नैपुण्यसे च्युत होता है। लेकिन सारिपुत्र ! इसे इस तरह नहीं देखना (= मानना) चाहिये। मैं सारिपुत्र ! इस समय जीर्ण=वृद्ध ० वयःप्राप्त, मेरी आयु ८० को पहुँच गई है; यहाँ सारिपुत्र ! मेरे चार श्रावक (= शिष्य) शतवर्ष आयुवाले=वर्ष-शत-जीवी, (जो कि) परम गति, स्मृति, मति, धृतिसे युक्त, तथा परम प्रज्ञा=नैपुण्य (= वैयक्त्य)से समन्वित हैं। जैसे सारिपुत्र। शिक्षित=कृतहस्त=कृत-उपासन, बलवान् धनुर्ग्राही शीघ्र, बिना श्रम (बाण) फेंक तिर्छी ताल-छायाका अतिक्रमण=अतिपात न करदे; ऐसे ही सारिपुत्र ! ० मति, स्मृति, धृतिसे युक्त ०, इस प्रकार परम प्रज्ञा=नैपुण्यसे युक्त हैं। (यदि वह) चारों स्मृतिप्रस्थानों[5]को लेकर (मुझसे) प्रश्न पूछें। पूछनेपर मैं उनका उत्तर दूँ। मेरे उत्तरको वह धारण करें। फिर दूसरी बार आगे पूछें; सारिपुत्र ! अशन—पान—खादन—शयन (के समय)को छोड़, मल-मूत्र-त्याग

---

[1] देखो पृष्ठ ५०, बेरकी जगह। [2] देखो ऊपर (९)। [3] देखो ऊपर (९)। [4] देखो ऊपर (१२)। [5] देखो पृष्ठ ३५।

(के समय)को छोड़, निद्रा-थकावटके दूर करनेके समयको छोड़ तथागतकी धर्मदेशना अखंड ही रहेगी, सारिपुत्र ! तथागतका धर्मपद—व्याख्यान अखंड ही रहेगा तथागतका प्रश्नोत्तर० । फिर वह मेरे शतवर्ष आयुवाले०[1] चार श्रावक सौ वर्षके अनन्तर मृत्युके प्राप्त होवें; (तो भी) सारिपुत्र ! किसी तरह मुझे निग्रह नहीं कर सकते, तथागतकी प्रज्ञा=नैपुण्यमें फरक नहीं आसकता ।

"सारिपुत्र ! ठीक कहते हुये यह कहे—'सम्मोह धर्मसे रहित (एक) सत्व (= व्यक्ति) लोकमें बहुजनोंके हितार्थ, बहुजनोंके सुखार्थ, लोकपर अनुकम्पार्थ, देव-मनुष्योंके अर्थ, हित और सुखके लिये उत्पन्न हुआ है' (तो) वह ठीकसे कहते हुये मेरे ही लिये कहे—सम्मोह धर्मसे रहित ० ० उत्पन्न हुआ है ।"

उस समय आयुष्मान् नागसमाल भगवान्‌की पीठकी ओर खड़े होकर भगवान्‌को पंखा झल रहे थे । तब आयुष्मान् नागसमालने भगवान्‌को यह कहा—"आश्चर्य भन्ते ! अद्भुत भन्ते !! भन्ते ! इस धर्मपर्याय (= धर्मोपदेश)को सुनकर रोमांच हो गया । भन्ते ! इस धर्मपर्यायका नाम क्या है ?"

"तो नागसमाल ! तू इस धर्मपर्यायको लोमहर्षण-पर्याय ही समझ ।"

भगवान्‌ने यह कहा, सन्तुष्ट हो आयुष्मान् नागसमालने भगवान्‌के भाषणका अभिनन्दन किया ।

१३—महादुक्खक्खन्ध-सुत्तन्त (१।२।३)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथपिंडिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे।

तब बहुतसे भिक्षु पूर्वाह्णके समय पहिनकर पात्रचीवर ले श्रावस्तीमें पिंडचारके लिये प्रविष्ट हुये। तब उन भिक्षुओंको हुआ—श्रावस्तीमें भिक्षाचार करनेके लिये अभी बहुत सवेरा है, क्यों न हम जहाँ अन्य-तैर्थिक (= दूसरे मतवाले) परिव्राजकोंका आराम है, वहाँ चलें। तब वह भिक्षु जहाँ अन्यतैर्थिक परिव्राजकोंका आराम था, वहाँ गये; जाकर अन्य तैर्थिक परिव्राजकोंके साथ (यथायोग्य कुशल प्रश्न पूछ)···एक ओर बैठ गये। एक ओर बैठे उन भिक्षुओंसे अन्य तैर्थिक परिव्राजकोंने यह कहा—

"आवुसो! श्रमण गौतम कामों (= भोगों)के परित्यागको कहते हैं, हम भी कामोंके परित्यागको कहते हैं। आवुसो! श्रमण गौतम रूपोंके परित्यागको कहते हैं, हम भी ०। ० वेदनाके परित्यागको कहते हैं। यहाँ अवुसो! हमारे और श्रमण गौतमके धर्मोपदेशमें या धर्मोपदेशके अनुशासन करनेमें क्या विशेष (= भेद) है, क्या अधिक है, क्या नानाकरण (= अन्तर) है?"

तब उन भिक्षुओंने उन अन्यतैर्थिक परिव्राजकोंके भाषणका न अनुमोदन (= अभिनंदन) किया, न प्रतिवाद (= प्रतिक्रोश) किया। विना अनुमोदन किये, विना प्रतिवाद किये यह (सोचकर) आसनसे उठकर चल दिये, कि भगवान्‌के पास इस भाषणका अर्थ समझेंगे। तब वह भिक्षु श्रावस्तीमें भिक्षाचार करके, भोजनोपरान्त पिंडपातसे निवटकर जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये। जाकर भगवान्‌को अभिवादनकर एक ओर बैठ गये। एक ओर बैठकर उन भिक्षुओंने भगवान्‌से यह कहा—

"भन्ते! (आज) हम पूर्वाह्ण समय पहिनकर पात्रचीवर ले श्रावस्तीमें पिंडचारके लिये प्रविष्ट हुये ०[1], कि भगवान्‌के पास इस भाषणका अर्थ समझेंगे।"

"भिक्षुओ! वैसा कहनेवाले अन्यतैर्थिकोंको तुम्हें यह कहना चाहिये—'आवुसो! क्या है कामों (= भोगों)का आस्वाद, क्या है परिणाम (= आदिनव), क्या है निस्सरण (= निकास)? क्या है रूपोंका आस्वाद ०? क्या है वेदनाओंका आस्वाद ०?' ऐसा कहनेपर भिक्षुओ! अन्य-तैर्थिक परिव्राजक नहीं (उत्तर) दे सकेंगे, और (इस)पर विघात (= रोष)को प्राप्त होंगे। सो किस हेतु?—क्योंकि भिक्षुओ! वह (उनका) विषय नहीं है। भिक्षुओ! देव, मार (= प्रजा-पति देवता), ब्रह्मा सहित सारे लोकमें; श्रमण ब्राह्मण देव-मानुष सहित सारी प्रजामें, मैं उस (पुरुष)को नहीं देखता, जो इन प्रश्नोंका उत्तर दे चित्तको सन्तुष्ट करे, सिवाय तथागत या तथा-

---

[1] देखो ऊपर।

गतके शिष्य या यहाँसे सुने हुयेके।

१—"भिक्षुओ ! क्या है कामोंका दुष्परिणाम ? भिक्षुओ ! यहाँ कुल-पुत्र जिस (किसी) शिल्प से—चाहे मुद्रासे, या गणनासे, या संख्यानसे, या कृषिसे, या वाणिज्यसे, गो-पालनसे, या वाण-अस्त्रसे, या राजाकी नौकरीसे, या किसी अन्य शिल्पसे— शीत-उष्ण-पीड़ित, डंस-मच्छर-हवा-धूप-सरीसृप (=साँप बिच्छू)के स्पर्शसे उत्पीड़ित होता, भूख-प्याससे मरता, जीविका करता है। भिक्षुओ ! यह कामोंका दुष्परिणाम है। इसी जन्ममें कामके हेतु=काम-निदान, कामके अधिकरण (= विषय)से (यह लोक) दुःखोंका पुंज है। भिक्षुओ ! उस कुलपुत्रको यदि इस प्रकार उद्योग करते=उत्थान करते, मेहनत करते, वह भोग नहीं उत्पन्न होते, (तो) वह शोक करता है, दुःखी होता है, चिल्लाता है, छाती पीटकर क्रंदन करता है, मूर्छित होता है—'हाय ! मेरा प्रयत्न व्यर्थ हुआ, मेरी मेहनत निष्फल हुई !!" भिक्षुओ ! यह भी कामोंका दुष्परिणाम है ०। दुःखका पुंज है। यदि भिक्षुओ ! उस कुलपुत्रको इस प्रकार उद्योग करते ० वह भोग उत्पन्न होते हैं; तो वह उन भोगोंकी रक्षाके लिये दुःख = दौर्मनस्य झेलता है—'कहीं मेरे भोगको राजा न हर ले, चोर न हर ले जायें, आग न डाहे, पानी न बहा ले जाये, अप्रिय दायाद न ले जायें' उसके इस प्रकार रक्षा = गोपन करते उन भोगोंको राजा हर ले जाते हैं ०; वह शोक करता है ०—'जो भी मेरा था, वह भी मेरा नहीं है'। भिक्षुओ ! यह भी कामोंका दुष्परिणाम ०।

"और फिर भिक्षुओ ! कामोंके हेतु=काम-निदान, कामोंके विषयमें, कामोंके लिये राजा भी राजाओंसे झगड़ते हैं; क्षत्रिय लोग क्षत्रियोंसे झगड़ते हैं; ब्राह्मण ब्राह्मणोंसे ०; गृहपति (= वैश्य) गृहपतियोंसे ०; माता पुत्रके साथ झगड़ती है; पुत्र भी माताके साथ ०; पिता भी पुत्रके साथ ०; पुत्र भी पिताके साथ ०; भाई भाईके साथ ०; भाई भगिनीके साथ ०; भगिनी भाईके साथ ०; मित्र मित्रके साथ झगड़ते हैं। वह वहाँ कलह=विग्रह=विवाद करते, एक दूसरेपर हाथों से भी आक्रमण करते हैं, ढलोंसे भी ०, डंडोंसे भी ० शस्त्रोंसे भी आक्रमण करते हैं। वह वहाँ मृत्युको प्राप्त होते हैं, या मृत्यु-समान दुःखको। भिक्षुओ ! यह भी कामोंका दुष्परिणाम ०।

"और फिर भिक्षुओ ! कामोंके हेतु ढाल-तलवार (= असि-चर्म) लेकर, तीर-धनुष चढ़ाकर, दोनों ओरसे व्यूह रचे, संग्राममें दौड़ते हैं। वाणोंके चलाये जातेमें, शक्तियोंके फेंके जातेमें, तलवारोंकी चकाचौंधमें, वह वाणोंसे विद्ध होते हैं, शक्तियोंसे ताड़ित होते हैं, तलवारसे शिरच्छिन्न होते हैं। वह वहाँ मृत्युको प्राप्त होते हैं, या मृत्युसमान दुःखको। यह भी भिक्षुओ ! कामोंका दुष्परिणाम ०।

"और फिर भिक्षुओ ! कामोंके हेतु ०, ढाल-तलवार लेकर, धनुर्वाण चढ़ाकर, भीगे-लिपे प्राकारों(= उपकारी = शहर-पनाह)की ओर दौड़ते हैं। वाणोंके चलाये जाते में ०[1]।

"और फिर भिक्षुओ ! कामोंके हेतु ० सेंध भी लगाते हैं, (गाँव) उजाड़ कर ले जाते हैं, चोरी (=एकागारिक, एक घरमें घुसकर चुराना) भी, रहज़नी (=परिपन्थ) भी करते हैं, परस्त्री-गमनभी करते हैं। तब उन्हें राजा लोग पकड़कर नाना प्रकारके दंड (= कम्मकरण) देते हैं—चाबुकसे भी पिटवाते हैं, बेंतसे भी ०, जुर्माना भी करते हैं, हाथ भी काटते हैं, पैर भी काटते हैं, हाथ-पैर भी काटते हैं, कान भी ०, नाक भी ०, कान-नाक भी ०, बिलंग-थालिक[2] भी करते

---

[1] देखो ऊपर का पैरा।

[2] खोपड़ी हटा शिरपर तप्त लोहेका-गोला रखना।

हैं, शंखमुंडिका[1] भी ०, राहुमुख[2] भी ०, ज्योतिमालिका[3] भी ०, हस्त-प्रज्योतिका[4] भी ०, एरकवर्तिका[5] भी ०, चीरकवासिका[6] भी ०, ऐणेयक[7] भी ०, वडिशमंसिका[8] भी ०, कार्षापणक[9] भी ०, खारापतच्छिका[10] भी ०, परिघपरिवर्तिका[11] भी ०, पलाल-पीठक[12] भी ०, तपाये तेलसे भी नहलाते हैं, कुत्तोंसे भी कटवाते हैं, जीतेजी शूलीपर चढ़वाते हैं, तलवारसे शिर कटवाते हैं। वह वहाँ मरणको प्राप्त होते हैं, मरण समान दुःखको भी ०। यह भी भिक्षुओ! कामोंका दुष्परिणाम ०।

"और फिर भिक्षुओ! कामके हेतु कायासे दुश्चरित (= पाप) करते, वचनसे ०, मनसे दुश्चरित करते हैं। वह काय ०-वचन ० मनसे दुश्चरित करके, शरीर छोड़ने पर मरनेके बाद, अपाय = दुर्गति = विनिपात, निरय (= नर्क) में उत्पन्न होते हैं। भिक्षुओ! यह कामोंका जन्मान्तरमें दुष्परिणाम दुःख-पुञ्ज काम-हेतु=काम-निदान (ही है) कामोंका झगडा कामों (= भोगों) हीके लिये होता है।

१—"क्या है भिक्षुओ! कामोंका निस्सरण (= निकास)?—भिक्षुओ! जो यह कामोंसे छन्द = रागका हटाना, छन्द = रागका परित्याग, यह कामोंका निस्सरण है। भिक्षुओ! जो कोई श्रमण ब्राह्मण इस प्रकार कामोंके आस्वाद, कामोंके आदिनव (= दुष्परिणाम), दुष्परिणामसे निस्सरण, निस्सरणसे उसे यथाभूत (= उसके स्वरूपको यथार्थ से) नहीं जानते, वह स्वयं कामोंको छोड़ेंगे या दूसरोंको वैसा (करनेके लिये) शिक्षा देंगे, जिसपर चलकर कि वह (पुरुष) कामोंको छोड़ेगा; यह सम्भव नहीं। भिक्षुओ! जो कोई श्रमण या ब्राह्मण इस प्रकार कामोंके आस्वाद, आस्वादसे दुष्परिणाम, दुष्परिणामसे निस्सरण, निस्सरणसे उसे यथाभूत जानते हैं; वह स्वयं कामोंको छोड़ेंगे, ० यह सम्भव है।

"क्या है भिक्षुओ! वेदनाओंका आस्वाद?—यहाँ भिक्षुओ! भिक्षु कामोंसे विरहित, बुरी बातोंसे विरहित, सवितर्क और सविचार, विवेकसे उत्पन्न प्रीति और सुखवाले ०[13] प्रथम-ध्यानको प्राप्त हो विहरने लगता है। जिस समय भिक्षुओ! भिक्षु कामोंसे विरहित ० प्रथम ध्यानको प्राप्त हो विहरता है; उस समय न अपनेको पीड़ित करनेका ख्याल रखता है, न दूसरेको पीड़ित करनेका ख्याल रखता है, न (अपने और पराये) दोनोंको ०। व्याबाधा (= पीड़ा पहुँचाने)

---

[1] शिरका चमड़ा आदि हटाकर उसे शंख समान बनाना।
[2] कानों तक मुँहको फाड़ देना।
[3] शरीरभरमें तैल-सिक्त कपड़ा लपेट बत्ती जलाना।
[4] हाथमें कपड़ा लपेट कर जलाना।
[5] गर्दन तक खाल खींचकर घसीटना।
[6] ऊपरकी खालको खींचकर कमरपर छोड़ना, और नीचेकी खालको घुट्टीपर छोड़ देना।
[7] केहुनी और घुटनेमें लोहशलाका ठोंक उनके बल भूमिपर स्थापितकर आग लगाना।
[8] वंशीके तरहके लोह-अंकुशोंको मुँहसे डालकर निकालना।
[9] पैसे पैसे भरके मांसके टुकड़ोंको सारे शरीरसे काटना।
[10] शरीरमें घावकर क्षार लगाना।
[11] दोनों कानोंसे कीला पारकर, उसे जमीनमें गाड़, पैर पकड़ उसीके चारोंओर घुमाना।
[12] मुँगरोंसे हड्डीको भीतर ही भीतर चूरकर, शरीरको मांस-पुंजसा बना देना।
[13] देखो पृष्ठ १५।

से रहित वेदना हीको उस समय अनुभव करता है; भिक्षुओ! वेदनाओंके आस्वादको अव्याबाधता पर्यन्त, मैं कहता हूँ।

"और फिर भिक्षुओ! भिक्षु वितर्क और विचारके शान्त होनेपर भीतरी शान्ति तथा चित्तकी एकाग्रतावाले वितर्क-रहित-विचार रहित प्रीति सुखवाले द्वितीय-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। ०[1] तृतीय-ध्यानको ०। ०[1] चतुर्थ-ध्यानको ०। जिस समय भिक्षुओ! भिक्षु सुख और दुःखके परित्यागसे, सौमनस्य (= चित्तोल्लास) और दौर्मनस्य (= चित्त-सन्ताप)के पहिले ही अस्त हो जानेसे, सुख-दुःख-विरहित उपेक्षासे स्मृतिकी शुद्धिवाले चतुर्थ-ध्यानको प्राप्तहो विहरने लगता है, उस समय न वह अपनेको पीड़ित करता है ०। भिक्षुओ! वेदनाओंका आस्वादको अव्याबाधता पर्यन्त मैं कहता हूँ।

"क्या है भिक्षुओ! वेदनाओंका दुष्परिणाम?—जो कि भिक्षुओ! वेदना अनित्य; दुःख और विपरिणाम (= विकार) स्वभाववाली है; यही वेदनाओंका आदिनव (= दुष्परिणाम) है।

"क्या है भिक्षुओ! वेदनाओंका निस्सरण?—जो कि भिक्षुओ! वेदनाओंसे छन्द=रागका हटाना, छन्द = रागका प्रहाण (= त्याग) यही वेदनाओंका निस्सरण है।

"भिक्षुओ! जो कोई श्रमण ब्राह्मण इस प्रकार वेदनाओंके आस्वादको आस्वादन करते, आदिनवको आदिनवकी भाँति, निस्सरणको निस्सरणकी भाँति ठीक तौरसे नहीं जानते; वह स्वयं वेदनाओंको त्यागेंगे, और दूसरोंको वैसा करनेके लिये अनुशासन करेंगे, यह सम्भव नहीं। किन्तु, भिक्षुओ! जो कोई श्रमण ब्राह्मण इस प्रकार वेदनाओंके आस्वादको आस्वादन न करते, आदिनवको आदिनवकी भाँति ० जानते हैं; वह स्वयं वेदनाओंको त्यागेंगे ० यह सम्भव है।"

भगवान्‌ने यह कहा; सन्तुष्ट हो उन भिक्षुओंने भगवान्‌के भाषणका अभिनन्दन किया।

१४-चूल-दुक्ख-क्खन्ध-सुत्तन्त (१।२।४)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् शाक्य (देश)में कपिलवस्तुके न्यग्रोधाराममें विहार करते थे।

तब महानाम शाक्य जहाँ भगवान् थे, वहाँ आया। आकर भगवान्‌को अभिवादनकर एक ओर बैठा। एक ओर बैठे महानाम शाक्यने भगवान्‌से कहा—

"भन्ते! दीर्घ-रात्र(= बहुत समय)से भगवान्‌के उपदिष्ट धर्मको मैं इस प्रकार जानता हूँ—लोभ चित्तका उपक्लेश (= मल) है, द्वेष चित्तका उपक्लेश है, मोह चित्तका उपक्लेश है। तो भी एक समय लोभ-वाले धर्म मेरे चित्तको चिपट रहते हैं। तब मुझे भन्ते! ऐसा होता है—कौन सा धर्म (= बात) मेरे भीतर (= अध्यात्म)से नहीं छूटा है, जिससे कि एक समय लोभधर्म ०?"

"महानाम! वही धर्म तेरे भीतरसे नहीं छूटा, जिससे कि एक समय लोभ-धर्म तेरे चित्तको ०। महानाम! यदि वह धर्म भीतरसे छूटा हुआ होता, तो तू घरमें वास न करता, कामोपभोग न करता। चूंकि महानाम! वह धर्म तेरे भीतरसे नहीं छूटा, इसलिये तू गृहस्थ है, कामोपभोग करता है। (यह) काम (= भोग) अ-प्रसन्न करनेवाले, बहुत दुःख देनेवाले, बहुत उपायास (= परेशानी) देनेवाले हैं। इनमें आदिनव (= दुष्परिणाम) बहुत हैं। महानाम! जब आर्यश्रावक यथार्थतः अच्छी प्रकार जानकर इसे देख लेता है, तो वह कामोंसे अकुशल (= बुरे)-धर्मोंसे, अलगहीमें प्रीति-सुख या उससे भी अधिक शांततर (सुखको) नहीं पाता, वह कामोंमें 'लौटने वाला' होता है। महानाम! आर्यश्रावकको जब काम; (= भोग) अ-प्रसन्न करनेवाले, बहुत दुःख देनेवाले, बहुत परेशानी करनेवाले मालूम होते हैं; 'इनमें आदिनव बहुत हैं' इसे महानाम! जब आर्य-श्रावक यथार्थतः अच्छी प्रकार जानकर इसे देख लेता है; तो वह कामोंसे अलग, अ-कुशल धर्मोंसे पृथक् ही, प्रीति सुख या उससे शांततर (सुख) पाता है, तब वह कामोंकी ओर 'न-फिरनेवाला' होता है।

"मुझे भी महानाम! संबोधि (प्राप्त करने)से पूर्व बुद्ध न हो, बोधिसत्त्व होते समय, यह अप्रसन्न करनेवाले, बहु दुःख, बहुत परेशानी करनेवाले काम (होते थे), तब 'इनमें दुष्परिणाम बहुत हैं'—यह ऐसा यथार्थतः अच्छी प्रकार जानकर मैंने देखा, किंतु कामोंसे अलग, अकुशल धर्मोंसे अलग, प्रीति-सुख, या उनसे शांततर (सुख) नहीं पा सका। इसलिये मैंने उतनेसे कामोंकी ओर 'न लौटने वाला' (अपने को) नहीं जाना। जब महानाम! काम अप्रसन्नकर बहु-दुःखद, बहु-आयासकर हैं; इनमें दुष्परिणाम बहुत हैं' यह ऐसा ०। तो कामोंसे, अकुशलधर्मोंसे अलग ही प्रीति-सुख (तथा) उससे भी शांत-तर (सुख) पाया; तब मैंने (अपनेको) कामोंकी ओर 'न लौटनेवाला' जाना।

"महानाम! कामोंका आस्वाद (= स्वाद) क्या है?—महानाम! यह पाँच काम-गुण ०। कौनसे पाँच? (१) इष्ट, कांत, रुचिकर, प्रिय-रूप, काम-युक्त, (चित्तको) रंजित करनेवाला, चक्षुसे विज्ञेय (= जानने योग्य) रूप। (२) इष्ट कान्त० श्रोत्र-विज्ञेय शब्द। (३) ० घ्राण-विज्ञेय गंध। (४) ० जिह्वा-विज्ञेय रस। (५) ० काय-विज्ञेय स्पर्श। महानाम! यह पाँच काम-गुण हैं। महानाम! इन पाँच काम गुणोंके कारण जो सुख या सौमनस्य (= दिलकी खुशी) उत्पन्न होता है, यही कामोंका आस्वाद है।

"महानाम! कामोंका आदिनव (= दुष्परिणाम) क्या है? महानाम! कुल-पुत्र जिस किसी शिल्पसे—चाहे मुद्रासे, या गणनासे, या संख्यानसे, या कृषिसे, या वाणिज्यसे, गोपालन से, या वाण-अस्त्रसे, या राजाकी नौकरी (= राज-पोरिस)से, या किसी (अन्य) शिल्पसे, शीत-उष्ण-पीड़ित (= ० पुरस्कृत), डंस-मच्छर-हवा-धूप-सरीसृप (= साँप विच्छू आदि)के स्पर्शसे उत्पीड़ित होता, भूख प्याससे मरता, जीविका करता है। महानाम! यह कामोंका दुष्परिणाम है। इसी जन्ममें (यह) दुःखोंका पुंज (= दुःख-स्कंध) काम-हेतु=काम-निदान, काम-अधिकरण (= ० विषय) कामोंहीके कारण है। महानाम! उस कुल-पुत्रको यदि इस प्रकार उद्योग करते= उत्थान करते, मेहनत करते, वह भोग नहीं मिलते (तो) वह शोक करता है, दुःखी होता है, चिल्लाता है, छाती पीटकर क्रंदन करता है, मूर्छित होता है—'हाय! मेरा प्रयत्न व्यर्थ हुआ, मेरी मेहनत निष्फल हुई!!' महानाम! यह भी कामोंका दुष्परिणाम ०, इसी जन्ममें दुःख-स्कंध ०। यदि महानाम! उस कुलपुत्रको इस प्रकार उद्योग करते ० वह भोग मिलते हैं। तो वह उन भोगोंकी रक्षाके विषयमें दुःख = दौर्मनस्य झेलता है—'कहीं मेरे भोगको राजा न हर लेजायें, चोर न हर लेजायें, आग न डाहे, पानी न वहाये, अ-प्रिय-दायाद न लेजायें'। उसके इस प्रकार रक्षा-गोपन करते उन भोगोंको राजा लेजाते हैं ०; वह शोक करता है ०—'जो भी मेरा था, वह भी मेरा नहीं है'। महानाम! यह भी कामोंका दुष्परिणाम ०।

"और फिर महानाम! कामोंके हेतु=कामनिदान, कामोंके झगड़े (=अधिकरण) से कामों-के लिये राजा भी राजाओंसे झगड़ते हैं, क्षत्रिय लोग क्षत्रियोंसे ०, ब्राह्मण ब्राह्मणोंसे ०, गृहपति (= वैश्य) गृहपतियोंसे ०, माता पुत्रके साथ ०, पुत्र भी माताके साथ ०, पिता भी पुत्रके साथ ०, पुत्र भी पिताके साथ ०, भाई भाईके साथ ०, भाई भगिनीके साथ ०, भगिनी भाईके साथ ०, मित्र मित्रके साथ झगड़ते हैं। वह वहाँ कलह = विग्रह = विवाद करते, एक दूसरे पर हाथोंसे भी आक्रमण करते हैं, ढेलोंसे भी ०, डंडोंसे भी ०, शस्त्रोंसे भी आक्रमण करते हैं। वह वहाँ मृत्युको प्राप्त होते हैं, या मृत्यु-समान दुःखको। महानाम! यह भी कामोंका दुष्परिणाम ०।

"और फिर महानाम! कामोंके हेतु ० ढाल-तलवार (= असि-चम्म) लेकर, धनुष (= धनुष-कलाप = धनुष-लकड़ी) चढ़ाकर, दोनों ओरसे व्यूह रचे संग्राममें दौड़ते हैं। बाणोंके चलाये जाते-में, शक्तियोंके फेंके जातेमें, तलवारोंकी चमकमें, वह बाणोंसे विद्ध होते हैं, शक्तियोंसे ताड़ित होते हैं, तलवारसे शिर-च्छिन्न होते हैं। वहाँ मृत्युको प्राप्त होते हैं, या मृत्यु-समान दुःखको। यह भी महानाम! कामोंका दुष्परिणाम ०।

"और फिर महानाम! कामोंके हेतु ०, तलवार लेकर; धनुष चढ़ाकर, भीगे-लिपे हुये प्राकारों (=उपकारी=शहर-पनाह) को दौड़ते हैं। बाणोंके चलाये जातेमें ०। वह वहाँ मृत्युको प्राप्त होते हैं ०। यह भी महानाम! कामोंका दुष्परिणाम ०।

"और फिर महानाम! कामोंके हेतु ० सेंध भी लगाते हैं, (गाँव) उजाड़ कर लेजाते हैं, चोरी (= एकागारिक = एक घरको घेरकर चुराना) भी करते हैं, रहज़नी (=परिपन्थ) भी करते

हैं, पर-स्त्री-गमन भी करते हैं। तब उसको राजा लोग पकड़ कर नाना प्रकारकी सजा (= कम्म-करण) कराते हैं—चाबुकसे पिटवाते हैं, बेंतसे भी ०, जुर्माना करते हैं, हाथ भी काटते हैं, पैर भी काटते हैं, हाथ पैर भी काटते हैं। कान भी ०, नाक भी ०, कान-नाक भी ० [१]बिलंगथालिक भी करते हैं, शंख-मूर्धिका भी ०, राहुमुख भी ०, ज्योतिमालिका भी ०, हस्त-प्रज्योतिका भी ०, एरक-वर्तिका भी ०, चीरक-वासिका भी ०, ऐणेयक भी ०, बडिश-मांसिका भी०, कार्षापणक भी ०, खारापनच्छिक भी ०, परिघ-परिवर्तिक भी ०, पलाल-पीठक भी ०, तपाये तेलसे भी नहलाते हैं, कुत्तोंसे भी कटवाते हैं, जीते जी शूलीपर चढ़वाते हैं, तलवारसे शीश कटवाते हैं। वह वहाँ मरणको प्राप्त होते हैं, मरण-समान दुःखोंको भी। यह भी महानाम ! कामोंका दुष्परिणाम ०।

"और फिर महानाम ! कामके हेतु ० कायासे दुश्चरित (= पाप) करते हैं, वचनसे ०, मनसे ० वह वह काय ०-वचन ०-मनसे दुश्चरित करके, शरीर छोड़नेपर मरनेके बाद, अपाय = दुर्गति = विनिपात, निरय (नर्क)में उत्पन्न होते हैं। महानाम ! जन्मान्तरमें यह कामोंका दुष्परिणाम दुःख-पुंज काम-हेतु = काम-निदान, कामोंका झगड़ा कामों हीके लिये होता है।

एक समय महानाम ! मैं राजगृहमें गृध्रकूट पर्वतपर विहार करता था। उस समय बहुतसे निगंठ (= जैन-साधु) ऋषिगिरिकी कालशिलापर खड़े रहने(का व्रत)ले, आसन छोड़, उपक्रम करते, दुःख, कटु, तीव्र, वेदना झेल रहे थे। तब मैं महानाम ! सायंकाल ध्यानसे उठकर, जहाँ ऋषिगिरिके पास कालशिला थी, जहाँपर कि वह निगंठ थे; वहाँ गया। जाकर उन निगंठोंसे बोला—'आवुसो ! निगंठो ! तुम खड़े क्यों हो, आसन छोड़े···दुःख, कटुक, तीव्र वेदना झेल रहे हो !' ऐसा कहनेपर उन निगंठोंने कहा—'आवुस ! निगंठ नाथपुत्त (= जैनतीर्थंकर महावीर) सर्वज्ञ=सर्वदर्शी, आप अखिल (= अपरिशेष) ज्ञान = दर्शनको जानते हैं—'चलते, खड़े, सोते, जागते, सदा निरंतर (उनको) ज्ञान = दर्शन उपस्थित रहता है'। वह ऐसा कहते हैं—'निगंठो ! जो तुम्हारा पहिलेका किया हुआ कर्म है, उसे इस कड़वी दुष्कर-क्रिया (= तपस्या)से नाश करो, और जो इस वक्त यहाँ काय-वचन-मनसे संवृत (=पाप न करनेके कारण रक्षित, गुप्त) हो, यह भविष्यके लिये पापका न करना हुआ। इस प्रकार पुराने कर्मोंका तपस्यासे अन्त होनेसे, और नये कर्मोंके न करनेसे, भविष्यमें चित्त अन्-आस्रव (= निर्मल) होगा। भविष्यमें आस्रव न होनेसे, कर्मका क्षय (होगा), कर्म-क्षयसे दुःखका क्षय; दुःख-क्षयसे वेदना (=झेलना)का क्षय, वेदना-क्षयसे सभी दुःख-नष्ट होंगे। हमें यह (विचार) रुचता है = खमता है, इससे हम संतुष्ट हैं।'

"ऐसा कहनेपर मैंने महानाम ! उन निगंठोंसे कहा—'क्या तुम आवुसो ! निगंठो ! जानते हो 'हम पहिले थे ही, हम नहीं न थे ?' 'नहीं आवुस !' 'क्या तुम आवुसो ! निगंठो ! यह जानते हो—'हमने पूर्वमें पापकर्म किये ही हैं, नहीं नहीं किये ?' 'नहीं आवुस !' 'क्या तुम आवुसो ! निगंठो ! यह जानते हो—अमुक अमुक पाप कर्म किये हैं' ? 'नहीं आवुस !' 'क्या तुम आवुसो ! निगंठो ! जानते हो, इतना दुःख नाश होगया, इतना दुःख नाश करना है, इतना दुःखनाश होनेपर सब दुःख नाश हो जायेगा ?' 'नहीं आवुस !' 'क्या तुम आवुसो ! निगंठो ! जानते हो—इसी जन्ममें अकुशल (= बुरे) धर्मोंका प्रहाण (= विनाश), और कुशल (= अच्छे) धर्मोंका लाभ (होना है) ? 'नहीं आवुस !' 'इस प्रकार ० निगंठो ! तुम नहीं जानते—हम पहिले थे, या नहीं ०। इसी जन्ममें अकुशल धर्मोंका प्रहाण, और कुशल धर्मोंका

---

[१] देखो पृष्ठ ५४, ५५।

लाभ (होना है)। ऐसा ही होने (हो)से तो आवुस! निगंठो! जो लोकमें रुद्र (=भयंकर) खून-रंगे-हाथवाले, क्रूर-कर्मा, मनुष्योंमें नीच जातिवाले (=पच्चाजाता) हैं, वह निगंठोंमें साधु बनते हैं।' 'आवुस! गौतम! सुखसे सुख प्राप्य नहीं है, दुःखसे सुख प्राप्य है। आवुस! गौतम! यदि सुखसे सुख प्राप्य होता, तो राजा मागध श्रेणिक बिंबसार सुख प्राप्त करता। राजा मागध श्रेणिक बिंबसार आयुष्मान् (=आप)से बहुत सुख-विहारी है।' 'आयुष्मान् निगंठोंने अवश्य, बिना विचारे जल्दीमें यह बात कही।' 'आवुस! गौतम! सुखसे सुख नहीं प्राप्य है, दुःखसे सुख प्राप्य है। सुखसे यदि आवुस! गौतम! सुख प्राप्त होता, तो राजा मागध श्रेणिक बिंबसार सुख प्राप्त करता; राजा मागध श्रेणिक बिंबसार आयुष्मान् गौतमसे बहुत सुख-विहारी है। (आप लोगोंको) तो मुझे ही पूछना चाहिये—आयुष्मानोंके लिये कौन अधिक सुख विहारी है, राजा ० बिंबसार या आयुष्मान् गौतम ?' 'अवश्य आवुस! गौतम! हमने बिना विचारे जल्दीमें बात कही। नहीं आवुस! गौतम! सुखसे सुख प्राप्य है ०। जाने दीजिये इसे, अब हम आयुष्मान् गौतमसे पूछते हैं—आयुष्मानोंके लिये कौन अधिक सुख-विहारी है, राजा ० बिंबसार या आयुष्मान् गौतम ?' 'तो आवुसो! निगंठो तुमको ही पूछते हैं, जैसा तुम्हें जँचे, वैसा उत्तर दो। तो क्या मानते हो आवुसो! निगंठो! क्या राजा ० बिंबसार कायासे बिना हिले, वचनसे बिना बोले, सात रात-दिन केवल (=एकांत) सुख अनुभव करते विहार कर सकता है ?' 'नहीं आवुस!' 'तो क्या मानते हो, आवुसो! निगंठो! ० छः रात-दिन केवल सुख अनुभव करते विहार कर सकता है ?' 'नहीं आवुस!' '० पाँच रात-दिन ०' '० चार रात-दि०।' '० तीन रात-दिन०।' '० दो रात-दिन०।' '० एक रात-दिन० ?' 'नहीं आवुस!' 'आवुसो! निगंठो! मैं कायासे बिना हिले, वचनसे बिना बोले एक रात-दिन०, दो रात-दिन०, तीन रात-दिन०, चार०, पाँच०, छः०, सात रात-दिन केवल-सुख अनुभव करता विहार कर सकता हूँ। तो क्या मानते हो आवुसो! निगंठो! ऐसा होनेपर कौन अधिक सुख-विहारी है। राजा मागध श्रेणिक बिंबसार, या मैं ?' 'ऐसा होनेपर तो राजा मागध श्रेणिक बिंबसारसे आयुष्मान् गौतम ही अधिक सुख-विहारी हैं।"

भगवान्‌ने, यह कहा, महानाम शाक्यने सन्तुष्ट हो भगवान्‌के भाषणका अभिनन्दन किया।

१५—अनुमान-सुत्तन्त (१।२।५)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय आयुष्मान् महामौद्गल्यायन भर्ग[1] (देश)में, सुंसुमार-गिरि[2]के भेषकलावन मृगदावमें विहार करते थे। वहाँ आयुष्मान् महामौद्गल्यायनने भिक्षुओंको संबोधित किया—"आवुसो भिक्षुओ !"

"आवुस !" (कह) उन भिक्षुओंने आयुष्मान् महामौद्गल्यायनको उत्तर दिया।

आयुष्मान् महामौद्गल्यायनने यह कहा—

१—"चाहे आवुसो ! भिक्षु (जवानी) यह कहता भी है—आयुष्मान् कहें, मैं आयुष्मानोंके वचन (= दोष दिखानेवाले शब्द)का पात्र हूँ; किन्तु यदि वह दुर्वचनी है, दुर्वचन पैदाकरनेवाले धर्मोंसे युक्त है; और अनुशासन ग्रहण-करनेमें अ-क्षम (= असमर्थ) अ-प्रदक्षिण-ग्राही (= उत्साह-रहित) है। तो फिर स-ब्रह्मचारी न तो उसे (शिक्षा) वचनका पात्र मानते हैं, न अनुश्वासनीय मानते हैं; न उस व्यक्तिमें विश्वासोत्पन्न करना (उचित) मानते हैं।

"आवुसो ! कौनसे हैं दुर्वचन पैदाकरनेवाले धर्म ?—यहाँ आवुसो ! भिक्षु पापेच्छ (= बदनीयत) हो, पापिका (= बुरी) इच्छाओंके वशीभूत होता है। जो कि आवुसो ! भिक्षु ० पापिका इच्छाओंके वशीभूत है, यह भी आवुसो ! दुर्वचन पैदाकरनेवाला धर्म (= बात) है।

"और फिर आवुसो ! भिक्षु आत्मोत्कर्षक (= अपनी उन्नति या प्रशंसा चाहनेवाला) होता है, और दूसरेकी पतन (या निंदा) चाहनेवाला। ० यह भी आवुसो दुर्वचन पैदाकरनेवाला धर्म है।

"और फिर आवुसो ! भिक्षु क्रोधी होता है, क्रोधके वशीभूत ०। ०।

" ० भिक्षु क्रोधी होता है, क्रोधके हेतु उपनाह (= ढोंग)से युक्त होता है ०। ०।

" ० भिक्षु क्रोधी होता है, क्रोधके हेतु अभिषंग (= डाह)से युक्त होता है ०। ०।

" ० भिक्षु क्रोधी होता है, क्रोधपूर्ण वाणीका निकालनेवाला होता है ०। ०।

" ० भिक्षु दोष दिखलानेपर दोष दिखलानेवालेके लिये प्रतिस्फरण (= प्रतिहिंसा) करता है ०। ०।

" ० भिक्षु दोष दिखलानेसे, दोष दिखलाने वाले को नाराज करता है ०। ०।

" ० भिक्षु दोष दिखलानेसे, दोष दिखलानेवालेपर उल्टा आरोप करता है ०। ०।

---

[1] भर्ग आजकलके मिर्जापुर जिलेका गंगासे दाक्षिणी भाग और कुछ आसपासका प्रदेश है, इसकी सीमा-गंगा-टोंस-कर्मनाशा नदियाँ एवं विंध्यपर्वतका कुछ भाग रहा होगा।

[2] वर्तमान चुनार (जि० मिर्जापुर, युक्त प्रान्त)।

"० भिक्षु दोष दिखलानेपर दोष दिखलानेवालेके साथ दूसरी दूसरी (बात) ले लेता है, बातको (प्रकरणसे) बाहर ले जाता है; कोप, द्वेष, अप्रत्यय (= नाराजगी) उत्पन्न कराता है ०।०।

"० भिक्षु दोष दिखलानेपर, दोष दिखलानेवालेके साथ अपदान (= साथ छोड़ना) अ-सम्प्रायण (= अ-स्वीकार) करता है ०।०।

"और फिर आवुसो! भिक्षु म्रक्षी (= अमरखी) और प्रदाशी। (= निष्ठुर) होता है ०।०।

"० ईर्ष्यालु और मत्सरी होता है ०।०।

"० शठ और मायावी ०।०।

"० स्तब्ध (= जड़) और अतिमानी (= अभिमानी) ०।०।

"० संदृष्टिपरामर्षी (= तुरन्त लाभ चाहनेवाला) और आधानग्राही (= हठी) और दुष्प्रतिनिस्सर्गी (= न त्यागनेवाला) होता है ०।०।

२—"चाहे आवुसो! भिक्षु (= यह न भी कहता है—'आयुष्मान् कहें'[१] ०; किन्तु यदि वह सुवचनी है, और सुवचन पैदा करनेवाले धर्मोंसे युक्त है; और वह अनुशासन ग्रहण करनेमें क्षम (= समर्थ) प्रदक्षिण-ग्राही (= उत्साहसे ग्रहण करनेवाला) है; तो फिर सब्रह्मचारी उसे (उपदेशयुक्त) वचनका पात्र मानते हैं, अनुशासनीय मानते हैं, उस व्यक्तिमें विश्वास उत्पन्न करना (उचित) मानते हैं।

"आवुसो! कौनसे हैं सुवचन पैदाकरनेवाले धर्म?—यहाँ आवुसो! भिक्षु न पापेच्छ होता है, न बुरी इच्छाओंके वशीभूत। जो कि आवुसो! भिक्षु न पापेच्छ है, न बुरी इच्छाओंके वशीभूत; यह भी आवुसो! सुवचन पैदाकरनेवाला धर्म है।

"और फिर आवुसो! भिक्षु न आत्मोत्कर्षक होता, न पर-अपकर्षक। ० यह भी आवुसो! सुवचन पैदा करनेवाला धर्म है।

"० न क्रोधी होता है, न क्रोधाऽभिभूत ०।०।

"० न क्रोधी ० न क्रोधके हेतु उपनाही ०।०।

"० न क्रोधी ० न क्रोधके हेतु अभिषंगी ०।०।

"० न क्रोधी ० न क्रोधपूर्ण बातोंका करनेवाला होता है ०।०।

"० दोष दिखलानेपर दोष दिखलानेवालेको प्रतिस्फरण (= प्रतिहिंसा) नहीं करता है ०।०।

"० न ० नाराज करता है ०।०।

"० न ० उल्टा आरोप करता है ०।०।

"० न ० दूसरी दूसरी बात ले लेता है, न बातको प्रकरणसे बाहर लेजाता है, न कोप, द्वेष, अप्रत्यय उत्पन्न कराता है ०।०।

"० न ० अपदान अ-सम्प्रायण करता है ०।०।

"० न म्रक्षी न प्रदाशी होता है ०।०।

"० न ईर्ष्यालु और न मत्सरी होता है ०।०

---

[१] देखो पृष्ठ ६१।

"० न शठ और न मायावी ०।०।

"० न स्तब्ध (= जड़) और न अतिमानी (= अभिमानी) ०।०।

"० न सन्दृष्टिपरामर्षी न आधानग्राही (= हठी) और ० सुप्रति-निस्सर्गी होता है।

३—"वहाँ आवुसो ! भिक्षु अपने ही अपनेको इस प्रकार समझावे (= अनुमान करे) जो व्यक्ति पापेच्छ है, पापिका इच्छाके वशीभूत है, वह पुद्गल मुझे अप्रिय = अमनाप है। और मैं भी तो पापेच्छ हूँ, पापिका इच्छाके वशीभूत हूँ; (इसलिये) मै भी दूसरोंको अप्रिय = अमनाप होऊँगा—यह जानते हुये आवुसो ! भिक्षुको ऐसा चित्त उत्पन्न करना चाहिये—मैं पापेच्छ नहीं होऊँगा, मैं पापिका इच्छाओंके वशीभूत नहीं होऊँगा।

"जो पुद्गल आत्मोत्कर्षक होता है, और पर-अपकर्षक; वह मुझे अप्रिय = अमनाप होता है; और (यहाँ) मैं ही आत्मोत्कर्षक, और पर-अपकर्षक हूँ; (इसलिये) मैं भी दूसरोंको अप्रिय = अमनाप होऊँगा—यह जानते हुये आवुसो ! भिक्षुको ऐसा चित्त उत्पन्न करना चाहिये—मैं आत्मोत्कर्षक नहीं होऊँगा, मैं पर-अपकर्षक नहीं होऊँगा।

"जो पुद्गल क्रोधी होता है, क्रोधके वशीभूत ०।

"० क्रोधी होता है, क्रोधके हेतु उपनाही ०।

"० क्रोधी ० क्रोधके हेतु अभिषंगी ०।

"० क्रोधी ० क्रोध-पूर्ण वचन निकालनेवाला ०।

"जो पुद्गल दोष दिखाये जानेपर, दोष दिखलानेवालेको प्रति-स्फरण करता है ०।

"० दोष दिखलानेवालेको नाराज कराता है ०।

"० दोष दिखलानेवालेपर उल्टा आरोप करता है ०।

"० दूसरी दूसरी बात ले लेता है, बातको प्रकरणसे बाहर ले जाता है; कोप, द्वेष अप्रत्यय (= नाराज़गी) उत्पन्न करता है ०।

"० अपदान और सम्प्रायण करता है ०।

"० म्रक्षी और प्रदाशी होता है ०।

"० ईर्ष्यालु और मत्सरी होता है ०।

"० शठ और मायावी होता है ०।

"० स्तब्ध और अतिमानी होता है ०।

"जो पुद्गल सन्दृष्टि-परामर्षी आधानग्राही और दुष्प्रति-निस्सर्गी होता है, वह पुद्गल मुझे अप्रिय है (= अमनाप है) और यहाँ मै ही हूँ, सन्दृष्टि-परामर्षी ०; (इसलिये) मैं भी दूसरोंको अप्रिय = अमनाप होऊँगा—यह जानते हुये आवुसो ! भिक्षुको ऐसा चित्त उत्पन्न करना चाहिये—मैं सन्दृष्टि-परामर्षी ० नहीं होऊँगा।

४—"वहाँ आवुसो ! भिक्षुको अपने आप इस प्रकार प्रत्यवेक्षण (= परीक्षण) करना चाहिये—क्या मैं पापेच्छ हूँ, पापिका इच्छाओंके वशीभूत हूँ। यदि आवुसो ! भिक्षु प्रत्यवेक्षण करते देखे, कि वह पापेच्छ है, पापिका इच्छाओंके वशीभूत है; तो आवुसो ! उस भिक्षुको उन बुरे = अकुशल धर्मों (= बातों)के परित्यागके लिये उद्योग करना चाहिये। परन्तु यदि आवुसो ! भिक्षु प्रत्यवेक्षण करते देखे, कि वह पापेच्छ नहीं है, पापिका इच्छाओंके वशीभूत नहीं है; तो आवुसो ! उस भिक्षुको उसी प्रीति = प्रामोद्य (= खुशी)के साथ रात दिन कुशल धर्मों (= अच्छी बातों)को सीखते विहार करना चाहिये।

"और फिर आवुसो ! भिक्षुको अपने आप इस प्रकार प्रत्यवेक्षण करना चाहिये—क्या मैं

आत्मोत्कर्षक हूँ, पर-अपकर्षक। यदि ०।

" ० —क्या मैं क्रोधी, क्रोधके वशीभूत हूँ ०।

" ० —क्या मैं क्रोधी, क्रोध-हेतु उपनाही हूँ ०।

" ० —क्या मैं क्रोधी, ० अभिषंगी ०।

" ० —क्या मैं क्रोधी, ० क्रोध-पूर्ण वचन निकालनेवाला ०।

" ० —क्या मैं दोष दिखाये जानेपर, दोष दिखानेवालेका प्रतिस्फरण (= प्रतिहिंसा) करता हूँ ०।

" ० — ० ,दोष दिखानेवालेको नाराज करता हूँ ०।

" ० — ० दोष दिखानेवालेपर उल्टा आरोप करता हूँ ०।

" ० — ० दूसरी दूसरी बात ले लेता हूँ, बातको प्रकरणसे बाहर ले जाता हूँ, कोप, द्वेष, अप्रत्यय उत्पन्न करता हूँ।

" ० — ० अपदान और सम्प्रायण करता हूँ ०।

" ० — ० म्रक्षी और प्रदाशी हूँ ०।

" ० — ० ईर्ष्यालु और मत्सरी हूँ ०।

" ० — ० शठ और मायावी हूँ ०।

" ० — ० स्तब्ध और अतिमानी हूँ ०।

" ० — ० सन्दृष्टि-परामर्शी, आधानग्राही और दुष्प्रति-निस्सर्गी हूँ ० रात दिन कुशल धर्मोको सीखता विहार करना चाहिये।

"यदि आवुसो ! भिक्षु प्रत्यवेक्षण करते अपनेमें सभी पापक = अकुशल-धर्मों (= बुराइयों) को अप्रहीण (= अ-परित्यक्त) देखे; तो आवुसो ! उस भिक्षुको उन सभी पापक = अकुशल धर्मोंके प्रहाण (=नाश)के लिये प्रयत्न करना चाहिये। किन्तु यदि आवुसो ! भिक्षु प्रत्यवेक्षण करते अपनेमें सभी बुरे = अकुशल धर्मोंको प्रहीण समझे; तो आवुसो ! उस भिक्षुको उसी प्रीति = प्रामोद्य-के साथ रात दिन कुशल धर्मोंका अभ्यास करते विहार करना चाहिये।

"जैसे आवुसो ! दहर (= कमसिन) युवा शौकीन स्त्री पुरुष परिशुद्ध उज्वल आदर्श (= दर्पण) या स्वच्छ जलपात्रमें अपने मुखके प्रतिविम्बको देखते हुये—यदि वहाँ रज (= मैल) =अंगणको देखता है, तो उस रज या अंगणके प्रहाण (= दूर करने)की कोशिश करता है; यदि वहाँ रज या अंगण नहीं देखता, तो उसीसे सन्तुष्ट होता है—'अहो ! लाभ है मुझे ! परिशुद्ध है मेरा (मुख) !!' ऐसेही आवुसो ! यदि भिक्षु प्रत्यवेक्षण कर अपने सभी पापक = अकुशल धर्मोंको अप्रहीण देखे, तो ० प्रयत्न करना चाहिये। किन्तु यदि आवुसो ! ०[१] सीखते विहार करना चाहिये।"

आयुष्मान् महामौद्गल्यायनने यह कहा, सन्तुष्ट हो उन भिक्षुओंने आ. महामौद्गल्यायन के भाषणका अभिनन्दन किया।

[१] देखो ऊपरका पैरा।

१६—चेतोखिल-सुत्तन्त (१।२।६)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथपिंडिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे। वहाँ भगवान्ने भिक्षुओंको सम्बोधित किया—"भिक्षुओ !"

"भदन्त"—(कह) उन भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया।

१—भगवान्ने यह कहा—"भिक्षुओ ! जिस किसी भिक्षुके पाँच चेतोखिल (= चित्तके कील) नष्ट (= प्रहीण) नहीं हुये, पाँच चित्तमें बद्ध हैं, छिन्न नहीं हैं; वह इस धर्म-विनय (= बुद्ध-धर्म)में वृद्धि = विरूढिको प्राप्त होगा, यह सम्भव नहीं। कौनसे इसके पाँच चेतोखिल अप्रहीण हों ?—यहाँ भिक्षुओ ? भिक्षु शास्ता (= आचार्य)में कांक्षा = विचिकित्सा (= संदेह) करता है, (संशयसे) मुक्त नहीं होता, प्रसन्न (= श्रद्धालु) नहीं होता; (इसलिये) उसका चित्त आतप्य (= तीव्र उद्योग)के लिये, अनुयोग, सातत्य (= निरन्तर अभ्यास) (और) प्रधान (= दृढ़ उद्योग)के लिये नहीं झुकता। जो कि उसका चित्त आतप्यके लिये नहीं झुकता, यह उसका प्रथम चेतोखिल अ-प्रहीण है।

"और फिर भिक्षुओ ! भिक्षु धर्ममें ०[1] द्वितीय ०।

"और फिर भिक्षुओ ! भिक्षु संघमें ०[1] तृतीय ०।

" ० शीलमें ०[1] चतुर्थ ०।

" ० सब्रह्मचारियोंके विषयमें कुपित, असन्तुष्ट, दूषित-चित्त, खिलजात (= काँटा बना) होता है। जो कि भिक्षुओ ! जो वह भिक्षु सब्रह्मचारियोंके विषयमें ० खिलजात होता है, (इसलिये) उसका चित्त तीव्र उद्योगके लिये नहीं झुकता; जो कि उसका चित्त तीव्र उद्योग ० के लिये नहीं झुकता, यह उसका पंचम चेतोखिल अप्रहीण है।

"यह उसके पाँचों चेतोखिल अप्रहीण होते हैं।

"कौनसे इसके पाँच चित्त-बंधन (जेतसोविनिबंध) अ-समुच्छिन्न (= न कटे) होते हैं ?—यहाँ भिक्षुओ ! भिक्षु कामों (= भोगों)में अ-वीतराग = अ-वीतच्छन्द = अ-वीत-प्रेम, अविगतपिपास (= जिसकी प्यास हटी नहीं), अ-विगत-परिदाह (= जिसकी जलन गई नहीं), अ-विगत तृष्णा होता है। जो कि भिक्षुओ ! भिक्षु कामोंमें ० अविगत तृष्णा होता है; इसलिये उसका चित्त ० नहीं झुकता; यह उसका प्रथम चित्त-बन्धन छिन्न नहीं हुआ है।

"और फिर भिक्षुओ ! भिक्षु कायामें अ-वीत-राग ०[1]; यह उसका द्वितीय ०।

" ० रूपमें अवीतराग ००[1]; यह तृतीय ०।

---

[1] ऊपरके पैरा जैसा।

"और फिर भिक्षुओ! यथेच्छ उदरपूर भोजन करके शय्या-सुख, स्पर्श-सुख, मृद्ध (=आलस्य)-सुखमें फँसा विहरता है। जो कि, भिक्षुओ! ०[1]; यह उसका चतुर्थ ०।

"और फिर भिक्षुओ! भिक्षु किसी देव-निकाय देवयोनिका प्रणिधान (=दृढ़ कामना) करके ब्रह्मचर्य चरण करता है—इस शील, व्रत, तप, या ब्रह्मचर्यसे मैं देवता या देवतामेंसे कोई होऊँ। जो कि भिक्षुओ! ०[1]; यह उसका पंचम चित्त-बंधन छिन्न नहीं हुआ है।

"यह उसके पाँच चेतसो-विनिबंध (=चित्त-बंधन) अ-समुच्छिन्न होते हैं। भिक्षुओ! जिस किसी भिक्षुके यह पाँच चेतोखिल अप्रहीण हैं, यह पाँच चित्त-विनिबन्धन अ-समुच्छिन्न हैं, वह इस धर्ममें वृद्धि=विरूढ़िको प्राप्त होगा, यह संभव नहीं।

२—"भिक्षुओ! जिस किसी भिक्षुके पाँच चेतोखिल प्रहीण हैं, पाँच चेतसो विनिबंध समुच्छिन्न हैं। वह इस धर्ममें वृद्धि=विरूढ़िको प्राप्त होगा, यह संभव है।

"कौनसे उसके पाँच चेतोखिल प्रहीण हैं? ० यहाँ भिक्षुओ! भिक्षु शास्तामें कांक्षा=विचिकित्सा नहीं करता, (संशय-)मुक्त होता है, प्रसन्न होता है; (इसलिये) उसका चित्त आतप्य ०[2] के लिये झुकता है। जो कि उसका चित्त तीव्र उद्योगके लिये झुकता है; यह उसका प्रथम चेतोखिल प्रहीण हुआ।

"और फिर भिक्षुओ! भिक्षु धर्ममें ०[3]; ० द्वितीय ०।

" ० संघमें ०[3]; ० तृतीय ०।

" ० शिक्षामें ०[2]; ० चतुर्थ ०।

" ० सब्रह्मचारियोंके विषयमें कुपित, असन्तुष्ट, दूषित-चित्त, खिलजात (=काँटे सा) नहीं होता; जो वह ०[2]; पंचम ०।

"यह उसके पाँच चेतोखिल प्रहीण होते हैं।

"कौनसे इसके पाँच चेतसो-विनिबंध (=चित्तके बंधन) समुच्छिन्न होते हैं?[4]—यहाँ भिक्षुओ! भिक्षु कामोंमें वीतराग=वीतच्छन्द=वीतप्रेम, विगत-पिपास, विगत-परिदाह, विगत-तृष्ण होता है; जो कि भिक्षुओ! भिक्षु कामोंमें वीतराग० होता है; इसलिये उसका चित्त आतप्य०[2] झुकता है; यह उसका प्रथम चेतसो-विनिबंध समुच्छिन्न हुआ।

"और फिर भिक्षुओ! भिक्षु कायामें वीतराग ०[5] द्वितीय ०।

" ० रूपमें वीतराग ०[5] तृतीय ०।

" ०[4] यथेच्छ उदरपूर भोजन करके शय्या-सुख, स्पर्श-सुख, मृद्ध-सुखमें फँसा नहीं विहरता। जो कि भिक्षुओ ० चतुर्थ ०।

"और फिर भिक्षुओ! भिक्षु किसी देवनिकाय[6]का प्रणिधान करके ब्रह्मचर्य चरण नहीं करता—०[6]। जो कि भिक्षुओ! ० यह उसका पंचम चेतसो विनिबंध छिन्न हुआ।

"यह उसके पाँच चेतसो-विनिबंध समुच्छिन्न हुये।

"भिक्षुओ! जिस किसी भिक्षुके पाँच चेतोखिल प्रहीण हैं, पाँच चेतसो-विनिबन्ध समुच्छिन्न हैं, वह इस धर्ममें वृद्धि=विरूढ़िको प्राप्त होगा, यह सम्भव है।

"वह (१) छन्द-समाधि-प्रधान-संस्कार-युक्त ऋद्धिपाद[7]की भावना करता है; (२) वह

---

[1] ऊपरके पैरा जैसा। [2] देखो पृष्ठ ६५। [3] ऊपरके पैरा जैसा। [4] मिलाओ पृष्ठ ६५। [5] ऊपरके पैरा जैसा। [6] मिलाओ ऊपर। [7] यही चार ऋद्धिपाद या ऋद्धियाँ हैं, पंचम उत्सोढि है।

वीर्य-समाधि=प्रधान-संस्कार-युक्त ऋद्धिपाद की भावना करता है; (३) वह चित्त समाधिके प्रधान संस्कारसे युक्त ०; (४) वह समाधि-इन्द्रियके प्रधान संस्कारसे युक्त ऋद्धिपादकी भावना करता है। विमर्श समाधिके प्रधान-संस्कारसे युक्त ऋद्धिपादकी भावना है। (यह) पाँचवाँ (विमर्श समाधि-प्रधान संस्कार युक्त ऋद्धिपाद, उत्सोढि (= उत्साह) है। भिक्षुओ! सो वह भिक्षु उत्सोढिके पन्द्रह अंगोंसे युक्त निर्वेद (= वैराग्य)के लिये योग्य है, संवोधि (= परमज्ञान)के लिये योग्य है, सर्वोत्तम (= अनुत्तर) योगक्षेम (= निर्वाण)की प्राप्तिके लिये योग्य है।

"जैसे भिक्षुओ! आठ, दस या वारह मुर्गीके अंडे हों; वह मुर्गीद्वारा भली प्रकार सेये=परिस्वेदित, परिभावित हों; चाहे मुर्गीकी यह इच्छा न भी हो—'अहोवत! मेरे चूज़े (=कुक्कुट-पोतक) पादनखसे या मुखतुंडसे अंडेको फोड़कर स्वस्तिपूर्वक निकल आयें।' तो भी वह चूज़े पादनखसे, या मुखतुंडसे अंडेको फोड़कर स्वस्तिपूर्वक निकल आनेके योग्य हैं; ऐसे ही भिक्षुओ! उत्सोढिके पन्द्रह अंगोंसे युक्त भिक्षु निर्वेदके लिये योग्य है, सम्बोधिके लिये योग्य है, अनुत्तर योग क्षेमकी प्राप्तिके लिये योग्य है।"

भगवान्‌ने यह कहा, उन भिक्षुओंने सन्तुष्ट हो, भगवान्‌के भाषणका अभिनन्दन किया।

१७—वनपत्थ-सुत्तन्त (१।२।७)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथपिंडिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे। वहाँ भगवान्‌ने भिक्षुओंको संबोधित किया—"भिक्षुओ!"

"भदन्त" (कह) उन भिक्षुओंने भगवान्‌को उत्तर दिया।

भगवान्‌ने यह कहा—"भिक्षुओ! वनपत्थ-परियाय (= नामक उपदेश)को तुम्हें उपदेशता हूँ; उसे सुनो, अच्छी तरह मनमें करो, कहता हूँ?"

"ऐसा ही भन्ते!" (कह) उन भिक्षुओंने भगवान्‌को उत्तर दिया।

भगवान्‌ने कहा—"भिक्षुओ! यहाँ (कोई) भिक्षु वनप्रस्थ (= जंगल)का आश्रय लेकर विहरता है। वनप्रस्थका आश्रय ले विहरते (भी) उसकी अनुपस्थित स्मृति उपस्थित नहीं होती; अ-समाहित चित्त, समाहित (= एकाग्र) नहीं होता; अ-परिक्षीण आस्रव (= मल) परिक्षीण (= नष्ट) नहीं होते; अ-लब्ध अनुत्तर योग-क्षेम (= निर्वाण) उपलब्ध नहीं होता। प्रव्रजित (= सन्यासी)के लिये जो यह अपेक्षित सामग्रियाँ हैं—चीवर (=वस्त्र), पिंडपात (= भिक्षान्न), शयनासन, ग्लान-प्रत्यय-भेषज्य (= रोगीके पथ्य औषध)के सामान, वह (भी) कठिनाईसे जुटते हैं। भिक्षुओ! उस भिक्षुको इस प्रकार सोचना चाहिये—'मैं इस जंगलमें विहर रहा हूँ; किन्तु इस वनमें विहरते (भी) मेरी अनुपस्थित स्मृति उपस्थित नहीं होती ० जुटते हैं'; और भिक्षुओ! उस भिक्षुको रातके वक्त या दिनके वक्त उस वनसे चला जाना चाहिये, (वहाँ) नहीं बसना चाहिये।

"यहाँ भिक्षुओ! (एक) भिक्षु वनप्रस्थका आश्रय लेकर विहरता है। ० उसकी अनुपस्थित स्मृति उपस्थित नहीं होती ०[1], अलब्ध अनुत्तर योग-क्षेम उपलब्ध नहीं होता; किन्तु प्रव्रजितके लिये जो यह अपेक्षित सामग्रियाँ हैं—चीवर ० वह आसानीसे जुट जाती हैं। भिक्षुओ! उस भिक्षुको इस प्रकार सोचना चाहिये—'मैं इस वनप्रस्थको आश्रय लेकर ० जुट जाती हैं; लेकिन मैं चीवरके लिये घरसे बेघर हो प्रव्रजित नहीं हुआ, न पिंडपातके लिये ०, न शयनासनके लिये ०, न ग्लान-प्रत्यय-भैषज्यके लिये ०। और इस वनप्रस्थका आश्रय लेकर विहरते मेरी अनुपस्थित स्मृति उपस्थित नहीं होती ०।' भिक्षुओ! उस भिक्षुको ० उस वनसे चला जाना चाहिये ०।

"यहाँ, भिक्षुओ! ० अनुपस्थित स्मृति उपस्थित होती है, असमाहित चित्त समाहित होता है, अपरिक्षीण आस्रव परिक्षीण होते हैं; अप्राप्त अनुत्तर योगक्षेम प्राप्त होता है; किन्तु

---

[1] पिछले पैरेसे मिलाओ।

प्रव्रजितके लिये जो वह अपेक्षित सामग्रियाँ हैं—'०, वह कठिनाईसे जुटती हैं। भिक्षुओ! उस भिक्षुको इस प्रकार सोचना चाहिये—०; लेकिन मैं चीवरके लिये घरसे बेघर हो प्रव्रजित नहीं हुआ ०। ० मेरी अनुपस्थित स्मृति उपस्थित होती है ०'। भिक्षुओ! उस भिक्षुको यह जानकर उस वनप्रस्थमें वसना चाहिये, नहीं जाना चाहिये।

"० उसकी अनुपस्थित स्मृति उपस्थित होती है ०, प्रव्रजितके लिये अपेक्षित साम-ग्रियाँ—० आसानीसे मिल जाती हैं। भिक्षुओ! उस भिक्षुको जीवन भर उसी वनमें वसना चाहिये, नहीं जाना चाहिये।

"यहाँ भिक्षुओ! (यदि) भिक्षु किसी ग्रामका आश्रय लेकर विहरता है ०[1]। निगम (=कस्बा) ०[1]। ० नगर ०[1]। ० व्यक्ति (=पुद्गल) ०[1]। ० भिक्षुओ! उस भिक्षुको जीवन भर उस व्यक्तिके साथ रहना चाहिये हटानेपर भी छोड़कर नहीं जाना चाहिये।"

भगवान्‌ने यह कहा, सन्तुष्ट हो उन भिक्षुओंने भगवान्‌के भाषणका अभिनन्दन किया।

[1] वनप्रस्थकी तरह यहा भी पाठ दुहराना चाहिये।

१८—मधुपिंडक-सुत्तन्त (१।२।८)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् शाक्य (देश)में कपिलवस्तुके न्यग्रोधाराममें विहार करते थे। तब भगवान् पूर्वाह्ण समय पहिनकर पात्रचीवर ले कपिलवस्तुमें पिंडचारके लिये प्रविष्ट हुये। कपिलवस्तुमें पिंडचार करके भोजनोपरान्त पिंडपातसे निवटकर; जहाँ महावन था, वहाँ दिनके विहारके लिये गये। जाकर महावनमें प्रविष्ट हो वेलुव-लट्ठिका (= बाँस) वृक्षके नीचे बैठे। दण्डपाणि शाक्य भी टहलने (=जंघा विहार)के लिये, जहाँ महावन था वहाँ गया। जाकर, महावनमें प्रविष्ट हो, जहाँ वेलुव-लट्ठिका (= वेणुयष्टिका) थी, जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया। जाकर भगवान्के साथ······(यथायोग्य कुशल प्रश्न पूछ) डण्डेके सहारे एक ओर खड़ा होगया। एक ओर खड़े हो दण्डपाणि शाक्यने भगवान्से यह कहा—

"श्रमण (आप) किस वादके माननेवाले, किस (सिद्धान्त)के वक्ता हैं?"

"आवुस! जिस वादका मानने वाला, देव-मार-ब्रह्मासहित सारे लोकमें श्रमण-ब्राह्मण-देव मानुष सारी प्रजामें, लोकमें किसीके साथ विग्रह न करके रहता है; जैसे कामोंसे रहित विहरते हुये उस अकथंकथी, छिन्न-कौकृत्य (= संदेह-रहित), भव-अभवमें तृष्णारहित उस ब्राह्मणको संज्ञा (= सोच) नहीं पीछा करती; आवुस! मैं ऐसे वाद-वाला ऐसे (सिद्धान्तका) वक्ता हूँ।"

ऐसा कहनेपर दण्डपाणि शाक्य शिरको हिला, जीभ चला, ललाटपर तीन वलें चढ़ाकर, डंडा उठा चल दिया।

तब भगवान् सायंकाल प्रतिसँल्लयन (= एकान्तचिन्तन)से उठकर जहाँ न्यग्रोधाराम था वहाँ गये, जाकर बिछे आसनपर बैठे। बैठ कर भगवान्ने भिक्षुओंको संबोधित किया—

"भिक्षुओ! आज मैं पूर्वाह्ण समय पहिन कर पात्रचीवर ले ०[1] डंडा उठा चल दिया।"

ऐसा कहनेपर एक भिक्षुने भगवान्से यह कहा—"भन्ते! क्या वादी हैं भगवान्, कि, देव-मार-ब्रह्मासहित सारे लोकमें ०[1] संज्ञा नहीं पीछा करती?"

"भिक्षुओ! जिसके कारण पुरुषको प्रपंच संज्ञाका ज्ञान (= संख्या) आती हैं, जहाँ अभिनन्दन योग्य नहीं, अभिवादन योग्य नहीं, गवेषण योग्य नहीं, वही है अन्त राग-अनुशयों (= रागरूपी मलों)का; ० प्रतिघ (= प्रतिहिंसा)-अनुशयोंका ०; ० दृष्टि-अनुशयों ०; ० विचिकित्सा-अनुशयों ०; ० मान-अनुशयों ०; ० भवराग-अनुशयों ०; ०अविद्या-अनुशयों ०; यहीं अन्त है दण्डग्रहण, शस्त्रग्रहण, कलह, विग्रह, विवाद, 'तू तू मैं मैं', पिशुनता (= चुगली),

---

[1] ऊपर आयेकी पुनरावृत्ति।

और मृषावाद (= झूठ)का । यहाँ यह पापक=अकुशल धर्म (= बुराइयाँ) निःशेषतया नष्ट हो जाते हैं !"

भगवान्‌ने यह कहा, यह कहकर सुगत (= बुद्ध) आसनसे उठकर विहार (= कोठरी) में चले गये ।

तब, भगवान्‌के जानेके थोड़ी ही देर बाद उन भिक्षुओंको यह हुआ—"आवुसो ! भगवान् —'भिक्षुओ ! जिसके कारण० नष्ट हो जाती है ।' इसे संक्षेपसे गिनाकर, विस्तारसे अर्थको बिना विभाजित किये ही आसनसे उठकर विहारमें चले गये । कौन है, जो इस संक्षेपसे कहे···विस्तारसे न विभाजित किये (उपदेश)का विस्तारसे अर्थ-विभाग करेगा ?"

तब उन भिक्षुओंको हुआ—"यह आयुष्मान् महाकात्यायन शास्ता (= बुद्ध)द्वारा प्रशंसित, विज्ञ सब्रह्मचारियोंद्वारा सम्मानित हैं । आयुष्मान् महाकात्यायन शास्ताद्वारा इस संक्षेपसे कहे···विस्तारसे न विभाजित किये (उपदेश)का विस्तारसे अर्थ-विभाग करनेमें समर्थ हैं । क्यों न हम आयुष्मान् महाकात्यायनसे इसके अर्थको पूछें ।"

तब वह भिक्षु जहाँ आ.महाकात्यायन थे, वहाँ गये । जाकर आ. महाकात्यायनके साथ··· (यथायोग्य कुशल प्रश्न पूछ) एक ओर···बैठकर···आ.महाकात्यायनसे यह बोले—"आवुस कात्यायन ! भगवान्—'भिक्षुओ ! जिस कारणसे ०[1]; जो यह संक्षेपसे कह विस्तारसे विभाजित किये बिना ही ० विहारमें चले गये । तब आवुस कात्यायन ! भगवान्‌के जानेके थोड़ी ही देर बाद ०[2] । तब हमें हुआ—यह आयुष्मान् महाकात्यायन ०[2] पूछें' । आयुष्मान् कात्यायन (आप) इसका विभाजन करें ।"

"जैसे, आवुसो ! सारार्थी, सारगवेषी पुरुष सारको खोजते, सारवाले खड़े महावृक्षके मूलको छोड़, स्कन्धको छोड़, शाखा-पत्रको छोड़, सार खोजना चाहे; ऐसे ही अब शास्ता (= बुद्ध) के सामने रहनेपर उन भगवान्‌को छोड़ आयुष्मानोंकी हम लोगों (जैसे)से पूछनेकी इच्छा है । आवुसो ! वह भगवान् जानकार हैं, देखनहार हैं । वह भगवान् चक्षुर्भूत (= आँख समान), ज्ञानभूत, धर्मभूत, ब्रह्मभूत (हैं) । वक्ता प्रवक्ता (हैं) । अर्थके निर्णेता, अमृतके दाता, धर्म-स्वामी, तथागत हैं । इसीका काल था, कि भगवान्‌को ही इसका अर्थ पूछते, जैसे भगवान् इसका व्याख्यान करते, वैसा धारण करते ।"

"ठीक आवुस कात्यायन !—'भगवान् जाननहार हैं ०[3] वैसा धारण करते' । आयुष्मान् महाकात्यायन भी तो शास्ताद्वारा प्रशंसित ०[4] विस्तारसे अर्थ विभाग करनेमें समर्थ हैं । आयुष्मान् कात्यायन (आप) इसे सरल करके विभाजन करें ।"

"तो आवुसो ! सुनो अच्छी तरह मनमें करो, कहता हूँ ।"

"अच्छा आवुस !" (कह) उन भिक्षुओंने आयुष्मान् महाकात्यायनको उत्तर दिया ।

आ.महाकात्यायनने यह कहा—"आवुसो ! हमारे भगवान्—'भिक्षु ! जिस कारणसे ०[5]'; जो यह संक्षेपसे कह, विस्तारसे विभाजित किये बिना ही ० विहारमें चले गये । आवुसो ! भगवान्‌के इस संक्षेपसे कहे विस्तारसे न विभाजित किये उपदेशका अर्थ मैं इस प्रकार जानता हूँ । आवुसो ! चक्षु करके, रूपमें चक्षु-विज्ञान उत्पन्न होता है । तीनों (= चक्षु-इन्द्रिय, रूप-विषय और

---

[1] देखो ऊपर ।　[2] देखो ऊपर ।　[3] देखो ऊपर ।
[4] पूर्व पैरा जैसा ।　[5] देखो ऊपर ।

विज्ञान)का समागम स्पर्श (कहा जाता है)। स्पर्श करके वेदना (होती है)। जिसे वेदन (=अनुभव) करता है, उसका संज्ञान (=समझना) करता है। जिसे संज्ञान करता है, उसके (वारेमें) वितर्क करता है। जिसे वितर्कता है, उसे प्रपंचन करता है। इसके कारण पुरुषको भूत भविष्य-वर्तमान संबंधी चक्षु-द्वारा-विज्ञेय रूपोंमें प्रपंच-संज्ञाका संख्यान आता है। आवुसो! श्रोत्र करके शब्दमें-श्रोत्र विज्ञान उत्पन्न होता है। तीनोंका समागम स्पर्श है ०। ० घ्राण करके गंधमें ०। ० जिह्वा करके रसमें ०। ० काया करके स्प्रष्टव्यमें काय-विज्ञान उत्पन्न होता है। ०। ० मन करके धर्ममें ० मनो-विज्ञान ०।

"आवुसो! यदि चक्षु, रूप और चक्षुर्विज्ञान हैं, तभी स्पर्शका प्रज्ञापन (=जानना) संभव है। स्पर्शकी प्रज्ञप्ति होनेपर वेदनाका प्रज्ञापन संभव है। ० संज्ञाका प्रज्ञापन संभव है। ० वितर्क प्रज्ञप्ति ०। वितर्क-प्रज्ञप्तिके होनेपर प्रपंच-संज्ञा संख्या-समुदाचरण-प्रज्ञप्ति (= ज्ञानके उपचारका जानना) संभव है। आवुसो! श्रोत्र, शब्द, और श्रोत्रविज्ञानके होनेपर स्पर्शकी प्रज्ञप्ति है।० घ्राण, गंध और घ्राण-विज्ञान ०। ० जिह्वा, रस, और जिह्वा-विज्ञान ०। ० काया, स्प्रष्टव्य, और काय-विज्ञान ०। ० मन, धर्म और मनोविज्ञानके होनेपर स्पर्शकी प्रज्ञप्ति संभव है। स्पर्शकी प्रज्ञप्ति होनेपर वेदनाका प्रज्ञापन संभव है। ०[1] संज्ञा ०। ० वितर्क ०। ० प्रपंच-संज्ञा-संख्या-समुदाचरण-प्रज्ञप्ति संभव है।

"आवुसो! चक्षु, रूप और चक्षुर्विज्ञानके न होनेपर स्पर्शकी प्रज्ञप्ति संभव नहीं। स्पर्श-प्रज्ञप्तिके विना वेदना-प्रज्ञप्ति संभव नहीं। ० संज्ञा-प्राप्ति संभव नहीं। ० वितर्क-प्रज्ञप्ति ० वितर्क-प्रज्ञप्तिके विना प्रपंच-संज्ञा-संख्या-समुदाचरण-प्रज्ञाप्ति संभव नहीं।

"आवुसो! श्रोत्र, शब्द, और श्रोत्रविज्ञानके न होनेपर ०[2]। ०घ्राण०[2]। ० जिह्वा ०[2]। ० काय ०[2]। ० मन ०[3]। ० समुदाचरण-प्रज्ञप्ति संभव नहीं।

"आवुसो! भगवान्—'भिक्षु! जिस कारणसे ०[4]; जो यह संक्षेपसे कह, विस्तारसे विभाजित किये विना ही० विहारमें चले गये। आवुसो! ०[5] उपदेशका अर्थ मैं इस प्रकार जानता हूँ। चाहें, तो आप आयुष्मान् भगवान्के पास भी जाकर इस अर्थको पूछें; जैसा हमारे भगवान् व्याख्यान करें, वैसा धारण करें।"

तब वह भिक्षु आ. महाकात्यायनके भाषणका अभिनन्दन = अनुमोदन कर आसनसे उठ जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये; जाकर भगवान्को अभिवादन कर…एक ओर बैठ…यह बोले—

"भन्ते! भगवान्—'भिक्षु जिस कारणसे ०[4] नष्ट हो जाती है', जो यह संक्षेपसे कह, विस्तारसे विभाजित किये विना ही ० विहारमें चले गये। तब भगवान्के जानेके थोड़ी ही देर बाद०[4] ०[6] महाकात्यायनसे (इस) अर्थको पूछें। तब हम भन्ते! जहाँ आ. महाकात्यायन थे, वहाँ गये ०[7] आ. महाकात्यायनसे इस अर्थको पूछा। हमारे वैसा पूछने पर आ. महाकात्यायनने इन आकारोंसे, इन पदोंसे, इन व्यञ्जनोंसे अर्थ-विभाग किया।"

"भिक्षुओ! पंडित है महाकात्यायन, महाप्राज्ञ है ०। यदि भिक्षुओ! तुमने मुझे इस अर्थको पूछा होता, तो मैं भी वैसेही इसका व्याख्यान करता, जैसे कि महाकात्यायनने इसका अर्थ व्याख्यान किया। यही इसका अर्थ है, ऐसे ही इसे धारण करो।"

---

[1] देखो ऊपर। [2] ऊपरके पैरा जैसा। [3] पूर्वके पैरा जैसा। [4] देखो पृष्ठ ७१।
[5] देखो ऊपर। [6] देखो पृष्ठ ७१। [7] देखो पृष्ठ ७१।

ऐसा कहने पर आयुष्मान् आनन्दने भगवान्‌से यह कहा—

"जैसे भन्ते ! भूखकी दुर्बलतासे पीड़ित पुरुष मधु-पिंड (= लड्डू) पा जाये; वह जहाँ जहाँसे खाये (वहीं वहींसे उसमें) स्वादु, तृप्ति-कर रसको पाये, ऐसेही भन्ते ! चेतक (= होशियार) दर्भजातिक (= कुशाग्र-बुद्धि) भिक्षु इस धर्मपर्याय (= धर्मोपदेश)के अर्थको जिधर जिधरसे प्रज्ञासे परखे; उधर उधरसे ही सन्तोषको पावेगा, चित्तकी प्रसन्नताको ही पावेगा। भन्ते ! क्या नाम है, इस धर्मपर्यायका ?"

"तो आनन्द ! तू इस धर्मपर्यायको मधु-पिंड-धर्मपर्यायहीके नामसे धारण कर।"

"भगवान्‌ने यह कहा, सन्तुष्ट हो आयुष्मान् आनन्दने भगवान्‌के भाषणको अभिनंदित किया।

१९—द्वेधा-वितक्क-सुत्तन्त (१।२।९)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथपिंडिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे। वहाँ भगवान्ने भिक्षुओंको सम्बोधित किया—भिक्षुओ !"

"भदन्त !" (कह) उन भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया !

भगवान्ने यह कहा—"भिक्षुओ ! संबोध (= बुद्धत्व-प्राप्ति)से पूर्वभी, बोधि-सत्त्व होते वक्त मेरे (मनमें) ऐसा होता था—'क्यों न दो टूक (= द्वेधा) वितर्क करते करते मैं विहरूँ।' सो भिक्षुओ ! जो काम-वितर्क, व्यापाद-वितर्क, विहिंसा-वितर्क (= हिंसाके विषयमें मनमें तर्क वितर्क) इन (तीनों)को मैंने एक भागमें किया; और जो नैष्काम्य (= फलकी इच्छासे रहित कर्म करना)-वितर्क, अव्यापाद-वितर्क, अवि-हिंसा वितर्क इन (तीनों)को एक भागमें किया।

"भिक्षुओ ! सो इस प्रकार प्रमाद-रहित, आतापी (= उद्योगी), प्रहितत्ता (= आत्म संयमी) हो विहरते (भी) मुझे काम-वितर्क उत्पन्न होता था। सो मैं इस प्रकार जानता था—उत्पन्न हुआ यह मुझे काम-वितर्क, और यह आत्म-व्यावाधा (= अपनेको पीड़ित करने)के लिये है, पर-व्यावाधाके लिये है, उभय (= आत्म-पर-) व्यावाधाके लिये है। (यह) प्रज्ञा-निरोधक (= ज्ञानका नाशक), विघात-पक्षिक (= हानिके पक्षका), निर्वाणको नहीं ले जानेवाला है। आत्म-व्यावाधाके लिये है—यह सोचते भिक्षुओ ! (वह) अस्त हो जाता था। पर-व्यावाधाके लिये है ०। उभय-व्यावाधाके लिये है ०। प्रज्ञा-निरोधक, विघात-पक्षिक, न-निर्वाण-संवर्तनिक—यह सोचते भिक्षुओ ! (वह) अस्त हो जाता था। सो मैं भिक्षुओ ! वार वार उत्पन्न होनेवाले काम-वितर्कोंको छोड़ता ही था, हटाता ही था, अलग करता ही था।

"भिक्षुओ ! सो इस प्रकार ०[1] व्यापाद-वितर्क उत्पन्न होता था ०।[1]

"भिक्षुओ ! सो इस प्रकार ०[1] विहिंसा-वितर्क ०[1]।

"भिक्षुओ ! भिक्षु जैसे जैसे ही अधिकतर अनुवितर्क (= वितर्क) करता है, अनुविचार (= विचार) करता है; वैसे ही वैसे चित्तको झुकना होता है। यदि भिक्षुओ ! भिक्षु काम-वितर्कको अधिकतर अनुवितर्क करता है, अनुविचार करता है; तो वह निष्काम (= कामना-रहित वितर्क)को छोड़ता है, और काम-वितर्कको बढ़ाता है; (और) उसका चित्त काम-वितर्ककी ओर झुकता है। यदि भिक्षुओ ! भिक्षु व्यापाद-वितर्क ०; तो वह अ-व्यापाद वितर्कको छोड़ता है; ०। यदि भिक्षुओ ! भिक्षु विहिंसा (= हिंसा)-वितर्कको ०, तो वह अ-विहिंसा (= अहिंसा)-वितर्कको छोड़ता है; ०। जैसे भिक्षुओ ! वर्षाके अन्तिम मासमें शरद्-कालमें (जब चारों ओर)

---

[1] ऊपरके पैरा जैसा पाठ।

फसल भरी रहती है (उस समय) ग्वाला (अपनी) गायोंकी रखवाली करता है, वह उन गायोंको वहाँ वहाँसे डंडेसे हाँकता है, मारता है, रोकता है, निवारता है। सो किस हेतु ?—भिक्षुओ! वह ग्वाला उस (खेतोंमें चरने)के कारण वध, वन्धन, हानि या निन्दा (होने)को देखता है; ऐसे ही भिक्षुओ! मैंने अकुशल-धर्मों (=बुराइयों)के दुष्परिणाम, अपकार, संक्लेश (=मैल)को; (और) कुशल-धर्मों (=अच्छे कामों)की निष्कामतामें सुपरिणाम (=आनृशंस्य) और परिशुद्धताका संरक्षण देखता था।

"भिक्षुओ! सो इस प्रकार प्रमाद-रहित ०[1] विहरते निष्कामता-वितर्क उत्पन्न होता था। सो मैं इस प्रकार जानता था—'उत्पन्न हुआ यह मुझे निष्कामता-वितर्क; और वह न आत्म-व्यावाधा (=आत्म-पीड़ा)के लिये है, न पर-व्यावाधाके लिये है, न उभय (=आत्म-पर) व्यावाधाके लिये है। यह प्रज्ञा-वर्द्धक है, अ-विघात (=अ-हानि)-पक्षिक, और निर्वाणको ओर ले जानेवाला है। रातको भी भिक्षुओ! यदि मैं उसे अनुवितर्क करता, अनुविचार करता, (तो भी) उसके कारण भय नहीं देखता। दिनको भी ०। रात-दिनको भी ०। किन्तु, बहुत देर तक अनुवितर्क; अनुविचार करते मेरी काया क्लान्त (=थकी) हो जाती; कायाके क्लान्त होने पर चित्त अपहत (=शिथिल) हो जाता; चित्तके अपहत होने पर चित्त समाधिसे दूर (हट) जाता था। सो मैं भिक्षुओ! अपने भीतर (=अध्यात्म) ही चित्तको स्थापित करता था, बैठाता था, एकाग्र करता था, समाहित करता था। सो किस हेतु ?—मेरा चित्त (कहीं) अपहत न हो जाये।

"सो इस प्रकार प्रमाद-रहित ०[1] विहरते अ-व्यापाद-वितर्क उत्पन्न होता था ०[2]। ०[2] अ-विहिंसा-वितर्क उत्पन्न होता था ०[3]।

"भिक्षुओ! भिक्षु जैसे-जैसे ही अधिकतर अनुवितर्क करता है[4] ०। यदि भिक्षुओ! भिक्षु निष्कामता-वितर्कका अधिकतर अनुवितर्क करता है ०[4], तो वह कामवितर्कको छोड़ता है, और निष्कामता-वितर्कको बढ़ाता है; (और) उसका चित्त निष्कामता-वितर्ककी ओर झुकता है। यदि भिक्षुओ! भिक्षु अ-व्यापाद-वितर्क ०, तो वह व्यापाद-वितर्कको छोड़ता है, और अ-व्यापाद-वितर्कको बढ़ाता है; और उसका चित्त अ-व्यापाद-वितर्ककी ओर झुकता है। यदि भिक्षुओ! भिक्षु अ-विहिंसा-वितर्क ०, तो वह विहिंसा-वितर्कको छोड़ता है, और अ-विहिंसा-वितर्कको बढ़ाता है; और उसका चित्त अ-विहिंसा-वितर्ककी ओर झुकता है। जैसे भिक्षुओ! ग्रीष्मके अन्तिम मासमें, जब सभी फसल (=सस्य) जमाकर गाँवमें चली जाती हैं, ग्वाला गायोंको रखता है; वृक्षके नीचे या चौड़ेमें रह कर उन्हें केवल याद रखना होता है—'यह गायें हैं'; ऐसे ही भिक्षुओ! याद रखना (मात्र) होता था—'यह धर्म हैं'। भिक्षुओ! मैंने न दबनेवाला वीर्य (=उद्योग) आरम्भ कर रक्खा था, न भूलनेवाली स्मृति (मेरे) सम्मुख थी, शरीर (मेरा) अचंचल, शान्त था, चित्त समाहित=एकाग्र था।

"सो मैं भिक्षुओ! कामोंसे विरहित ०[5] **प्रथम-ध्यानको** प्राप्तहो विहरने लगा। ०[5] **द्वितीय ध्यानको** ०[5]। तृतीय-ध्यानको। ०[5] ०[5] चतुर्थ-ध्यानको ०[5]। ०[5] (=पूर्व-निवासाऽनु-स्मृति)[5]। ०[5] प्राणियोंके च्युति-उत्पादके ज्ञानके लिये ०[5]। ०[5] आस्रवोंके क्षयके ज्ञानके लिये ०[5]।

---

[1] देखो पृष्ठ ७४। [2] ऊपरके पैरा जैसा। [3] ऊपरके पैरा जैसा। [4] देखो पृष्ठ ७४।

[5] देखो पृष्ठ १५।

"जैसे भिक्षुओ ! (किसी) महावनमें गहरा महान् जलाशय (= पल्वल) हो, (और) उसका आश्रय ले महान् मृगोंका समूह विहार करता हो। कोई पुरुष उस (मृग-समूह)का अनर्थ-आकांक्षी अ-हित-आकांक्षी = अ-योग-क्षेम-आकांक्षी उत्पन्न होवे। वह उस (मृगसमूह)के क्षेम (= सु-रक्षित), कल्याणकारक, प्रीतिपूर्वक गन्तव्य मार्गको बन्द कर दे, और अकेले चलने लायक (= एक चर) कुमार्गको खोल दे, और एक-चारिका (= जाल) रख दे। इस प्रकार वह महान् मृगसमूह दूसरे समयमें विपत्तिमें तथा क्षीणताको प्राप्त होवे। और भिक्षुओ ! उस महान् मृगसमूहका कोई पुरुष हिताकांक्षी = योग-क्षेमकांक्षी उत्पन्न होवे। वह उस (मृग-समूह)के क्षेम ० मार्गको खोल दे, एक-चर कुमार्गको बन्द कर दे और एक चारिका (= जाल)का नाश कर दे। इस प्रकार वह महान् मृगसमूह दूसरे समय वृद्धि = विरूढ़ि (और) विपुलताको प्राप्त होवे।

"भिक्षुओ ! अर्थके समझाने (= विज्ञापन)के लिये मैंने उपमा (= दृष्टान्त) कही। यहाँ यह अर्थ है। भिक्षुओ ! 'गहरा महान् जलाशय' यह कामों (= कामनाओं, भोगों)का नाम है। 'महान् मृगसमूह' यह प्राणियोंका नाम है। अनर्थाकांक्षी अहिताकांक्षी अयोग-क्षेमाकांक्षी पुरुष यह मार = बुराइयाँ (= पाप्मा)का नाम है। कुमार्ग यह आठ प्रकारके मिथ्या मार्ग हैं; जैसे—(१) मिथ्या दृष्टि (= झूठी धारणा), (२) मिथ्या-संकल्प, (३) मिथ्या-वचन, (४) मिथ्या कर्मान्त (= ० कायिककर्म), (५) मिथ्या-आजीव (= ० जीविका), (६) मिथ्या व्यायाम (= ० कोशिश), (७) मिथ्या स्मृति, (८) मिथ्या समाधि। 'एकचर', भिक्षुओ ! यह नन्दी = रागका नाम है। 'एक चारिका' भिक्षुओ ! यह अविद्याका नाम है। भिक्षुओ ! अर्थाकांक्षी, हिताकांक्षी, योग-क्षेमाकांक्षी पुरुष—यह तथागत अर्हत् सम्यक् संबुद्धका नाम है। क्षेम = स्वस्तिक ०, प्रीति-गमनीय मार्ग, यह आर्य-अष्टांगिक-मार्गका नाम है, जैसे कि—(१) सम्यक् दृष्टि, (२) सम्यक्-संकल्प, (३) सम्यग् वचन, (४) सम्यक् कर्मान्त, (५) सम्यगाजीव, (६) सम्यग् व्यायाम (७) सम्यक् स्मृति, (८) सम्यक् समाधि। इस प्रकार भिक्षुओ ! मैंने क्षेम = स्वस्तिक, प्रीति-गमनीय मार्गको खोल दिया; दोनों ओरसे एक-चर कुमार्गको बन्द कर दिया, एक-चारिका (= अविद्या)को नाश कर दिया। भिक्षुओ ! श्रावकोंके हितैषी, अनुकम्पक, शास्ताको अनुकम्पा करके जो करना था, वह तुम्हारे लिये मैंने कर दिया। भिक्षुओ ! यह वृक्ष-मूल हैं, यह सूने घर हैं, ध्यानरत होओ। भिक्षुओ मत प्रमाद करो, मत पीछे अफसोस करनेवाले बनना—यह तुम्हारे लिये हमारा अनुशासन है[१]।"

भगवान्‌ने यह कहा, सन्तुष्ट हो उन भिक्षुओंने भगवान्‌के भाषणका अनुमोदन किया।

---

[१] देखो पृष्ठ २९।

२०—वितक्क-सण्ठान-सुत्तन्त (१।२।१०)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें, अनाथपिंडिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे। वहाँ भगवान्ने भिक्षुओंको संबोधित (= आमंत्रित) किया—"भिक्षुओ !"

"भदन्त !"—(कह) उन भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया !

भगवान्ने यह कहा—"भिक्षुओ ! चित्त (के अनुशीलन) में लग्न भिक्षुको पाँच निमित्तों (= आकारों)का समय-समय पर मनमें (चिन्तन) करना चाहिये। कौनसे पाँच ?—यहाँ भिक्षुओ ! भिक्षुको जिस निमित्तको लेकर, निमित्तको मनमें करके राग-द्वेष-मोह वाले पापक-अकुशल (= बुरे) वितर्क (= ख्याल) उत्पन्न होते हैं; भिक्षु······उस निमित्तको (छोड़) दूसरे कुशल-सम्बन्धी निमित्तको मनमें करे। उसके उस निमित्तको (छोड़) दूसरे कुशल-सम्बन्धी निमित्तको मनमें करते छन्द-सम्बन्धी ० अकुशल वितर्क नष्ट होते हैं, अस्त होते हैं; उनके नाशसे अपने भीतर ही चित्त ठहरता है, स्थिर होता है, एकाग्र होता है, समाहित होता है। जैसे भिक्षुओ ! चतुर पलगण्ड (= राज) या पलगण्डका अन्तेवासी (= शागिर्द) सूक्ष्म आणी (= चूर ?) से मोटी आणीको निकाल ले (= अभिनीहरण करे) = अभिनिवर्जन करे; ऐसे ही भिक्षुओ ! भिक्षु जिस निमित्तको लेकर ० समाहित होता है।

"भिक्षुओ ! उस भिक्षुको उस निमित्तको (छोड़) दूसरे कुशल-सम्बन्धी निमित्तको मन में करने पर भी यदि छन्द-सम्बन्धी ० अकुशल वितर्क उत्पन्न होते ही हैं; तो भिक्षुओ ! उस भिक्षुको उन वितर्कोंके आदिनव (= कारण, दुष्परिणाम)की जाँच करनी चाहिये—यह मेरे वितर्क अकुशल हैं, यह मेरे वितर्क सावद्य (= दोष-युक्त) हैं, यह मेरे वितर्क दुःख-विपाक (= दुःखद) हैं। उन वितर्कोंके आदिनवकी परीक्षा करनेपर उसके राग ० बुरे ख्याल नष्ट होते हैं, अस्त होते हैं; उनके नाशसे चित्त अपने ही भीतर ठहरता है ०[1]। जैसे, कि भिक्षुओ ! मंडन (= विभूषण) पसन्द करनेवाला अल्पवयस्क तरुण पुरुष या स्त्री मरे साँप, या मरे कुत्ता, या आदमीके मुर्देके कंठमें लग जानेसे घृणा = जुगुप्सा करे; ऐसे ही भिक्षुओ ! यदि उस भिक्षुको उस निमित्तको छोड़ ०।

"भिक्षुओ ! यदि उस भिक्षुको उन वितर्कोंके आदिनवको जाँचते हुये भी छन्द-सम्बन्धी ० अकुशल वितर्क उत्पन्न होते ही हैं; तो भिक्षुओ ! उस भिक्षुको उन वितर्कोंको यादमें लाना नहीं चाहिये, मनमें न करना चाहिये। उन वितर्कोंको यादमें न लानेसे मनमें न करनेसे, उसके रागवाले ०[2] बुरे वितर्क (= ख्याल) नाश होते हैं, उनके नाशसे चित्त अपने ही भीतर ठहरता है ०[2]। जैसे

---

[1] देखो पिछला पैरा। [2] देखो पूर्व पैरा।

कि भिक्षुओ ! नजरके सामने आने वाले रूपोंके देखनेका अनिच्छुक आँख-वाला आदमी (आँखोंको) मूँद ले, या दूसरी ओर देखने लगे; ऐसे ही भिक्षुओ ! यदि उस भिक्षुको उन वितर्कोंको जाँचते हुये भी ०।

"भिक्षुओ ! यदि उस भिक्षुको उन वितर्कों (= ख्यालों) के मनमें न लाने, मनमें न करनेसे भी रागवाले ० बुरे ख्याल (= वितर्क) उत्पन्न होते ही हैं; तो भिक्षुओ ! उस भिक्षुको उन वितर्कों (= ख्यालों) के संस्कारका संस्थान (= आकार) मनमें करना चाहिये। उन वितर्कोंके वितर्क-संस्कार-संस्थान (मात्र) को मनमें लानेसे उसके रागवाले ०[1] बुरे ख्याल नाश होते हैं ०[1]। जैसे कि भिक्षुओ ! पुरुष शीघ्र जाता हो, उसको ऐसा हो—काहे मैं शीघ्र जाता हूँ, क्यों न धीरे से चलूँ, फिर वह धीरे धीरे जाये। उसको ऐसा हो—क्यों मैं धीरे धीरे चलता हूँ, क्यों न मैं बैठ जाऊँ, फिर वह बैठ जाये। उसको ऐसा हो—क्यों मैं बैठा हूँ, क्यों न मैं लेट जाऊँ, फिर वह लेट जाये। ऐसे ही भिक्षुओ ! वह पुरुष मोटे ईर्यापथ (= शारीरिक गति) से हटकर सूक्ष्म ईर्यापथको स्वीकार करे; ऐसे ही भिक्षुओ ! यदि उस भिक्षुको उन वितर्कोंके मनमें न लाने ०[2]।

"भिक्षुओ ! यदि उस भिक्षुको उन वितर्कोंके वितर्क-संस्कार-संस्थानको मनमें करनेसे भी ०[2]; तो भिक्षुओ ! उस भिक्षुको दाँतोंको दाँतों पर रख कर, जिह्वाको तालूसे चिपटा कर, चित्तसे चित्तका निग्रह करना चाहिये, सन्तापन करना, निष्पीडन करना चाहिये, उसके ० निष्पीडन करनेसे, उसके रागवाले ०[2] बुरे ख्याल नाश होते हैं ०[2]। जैसे भिक्षुओ ! बलवान् पुरुष दुर्बल पुरुषको शिरसे, या कन्धेसे, पकड़ कर, निग्रहीत करे, निष्पीड़ित करे, सन्तापित करे; ऐसे ही भिक्षुओ ! वह भिक्षु उन वितर्कोंके वितर्क-संस्कार-संस्थानके मनमें करनेसे भी ०[2]।

"चूंकि भिक्षुओ ! भिक्षुको जिस निमित्तको लेकर, जिस निमित्तको मनमें करके, राग-द्वेष-मोह वाले बुरे ख्याल पैदा होते हैं; उस निमित्तको छोड़ ०[3] दूसरे ० निमित्तको मनमें करनेसे ० चित्त ० समाहित होता है। उन वितर्कोंके आदिनव (= दुष्परिणाम) की जाँच करनेसे राग ० वाले बुरे ख्याल नष्ट होते हैं ०[4] चित्त ० समाहित होता है। उन वितर्कोंके यादमें न लानेसे मनमें न करनेसे ०[4] चित्त समाहित होता है, उन वितर्कोंके वितर्क-संस्कार-संस्थानको मनमें करने-से ०[4] चित्त समाहित होता है। दाँतोंको दाँतों पर रख कर ०[4] निष्पीड़न करनेसे ०[4] चित्त समाहित होता है। भिक्षुओ ! ऐसा भिक्षु वितर्क (= ख्याल) के नाना मार्गोंको वशमें करनेवाला कहा जाता है। वह जिस वितर्कको चाहेगा, उसका वितर्क करेगा, जिस···को नहीं चाहेगा··· नहीं वितर्क करेगा। (उसने) तृष्णा (रूपी) बंधनको हटा दिया; अच्छी प्रकार जान कर साक्षात् कर, दुःख का अन्त कर दिया।"

भगवान्‌ने यह कहा, सन्तुष्ट हो उन भिक्षुओंने भगवान्‌के भाषणका अभिनन्दन किया।

(२-इति सीहनाद वग्ग १।२)।

---

[1] देखो पूर्व पैरा। [2] देखो पिछला पैरा। [3] देखो पृष्ठ ७७।
[4] देखो पृष्ठ ७७।

२१–ककचूपम-सुत्तन्त (१।३।१)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथपिंडिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे। उस समय आयुष्मान् मोलिय फग्गुण भिक्षुणियोंके साथ अत्यधिक संसर्ग रखते थे। इतना संसर्ग रखते थे,···कि यदि···(उनके) सामने कोई भिक्षुणियोंकी शिकायत करता, तो उससे आयुष्मान् मोलिय फग्गुण कुपित = असन्तुष्ट हो अधिकरण (= संघके सामने अभियोग) भी करते। यदि कोई उन भिक्षुणियोंके सामने आयुष्मान् मोलिय फग्गुणकी शिकायत करता, तो वह (भी) कुपित असन्तुष्ट हो अधिकरण करतीं।···।

तब कोई भिक्षु जहाँ भगवान् थे, वहाँ···जाकर, भगवान्‌को अभिवादन कर,···एक ओर बैठ···भगवान्‌से बोला—

"भन्ते! आयुष्मान् मोलिय फग्गुण भिक्षुणियोंके साथ अत्यन्त संसर्ग रखते हैं ०।"

तब भगवान्‌ने एक भिक्षुको संबोधित किया—

"आओ भिक्षु! तुम मेरे वचनसे मोलिय फग्गुण भिक्षुको कहो—'आवुस फग्गुण! (= फाल्गुण)! शास्ता तुम्हें बुला रहे हैं'।"

"अच्छा, भन्ते!" (कह) भगवान्‌को उत्तर दे, वह भिक्षु···आयुष्मान् मोलिय फग्गुणके पास जाकर यह बोला—

"आवुस फग्गुण! तुम्हें शास्ता बुला रहे हैं।"

"अच्छा आवुस!" कह···आयुष्मान् मोलिय फग्गुण···भगवान्‌के पास जाकर,...एक ओर बैठ गये।

एक ओर बैठे आयुष्मान् ० फग्गुणको भगवान्‌ने यह कहा—"फग्गुण! सचमुच ही तू भिक्षुणियोंके साथ अत्यन्त संसर्ग रखता है, ० कुपित असन्तुष्ट हो अधिकरण करती हैं?"

"हाँ, भन्ते!"

"क्यों फग्गुण! तू कुलपुत्र (हो) श्रद्धापूर्वक घरसे बेघर बन प्रव्रजित हुआ है?"

"हाँ, भन्ते!"

"फग्गुण! यह तेरे समान श्रद्धापूर्वक घरसे बेघर हो प्रव्रजित कुलपुत्रके लिए योग्य नहीं, कि तू भिक्षुणियोंके साथ अत्यन्त संसर्ग रक्खे। इसलिए फग्गुण! चाहे तेरे सामने भी कोई भिक्षुणियोंकी शिकायत करे, तो फग्गुण! जो तेरे भीतर घर किये राग हैं, जो घर किये वितर्क (= ख्याल) हैं, उनको छोड़ देना। वहाँ फग्गुण! तुझे इस प्रकार सीखना चाहिये—'मेरे चित्तमें विकार नहीं आने पायेगा, दुर्वचन मैं मुँहसे नहीं निकालूँगा, द्वेषरहित हो मैत्रीभावसे हित और अनुकम्पक हो विहरूँगा'। इस प्रकार फग्गुण! तुझे सीखना चाहिये। इसलिये फग्गुण! चाहे तेरे

सामने कोई उन भिक्षुणियोंको हाथसे पीटे भी, ढेलेसे···, दण्डसे···, शस्त्रसे प्रहार भी करे, तो भी फग्गुण! जो तेरे भीतर घर किये राग हैं ० अनुकम्पक हो विहरूँगा। इस प्रकार फग्गुण! ०। इसलिये फग्गुण! चाहे तेरे सामने ० शिकायत करें; ०। चाहे तेरे सामने ० प्रहार भी करें ०। ० सीखना चाहिये।"

तव भगवान्‌ने उन भिक्षुओंको संबोधित किया—

"भिक्षुओ! एक वार भिक्षुओंने मेरे चित्तको प्रसन्न (= आराधित) किया था। एक वार भिक्षुओ! मैंने भिक्षुओंको संबोधित किया···'भिक्षुओ! मैं एकासन (एक-) भोजन सेवन करता हूँ।···एकासन-भोजनका सेवन करते मैं स्वास्थ्य, निरोग, स्फूर्ति, वल और प्राशुविहार (= सुखपूर्वक रहना) (अपनेमें) पाता हूँ। आओ। भिक्षुओ! तुम भी एकासन भोजन-सेवन···कर स्वास्थ्य ० को प्राप्त करो'। भिक्षुओ! उन भिक्षुओंको मुझे अनुशासन (= उपदेश) करनेकी आवश्यकता नहीं थी।···उन भिक्षुओंको याद दिला देना भर ही मेरा काम था। जैसे भिक्षुओ! उद्यान (= सुभूमि)में चौरस्तेपर कोड़ा सहित, घोड़े जुता आजानेय (= उत्तम घोड़ों)का रथ खड़ा हो, उसे एक चतुर रथाचार्य, अश्वको दमन करनेवाला सारथी चढ़कर, वायें हाथ से जोत (= रश्मि)को पकड़ कर, दाहिने हाथमें कोड़ेको ले, जैसे चाहे, जिधर चाहे लेजाये लौटावे; ऐसे ही भिक्षुओ! उन भिक्षुओंको मुझे अनुशासन करनेकी आवश्यकता न थी ० मेरा काम था।

"इसलिये भिक्षुओ! तुम भी अकुशल (= बुराई)को छोड़ो। कुशल धर्मों (= नेकियों)में लगो। इस प्रकार तुम भी इस धर्म···में वृद्धि = विरूढ़ि, विपुलताको प्राप्त होगे। जैसे भिक्षुओ! गाँव या निगम (= कस्बे)के पास (= अ-विदूर) फलंगों (= सघनता)से आच्छादित महान् शाल (= साखू)-वन हो; उसका कोई अर्थकारी = हितकारी = योगक्षेमकारी पुरुष उत्पन्न हो; वह उस शालके रस (= ओज)की अपहरण करनेवाली टेढ़ी यष्टियोंको काटकर वाहर ले जाये, वनके भीतरी भागको अच्छी तरह साफ करदे; और जो शाल-यष्टियाँ सीधी सुन्दर तौरसे निकली हैं, उन्हें अच्छी तरह रक्खे। इस प्रकार भिक्षुओ! वह शाल वन दूसरे समय पीछे वृद्धि = विरूढ़ि = विपुलताको प्राप्त होवे। ऐसे ही भिक्षुओ! तुमभी बुराईको छोड़ो ० विपुलताको प्रात होगे।

"भिक्षुओ! भूतकालमें इसी श्रावस्तीमें वैदेहिका नामक गृह-पत्नी (= गृहस्थ स्त्री, वैश्य स्त्री) थी। वैदेहिका गृहपत्नीकी ऐसी मंगल कीर्ति फैली हुई थी—वैदेहिका गृहपत्नी सोरता (= सुरत) है; निवाता (= निष्कलह) है, उपशान्त है। वैदेहिका गृहपत्नीके पास काली नामक दक्ष, आलस्यरहित, अच्छे प्रकार काम करनेवाली दासी थी। तव भिक्षुओ! काली दासीके (मनमें) यह हुआ—'मेरी आर्या (= अय्या = स्वामिनी)की ऐसी मंगलकीर्ति फैली हुई है— ०। क्या मेरी आर्या भीतरमें क्रोधके विद्यमान रहते उसे प्रकट नहीं करती, या अविद्यमान रहते? चूँकि मेरे काम अच्छी तरह किये होते हैं, इसलिये मेरी अय्या भीतरमें क्रोध होते हुये भी प्रकट नहीं करती, नहीं है (यह वात) नहीं। क्यों न मैं अय्याकी परीक्षा करूँ।' तव भिक्षुओ! काली दासी दिन (चढ़ने पर) उठी। तव भिक्षुओ! वैदेहिका गृहपत्नीने काली दासीसे यह कहा—'अरे हे काली!'

'क्या है अय्या!'

'क्यों रे दिन चढ़ने पर उठी है?'

'कुछ नहीं अय्या!'

'कुछ नहीं रे! (यह) हमारी दुष्टा दासी दिन (चढ़ने पर) उठती है'—(कह) कुपित,

असन्तुष्ट हो भौवें टेढ़ी करली।

"तब भिक्षुओ! काली दासीको यह हुआ—'मेरी अय्या भीतरमें क्रोधके विद्यमान रहते उसे प्रकट नहीं करती, अविद्यमान रहते नहीं; ० नहीं है (यह बात) नहीं। क्यों न मैं फिर अय्या को अच्छी तरह परखूँ।' तब भिक्षुओ! काली दासी और दिन (चढ़ाकर) उठी। तब वैदेहिका गृहपत्नीने काली दासीसे यह कहा—

'अरे हे काली!'

'क्या है अय्या!'

'क्यों रे! और दिन (चढ़ाकर) उठी है?'

'कुछ नहीं अय्या!'

'कुछ नहीं रे! (यह) हमारी दुष्टा दासी और दिन (चढ़ाकर) उठती है'—(कह) कुपित असन्तुष्ट हो भौवें टेढ़ी कर कटुवचन कहा। तब भिक्षुओ! काली दासीको यह हुआ—'मेरी अय्या भीतरमें क्रोधके विद्यमान रहते ० नहीं है (यह बात) नहीं। क्यों न मैं फिर अय्याको अच्छी तरह परखूँ।' तब भिक्षुओ! काली दासी और दिन (चढ़ाकर) उठी। फिर भिक्षुओ! वैदेहिका गृहपत्नीने काली दासीसे यह कहा—

'अरे हे काली!'

'क्या है अय्या!'

'क्यों रे! और भी दिन चढ़ाकर उठी है?'

'कुछ नहीं अय्या!'

'कुछ नहीं रे! (यह) हमारी दुष्टा दासी और भी दिन चढ़ाकर उठती है।'—(कह) कुपित असन्तुष्ट हो, किवाड़की विलाई (= सूची) उठाकर उसे मारा। शिर फूट गया। तब भिक्षुओ! काली दासीने फूटे शिरसे लोहू वहाते पड़ोसियोंको चिल्ला कर कहा—'देखो अय्या! सौरताके कामको! देखो अय्या! निवाताके कामको!! देखो अय्या! उपशान्ताके कामको!!! कैसे (कोई) अकेली दासीको 'तू दिन (चढ़े) उठी'—(कह) कुपित असन्तुष्ट हो किवाड़की विलाई (= सूची) उठाकर मारेगी, और शिरको फोड़ डालेगी!!!' तब भिक्षुओ! वैदेहिका गृहपत्नीके इस प्रकारके अपकीर्तिके शब्द फैले—'धिक्कार है, वैदेहिका गृहपत्नीको! अ-सौरता है वैदेहिका गृहपत्नी, अ-निवाता है ०, अन्-उपशान्ता है वैदेहिका गृहपत्नी।'

"इसी प्रकार भिक्षुओ! यहाँ एक भिक्षु तभीतक सोरत रहता है, निवात (= निष्कलह) उपशान्त, होता है, जब तक अप्रिय शब्द-पथमें वह नहीं पड़ता; जब (उस) भिक्षुपर अ-प्रिय शब्द-पथ पड़ता है, तबभी (रहे) तो (उसे) सोरत जानना चाहिये, निवात ०, उपशान्त जानना चाहिये। भिक्षुओ! मैं उस भिक्षुको सुवच नहीं कहता, जो कि चीवर, भिक्षान्न, शयन-आसन, रोगीके पथ्य-औषध सामग्रीके कारण सुवच होता है, मृदु-भाषिताको प्राप्त होता है। सो किस हेतु?—भिक्षुओ! (वह) भिक्षु, चीवर, पिंडपात (= भिक्षान्न) शयन-आसन, रोगीके पथ्य-औषधि सामग्रीके न मिलनेपर सुवच नहीं होता है, न मृदुभाषिताको प्राप्त होता है। सो किस हेतु?—भिक्षुओ! (वह) भिक्षु, चीवर, पिंडपात (= भिक्षान्न), शयन-आसन, रोगीके पथ्य-औषध-सामग्रीके न मिलने पर सुवच नहीं रहेगा, न मृदुभाषिताको रक्खेगा। भिक्षुओ! जो भिक्षु केवल धर्मका सत्कार करते, ० गुरुकार करते, ० पूजा करते, सुवच होता है, मृदुभाषिताको प्रात होता है, उसे मैं सुवच कहता हूँ। इसलिये भिक्षुओ! तुम्हें इस प्रकार सीखना चाहिये—

'केवल धर्मका सत्कार करते ० पूजा करते सुवच होऊँगा, मृदुभाषिता (सौवचस्यता)को प्राप्त होऊँगा । भिक्षुओ ! तुम्हें इस प्रकार सीखना चाहिये ।

"भिक्षुओ ! यह पाँच वचन-पथ (= वात कहनेके मार्ग) हैं, जिनसे कि दूसरे तुमसे वात करते वोलते हैं—(१) कालसे या अकालसे; (२) भूत (= यथार्थ)से या अ-भूतसे; (३) स्नेहसे या परुषता (कटुता)से; (४) सार्थकतासे या निरर्थकतासे; (५) मैत्रीपूर्ण चित्तसे या द्वेषपूर्ण चित्तसे । भिक्षुओ ! चाहे दूसरे कालसे वात करें, या अकालसे; ० भूतसे ०; ० स्नेहसे ०; सार्थकतासे ०; ० मैत्रीपूर्णचित्तसे वात करें, या द्वेषपूर्णचित्तसे; वहाँ भिक्षुओ ! तुम्हें इस प्रकार सीखना चाहिये—मैं अपने चित्तको विकार-युक्त न होने दूँगा, और न दुर्वचन (मुँहसे) निकालूँगा, मैत्री भावसे हितानुकम्पी होकर विहरूँगा, न कि द्वेषपूर्ण चित्तसे । उस (विरोधी) व्यक्तिको भी मैत्री-पूर्ण चित्तसे आप्लावित कर विहरूँगा । उसको लक्ष्य (= आरम्मण) करके सारे लोकको विपुल, विशाल, = अप्रमाण मैत्रीपूर्ण चित्तसे आप्लावितकर, अ-वैरता = अ-व्यापादिता (= द्रोह-रहितता)से परिप्लावित कर विहरूँगा ।—इस प्रकार भिक्षुओ ! तुम्हें सीखना चाहिये ।

"जैसे भिक्षुओ ! (कोई) पुरुष (हाथमें) कुदाल लेकर आये, और वह ऐसा कहा—मैं इस महा-पृथिवीको अ-पृथिवी करूँगा । वह वहाँ वहाँ खोदे, वहाँ वहाँ (मिट्टिको) फेंके, वहाँ वहाँ रक्खे, वहाँ वहाँ छोड़े—'(अव) तू अ-पृथिवी हुई, (अव) तू अ-पृथिवी हुई' । तो क्या मानते हो भिक्षुओ ! क्या वह पुरुष इस महापृथिवीको अ-पृथिवी कर सकेगा ?"

"नहीं भन्ते !"

"सो किस हेतु ?"

"भन्ते ! यह महापृथिवी गम्भीर है, अ-प्रमेय है, यह अ-पृथिवी (= पृथिवीका अभाव) नहीं की जा सकती, वह पुरुष (नाहकमें) हैरानी और परेशानीका भागी होगा ।"

"ऐसे ही भिक्षुओ ! यह पाँच वचन-पथ जिनके द्वारा दूसरे तुम्हें वोलेंगे—(१) काल से या अकालसे ० उसको लक्ष्य मानकर सारे लोकको पृथिवीके समान, विपुल, विशाल ०[1] अवैरतासे, परिप्लावित कर विहरूँगा ।—इस प्रकार भिक्षुओ ! तुम्हें सीखना चाहिये ।

"जैसे भिक्षुओ ! (कोई) पुरुष लाख या हल्दी या नील, या मजीठ लेकर आये, (और) यह कहे—'मैं इस आकाशमें रूप (= चित्र) लिखूँगा, रूप प्रकट करूँगा' । तो क्या मानते हो भिक्षुओ ! क्या वह पुरुष इस आकाशमें रूप लिख सकेगा ? रूप प्रकट कर सकेगा ?"

"नहीं भन्ते !"

"सो किस हेतु ?"

"भन्ते ! यह आकाश अ-रूपी = अ-दर्शन (= अ-निदर्शन) है, यहाँ रूप लिखना··· रूपका प्रादुर्भाव करना सुकर नहीं । वह पुरुष (नाहकमें) हैरानी और परेशानीका भागी होगा ।"

"ऐसे ही भिक्षुओ, यह पाँच वचन-पथ जिनके द्वारा दूसरे तुम्हें वोलेंगे—(१) कालसे ०[1], उसको लक्ष्य मानकर सारे लोकको आकाश-समान विपुल विशाल ०[1] विहरूँगा ।

—इस प्रकार भिक्षुओ ! तुम्हें सीखना चाहिये ।

"जैसे भिक्षुओ ! (कोई) पुरुष जलती तृणकी उल्का (= लुकारी)को लेकर आये, (और) यह कहे—'मैं इस तृण-उल्कासे गंगानदीको संतप्त करूँगा, परितप्त करूँगा' । तो क्या

---

[1] देखो ऊपर ।

मानते हो भिक्षुओ ! क्या वह पुरुष उस जलती तृण-उल्कासे गंगानदीको सन्तप्त कर सकेगा, परितप्त कर सकेगा ?"

"नहीं भन्ते !"

"सो किस हेतु ?"

"भन्ते ! गंगानदी गम्भीर है, अप्रमेय है; वह जलती तृण-उल्कासे नहीं सन्तप्त की जा सकती, परितप्त नहीं की जा सकती। वह पुरुष (नाहकमें) ०।

"ऐसे ही भिक्षुओ ! यह पाँच वचन-पथ, जिनके द्वारा दूसरे तुमसे बोलेंगे—(१) कालमें ०[1] उसको लक्ष्य मानकर सारे लोकको गंगा-समान विपुल विशाल ०[1] विहरूँगा।

"जैसे भिक्षुओ ! (एक) मर्दित, सुमर्दित, सु-परिमर्दित, मृदु, तूलवाली, खर्खराहट-रहित, भरभराहट-रहित बिल्लीके (चमड़ेकी) खाल (= भस्त्रा) हो। तब कोई पुरुष काठ या कठला (= ठीकरा) लेकर आये और बोले—मैं इस ० बिल्लीकी खालको (इस) काठ या कठलासे खुर्खुरी बनाऊँगा, भर्भरी बनाऊँगा। तो क्या मानते हो भिक्षुओ ! ०।

"नहीं भन्ते !"

"सो किस हेतु ?"

"भन्ते ! यह बिल्लीकी खाल मर्दित ०[2] है, काठ या कठलासे खुर्खुरी, भर्भरी नहीं बनाई जा सकती। वह पुरुष (नाहकमें) ०[2]।"

"ऐसे ही भिक्षुओ ! यह वचनपथ ०[2]—कालमें ०[2] उसको लक्ष्य मानकर सारे लोकको बिल्लीकी खालके समान ०[2] विहरूँगा'।

"भिक्षुओ ! चोर लुटेरे चाहे दोनों ओर मुठिया लगे आरेसे भी अंग अंगको चीरें, तो भी यदि वह मनको द्वेषयुक्त (= दूषित) करे, तो वह मेरा शासनकर (= उपदेशानुसार चलनेवाला) नहीं है। वहाँ पर भी भिक्षुओ ! ऐसा सीखना चाहिये—'मैं अपने चित्तको ०[3] अव्यापादितासे प्लावित कर विहरूगा। ऐसा भिक्षुओ ! तुम्हें सीखना चाहिये।

"भिक्षुओ ! तुम इस ककचूपम (= क्रकचोपम = आरेके दृष्टान्तवाले) उपदेशको बार बार मनमें करो। देखते हो भिक्षुओ ! उस वचनपथको अणु या स्थूल, जिसे तुम नहीं पसन्द करते ?

"नहीं भन्ते !"

"इसलिये भिक्षुओ ! इस क्रकचोपम उपदेशको निरन्तर मनमें करो, वह तुम्हें चिरकाल तक हित, सुखके लिये होगा।"

भगवान्ने यह कहा, सन्तुष्टहो उन भिक्षुओंने भगवान्के भाषणका अभिनन्दन किया।

[1] देखो पृष्ठ ८२। [2] देखो ऊपर। [3] देखो पृष्ठ ८२।

२२—अलगद्दूपम-सुत्तन्त (१।३।२)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथ-पिंडिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे। उस समय गन्धबाधि-पुब्ब (= भूतपूर्व गन्धबाधि = गिद्ध मारनेवाले) अरिष्ट (= अरिट्ठ) भिक्षुको ऐसी बुरी दृष्टि (= धारणा) उत्पन्न हुई थी—'मैं भगवान्‌के उपदेश किये धर्मको ऐसे जानता हूँ, जैसे कि जो (निर्वाण आदि के) अन्तरायिक (= विघ्नकारक) धर्म (= कार्य) भगवान्‌ने कहे हैं, सेवन करने पर भी वह अन्तराय (= विघ्न) नहीं कर सकते।' बहुतसे भिक्षुओंने सुना कि, अरिष्ट भिक्षुको ऐसी बुरी दृष्टि उत्पन्न हुई है—० अन्तराय नहीं कर सकते'। तब वह भिक्षु जहाँ ० अरिष्ट भिक्षु था, वहाँ गये, जाकर ० अरिष्ट भिक्षुसे यह बोले—

"आवुस अरिष्ट! सचमुच ही, तुम्हें इस प्रकारकी बुरी दृष्टि उत्पन्न हुई है—'० अन्तराय नहीं कर सकते ?"

"आवुसो! मैं भगवान्‌के उपदेश किये धर्मको ऐसे जानता हूँ ० अन्तराय नहीं कर सकते।"

तब वह भिक्षु ० अरिष्ट भिक्षुको उस बुरी दृष्टि (= धारण)से हटानेके लिये कहते, समझाते बुझाते थे—'आवुस अरिष्ट! मत ऐसा कहो, मत आवुस अरिष्ट ऐसा कहो। मत भगवान् पर झूठ लगाओ (= अभ्याख्यान करो), भगवान् पर झूठ लगाना अच्छा नहीं है। भगवान् ऐसा नहीं कह सकते। अनेक प्रकारसे भगवान्‌ने आवुस अरिष्ट! अन्तरायिक (= विघ्नकारक) धर्मोंको अन्तरायिक कहा है। सेवन करनेपर वह अन्तराय करते हैं—कहा है। भगवान्‌ने कामों (= भोगों)को बहुत दुःखदायक, बहुत परेशान करनेवाले कहा है। उनमें बहुत दुष्परिणाम (बतलाये हैं)। भगवान्‌ने कामोंको अस्थिकंकाल-समान[1] कहा, मांस-पेशी-समान ०, तृण-उल्का-समान ०, अंगारक (= अग्निचूर्ण)के समान ०, स्वप्न-समान ०, याचितकोपम (= मंगनीके आभूषणके समान) ०, वृक्ष-फल-समान[1] ०, असिसूनूपम शक्ति-शूल-समान ०, सर्प-शिर-समान ०, भगवान्‌ने कामोंको बहुत दुःखदायक ० बहुत दुष्परिणामी बतलाये हैं।"

उन भिक्षुओं द्वारा ० अरिष्ट भिक्षु ऐसा कहे जाने, समझाये बुझाये जाने पर भी उसी बुरी दृष्टिको दृढ़तासे पकड़ अभिनिवेश (= आग्रह) करके (उसे) व्यवहार करता था—"मैं भगवान्‌के उपदेश किये धर्मको ऐसे जानता हूँ ०[2] अन्तराय नहीं कर सकते।"

जब वह भिक्षु ० अरिष्ट भिक्षुको उस बुरी दृष्टिसे नहीं हटा सके; तब वह भगवान्‌के पास··· जाकर अभिवादन कर, एक ओर···बैठ···यह बोले—

---

[1] इन उपमाओंके लिये पोतलिय-सुत्त (मज्झिम नि० ५४) देखो। [2] देखो ऊपर।

"भन्ते! ० अरिष्ट भिक्षुको इस प्रकारकी बुरी दृष्टि उत्पन्न हुई है—'मैं भगवान्के ०' भन्ते ! हमने सुना, कि ० अरिष्ट भिक्षुको ० इस प्रकारकी बुरी दृष्टि उत्पन्न हुई है— '०' । तब हमने भन्ते !···अरिष्ट भिक्षुके पास···जाकर···यह पूछा—'आवुस अरिष्ट ! सचमुच ०[1] ? ऐसा कहने पर ० अरिष्ट भिक्षुने हमें यह कहा—'आवुसो ! मैं भगवान् ०[1] नहीं कर सकते'। तब भन्ते ! हम ० अरिष्ट भिक्षुको ० समझाते बुझाते थे—० । हमारे द्वारा ०[1] ऐसा ० समझाये जाने पर भी ०[1]— 'मैं भगवान्के ०' । जब हम भन्ते ! ० अरिष्ट भिक्षुको उस बुरी दृष्टिसे नहीं हटा सके, तब हम इसे भगवान्को कह रहे हैं ।"

तब भगवान्ने एक भिक्षुको संबोधित किया—"आ भिक्षु ! तू मेरे वचनसे ० अरिष्ट भिक्षुको कह—आवुस अरिष्ट ! तुझे शास्ता बुला रहे हैं ।"

"अच्छा, भन्ते !"—कह उस भिक्षुने ० अरिष्ट भिक्षुके पास···जाकर···यह कहा—

"आवुस अरिष्ट ! शास्ता तुम्हें बुला रहे हैं ।"

"अच्छा, आवुस !"—(कह) उस भिक्षुको उत्तर दे ० अरिष्ट भिक्षु···भगवान्के पास··· जाकर···अभिवादन कर···एक ओर बैठा । एक ओर बैठे ० अरिष्ट भिक्षुको भगवान्ने यह कहा—

"सचमुच अरिष्ट ! तुझे इस प्रकारकी बुरी दृष्टि उत्पन्न हुई है—मैं भगवान्के ०[1] अन्तराय नहीं कर सकते हैं ?

"हाँ, भन्ते ! मैं भगवान्के उपदेश किये धर्मको ऐसे जानता हूँ, जैसे कि जो अन्तरायिक धर्म भगवान्ने कहे हैं, सेवन करने पर भी वह अन्तराय नहीं कर सकते ।"

"मोघपुरुष (= निकम्मा आदमी) ! किसको मैंने ऐसा धर्म उपदेश किया, जिसे तू ऐसा जानता है—मैं भगवान् ० । क्यों मोघपुरुष ! मैंने तो अनेक प्रकारसे अन्तरायिक धर्मोंको अन्तरा-यिक कहा है ०[2] बहुत दुष्परिणाम बतलाये हैं । और तू मोघपुरुष (= मोघिया) अपनी उल्टी धारणासे हमें झूठ लगा रहा है, और अपनी भी हानि कर रहा है, बहुत अ-पुण्य कमा रहा है । मोघपुरुष ! यह चिरकाल तक तेरे लिये अ-हित और दुःखके लिये होगा ।"

तब भगवान्ने भिक्षुओंको संबोधित किया—

"तो क्या मानते हो भिक्षुओ ! क्या यह ० अरिष्ट भिक्षु उस्मीकत (= छू तक गया) भी इस धर्ममें नहीं है ?"

"कैसे होगा भन्ते ! नहीं भन्ते !"

ऐसा कहने पर ० अरिष्ट भिक्षु चुप हो, मूक हो, कन्धा गिरा कर, अधोमुख चिन्ता करते प्रतिभा-शून्य हो बैठा रहा । तब भगवान् ० अरिष्ट भिक्षुको चुप ० प्रतिभाशून्य जान कर ० अरिष्ट भिक्षुसे बोले—

"तू मोघपुरुष ! अपनी इस बुरी दृष्टिको जानेगा, जब मैं भिक्षुओंको पूछूँगा ।"

तब भगवान्ने भिक्षुओंको संबोधित किया—

"भिक्षुओ ! क्या तुम भी मेरे ऐसे उपदेश किये धर्मको जानते हो, जैसा कि यह ० अरिष्ट भिक्षु अपनी ही उल्टी धारणासे हमें झूठ लगा रहा है, और अपनी भी हानि कर रहा है, बहुत अपुण्य कमा रहा है ?

---

[1] देखो पृष्ठ ८४ ।

[2] पृष्ठ ८४ में भगवान्की जगह, मैं रखकर ।

"नहीं भन्ते ! भगवान्‌ने तो अनेक प्रकारसे अन्तरायिक धर्मोंको अन्तरायिक कहा है ०[1] वहुत दुष्परिणाम वतलाये हैं।"

"तो यह ० अरिष्ट भिक्षु अपनी उल्टी धारणासे हमें झूठ लगा रहा है, और अपनी भी हानि कर रहा है, वहुत अ-पुण्य (= पाप) कमा रहा है। यह इस मोघपुरुषके लिये चिरकाल तक अ-हित और दुःखके लिये होगा। और यह भिक्षुओ ! कामोंसे भिन्न, काम-संज्ञासे भिन्न, काम वितर्कसे भिन्न (किसी वस्तुका) सेवन करेगा, यह संभव नहीं।

"यहाँ भिक्षुओ ! कोई कोई मोघपुरुष—गेय, व्याकरण, गाथा, उदान, इतिवृत्तक, जातक, अद्भुत-धर्म, वैदल्य—(इन नौ प्रकारके) धर्म (= उपदेश)को धारण करते[2] हैं। वह उन धर्मोंको धारण करते भी उनके···अर्थको प्रज्ञासे परखते नहीं हैं। अर्थको प्रज्ञासे परखे विना धर्मों का आशय नहीं समझते। वह या तो उपारम्भ (= सहायता)के लाभके लिये धर्मको धारण करते हैं; या वादमें प्रमुख वननेके लाभके लिये धर्मको धारण करते हैं; और उसके अर्थको नहीं अनुभव करते। उनके लिये यह उल्टी तौरसे धारण किये धर्म अहित (और) दुःखके लिये होते हैं। सो किस हेतु ?—धर्मोंको उल्टा धारण करनेसे भिक्षुओ ! जैसे भिक्षुओ ! कोई अलगद्द (= साँप) चाहनेवाला अलगद्द-गवेषी पुरुष अलगद्दकी खोजमें घूमता एक महान् अलगद्दको पाये; और उसे भोग (= देह)से या पूँछ (= नंगुट्ठ) से पकड़े; उसको वह अलगद्द उलट कर हाथमें, वाँहमें या अन्य किसी अंगमें डँस ले। वह उसके कारण मरण या मरण-समान दुःखको प्राप्त होवे। सो किस हेतु ?—भिक्षुओ ! अलगद्दके दुर्गृहीत (= उल्टी तरहसे पकड़ा) होनेसे। ऐसेही यहाँ भिक्षुओ ! कोई कोई मोघपुरुष ०।

"किन्तु भिक्षुओ ! कोई कोई कुलपुत्र—सूत्र ०[3] धर्मको धारण करते हैं। वह उन धर्मों को धारण कर उनके अर्थको प्रज्ञासे परखते हैं। प्रज्ञासे परखकर धर्मोंके अर्थको समझते हैं। वह उपारम्भ (= धनलाभ) के लिये० या वादमें प्रमुख वननेके लिये धर्मोंको धारण नहीं करते। वह उनके अर्थको अनुभव करते हैं। उनके लिये यह सुग्रहीत (= ठीक तौरसे धारण किये) धर्म चिरकाल तक हित और सुखके लिये होते हैं। जैसे भिक्षुओ ! कोई ० अलगद्द-गवेषी पुरुष अलगद्द-की खोजमें घूमता एक महान् अलगद्दको देखे। उसको वह अजपद दंड (= साँप पकड़नेका डंडा जिसके छोर पर वकरीके पैरकी तरह चिरवा संड़सीनुमा हथियार लगा रहता है)से खूव अच्छी तरह पकड़े। अच्छी तरह पकड़कर गर्दनसे ठीक तौरपर पकड़े। फिर भिक्षुओ ! चाहे वह अलगद्द उस पुरुषके हाथ, वाँह या किसी और अंगको अपने भोग (= देह)से परिवेष्टित करे, किन्तु वह उसके कारण न मरण न मरण-समान दुःखको प्राप्त होवे। सो किस हेतु !—भिक्षुओ ! अल-गद्दके सुग्रहीत होनेसे। ऐसे ही भिक्षुओ। कोई कोई कुल-पुत्र ०।

"इसलिये भिक्षुओ ! मेरे जिस भाषण का अर्थ तुम समझे हो, उसे वैसे धारण करना, और जिस···का अर्थ तुम नहीं समझे, उसे मुझसे पूछना, या (दूसरे) जानकार भिक्षुसे।

"भिक्षुओ ! मैं वेड़े (=कुल्ल)की भाँति निस्तरण(= निस्तार, =पार जाने)के लिये तुम्हें धर्मको उपदेशता हूँ, पकड़ रखनेके लिये नहीं। उसे सुनो, अच्छी तरह मनमें करो, कहता हूँ।"

---

[1] देखो पृष्ठ ८४ (भगवान्‌की जगह, मैं रखकर)।

[2] उस समय और उसके बाद पाँच शताब्दियों तक बुद्धके उपदेश कण्ठस्थही रक्खे जाते थे।

[3] देखो पिछला पैरा।

"अच्छा भन्ते !"—(कह) उन भिक्षुओंने भगवान्‌को उत्तर दिया ।

भगवान्‌ने यह कहा—"जैसे भिक्षुओ ! पुरुष अ-स्थान-मार्ग (= बे स्थानके रास्ते)पर जाते एक ऐसे महान् जल-अर्णवको प्राप्त हो, जिसका उरला तीर खतरा और भयसे पूर्ण हो, और परला तीर क्षेमयुक्त और भयरहित हो। वहाँ न पार लेजानेवाली नाव हो, न इधरसे उधर जाने आनेके लिये पुल हो। (तब) उस (के मनमें) हो—'अहो ! यह महान् जल-अर्णव है, इसका उरला तीर ० न इधरसे उधर जाने आनेके लिये पुल है। क्यों न मैं तृण-काष्ट-पत्र जमाकर बेड़ा बाँधूँ, और उस बेड़ेके सहारे हाथ और पैरसे मेहनत करते स्वस्तिपूर्वक पार उतर जाऊँ।' तब भिक्षुओ ! वह पुरुष ० बेड़ा बाँधकर, उस बेड़ेके सहारे ० पार उतर जाये। उत्तीर्ण होजाने पर, पार चले जानेपर उसके (मनमें) ऐसा हो—'यह बेड़ा मेरा बड़ा उपकारी हुआ है, इसके सहारे ० मैं पार उतरा हूँ, क्यों न मैं इस बेड़ेको शिरपर रखकर, या कन्धेपर उठाकर जहाँ इच्छा हो वहाँ जाऊँ।' तो क्या मानते हो भिक्षुओ ! क्या वह ऐसा करनेवाला पुरुष उस बेड़ेमें कर्तव्य पालनेवाला होगा ?"

"नहीं, भन्ते !"

"भिक्षुओ ! वह पुरुष उस बेड़ेसे दुःख उठानेवाला (= कष्टकारी) होगा। भिक्षुओ ! यदि उत्तीर्ण पारंगत उस पुरुषको ऐसा हो—'यह बेड़ा मेरा बड़ा उपकारी हुआ है, इसके सहारे ० मैं पार उतरा हूं, क्यों न मैं इसे स्थलपर रखकर, या पानीमें डालकर जहाँ इच्छा हो वहाँ जाऊँ।' भिक्षुओ ! ऐसा करनेवाला वह पुरुष उस बेड़ेमें कर्तव्य पालनेवाला होगा। ऐसेही भिक्षुओ ! मैंने बेड़ेकी भाँति निस्तरणके लिये तुम्हें धर्मोंको उपदेशा है, पकड़ रखनेके लिये नहीं। धर्मको बेड़ेके समान (=**कुल्लूपम**) उपदेशा जानकर तुम धर्मको भी छोड़ दो, अ-धर्मकी तो बात ही क्या।

"भिक्षुओ ! यह छः **दृष्टि** (= धारणा)-**स्थान** हैं कौनसे छः ?—भिक्षुओ ! आर्योंके दर्शनसे वंचित ०[1] अज्ञ अनाड़ी पुरुष (१) **रूप** (= Matter)[2] को—'यह मेरा है,' 'यह मैं हूं', 'यह मेरा आत्मा है'—इस प्रकार समझता है। (२) **वेदना**को ०। (३) **संज्ञा**को ०। (४) **संस्कार**को ०। (५) **विज्ञान**को—'यह मेरा है,' 'यह मैं हूँ,' 'यह मेरा आत्मा है'—इस प्रकार समझता है। (६) जो कुछ भी यह देखा, सुना, यादमें आया, ज्ञात, प्राप्त, पर्येषित (= खोजा), और मनद्वारा अनुविचारित (पदार्थ) है, उसे भी (वह)—'यह मेरा है,' 'यह मैं हूं,' 'यह मेरा आत्मा है'—इस प्रकार समझता है। जो यह (छः) **दृष्टि-स्थान** हैं, 'सो लोक है, सोई आत्मा हूँ, मैं मरकर सोई नित्य, ध्रुव, शाश्वत, निर्विकार (= अविपरिणामधर्मा) आत्मा होऊँगा, और अनन्त वर्षों (= शाश्वती समा) तक वैसे ही स्थित रहूँगा'—इसे भी 'यह मेरा है,' 'यह मैं हूँ', 'यह मेरा आत्मा है'—इस प्रकार समझता है।

"भिक्षुओ ! आर्योंके दर्शनसे युक्त, आर्यधर्मसे परिचित, आर्यधर्ममें विनीत (= प्राप्त); सत्पुरुषोंके दर्शनसे युक्त, ० परिचित, ० विनीत, श्रुतवान् (= ज्ञानी) आर्य श्रावक—(१) रूप

---

[1] देखो पृष्ठ ३।

[2] रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान यही पाँच स्कंध जगत्‌की निर्मापक सामग्री हैं। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु यह चार रूप-स्कंध हैं। जिसमें भारीपन है, और जो जगह घेरता है, वह रूप (=Matter) है। उससे उल्टा विज्ञान (= Mind) स्कंध है। दोनोंके सम्पर्कसे होनेवाली विज्ञानकी तीन अवस्थायें बाकी तीन स्कंध हैं।

को—'यह मेरा नहीं', 'यह मैं नहीं हूं', 'यह मेरा आत्मा नहीं है,—इस प्रकार समझता है। (२) वेदनाको ०। (३) संज्ञाको ०। (४) संस्कारको ०। (५) विज्ञानको ०। (६) जो कुछ भी यह देखा ०। जो यह (छः) दृष्टि-स्थान हैं ० 'यह मेरा आत्मा नहीं है'—इस प्रकार समझता है। वह इस प्रकार समझते हुये अशनि-त्रास (= भय)को नहीं प्राप्त होता।"

ऐसा कहनेपर किसी भिक्षुने भगवान्से यह कहा—"भन्ते! क्या बाहर अशनि-परि-त्रास है?"

भगवान्ने कहा—"होता है भिक्षु! यहाँ! भिक्षु! किसीको ऐसा होता है—'अहो! (पहले) यह मेरा था', 'अहो! अब यह मेरा नहीं है', 'अहो! मेरा होवे', 'अहो! उसे मैं नहीं पाता हूँ'—(वह) इस प्रकार शोक करता है, दुःखित होता है, रोता है, छाती पीटकर क्रन्दन करता है, मूर्छित होता है। इस प्रकार भिक्षु! बाहर अशनि-परित्रास होता है।"

"किन्तु, भन्ते! क्या बाहर अशनि-अपरित्रास होता है?"

भगवान्ने कहा—"होता है भिक्षु! यहाँ भिक्षु! किसी (पुरुष)को ऐसा नहीं होता—'अहो! (पहिले यह) मेरा था', ० 'अहो! उसे मैं नहीं पाता हूँ'—(वह) इस प्रकार शोक नहीं करता ० मूर्छित नहीं होता। इस प्रकार भिक्षु! बाहर अशनिका परित्रास नहीं होता।

"कैसे भन्ते! भीतरमें अशनि-परित्रासन होता है?"

भगवान्ने कहा—"होता है भिक्षु! यहाँ भिक्षु! किसीकी यह दृष्टि (= धारणा) होती है—'सो लोक है, सोई आत्मा है; मैं मरकर सोई नित्य, ध्रुव, शाश्वत, निर्विकार होऊँगा; और अनन्त वर्षोंतक वैसेही स्थित रहूँगा।' वह तथागत (= बुद्ध) तथागत-श्रावक (= ०-शिष्य)को सारे ही दृष्टि-स्थानों, (दृष्टियोंके) अधिष्ठान (= रहनेके स्थान), पर्युत्थान (= उठने उपजने), अभिनिवेश (= आग्रह) और अनुशयों (= मलों)के विनाशके लिये सारे संस्कारों (= दिलके प्रभावों)के शमन करनेके लिये; सारी उपाधियोंके परित्यागके लिये; (और) तृष्णाके क्षयके लिये; विराग, निरोध (= राग आदिके नाश) और निर्वाणके लिये धर्म उपदेश करते सुनता है। उसको ऐसा होता है—अहो! मैं उच्छिन्न होऊँगा, अहो! मैं नष्ट होजाऊँगा; (हाय!) मैं नहीं रहूँगा!!'—वह शोक करता है ०[1] मूर्छित होता है। इस प्रकार भिक्षु! वह अशनि-परित्रास (= विजलीसा भय) होता है।

"कैसे भन्ते! (चित्तके) भीतर अशनिका-परित्रास नहीं होता?"

भगवान्ने कहा—"होता है भिक्षु! यहाँ भिक्षु! किसीकी यह दृष्टि नहीं होती—'सो लोक है ०[2]' न मूर्छित होता है। इस प्रकार भिक्षु! वह अशनिका परित्रास नहीं होता।

"भिक्षुओ! उस परिग्रह (= ग्रहणकरनेकी वस्तु)को परिग्रहण (= ग्रहण) करना चाहिये, जो परिग्रह कि नित्य, ध्रुव, शाश्वत, निर्विकार अनन्त वर्ष वैसाही (= एक समान) रहे। भिक्षुओ! देखते हो ऐसे परिग्रहको, जो कि ० अनन्त वर्ष तक वैसाही रहे?"

"नहीं भन्ते!"

"साधु, भिक्षुओ! मैं भी ऐसे परिग्रहको नहीं देखता, जो कि ० अनन्त वर्षतक वैसाही रहे। भिक्षुओ! उस आत्म-वाद (= आत्माके सिद्धान्त)-स्वीकारको स्वीकारे, जिस आत्मवाद-स्वीकारके स्वीकारने (= सकारने)से शोक, परिदेव (= कलपकर रोना), दुःख = दौर्मनस्य, उपायास (= परेशानी) न उत्पन्न हों। भिक्षुओ! देखते हो, ऐसे आत्मवाद-स्वीकारको, जिस आत्मवादके स्वीकारसे शोक परिदेव ० न उत्पन्न हों।

---

[1] देखो पहलेका पैरा। [2] ऊपरके पैरा जैसा पाठ।

"नहीं, भन्ते !"

"साधु, भिक्षुओ ! मैं भी ऐसे आत्मवाद-स्वीकारको नहीं देखता, जिस आत्मवाद-स्वीकारसे शोक ० न उत्पन्न हों। भिक्षुओ ! उस दृष्टि-निश्रय (= धारणाके विषय)का आश्रय लेना चाहिये; जिस दृष्टि-निश्रयके आश्रय लेनेपर शोक ० न उत्पन्न हों। भिक्षुओ ! देखते हो, ऐसे दृष्टि-निश्रयको, जिस ० ?"

"नहीं, भन्ते !"

"साधु, भिक्षुओ ! मैं भी ऐसे दृष्टि-निश्रयको नहीं देखता ०। भिक्षुओ ! आत्माके होनेपर '(यह) मेरा आत्मीय है'—यह हो सकता है ?"

"हाँ, भन्ते !"

"भिक्षुओ ! आत्मीय होनेपर, '(यह) मेरा आत्मा (है)'—हो सकता है ?"

"हाँ, भन्ते !"

"भिक्षुओ ! आत्मा और आत्मीयके ही सत्यतः = स्थिरतः उपलब्ध होनेपर, जो यह दृष्टि-स्थान—'सोई लोक है, सोई आत्मा है, मैं मरकर सोई नित्य ०[1] अनन्त वर्षा तक वैसे ही स्थित रहूँगा।' भिक्षुओ ! क्या यह केवल पूरा बाल-धर्म (= बच्चोंकीसी बात) नहीं है ?"

"क्यों नहीं ? है भन्ते ! केवल पूरा बाल-धर्म।"

"तो क्या मानते हो भिक्षुओ ! रूप नित्य है या अनित्य ?"

"अनित्य है, भन्ते !"

"जो अ-नित्य है वह दुःख (-रूप) है या सुख (-रूप) ?"

"दुःख (-रूप) है भन्ते !"

"जो अ-नित्य, दुःख (-स्वरूप) और विपरिणाम-धर्मा (= परिवर्तनशील, विकारी) है, क्या उसके लिये ऐसा देखना—'यह मेरा है', 'यह मैं हूँ', 'यह मेरा आत्मा है'—योग्य है ?"

"नहीं, भन्ते !"

"तो क्या मानते हो भिक्षुओ ! वेदना नित्य है या अनित्य ?"

"अ-नित्य है, भन्ते !" ०[2]।

"० संज्ञा ०[2], ० संस्कार ०[1], ० विज्ञान नित्य है या अ-नित्य ?"

"अ-नित्य है, भन्ते !"

"जो अ-नित्य, दुःख, और विपरिणाम-धर्मा है, क्या उसके लिये ऐसा देखना—० 'यह मेरा है' ०—योग्य है ?"

"नहीं, भन्ते !"

"इसलिये भिक्षुओ ! भीतर (शरीरमें) या बाहर, स्थूल या सूक्ष्म, उत्तम या निकृष्ट, दूर या नज़दीक, जो कुछ भी भूत भविष्य वर्तमानका रूप है, वह सब—'यह मेरा नहीं है', 'यह मैं नहीं हूँ', 'यह मेरा आत्मा नहीं है',—ऐसे ही यथार्थतः ठीकसे जानकर देखना चाहिये। ० जो कुछ भी ० वेदना है ०। ० जो कुछ भी ० संज्ञा है ०। ० जो कुछ भी ० संस्कार है ०। ० जो कुछ भी ० विज्ञान है, वह सब—'यह (= विज्ञान) मेरा नहीं है', 'यह मैं नहीं हूँ', 'यह मेरा आत्मा नहीं है'—० जानकर देखना चाहिये।

---

[1] देखो ऊपर। [2] रूपकी भाँति यहाँ भी प्रश्नोत्तर है।

"भिक्षुओ! ऐसा देखनेपर बहुश्रुत आर्यश्रावक रूपमें भी निर्वेद (=उदासीनता)को प्राप्त होता है, वेदनामें भी ०, संज्ञामें भी ०, संस्कारमें भी ०, विज्ञानमें भी निर्वेदको प्राप्त होता है। निर्वेदसे विरागको प्राप्त होता है। विराग प्राप्त होनेपर (राग आदिसे) विमुक्त हो जाता है। विमुक्त (=मुक्त) होने पर 'मैं विमुक्त होगया'—यह ज्ञान होता है; फिर जानता है—जन्म क्षय हो गया, ब्रह्मचर्यवास पूरा हो गया, करणीय कर लिया, यहाँ और (कुछ भी) करनेको नहीं है। भिक्षुओ! यह भिक्षु उत्क्षिप्त-परिघ (=जूयेसे मुक्त) भी, संकीर्ण-परिख (=खाई पार) भी, अ-व्यूढ-हरीसिक (=जो हलकी हरीस जैसे दुनियाके भारोंको नहीं उठाये हैं)भी, निरर्गल (=लगामरूपी संसारके बंधनसे मुक्त)भी, आर्य, पन्त-ध्वज (=जिसकी राग आदि रूपी ध्वजा गिर गई है), पन्त-भार (=जिसका भार गिर गया है), वि-संयुक्त (=राग आदिसे वियुक्त) भी कहते हैं। भिक्षुओ! कैसे भिक्षु उत्क्षिप्त-परिघ होता है?—यहाँ भिक्षुओ! भिक्षुने अ-विद्याको नाश कर दिया है, उच्छिन्नमूल, मस्तकच्छिन्न ताड़के वृक्ष जैसा, अभावको प्राप्त, भविष्यमें न उत्पन्न होने लायक कर दिया है। इस प्रकार भिक्षुओ! भिक्षु उत्क्षिप्त-परिघ होता है। कैसे भिक्षुओ! भिक्षु संकीर्ण-परिख होता है?—० भिक्षुने पौनर्भविक (=पुनर्जन्म-संबंधी) जाति-संस्कार (=जन्म दिलानेवाले पूर्वकृत कर्मोंके चित्तप्रवाहपर पड़े संस्कार)को नाश कर दिया है ०[1] संकीर्ण-परिख होता है। कैसे भिक्षुओ! भिक्षु अ-व्यूढ-हरीसिक होता है?—०[1]तृष्णाको नाश कर दिया है ०। ० निरर्गल होता है?—० पाँच अवरभागीय[2] संयोजनों (=बंधनों)को नाश कर दिया है ०। कैसे भिक्षुओ! भिक्षु आर्य, पन्तध्वज, पन्तभार, विसंयुक्त होता है?—यहाँ भिक्षुओ! भिक्षुका अस्मिमान (=हूँका अभिमान) नष्ट होता है ० भविष्यमें न उत्पन्न होने लायक किया गया होता है। इस प्रकार भिक्षुओ! भिक्षु आर्य होता है। भिक्षुओ! इस प्रकार मुक्तचित्त भिक्षुको इन्द्र, ब्रह्मा प्रजापति सहित (सारे) देवता नहीं जान सकते, कि इस तथागतका विज्ञान इसमें निश्रित है। सो किस हेतु?—भिक्षुओ! इसी शरीरमें ही तथागत अन्-अनुवेद्य (=अ-ज्ञेय) है—यह कहता हूँ।

"भिक्षुओ! ऐसे वाद (को मानने)वाले, ऐसा कहनेवाले मुझे, कोई कोई श्रमण-ब्राह्मण अ-सत्य, तुच्छ, मृषा = अ-भूतसे ही झूठ लगाते हैं—श्रमण गौतम वैनयिक (=विना या नहींके वादको माननेवाला) है, (वह) विद्यमान सत्त्व (=जीव, आत्मा)के उच्छेद = विनाश = विभवका उपदेश करता है। भिक्षुओ! जो कि मैं नहीं कहता, वह आप श्रमण ब्राह्मण लोग इस असत्य, तुच्छ, मृषा अभूत(कथन)से (मुझपर) झूठ लगाते हैं—श्रमण गौतम ० विभवका उपदेश करता है। भिक्षुओ! पहिले भी और अब भी मैं उपदेश करता हूँ—दुःखको, और दुःख-निरोधको ०। वहाँ यदि भिक्षुओ! दूसरे तथागतको निन्दते=परिभाषते, खुन्साते हैं; उससे भिक्षुओ! तथागतको चोट (=आघात), अ-प्रत्यय (=अ-संतोष) और चित्त-विकार नहीं होता। और यदि भिक्षुओ! दूसरे तथागतका सत्कार = गुरुकार, मानन = पूजन करते हैं; तो भिक्षुओ! उससे तथागतको आनन्द = सौमनस्य चित्तका प्रसन्नताऽतिरेक नहीं होता। भिक्षुओ! जब दूसरे तथागतका सत्कार ० करते हैं, तो तथागतको ऐसा होता है—जो पहिले (ही) त्याग दिया है, उसीके विषयमें इस प्रकारके कार्य किये जा रहे हैं। इसलिये भिक्षुओ! यदि दूसरे तुम्हें भी निन्दें; तो उसके लिये

---

[1] पहले जैसे। [2] उरले भागवाले अर्थात् संसारमें फँसा रखनेवाले, यह पाँच हैं—(१) सत्काय दृष्टि (=आत्मवादकी धारणा), विचिकित्सा (=संशय), शीलव्रत-परामर्श (=व्रत आचरणका अनुचित-अभिमान), कामच्छन्द (=भोगोंमें राग), व्यापाद (=पीड़कवृत्ति)।

तुम्हें चोट, असन्तोष, चित्त-विकार नहीं आने देना चाहिये। और इसलिये भिक्षुओ! यदि दूसरे तुम्हारा सत्कार ० करें, तो उसके लिये तुम्हें आनन्द ० नहीं करना चाहिये। अतः भिक्षुओ! यदि दूसरे तुम्हारा सत्कार ० करें, तो उसके लिये तुम्हें भी ऐसा होना चाहिये—जो पहिले त्याग दिया है, उसीके विषयमें इस प्रकारके कार्य किये जा रहे हैं।

"इसलिये भिक्षुओ! जो तुम्हारा नहीं है, उसे छोड़ो, उसका छोड़ना चिरकालतक तुम्हारे हित सुखके लिये होगा। भिक्षुओ! क्या तुम्हारा नहीं है?—रूप भिक्षुओ! तुम्हारा नहीं है; उसे छोड़ो, उसका छोड़ना चिरकाल तक तुम्हारे हित सुखके लिये होगा। ० वेदना ०। ० संज्ञा ०। ० संस्कार ०। ० विज्ञान ०। तो क्या मानते हो भिक्षुओ! इस जेतवनमें जो तृण, काष्ट, शाखा, पत्र हैं; उसे (कोई) आदमी अपहरण करे, जलाये या (अपनी) इच्छानुसार (जो चाहे सो) करे, तो क्या तुम्हें ऐसा होना चाहिये—हमारी (चीज़)को (यह) आदमी अपहरण ० कर रहा है?"

"नहीं, भन्ते!"

"सो किस हेतु?"

"भन्ते! वह हमारा आत्मा या आत्मीय नहीं है।"

"ऐसे ही भिक्षुओ! जो तुम्हारा नहीं है, उसे छोड़ो, ० उसका छोड़ना, चिरकाल तक तुम्हारे हित-सुखके लिये होगा। भिक्षुओ! क्या तुम्हारा नहीं है?—रूप ०[1]। ० वेदना ०। ० संज्ञा ०। ० संस्कार ०। ० विज्ञान ०।

"भिक्षुओ! इस प्रकार मैंने धर्मका उत्तान = विवृत = प्रकाशित, आवरणरहित (= छिन्न-विलोतिक) (करके) अच्छी तरह व्याख्यान किया (= स्वाख्यात) है। ऐसे ० स्वाख्यात धर्ममें, उन भिक्षुओंके लिये कुछ उपदेश करनेकी ज़रूरत नहीं है, जो कि (१) अर्हत्, क्षीणास्रव (= राग आदि मल जिनके नष्ट हो गये हैं), ब्रह्मचर्यवास पूरा कर चुके, कृतकरणीय, भारमुक्त, सच्चे अर्थको प्राप्त, परिक्षीण-भव-संयोजन (= जिनके भवसागरमें डालनेवाले बंधन नष्ट हो गये हैं), सम्यगाज्ञाविमुक्त (= यथार्थ ज्ञानसे जिनकी मुक्ति होगई है) हैं। (२) भिक्षुओ! ऐसे ० स्वाख्यात धर्ममें जिन भिक्षुओंके पाँच अवरभागीय संयोजन[2] नष्ट हो गये हैं, वह सभी औपपातिक (= अयोनिज, देव) हो वहाँ (देवलोकमें) जा परिनिर्वाणको प्राप्त होनेवाले हैं, (वह) उस लोकसे लौटकर नहीं आनेवाले (= अनावृत्तिधर्मा = अनागामी) हैं, (३) भिक्षुओ! ऐसे ० स्वाख्यातधर्ममें जिन भिक्षुओंके तीन संयोजन नष्ट हो गये हैं, राग-द्वेष-मोह निर्बल (= तनु) हो गये हैं, वह सारे सकृदागामी = सकृद् (= एक वार) ही इस लोकमें आकर दुःखका अन्त करेंगे। ···(४) भिक्षुओ! ऐसे स्वाख्यात धर्ममें जिन भिक्षुओंके तीन संयोजन नष्ट हो गये, वह सारे न पतित होनेवाले संबोधि (= बुद्धके ज्ञान)-परायण स्रोत-अपन्न (= निर्वाणकी ओर ले जानेवाले प्रवाहमें स्थिर रीतिसे आरूढ़) हैं।···। भिक्षुओ! ऐसे ० स्वाख्यात धर्ममें जो भिक्षु श्रद्धा-नुसारी, धर्मानुसारी है, वह सभी संबोधि-परायण है। इस प्रकार मैंने धर्मका ० अच्छी तरह व्याख्यान किया है। ऐसे ० स्वाख्यात धर्ममें जिनकी मेरे विषयमें श्रद्धा मात्र प्रेम मात्र (भी) है, वह सभी स्वर्ग-परायण (= स्वर्गगामी) हैं।"

भगवान्‌ने यह कहा, सन्तुष्ट हो उन भिक्षुओंने भगवान्‌के भाषणका अभिनन्दन किया।

[1] देखो ऊपर। [2] देखो पृष्ठ ९० टिप्पणी।

२३—वम्मिक-सुत्तन्त (१।३।३)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथ-पिंडिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे। उस समय आयुष्मान् कुमार काश्यप अन्धवनमें विहार करते थे। तब उजेली रातमें कोई अभिक्रान्त वर्ण (= प्रकाशमय) देवता सारे अन्धवनको प्रभासित कर, जहाँ आयुष्मान् कुमार काश्यप थे वहाँ जाकर, एक ओर खड़ा हुआ। एक ओर खड़े हुये उस देवताने आयुष्मान् कुमार काश्यपसे यह कहा—

"भिक्षु! भिक्षु! यह वल्मीक रातको धुँधुँवाता (= धुँवा देता) है, दिनको बलता (= ज्वलित होता) है। ब्राह्मणने ऐसा कहा—

'सुमेध! शस्त्र ले अभीक्षण (= काट)।'

सुमेधने शस्त्र ले काटते लंगीको देखा—'लंगी है भदन्त (= स्वामी)!'

ब्राह्मणने यह कहा—'लंगीको फेंक, सुमेध! शस्त्र ले काट।'

सुमेधने ० धुँधुँवाना देखा—'धुँधुँवाता है, भदन्त!'

ब्राह्मणने यह कहा—'धुँधुँवानेको फेंक, सुमेध! ०।'

सुमेधने ० दो रास्ते देखे—'दो रास्ते हैं, भदन्त!'

ब्राह्मणने ०—'दो रास्ते फेंक (= छोड़), सुमेध! ०।'

सुमेधने ० चंगवार (= चंगौरा = टोकरा) देखा—'चंगवार है, भदन्त!'

ब्राह्मणने ०—'चंगवार फेंक दे, सुमेध! ०।'

सुमेधने ० कूर्म (= कछुवा) देखा—'कूर्म है, भदन्त!'

ब्राह्मणने ०—'कूर्म फेंक दे, सुमेध! ०।'

सुमेधने ० असिसूना (= पशु मारनेका पीढ़ा) देखा—'असिसूना है, भदन्त!'

ब्राह्मणने ०—'असिसूना फेंक दे, सुमेध! ०।'

सुमेधने ० मांसपेशी (= मांसका टुकड़ा) देखा—'मांसपेशी है, भदन्त!'

ब्राह्मणने ०—'मांसपेशी फेंक दे, सुमेध! ०।'

सुमेधने ० नाग देखा—'नाग है, भदन्त!'

ब्राह्मणने ०—'रहने दे नागको, मत उसे धक्का दे, नागको नमस्कार कर।'

"भिक्षु! इन प्रश्नोंको तुम भगवान्‌के पास जाकर पूछना। भगवान् जैसा इसका उत्तर दें, उसे धारण करना। भिक्षु! देव-मार-ब्रह्मा सहित सारे लोकमें, श्रमण-ब्राह्मण देव-मानुष सहित सारी प्रजामें, मैं ऐसे (पुरुष)को नहीं देखता, जो इस प्रश्नका उत्तर दे चित्तको सन्तुष्ट करे; सिवाय तथागत, तथागत-श्रावक या यहाँसे सुने हुयेके।"

वह देवता यह कह कर वहीं अन्तर्ध्यान होगया।

तब आयुष्मान् कुमार काश्यप उस रातके बीतनेपर जहाँ भगवान् थे, वहाँ जाकर, अभिवादनकर, एक ओर···बैठ, भगवान्‌से यह बोले—

"भन्ते ! आज रातको एक अभिक्रान्तवर्ण देवता सारे अन्धवनको प्रभासित कर, जहाँ मैं था, वहाँ आकर एक ओर खड़ा हुआ, एक ओर खड़ा हो उस देवताने मुझे यह कहा—०[1]। वह देवता यह···कहकर वहीं अन्तर्ध्यान होगया।

"भन्ते ! (१) क्या है वल्मीक ? (२) क्या है रातका धुँधुँवाना ? (३) क्या है दिनका धधकना ? (४) कौन है ब्राह्मण ? (५) कौन है सुमेध ? (६) क्या है शस्त्र ? (७) क्या है अभीक्षण (=काटना) ? (८) क्या है लंगी ? (९) ० धुँधुँवाना ? (१०) ० दो रास्ते ? (११) ० चंगवार ? (१२) ० कूर्म ? (१३) ० असि-सूना ? (१४) ० मांसपेशी ? (१५) क्या है नाग ?"

"भिक्षु ! (१) वल्मीक यह माता-पिता से उत्पन्न भात-दालसे वर्धित, इसी चातुर्महाभौतिक कायाका नाम है, जो कि अनित्य तथा, उत्सादन (=हटाने) मर्दन, भेदन, विध्वंसन स्वभाववाला है। (२) भिक्षु ! जो दिन के कामोंके लिये रातको सोचता है, विचारता है, यही रातका धुँधुँवाना है। (३) भिक्षु ! जो कि रातको सोच विचारकर दिनको काया और वचनसे कामोंमें योग देता है, यह दिनका धधकना है। (४)···ब्राह्मण यह तथागत, अर्हत्, सम्यक्-संबुद्धका नाम है। (५) सुमेध यह शैक्ष्य (=जिसको शिक्षाकी अभी आवश्यकता है, ऐसा निर्वाण-मार्गारूढ व्यक्ति) भिक्षुका नाम है। (६) ० शस्त्र (=हथियार) यह आर्य प्रज्ञा (=उत्तम ज्ञान)का नाम है। (७) ० अभीक्षण (=काटना) यह वीर्यारम्भ (=उद्योग)का नाम है। (८) ० लंगी अविद्याका नाम है। 'लंगीको फेंक, सुमेध !' अविद्या को छोड़, सुमेध ! शस्त्र ले काट—यह इसका अर्थ है। (९) ० धुँधुँआना यह क्रोधकी परेशानीका नाम है; धुँधुँआना फेंक दे, सुमेध ! क्रोध-उपायासको छोड़, शस्त्र ले काट—यह इसका अर्थ है। (१०) ० दो रास्ते (=द्विधापथ) यह विचिकित्सा (=संशय)का नाम है। दो रास्ते फेंक दे, विचिकित्सा छोड़, सुमेध ! ०। (११) ० चंगवार यह पाँच नीवरणों (=आवरणों) का नाम है, (जैसे कि) कामच्छन्द (=भोगोंमें राग)-नीवरण, व्यापाद (=परपीड़ाकरण)-नीवरण, स्त्यानमृद्ध (=कायिक मानसिक आलस्य)-नीवरण, औद्धत्य-कौकृत्य (=उच्छृंखलता और पश्चात्ताप)-नीवरण, विचिकित्सा (=संशय)-नीवरण। 'चंगवार फेंक दे'—पाँच नीवरणोंको छोड़ दे, सुमेध ! ०। (१२) ० कूर्म यह पाँच उपादान-स्कंधों[2]का नाम है, जैसे कि—रूप-उपादान-स्कन्ध, वेदना ०, संज्ञा ०, संस्कार ०, विज्ञान ०। 'कूर्मको फेंक दे'—अर्थात् पाँच उपादान स्कंधोंको छोड़, सुमेध ! ०। (१३) ० असिसूना यह पाँच काम-गुणों (=भोगों)का नाम है, (जैसे कि) इष्ट कान्त मनाप = प्रिय, कमनीय, रंजनीय चक्षुद्वारा विज्ञेय रूप ०, श्रोत्र-विज्ञेय शब्द ०, घ्राण-विज्ञेय गंध ०, जिह्वा; विज्ञेय रस-इष्ट, कान्त, मनाप = प्रिय, कमनीय = रंजनीय काय-विज्ञेय स्प्रष्टव्य। 'असिसूना फेंक दे'—पाँच कामगुणों को छोड़, सुमेध ! ०। (१४) मांसपेशी यह नन्दी = रागका नाम है। 'मांसपेशी फेंक दे'—नन्दी रागको छोड़ दे, सुमेध ! ०। (१५) भिक्षु ! नाग यह क्षीणास्रव (=अर्हत्) भिक्षुका नाम है। रहने दे नागको, मत उसे धक्का दे, नागको नमस्कार कर, यह इसका अर्थ है।"

भगवान्‌ने यह कहा, सन्तुष्टहो आयुष्मान् कुमार-काश्यपने भगवान्‌के भाषणका अभिनन्दन किया।

---

[1] पीछे कहे गयेकी आवृत्ति।

[2] रूप आदि पाँच स्कंधोंमें व्यक्तिके ग्रहणका विषयवाला अंश उपादान-स्कंध कहा जाता है।

२४–रथविनीत-सुत्तन्त (१।३।४)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् राजगृहमें कलन्दक-निवाप वेणुवनमें विहार करते थे। तब बहुतसे जातिभूमिक (= भगवान्की जन्मभूमि कपिल वस्तुमें रहनेवाले) जातिभूमि (= कपिल-वस्तु)में वर्षावास कर, जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये। जाकर भगवान्को अभिवादन कर एक ओर बैठ गये। एक ओर बैठे उन भिक्षुओंको भगवान्ने यह कहा—

"भिक्षुओ! जातिभूमिमें जातिभूमिके भिक्षुओंका कौन ऐसा सम्भावित (= प्रतिष्ठित) भिक्षु है, जो स्वयं अल्पेच्छ (= निर्लोभ) हो, और भिक्षुओंके लिये अल्पेच्छ-कथा (= निर्लोभीपनके उपदेश)का कहनेवाला हो; स्वयं सन्तुष्ट हो, और भिक्षुओंके लिये सन्तोष-कथाका करनेवाला हो; स्वयं प्रविविक्त (= एकान्त-चिन्तनशील) हो, ० प्रविवेक-कथा ०; स्वयं अ-संसृष्ट (= अनासक्त) हो, ० असंसर्ग-कथा ०; स्वयं आरब्ध-वीर्य (= उद्योगी) हो, ० वीर्यारम्भ-कथा ०; स्वयं शील-सम्पन्न (= सदाचारी) हो, ० शील-सम्पदा-कथा ०; स्वयं समाधि-सम्पन्न हो, ० समाधि-सम्पदा-कथा ०; स्वयं प्रज्ञा-सम्पन्न हो, ० प्रज्ञा-सम्पदा-कथा ०; स्वयं विमुक्ति (= मुक्ति)-सम्पन्न हो, ० विमुक्ति-सम्पदा-कथा ०; स्वयं विमुक्ति-ज्ञान-दर्शन-सम्पन्न (= मुक्तिके ज्ञानका साक्षात्कार जिसने कर लिया) हो, ० विमुक्ति-ज्ञान-दर्शन-सम्पदा-कथा ०; जो सब्रह्मचारियों (= सहधर्मियों)के लिये अववादक (= उपदेशक), = विज्ञापक = सन्दर्शक, समादपक = समुत्तेजक, सम्प्रहर्षक (= उत्साह देनेवाला) हो?"

"भन्ते! जाति-भूमिमें, आयुष्मान् पूर्ण मैत्रायणीपुत्र हैं, जाति भूमिके सब्रह्मचारी भिक्षुओंके ऐसे सम्भावित हैं, जो स्वयं अल्पेच्छ ०[1] सम्प्रहर्षक हैं।"

उस समय आयुष्मान् सारिपुत्र भगवान्के पास (= अ-विदूर)में बैठे हुये थे। तब आयुष्मान् सारिपुत्रको ऐसा हुआ—"अहो! लाभ हैं (= धन्य हैं) आयुष्मान् पूर्ण मैत्रायणीपुत्रको, सुलब्ध (= सुन्दर तौरसे मिले हैं) लाभ आयुष्मान् पूर्ण मैत्रायणीपुत्रको, जिसकी प्रशंसा समझ समझ कर विज्ञ सब्रह्मचारी (= गुरु-भाई) शास्ताके सामने कर रहे हैं; और शास्ता (= बुद्ध) उसका अनुमोदन करते हैं। क्या कभी हमारा आयुष्मान् पूर्ण मैत्रायणीपुत्रके साथ समागम होगा, कभी कुछ कथा-संलाप होगा!"

तब भगवान् राजगृहमें यथेच्छ विहार कर, जिधर श्रावस्ती है, उधर चारिका (= रामत) के लिये चल पड़े। क्रमशः चारिका करते जहाँ श्रावस्ती है, वहाँ पहुँचे। वहाँ भगवान् श्रावस्ती में अनाथ-पिंडिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे। आयुष्मान् पूर्ण मैत्रायणीपुत्रने सुना,

---

[1] ऊपरके पैरा जैसा।

कि भगवान् श्रावस्तीमें पहुँच गये हैं, (और) ० जेतवनमें विहार करते हैं। तब आयुष्मान् पूर्ण मैत्रायणीपुत्र शयन-आसन संभालकर, पात्र-चीवर ले जिधर श्रावस्ती है, उधर चारिकाके लिये चल पड़े। क्रमशः चारिका करते जहाँ श्रावस्ती, अनाथ-पिंडिकका आराम जेतवन, (और) जहाँ भगवान् थे वहाँ पहुँचे। पहुँचकर भगवान्‌को अभिवादन कर एक ओर बैठे। एक ओर बैठे आयुष्मान् पूर्ण मैत्रायणीपुत्रको भगवान्‌ने धार्मिक कथा द्वारा संदर्शित=समादपित=समुत्तेजित सम्प्रहर्षित किया। तब आयुष्मान् पूर्ण मैत्रायणीपुत्र भगवान्‌की धार्मिक कथा द्वारा ० सम्प्रहर्षित हो, भगवान्‌के भाषणका अभिनन्दन = अनुमोदन कर, आसनसे उठ भगवान्‌को अभिवादनकर, प्रदक्षिणाकर; जहाँ अन्धवन है, वहाँ दिनके विहारके लिये गये।

तब कोई भिक्षु…आयुष्मान् सारिपुत्रके पास जाकर…यह बोला—"आवुस सारिपुत्र! जिन पूर्ण मैत्रायणीपुत्र…भिक्षुका आप बराबर नाम लिया करते थे, वह भगवान्‌की धार्मिक कथा द्वारा ० प्रहर्षित हो, ० भगवान्‌को अभिवादनकर ० जहाँ अन्धवन है, वहाँ दिनके विहारके लिये गये।"

तब आयुष्मान् सारिपुत्र शीघ्रतासे आसन ले आयुष्मान् पूर्ण मैत्रायणीपुत्रके पीछे (उनका) शिर देखते चल पड़े। तब आयुष्मान् पूर्ण मैत्रायणीपुत्र अन्धवनमें घुसकर एक वृक्षके नीचे दिनके विहारके लिये बैठे। आयुष्मान् सारिपुत्र भी अन्धवनमें घुसकर एक वृक्षके नीचे दिनके विहारके लिये बैठे। तब आयुष्मान् सारिपुत्र सायंकालको प्रतिसँलयन (= ध्यान) से उठ, जहाँ आयुष्मान् पूर्ण मैत्रायणीपुत्र थे, वहाँ गये, जाकर आयुष्मान् पूर्ण मैत्रायणीपुत्रके साथ…(यथा-योग्य कुशल प्रश्न पूछ) एक ओर…बैठ, आयुष्मान् सारिपुत्रने आयुष्मान् पूर्ण मैत्रायणीपुत्रसे यह कहा—

"आवुस! हमारे भगवान्‌के पास (आप) ब्रह्मचर्यवास करते हैं?"

"हाँ, आवुस!"

"क्यों आवुस! शील-विशुद्धि (= आचार-शुद्धि) के लिये भगवान्‌के पास ब्रह्मचर्यवास करते हैं?"

"नहीं, आवुस!"

"क्या फिर आवुस! चित्त-विशुद्धिके लिये ०?"

"नहीं, आवुस!"

"क्या फिर ० दृष्टि-विशुद्धि (= सिद्धान्त ठीक करने) के लिये ०?"

"नहीं, आवुस!"

"क्या फिर ० सन्देह दूर करनेके लिये (= कांक्षा-वितरण-विशुद्ध्यर्थ) ०?"

"नहीं, आवुस!"

"क्या फिर ० मार्ग-अमार्ग-ज्ञानके दर्शन (= समझ, साक्षात्कार) की विशुद्धिके लिये ०?"

"नहीं आवुस!"

"क्या फिर ० प्रतिपद् (= मार्ग)-ज्ञान-दर्शनकी विशुद्धिके लिये ०?"

"नहीं, आवुस!"

"क्या फिर ० ज्ञान-दर्शनकी विशुद्धिके लिये?"

"नहीं आवुस!"

"आवुस! 'शील-विशुद्धिके लिये क्या आप भगवान्‌के पास ब्रह्मचर्यवास करते हैं', पूछनेप 'नहीं आवुस!' कहते हो। ० 'ज्ञानदर्शनकी विशुद्धिके लिये क्या आप भगवान्‌के पास ब्रह्मचर्यवा

करते हैं'—पूछनेपर भी 'नहीं, आवुस !'—कहते हो। तो आवुस ! किसलिये भगवान्‌के पास आप ब्रह्मचर्यवास करते हैं ?"

"उपादान (= परिग्रह)-रहित परिनिर्वाणके लिये आवुस ! मैं भगवान्‌के पास ब्रह्मचर्य-वास करता हूँ।"

"क्या आवुस ! शील-विशुद्धि उपादानरहित परिनिर्वाण है ?"

"नहीं, आवुस।" ०[1]

"क्या आवुस ! ज्ञान-दर्शन-विशुद्धि उपादान-रहित परिनिर्वाण है ?"

"नहीं, आवुस !"

"क्या आवुस ! इन (ऊपर गिनाये) धर्मोंसे अलग है, उपादानरहित परिनिर्वाण ?"

"नही, आवुस !"

"क्या आवुस ! शील-विशुद्धि उपादानरहित परिनिर्वाण है ?—पूछनेपर 'नहीं आवुस !' कहते हो। ०। 'क्या आवुस ! इन धर्मोंसे अलग है, उपादान-रहित परिनिर्वाण ?'—पूछनेपर 'नहीं आवुस ०।' तो फिर आवुस ! इस (आपके) कथनका अर्थ किस प्रकार समझना चाहिये ?"

"आवुस ! शील-विशुद्धिको यदि भगवान् उपादानरहित परिनिर्वाण कहते, तो उपादान-सहित परिनिर्वाणहीको उपादानरहित परिनिर्वाण कहते। ०[1]। आवुस ज्ञान-दर्शन-विशुद्धिको यदि भगवान् उपादान-रहित परिनिर्वाण कहते; तो उपादानसहित परिनिर्वाणहीको उपादान-रहित परिनिर्वाण कहते। आवुस ! इन धर्मोंसे अलग यदि उपादानरहित परिनिर्वाण होता, तो **पृथग्जन** (= निर्वाणका अनधिकारी) भी परिनिर्वाणको प्राप्त होगा। (क्योंकि) आवुस ! **पृथग्जन** इन धर्मोंसे अलग है। तो आवुस ! तुम्हें एक उपमा (= दृष्टान्त) कहता हूँ, उपमासे भी कोई कोई विज्ञ पुरुष कहेका अर्थ समझते हैं।

"जैसे आवुस ! राजा **प्रसेनजित्** कोसलको **श्रावस्ती**में बसते कोई अत्यावश्यक काम **साकेत**में उत्पन्न हो जाये। (तब) उसके लिये श्रावस्ती और साकेतके बीचमें सात **रथविनीत** (= डाक) स्थापित करें। तब आवुस ! राजा **प्रसेनजित्** कोसल श्रावस्तीसे निकलकर अन्तःपुर (= राजमहल वाला भीतरी दुर्ग)के द्वारपर पहिले रथ-विनीत (= रथकी डाक)पर चढ़े, पहिले रथविनीतसे दूसरे रथविनीतको प्राप्त होवे, (वहाँ) पहिले रथविनीतको छोड़दे, और दूसरे रथविनीतपर आरूढ़ हो। दूसरे रथविनीतसे तृतीय रथविनीतको प्राप्त होवे, (वहाँ) द्वितीय रथविनीतको छोड़दे, और तीसरे रथविनीतपर आरूढ़ हो। ० चौथे ०। ० पाँचवें ०। छठें रथविनीतको छोड़दे, और सातवें रथविनीतपर आरूढ़ हो। सातवें रथविनीतसे **साकेत**के अन्तःपुर के द्वारपर पहुँच जाये। तब अन्तःपुरके द्वारपर प्राप्त उसे मित्र, अमात्य, ज्ञाति=सालोहित ऐसा पूँछे—'क्या महाराज! इसी रथविनीतद्वारा श्रावस्तीसे (चलकर) **साकेत**के अन्तःपुर द्वारपर पहुँच गये ? आवुस ! किस तरह उत्तर देनेपर राजा **प्रसेनजित्** (= पसेनदी) कोसलका ठीक उत्तर होगा ?"

"आवुस ! इस प्रकार उत्तर देनेपर राजा **प्रसेनजित्** कोसलका उत्तर ठीक उत्तर होगा—मुझे श्रावस्तीमें बसते मेरा कोई अत्यावश्यक काम साकेतमें उत्पन्न होगया। (तब) उसके लिये **श्रावस्ती** और **साकेत**के बीचमें सात रथविनीत स्थापित किये गये। तब मैं **श्रावस्ती**से निकलकर ०[1] सातवें रथ-विनीतपर आरूढ़ हो सातवें रथविनीतसे **साकेत**के अन्तःपुर-द्वारपर पहुँच गया। इस प्रकार उत्तर देनेपर राजा **प्रसेनजित्** कोसलका उत्तर ठीक उत्तर होगा।"

---

[1] पहिलेकी तरह दुहराना चाहिये।

"ऐसे ही आवुस ! शील-विशुद्धि तभी तक (है) जब तक कि (पुरुष) चित्तविशुद्धि-को (प्राप्त नहीं होता) ; चित्त-विशुद्धि तभी तक जब तक कि दृष्टि-विशुद्धिको (प्राप्त नहीं होता) ; दृष्टि-विशुद्धि तभी तक जब तक कि कांक्षावितरण-विशुद्धिको (प्राप्त नहीं होता) ; ० जब तककि मार्गामार्ग-ज्ञान-दर्शन-विशुद्धिको ० ; ० जब तक कि प्रतिपद्-ज्ञान-दर्शन-विशुद्धि-को ; ० जब तक कि ज्ञान-दर्शन-विशुद्धिको ० , ज्ञान-दर्शन-विशुद्धि तभी तक (है) जब तक कि उपादान-रहित परिनिर्वाणको (प्राप्त नहीं होता) । आवुस ! अनुपादा (= उपादानरहित) परिनिर्वाणके लिये भगवान्‌के पास ब्रह्मचर्यवास करता हूँ ।"

ऐसा कहनेपर आयुष्मान् सारिपुत्रने आयुष्मान् पूर्ण मैत्रायणीपुत्रसे यह कहा—"आयु-ष्मान्‌का क्या नाम है; सब्रह्मचारी आयुष्मान्‌को (किस नामसे) जानते हैं ?"

"आवुस ! पूर्ण (मेरा) नाम है, मैत्रायणीपुत्र करके सब्रह्मचारी मुझे जानते हैं ।"

"आश्चर्य है आवुस ! अद्भुत आवुस !! जैसे शास्ता (= बुद्ध)के शासन (= उपदेश)को भली प्रकार जाननेवाला बहुश्रुत श्रावक गंभीर गम्भीर प्रश्नोंको समझ समझ कर व्याख्यान करे; वैसे ही आयुष्मान पूर्ण मैत्रायणीपुत्रने (व्याख्यान किया) । लाभ है सब्रह्मचारियोंको, लाभ सुलब्ध हुआ सब्रह्मचारियोंको, जो कि आयुष्मान् पूर्ण मैत्रायणीपुत्रको दर्शन, और सेवनके लिये पाते हैं । चेलण्डुक (= अंगोछा)से भी यदि सब्रह्मचारी आयुष्मान् पूर्ण मैत्रायणीपुत्रको हाथसे धारण करके दर्शन और सेवनके लिये पावें; उनको भी लाभ है, उनको भी लाभ सुलब्ध हुआ है । हमें भी लाभ है, हमें भी लाभ सुलब्ध हुआ है, जोकि हम आयुष्मान् पूर्ण मैत्रायणीपुत्रको दर्शन और सेवनके लिये पाते हैं ।"

ऐसा कहने पर आयुष्मान् पूर्ण मैत्रायणीपुत्रने आयुष्मान् सारिपुत्रसे यह कहा—"आयु-ष्मान्‌का क्या नाम है; सब्रह्मचारी आयुष्मान्‌को (किस नामसे) जानते हैं ?"

"आवुस ! उपतिष्य मेरा नाम है, सारिपुत्र करके मुझे सब्रह्मचारी जानते हैं ।"

"अहो ! भगवान्‌के समान (= शास्तृ-कल्प) श्रावक (= बुद्ध-शिष्य)से संलाप करते हुये भी मैं नहीं जान सका, कि (यह) आयुष्मान् सारिपुत्र हैं । यदि हम जानते कि यह आयुष्मान् सारिपुत्र हैं, तो इतना भी हमें न सूझ पड़ता । आश्चर्य आवुस ! अद्भुत आवुस !! जैसे शास्ताके शासनको सम्यक् जाननेवाला बहुश्रुत श्रावक गंभीर गंभीर प्रश्नोंको समझ समझ कर व्याख्यान करे, वैसे ही आयुष्मान् सारिपुत्रने (व्याख्यान किया) । लाभ है सब्रह्मचारियोंको, लाभ सुलब्ध हुआ सब्रह्मचारियोंको ०[1]जो कि हम आयुष्मान् सारिपुत्रको दर्शन और सेवनके लिये पाते हैं ।"

इस प्रकार दोनों महानागों (=महावीरों)ने एक दूसरेके सुभाषितका समनुमोदन किया ।

---

[1] पीछे पूर्णके भाषणमें आयेके समान ।

२५—निवाप-सुत्तन्त (१।३।५)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथपिंडिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे। वहाँ भगवान्ने भिक्षुओंको संबोधित किया—"भिक्षुओ !"

"भदन्त !" (कह) उन भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया।

भगवान्ने यह कहा—"भिक्षुओ ! नैवापिक (=बहेलिया) मृगोंको (यह सोचकर) निवाप (मृगोंके शिकारके लिये जंगलके भीतर बोये खेत) नहीं बोता, कि इस मेरे बोये निवापको खाकर मृग दीर्घायु वर्णवान् (=सुन्दर) (हो) चिरकाल तक गुजारा करें। भिक्षुओ ! नैवापिक मृगोंके लिये (यह सोच) निवाप बोता है, कि मृग इस मेरे बोये निवापको अनुप-खज्ज (=खा कर) मूर्छित (=बेसुध) हो भोजन करेंगे,···मूर्छित हो भोजन कर मदको प्राप्त होंगे, मदको प्राप्त हो प्रमादी होंगे; प्रमादी हो इस निवापके विषयमें स्वेच्छाचारी होंगे।

"भिक्षुओ ! पहिले मृगोंने नैवापिकके इस बोये निवापको···मूर्छित हो भोजन किया;···मूर्छित हो भोजन कर मदको प्राप्त हुये, मदको प्राप्त (=मत्त) हो प्रमादी हुये; प्रमादी हो···स्वेच्छाचारी हुये। इस प्रकार भिक्षुओ ! वह पहिले मृग नैवापिकके चमत्कार (=ऋद्धय-नुभाव)से मुक्त नहीं हुये।

"वहाँ भिक्षुओ ! दूसरे मृगोंने यह सोचा—'जिन उन पहिले मृगोंने नैवापिकके इस बोये निवापको···मूर्छित हो भोजन किया ०[1]; नैवापिकके चमत्कारसे मुक्त नहीं हुये। क्यों न हम निवाप-भोजनसे सर्वथा ही विरत हो जायें, भयभोगसे विरत हो अरण्य-स्थानोंमें अवगाहन कर विहरें।' (तब) वह निवाप-भोजनसे सर्वथा विरत हुये, भय-भोग (=भयपूर्ण भोग)से विरत हो अरण्य-स्थानोंको अवगाहन कर विहरने लगे। ग्रीष्मके अन्तिम मासमें घास-पानी (=तृण-उदक)के क्षय होनेसे, उनका शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया। अत्यन्त दुर्बल कायावाले उन (मृगों)का बल-वीर्य नष्ट हो गया। बलवीर्यके नष्ट हो जाने पर नैवापिकके बोये हुये उसी निवापको खानेके लिये लौटे। उन्होंने···मूर्छित हो भोजन किया ०[1] इस प्रकार भिक्षुओ ! वह दूसरे मृग भी नैवापिकके चमत्कार (=जादू)से मुक्त नहीं हुये।

"भिक्षुओ ! तीसरे मृगोंने यह सोचा—'जिन उन पहिले मृगोंने नैवापिकके इस बोये निवापको···मूर्छित हो भोजन किया ० मुक्त नहीं हुये। (तब) जिन उन दूसरे मृगोंने यह सोचा—०[1] निवाप-भोजनसे सर्वथा विरत हुये ० वह दूसरे मृग भी नैवापिकके···(फन्दे)से मुक्त नहीं हुये। क्यों न हम नैवापिकके बोये इस निवापका आश्रय लें। वहाँ आश्रय ले···इस···

---

[1] पीछे आये पाठकी फिर आवृत्ति।

निवापको…अ-मूर्छित (= न बेसुध) हो भोजन करें, अ-मूर्छित हो भोजन करनेसे हम मदको प्राप्त न होंगे; मदको न प्राप्त होनेसे प्रमादी नहीं होंगे, प्रमादी न होनेसे नैवापिकके इस निवापमें स्वेच्छाचारी नहीं होंगे'। (यह सोच) उन्होंने नैवापिकके बोये उस निवापका आश्रय लिया। आश्रय ले…निवापको…अमूर्छित हो भोजन किया, ० मदको प्राप्त नहीं हुये, ० प्रमादी नहीं हुये, ० स्वेच्छाचारी नहीं हुये। तब भिक्षुओ! नैवापिक और नैवापिक-परिषद्को यह हुआ—'यह चौथे मृग शठ पाखंडी (= केटुभी) हैं; यह तीसरे मृग ऋद्धिमान परजन हैं; यह इस छोड़े निवापको खाते हैं, किन्तु हम इनके गमन-आगमनको नहीं जानते। क्यों न हम इस छोड़े निवापके सारे प्रदेशको बड़े बड़े डंडोंके रूँधानसे चारों ओरसे घेर दें, जिसमें कि (इन) तीसरे मृगोंके आश्रयको देखें; जहाँ पर कि वह पकड़े जा सकते हैं'। (यह सोच) उन्होंने ० डंडोंके रूँधानसे घेर दिया। (फिर) भिक्षुओ! नैवापिक और नैवापिक-परिषद्ने तीसरे मृगोंके आश्रय (= स्थान)को देखा, जहाँ कि वह पकड़े गये। इस प्रकार भिक्षुओ! वह तीसरे मृग भी नैवापिकके…(फंदेसे) मुक्त नहीं हुये।

"भिक्षुओ! चौथे मृगोंने यह सोचा—'जिन पहिले मृगोंने ०[1] मूर्छित हो भोजन किया ०[1] मुक्त नहीं हुये। जिन दूसरे मृगोंने ०[1], निवाप भोजनसे सर्वथा विरत हुये ०[1] मुक्त नहीं हुये। जिन तीसरे मृगोंने ०[1] अ-मूर्छित हो भोजन किया ०[1] मुक्त नहीं हुये। क्यों न हम (वहाँ) आश्रय (= स्थान) ग्रहण करें, जहाँ नैवापिक और नैवापिक-परिषद्की गति नहीं है। वहाँ आश्रय ग्रहण कर नैवापिकके इस बोये निवापको…अमूर्छित हो भोजन करें;…अमूर्छित हो भोजन करनेसे मदको न प्राप्त होंगे, ०[2]। ०[2] 'स्वेच्छाचारी न होंगे' उन्होंने (तब) जहाँ नैवापिक और नैवापिक-परिषद्की गति न थी, वहाँ आश्रय ग्रहण किया। ० अमूर्छित हो भोजन किया ०[2] स्वेच्छाचारी नहीं हुये। तब भिक्षुओ! नैवापिक और नैवापिक-परिषद्को यह हुआ—'यह चौथे मृग शठ (= सथ) पाखंडी (= केटुभी) हैं, यह चौथे मृग ऋद्धिमान् (= होशियार) परजन हैं। (यह) हमारे छोड़े निवापको भोजन करते हैं, किन्तु हम इनके गमन-आगमनको नहीं जानते। क्यों न हम ०[2] चारों ओरसे घेर दें; जिसमें कि चौथे मृगोंके आश्रयको देखें; जहाँ पर कि वह पकड़े जा सकते हैं।' (यह सोच) उन्होंने ० सारे प्रदेशको घेर दिया। (किन्तु) भिक्षुओ! नैवापिक और नैवापिक-परिषद्ने चौथे मृगोंके आश्रयको नहीं देख पाया, जहाँ पर कि वह पकड़े जाते। तब भिक्षुओ! नैवापिक और नैवापिक-परिषद्को यह हुआ—'यदि हम चौथे मृगोंको घट्टित (= रगड़) करेंगे, तो वह घट्टित हो दूसरोंको घट्टित करेंगे, और वह घट्टित हो दूसरोंको घट्टित करेंगे। इस प्रकार सारे मृग इस बोये निवापको छोड़ देंगे; क्यों न हम चौथे मृगोंकी उपेक्षा करदें।' (तब) भिक्षुओ! नैवापिक और नैवापिक-परिषद्ने चौथे मृगोंको उपेक्षित किया। इस प्रकार भिक्षुओ! चौथे मृग नैवापिकके…(फंदे)से छूटे।

"भिक्षुओ! अर्थको समझानेके लिये मैंने यह उपमा (= दृष्टान्त) कही है। भिक्षुओ! निवाप यह पाँच काम-गुणों (= भोगों) का नाम है;…नैवापिक यह पापी मारका नाम है;… नैवापिक-परिषद् यह मार-परिषद्का नाम है; भिक्षुओ! मृग-समूह यह श्रमण-ब्राह्मणोंका नाम है।

"भिक्षुओ! उन पहले श्रमण-ब्राह्मणोंने उस बोये निवाप (अर्थात्) मारके इस लोक-आमिष (= विषयों)को…मूर्छित हो भोजन किया;…वह मूर्छित हो भोजन कर मदको प्राप्त

---

[1] पीछे आये पाठकी फिर आवृत्ति। [2] पहिलेकी तरह आवृत्ति।

हुये, मदको प्राप्त हो प्रमादी हुये, प्रमादी हो मारके इस निवापमें, इस लोकामिषमें स्वेच्छाचारी हुये। इस प्रकार भिक्षुओ! वह पहिले श्रमण-ब्राह्मण मारके···(फन्दे)से नहीं छूटे। जैसे कि वह पहिले मृग (थे), भिक्षुओ! उन्हींके समान मैं (इन) पहिले श्रमण-ब्राह्मणोंको कहता हूँ।

"भिक्षुओ! दूसरे श्रमण-ब्राह्मणोंने यह सोचा—'जिन उन प्रथम श्रमण-ब्राह्मणोंने मारके बोये इस निवापको = लोकामिषको मूर्छित हो खाया ०। इस प्रकार ० वह ० मारके···(फंदे)से नहीं छूटे। क्यों न हम लोक-आमिष रूपी निवाप-भोजनसे सर्वथा ही विरत हो जायें; भय-भोगसे विरत हो अरण्य-स्थानोंको अवगाहन कर विहरें'। (तब वह) लोक-आमिष रूपी निवाप-भोजनसे सर्वथा ही विरत हो गये; ० अरण्य स्थानोंको अवगाहन कर विहरने लगे—वह वहाँ शाकाहारी भी हुये, सवाँ (= श्यामाक)-भोजी भी हुये, नीवार (= तिन्नी) भक्षी भी हुये ०[1] (जमीन पर) पड़े फलोंके खानेवाले भी हुये। ग्रीष्मके अन्तिम समयमें घास पानीके क्षय होनेसे ०[2]बल-वीर्य नष्ट हो जानेसे (उनकी) चित्तकी विमुक्ति (= मुक्ति = शांति) नष्ट होगई, चित्तकी विमुक्तिके नष्ट होने पर, लोक-आमिष रूपी मारके बोये उसी निवापको लौट कर खाने लगे। उन्होंने ० मूर्छित हो खाया ०। इस प्रकार भिक्षुओ! वह दूसरे श्रमण-ब्राह्मण भी मारके···(फंदे)से नहीं छूटे। जैसे कि वह दूसरे मृग (थे) भिक्षुओ! उन्हींके समान मैं (इन) दूसरे श्रमण-ब्राह्मणोंको कहता हूँ।

"भिक्षुओ! तीसरे श्रमण-ब्राह्मणोंने यह सोचा—'जिन उन प्रथम श्रमण-ब्राह्मणोंने ० [3]मूर्छित हो भोजन किया ०[3] (वह) मारके···(फंदे)से नहीं छूटे। ० दूसरे श्रमण-ब्राह्मण ०[3] भोजनसे सर्वथा विरत हो गये ०[3],—(फिर) उसी निवापको लौट कर खाने लगे ०[3] वह मारके...(फंदे)से नहीं छूटे। क्यों न हम मारके बोये लोकामिष-रूपी इस निवाप का आश्रय लें। वहाँ आश्रय ले···इस···लोकामिष रूपी निवापको अमूर्छित (= न-बेसुध) हो भोजन करें। ०[4]लोकामिष रूपी निवापोंमें स्वेच्छाचारी नहीं होंगे।' (तब) उन्होंने मारके बोये लोक-आमिष-रूपी निवापका आश्रय लिया। आश्रय लेकर···निवापको अमूर्छित हो भोजन किया ०[4] वह मारके बोये लोकामिष-रूपी निवापमें स्वेच्छाचारी नहीं हुये। किन्तु उनकी यह दृष्टियाँ (= धारणायें) हुईं—(१) 'लोक शाश्वत (= नित्य) है', (२) 'लोक अशाश्वत है', (३) 'लोक अन्तवान् है', (४) 'अन्त-रहित (= अनन्तवान्) लोक है', (५) 'सोई जीव है सोई शरीर है', (६) 'जीव अन्य, शरीर अन्य है', (७) 'तथागत (= बुद्ध, मुक्त) मरनेके बाद होते हैं', (८) 'तथागत मरनेके बाद नहीं होते', (९) 'तथागत मरनेके बाद होते भी हैं, नहीं भी होते हैं', (१०) 'तथागत मरनेके बाद न होते हैं, न नहीं होते हैं'।—इस प्रकार भिक्षुओ! वह तीसरे श्रमण-ब्राह्मण भी मारके···(फंदे)से नहीं छूटे। जैसे कि वह तीसरे मृग (थे), भिक्षुओ! उन्हींके समान मैं (इन) तीसरे श्रमण-ब्राह्मणोंको समझता हूँ।

"भिक्षुओ! उन चौथे श्रमण-ब्राह्मणोंने सोचा—'जिन उन प्रथम श्रमण-ब्राह्मणोंने ० मूर्छित हो भोजन किया ० (वह) मारके···(फंदे)से नहीं छूटे। जो यह दूसरे श्रमण ब्राह्मण ० भोजनसे सर्वथा विरत होगये ० (फिर) उसी निवापको लौटकर खाने लगे ० वह (भी) मारके···(फंदे)से नहीं छूटे। जो वह तीसरे श्रमण-ब्राह्मण ० अमूर्छित हो भोजन करने लगे ०, उनकी यह दृष्टियाँ (= धारणायें) हुईं—०, (और) वह तीसरे श्रमण-ब्राह्मण भी मारके···(फंदे) से नहीं छूटे। क्यों न हम वहाँ आश्रय ग्रहण करें, जहाँ मार और मार-परिषद्

---

[1] देखो पृष्ठ ४८-४९। [2] देखो पृष्ठ ९८। [3] ऊपरकी आवृत्ति। [4] देखो पृष्ठ ९९।

की गति नहीं है। वहाँ आश्रय ग्रहण कर मारके बोये इस लोकामिष-रूपी निवापको···अमूर्छित हो भोजन करें।···अमूर्छित हो भोजन करनेसे मदको न प्राप्त होंगे, ० स्वेच्छाचारी न होंगे। (तब) उन्होंने वहाँ आश्रय ग्रहण किया जहाँ मार और मार-परिषद्की गति नहीं। वहाँ आश्रय ग्रहण कर···अमूर्छित हो उन्होंने मारके बोये लोकामिष-रूपी निवापको भोजन किया। ० लोकामिष-रूपी निवापमें स्वेच्छाचारी नहीं हुये। इस प्रकार भिक्षुओ! वह चतुर्थ श्रमण-ब्राह्मण मारके···(फंदे)से छूटे। जैसे भिक्षुओ! चौथे मृग थे, उन्हींके समान मैं इन चौथे श्रमण-ब्राह्मणोंको कहता हूँ।

"भिक्षुओ! कैसे मार और मार-परिषद्की गति नहीं होती?—(१) यहाँ भिक्षुओ! भिक्षु कामोंसे रहित बुरी बातोंसे रहित ०[1] प्रथम-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। भिक्षुओ! इसे कहते हैं—'भिक्षुने मारको अंधा कर दिया, मार-चक्षुसे अपद (= अगम्य) बन कर वह पापीसे अदर्शन हो गया। (२) और फिर ०[1] द्वितीय-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। ० अदर्शन हो गया। (३) और फिर ०[1] तृतीय-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। ० अदर्शन हो गया। (४) और फिर [1] चतुर्थ-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। ० अदर्शन हो गया। (५) और फिर ०[2]—'आकाश अनन्त है'—इस आकाश-आनन्त्य-आयतनको प्राप्त हो विहरता है। ० अदर्शन होगया। (६) और फिर ०[2] विज्ञान-आनन्त्य-आयतनको प्राप्त हो विहरता है। ० अदर्शन हो गया। (७) और फिर ०[2] आकिंचन्यायतनको प्राप्त हो विहरता है। ० अदर्शन होगया। (८) और फिर ०[1] नैव-संज्ञा-न-असंज्ञा-आयतनको प्राप्त हो विहरता है। मार-चक्षुसे अ-पद (= अगम्य) बन कर पापीसे अदर्शन हो गया; लोकसे विसक्तिक (= अनासक्त) हो उत्तीर्ण होगया है।"

भगवान्ने यह कहा, सन्तुष्ट हो उन भिक्षुओंने भगवान्के भाषणका अनुमोदन किया।

[1] देखो पृष्ठ १५। [2] देखो पृष्ठ २७-२८।

२६—पास-रासि(= अरिय-परियेसन)-सुत्तन्त (१।३।६)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथ-पिंडिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे। भगवान् पूर्वाह्णके समय पहिनकर, पात्र चीवर ले श्रावस्तीमें पिंड(= भिक्षाचार)के लिये प्रविष्ट हुये। तब बहुतसे भिक्षु···आयुष्मान् आनन्दके पास···जाकर···बोले—

"आवुस आनन्द! भगवान्के मुखसे धर्मोपदेश सुने देर हो गई। अच्छा हो आवुस आनन्द! हमें भगवान्के मुखसे धर्मोपदेश सुननेको मिले।"

"तो आयुष्मानो! जहाँ रम्यक (= रम्मक) ब्राह्मणका आश्रम है, वहाँ चलें, शायद भगवान्के मुखसे धर्मोपदेश सुननेको मिले।"

"अच्छा, आवुस!" (कह) उन भिक्षुओंने आयुष्मान् आनन्दको उत्तर दिया।

तब भगवान्ने श्रावस्तीमें पिंडचार कर, भोजनोपरान्त पिंडपातसे निवटकर आयुष्मान् आनन्दको संबोधित किया।—

"चलो, आनन्द! दिनके विहारके लिये (वहाँ चलें) जहाँ, मृगारमाता (= मिगार-माता=विशाखा)का प्रासाद पूर्वाराम है।"

"अच्छा, भन्ते!" (कह) आयुष्मान् आनन्दने भगवान्को उत्तर दिया।

तब भगवान् आयुष्मान् आनन्दके साथ दिनके विहारके लिये मृगारमाताके प्रासाद पूर्वाराम···गये। तब भगवान्ने सायंकाल प्रतिसँल्लयन (= एकान्तचिन्तन, भावना)से उठ आयुष्मान् आनन्दको संबोधित किया—

"चलो, आनन्द! गात्र-परिसिंचन (= नहाने)के लिये जहाँ पूर्वकोष्ठक है, वहाँ (चलें)।"

"अच्छा, भन्ते!" (कह) आयुष्मान् आनन्दने भगवान्को उत्तर दिया।

तब भगवान् आयुष्मान् आनन्दके साथ···पूर्वकोष्ठक गये। पूर्वकोष्ठकमें गात्र-परिसिंचन कर, निकल कर शरीरको सुखाते एक चीवर धारण किये खड़े हुये। तब आयुष्मान् आनन्दने भगवान्से यह कहा—

"भन्ते! यह पासमें रम्यक ब्राह्मणका आश्रम है। भन्ते! रम्यक ब्राह्मणका आश्रम रमणीय है= ० प्रसादनीय है। अच्छा हो भन्ते! यदि भगवान् कृपाकर जहाँ रम्यक ब्राह्मणका आश्रम है (वहाँ) चलें।"

भगवान्ने मौन रह स्वीकृति दी। तब भगवान् जहाँ रम्यक ब्राह्मणका आश्रम था, (वहाँ) गये। उस समय बहुतसे भिक्षु रम्यक ब्राह्मणके आश्रममें धर्मकथा कहते बैठे थे। भगवान् कथा की समाप्तिकी प्रतीक्षा करते बाहरवाले द्वारकोष्ठक (= फाटक) पर ठहरे। तब भगवान्ने कथाकी समाप्ति जानकर खाँसकर जंजीर (= अर्गल) खटखटाई। उन भिक्षुओंने भगवान्के लिये द्वार खोल

दिया। भगवान् रम्यक ब्राह्मणके आश्रममें प्रविष्ट हो बिछे आसनपर बैठे। बैठकर भगवान्ने भिक्षुओंको सम्बोधित किया—

"भिक्षुओ ! किस कथाको लेकर तुम बैठे थे, क्या तुम्हारे बीचमें कथा उठी थी ?"

"भन्ते ! भगवान्के सम्बन्धकी ही धार्मिक-कथा लेकर हम बैठे थे, भगवान्के विषयकी कथा ही हमारे बीचमें उठी थी। इतनेमें भगवान् पहुँच गये।"

"साधु, भिक्षुओ ! भिक्षुओ ! श्रद्धापूर्वक घरसे बेघर हो प्रव्रजित हुये तुम कुल-पुत्रोंके लिये यही उचित है, कि तुम धार्मिक-कथामें बैठो। एकत्रित होनेपर भिक्षुओ ! तुम्हारे लिये दो ही कर्त्तव्य है—(१) धार्मिक कथा, या (२) आर्य तूष्णीभाव (= उत्तम मौन)।

"भिक्षुओ ! दो प्रकारकी पर्येषणा (= खोज, गवेषणा) हैं—(१) आर्य (= उत्तम, ज्ञानियोंकी) पर्येषणा, और (२) अनार्य पर्येषणा। क्या है भिक्षुओ ! अनार्य पर्येषणा ?—भिक्षुओ ! कोई (पुरुष) स्वयं जाति-धर्मा (= जन्मनेके स्वभाववाला) होते जातिधर्मका ही पर्येषण (= खोज) करता है। स्वयं जराधर्मा (= बूढ़ा होना जिसका स्वभाव है) होते, जराधर्मका ही पर्येषण करता है। स्वयं व्याधिधर्मा ०। स्वयं मरण-धर्मा ०। स्वयं शोक-धर्मा ०। स्वयं संक्लेश (= मल)-धर्मा संक्लेश धर्मका ही पर्येषण करता है।

"भिक्षुओ ! किसको जातिधर्मा कहे ?—पुत्र, भार्या भिक्षुओ ! जातिधर्मा हैं; दासी, दास जातिधर्मा हैं; भेड़-बकरी जातिधर्मा हैं; मुर्गी-सुअर (= कुक्कुट-शूकर) ०; हाथी, गाय, घोड़ा-घोड़ी०; सोना-चाँदी। भिक्षुओ ! यह उपधियाँ (= भोग-पदार्थ) जातिधर्मा हैं, इनमें यह (पुरुष) ग्रथित, मूर्छित, आसक्त हो, स्वयं जातिधर्मा हो दूसरे जाति-धर्मा (पदार्थों)की पर्येषणा करता है।

"भिक्षुओ ! किसको जराधर्मा कहे ?—पुत्र, भार्या ० [1] जराधर्मा (पदार्थों)की पर्येषणा करता है।

"० व्याधि-धर्मा ० ? ० [1]।

"० मरण-धर्मा ० ? ० [1]।

"० शोक-धर्मा ० ? ० [1]।

"० संक्लेश-धर्मा ० ? ० [1]।

"भिक्षुओ ! क्या है आर्य पर्येषणा ?—भिक्षुओ ! कोई (पुरुष) स्वयं जातिधर्मा होते, जाति-धर्ममें दुष्परिणाम देख, अ-जात (जन्म-रहित), अनुत्तर (= सर्वोत्तम), योग-क्षेम (= मंगलमय) निर्वाणकी पर्येषणा करता है। स्वयं जराधर्मा, जराधर्ममें दुष्परिणाम देख, अ-जर (= जरारहित) अनुत्तर, योग-क्षेम, निर्वाणकी पर्येषणा करता है। स्वयं व्याधिधर्मा ० व्याधि-रहित ० स्वयं मरण-धर्मा ० अ-मृत ० स्वयं शोक-धर्मा ० अ-शोक ०। स्वयं संक्लेश-धर्मा ० अ-संक्लिष्ट (= मलरहित) अनुत्तर, योगक्षेम, निर्वाणकी पर्येषण करता है। भिक्षुओ ! यह है आर्य पर्येषणा।

"मैं भी भिक्षुओ ! सम्बोध (= बुद्ध-पद-प्राप्ति)से पूर्व, अ-संबुद्ध बोधिसत्त्व (= बुद्ध-पदका उम्मेदवार) होते समय, स्वयं जातिधर्मा होते जाति-धर्मा (पदार्थों)की ही पर्येषणा करता था ०। जराधर्मा ०। ० व्याधि-धर्मा ०। ० मरणधर्मा ०। ० शोकधर्मा ०। ० संक्लेश-धर्मा ०। तब मुझे···ऐसा हुआ—'क्या मैं जाति-धर्मा होते जाति-धर्मा (पदार्थों)की पर्येषणा करता हूँ ? ० ० संक्लेशधर्मा ० ? क्यों न मैं स्वयं जाति-धर्मा होते जातिधर्मा (पदार्थों)में दुष्परिणाम देख,

---

[1] ऊपरके पैरा जैसा।

अ-जात, अनुत्तर, योगक्षेम, निर्वाणकी पर्येषणा करूँ ? ० ० क्यों न मैं स्वयं संक्लेश-धर्मा होते, संक्लेश-धर्मा (पदार्थों)में दुष्परिणाम देख, अ-संक्लिष्ट (= निर्मल), अनुत्तर, योगक्षेम, निर्वाण की पर्येषणा करूँ ?

"तब मैं भिक्षुओ ! दूसरे समय तरुण, अत्यन्त काले केशोंवाला, भद्र (= सुन्दर) यौवनसे युक्त, पहिले वयस्में अनिच्छुक माता-पिताको अश्रुमुख रोते (छोड़), केश श्मश्रु (= दाढ़ी-मूँछ) मुँडा, काषाय वस्त्र पहिन घरसे बेघर बन प्रव्रजित (= संन्यासी) हुआ। सो इस प्रकार प्रव्रजित हो किंकुशल(= क्या उत्तम है)की गवेषणा करते, उत्तम शान्ति-पदको खोजते (= पर्येषणा करते) जहाँ आलार कालाम रहते थे, वहाँ पहुँचा। पहुँचकर आलार कालामसे यह बोला—'आवुस कालाम ! इस (तुम्हारे) धर्म-विनय(= धर्म)में ब्रह्मचर्यवास करना चाहता हूँ'। ऐसा कहनेपर भिक्षुओ ! आलार कालामने मुझे यह कहा—'विहरो आयुष्मान् ! यह ऐसा धर्म-विनय है, (जहाँ) विज्ञ-पुरुष न चिरमें अपने आचार्यक (= विशेषज्ञता)को स्वयं जानकर साक्षात्कर प्राप्तकर विहरेगा'। सो मैंने भिक्षुओ ! न चिरमें ही=क्षिप्रही उस धर्म (= अभ्यास)को पूराकर लिया। सो मैं भिक्षुओ ! उतने मात्रसे ओठ लगे मात्रसे, कहने-कहाने मात्रसे ज्ञानवाद भी झाड़ता था; 'मैं स्थविर (= वृद्धोंके) वादको जानता देखता (= बूझता) हूँ'—दावा करता था, और दूसरे भी। तब भिक्षुओ ! मुझे ऐसा हुआ—आलार कालाम 'श्रद्धा मात्रसे मैं इस धर्मको स्वयं जानकर, साक्षात्कर, प्राप्तकर, विहरता हूँ'—यह नहीं जतलाता। जरूर आलार कालाम इस धर्मको जानकर देखकर विहरता है। तब मैंने भिक्षुओ !...आलार कालाम...के पास जाकर...यह कहा—'आवुस कालाम ! कितना तक इस धर्मको स्वयं जानकर साक्षात्कर, प्राप्तकर हमें बतलाते हो ?' ऐसा कहनेपर भिक्षुओ ! आलार कालामने आकिंचन्यायतन[1] बतलाया।

"तब भिक्षुओ ! मुझे ऐसा हुआ—'आलार कालामके पास ही श्रद्धा नहीं है, मेरे पास भी श्रद्धा है। आलार कालामके पास ही वीर्य (= उद्योग) नहीं है, मेरे पास भी वीर्य है। ० स्मृति ०। ० समाधि ०। ० प्रज्ञा ०। क्यों न मैं, जिस धर्मको—'आलार कालाम स्वयं जानकर साक्षात् कर, प्राप्तकर विहरता हूँ'—कहता है; उस धर्मके साक्षात्के लिये प्रयत्न करूँ। तब मैं भिक्षुओ ! न चिरमें=क्षिप्रही उस धर्मको स्वयं जान, साक्षात् कर, प्राप्तकर विहरने लगा। तब मैं भिक्षुओ ! आलार कालामके पास जाकर...यह बोला—'आवुस कालाम ! इतने ही मात्र इस धर्मको स्वयं जान, साक्षात् कर, प्राप्तकर हमें बतलाते हो ?"

"इतने ही मात्र आवुस ! मैं इस धर्मको स्वयं जानकर, साक्षात् कर, प्राप्तकर बतलाता हूँ।"

"मैं भी आवुस ! इतने मात्र इस धर्मको स्वयं जानकर ० विहरता हूँ।"

"लाभ है हमें आवुस ! सुन्दर लाभ हुआ हमें आवुस ! जो हम आप जैसे सब्रह्मचारीको देखते हैं, (जोकि) जिस धर्मको मैं स्वयं जानकर ० बतलाता हूँ, उस धर्मको तुम स्वयं जानकर ० विहरते हो। जिस धर्मको तुम स्वयं जानकर ० विहरते हो, उस धर्मको मैं स्वयं जानकर ० बतलाता (= उपदेशता) हूँ। जिस धर्मको मैं जानता हूँ, उस धर्मको तुम जानते हो। जिस धर्मको तुम जानते हो, उस धर्मको मैं जानता हूँ। इस प्रकार जैसे तुम, तैसा मैं,। जैसा मैं वैसे तुम। आओ अब आवुस ! (हम) दोनों इस गण (= सन्यासियोंकी जमायत)को धारण करें।"

"इस प्रकार भिक्षुओ ! आलार कालामने आचार्य होते भी मुझ अन्तेवासी

---

[1] देखो पृष्ठ २७,२८।

(= शिष्य)को समसमान (पद)पर स्थापित किया[3]। बड़े सन्मानसे सन्मानित किया। तब भिक्षुओ ! मुझे ऐसा हुआ—'यह धर्म न निर्वेद (= उदासीनता)के लिये (है), न विरागके लिये, न निरोधके लिये, न उपशमके लिये, न अभिज्ञा (= दिव्य ज्ञान)के लिये, न संबोधके लिये, न निर्वाणके लिये है, केवल आकिंचन्य-आयतन (= दिव्य स्थान)में उत्पन्न होनेके लिये है।' तब मैं उस धर्मको अपर्याप्त (समझ) कर, उस धर्मसे विरक्त हो चल दिया।

"सो मैं भिक्षुओ ! किंकुशल-गवेषी, अनुत्तर शांतिके श्रेष्ठ पदको खोजते जहाँ उद्रक (= उद्दक) रामपुत्र था, वहाँ गया। जाकर उद्रक रामपुत्रसे बोला—

"आवुस राम ! इस धर्म-विनयमें मैं ब्रह्मचर्य-वास करना चाहता हूँ।"

"ऐसा कहनेपर भिक्षुओ ! उद्रक रामपुत्रने मुझे यह कहा—'विहरो आयुष्मान् ! यह ऐसा धर्म-विनय है, जिसमें विज्ञ पुरुष न-चिरमें अपने आचार्यक (= विशेषज्ञता) को स्वयं जानकर, साक्षात् कर, प्राप्तकर विहरेगा।" ०[1]। तब मैंने भिक्षुओ !...उद्रक रामपुत्र...के पास जाकर यह कहा—'आवुस राम ! कितने तक इस धर्मको स्वयं जानकर ० हमें बतलाते हो ?' ऐसा कहनेपर भिक्षुओ ! उद्रक रामपुत्रने नैवसंज्ञा-नाऽसंज्ञा-आयतन[2] बतलाया।

"तब भिक्षुओ ! मुझे ऐसा हुआ—'उद्रक रामपुत्रके पासही श्रद्धा नहीं है, मेरे पास भी श्रद्धा है। ० वीर्य ०। ० स्मृति ०। ० समाधि ०। ० प्रज्ञा ०। क्यों न मैं ०[1]। तब मैं उद्रक रामपुत्रके पास जाकर बोला—

"आवुस राम ! इतने ही मात्र इस धर्मको स्वयं जानकर ० हमें बतलाते हो ?"

"इतनाही मात्र आवुस ! मैं इस धर्मको स्वयं जानकर ० बतलाता हूँ।"

"मैं भी आवुस ! ०[3] लाभ है आवुस ! ०[3]। इस प्रकार जिस धर्मको मैं स्वयं जानकर ० बतलाता हूँ, उस धर्मको तुम स्वयं जानकर ० विहरते हो। जिस धर्मको तुम स्वयं जानकर ० विहरते हो, उसे राम स्वयं जानकर ० बतलाता है ०[3]। इस प्रकार जैसा राम है, वैसे तुम हो, जैसे तुम (हो) वैसा राम है। ०[3] आओ आवुस ! हम दोनों इस गण (= भिक्षुओंकी जमायत) को धारण करें।"

"इस प्रकार भिक्षुओ ! सब्रह्मचारी होतेभी, "मुझे आचार्यके पदपर स्थापित किया, (और) बड़े सन्मानसे सन्मानित किया। तब भिक्षुओ मुझे ऐसा हुआ—'यह धर्म न निर्वेदके लिये है ० [3]। सो मैं भिक्षुओ ! उस धर्मको अपर्याप्त (समझ)कर, उस धर्मसे विरक्त हो चल दिया।

"सो मैं भिक्षुओ ! किंकुशल-गवेषी ० शांतिके श्रेष्ठ पदको खोजते, मगधमें क्रमशः चारिका (= रामत) करते जहाँ उरुवेला सेनानी निगम था वहाँ पहुँचा। वहाँ मैंने एक रमणीय = प्रासादिक भूमि-भागमें, वन खंडमें एक नदीको बहते देखा जिसका घाट, रमणीय और श्वेत था। चारों ओर फिरनेके लिये गाँव थे। वहाँ मुझे यह हुआ—यह भूमि-भाग रमणीय है। यह वनखंड प्रासादिक है। श्वेत, सुन्दर घाटवाली रमणीय नदी[4] बह रही है। चारों ओर फिरनेके लिये गाँव हैं। परमार्थमें उद्योगी कुलपुत्रके लिये ध्यान-रत होनेके वास्ते यह बहुत उपयोगी है। तब मैं, भिक्षुओ !—यही ध्यान योग्य स्थान है (सोच) वहाँ बैठ गया। सो भिक्षुओ ! स्वयं जन्मने के स्वभाववाले मैंने जन्मनेके दुष्परिणामको जानकर अजन्मा, अनुपम, योगक्षेम निर्वाणको खोजता अजन्मा, अनुपम, योगक्षेम निर्वाणको पालिया। स्वयं जरा-धर्मवाला होते मैंने जरा-धर्मके दुष्प-[रिणामको] जानकर जरा-रहित, अनुपम, योगक्षेम निर्वाणको खोज अजर, अनुपम, योगक्षेम

[1] देखो पृष्ठ १०४। [2] देखो पृष्ठ २७, २८। [3] देखो ऊपर। [4] वर्तमान नीलाजन (गया)।

निर्वाणको पालिया। स्वयं व्याधि-धर्मा ० व्याधि धर्म-रहित ० स्वयं मरण-धर्मा ० अमर ०। स्वयं शोकधर्म-वाला ० शोकरहित ०। स्वयं संक्लेश (= मल)-युक्त ० संक्लेश रहित ०। मेरा ज्ञान, दर्शन (= साक्षात्कार) वन गया, मेरे चित्तकी मुक्ति अचल होगई; यह अन्तिम जन्म है, फिर अब (दूसरा) जन्म नहीं (होगा)।

"तब भिक्षुओ ! मुझे ऐसा हुआ—

"मैंने गंभीर, दुर्दर्शन, दुर्-ज्ञेय, शांत, उत्तम, तर्कसे अप्राप्य, निपुण, पण्डितों द्वारा जानने योग्य, इस धर्मको पालिया। यह जनता काम-तृष्णा (= आलय)में रमण करने वाली, काम-रत, काममें प्रसन्न है। काममें रमण करनेवाली इस जनताके लिये, यह जो कार्य-कारण रूपी प्रतीत्य-समुत्पाद है, वह दुर्दर्शनीय है। और यह भी दुर्दर्शनीय है, जो कि यह सभी संस्कारोंका शमन, सभी मल्रोंका परित्याग, तृष्णा-क्षय, विराग, निरोध (= दुःख-निरोध), और निर्वाण है। मैं यदि धर्मोपदेश भी करूँ और दूसरे उसको न समझ पावें, तो मेरे लिये यह तरद्दुद और पीड़ा (मात्र) होगी।

"उसी समय मुझे पहिले कभी न सुनी यह अद्भुत गाथायें सूझ पड़ीं—

'यह धर्म पाया कष्टसे, इसका न युक्त प्रकाशना।
नहिं राग-द्वेष-प्रलिप्तको है सुकर इसका जानना॥
गंभीर उल्टी-धार-युत दुर्दृश्य सूक्ष्म प्रवीणका।
तम-पुंज-छादित रागरतद्वारा न संभव देखना॥'

"मेरे ऐसा समझनेके कारण, मेरा चित्त धर्मप्रचारकी ओर न झुक अल्पउत्सुकताकी ओर झुक गया। तब सहापति ब्रह्माने मेरे चित्तकी वातको जानकर ख्याल किया—'लोक नाश हो जायगा रे! लोक विनाश हो जायगा रे! जब तथागत अर्हत् सम्यक् संबुद्धका चित्त धर्म-प्रचारकी ओर न झुक, अल्प-उत्सुकता (= उदासीनता)की ओर झुक जाये' (ऐसा ख्यालकर) सहापति ब्रह्मा, जैसे बलवान् पुरुष (विना परिश्रम) फैली बाँहको समेट ले, समेटी बाँहको फैलादे, ऐसेही ब्रह्मलोकसे अन्तर्धान हो, मेरे सामने प्रकट हुआ। फिर सहापति ब्रह्माने उपरना (= चद्दर) एक कंधेपर करके, दाहिने जानुको पृथिवीपर रख, जिधर मैं था उधर हाथ जोड़, कहा—'भन्ते ! भगवान् धर्मोपदेश करें, सुगत ! धर्मोपदेश करें। अल्प मलवाले प्राणी भी हैं, धर्मके न सुननेसे वह नष्ट हो जायेंगे। (उपदेश करें) धर्मको सुननेवाले (भी होवेंगे)'। सहापति ब्रह्माने यह कहा, और यह कहकर यह भी कहा—

'मगधमें मलिन चित्तवालोंसे चिन्तित, पहिले अशुद्ध धर्म पैदा हुआ। अमृतके द्वारको खोलनेवाले विमल (पुरुष) द्वारा जाने गये इस धर्मको (अब लोक) सुने। पथरीले पर्वतके शिखरपर खड़ा (पुरुष) जैसे चारों ओर जनताको देखे। उसी तरह हे सुमेध ! हे सर्वत्र नेत्र वाले ! धर्मरूपी महलपर चढ़ सब जनताको देखो। हे शोक-रहित ! शोक-निमग्न जन्म-जरासे पीड़ित जनताकी ओर देखो। उठो वीर ! हे संग्रामजित् ! हे सार्थवाह ! उऋण-ऋण ! जगमें विचरो ! धर्मप्रचार करो ! भगवान् ! जाननेवाले मिलेंगे।'

"तब मैंने ब्रह्माके अभिप्रायको जानकर, और प्राणियोंपर दया करके, बुद्ध-नेत्रसे लोकका अवलोकन किया। बुद्ध-चक्षुसे लोकको देखते हुये मैंने जीवोंको देखा, उनमें कितने ही अल्प-मल, तीक्ष्ण-बुद्धि, सुन्दर-स्वभाव, समझानेमें सुगम, प्राणियोंको भी देखा। उनमें कोई कोई परलोक और दोषसे भय करते, विहर रहे थे। जैसे उत्पलिनी, पद्मिनी (= पद्मसमुदाय) या पुंडरीकिनीमें से कितने ही उत्पल, पद्म या पुंडरीक उदकमें पैदा हुये उदकमें बँधे उदकसे बाहर न निकल

(उदकके) भीतरही डूबकर पोषित होते हैं। कोई कोई उत्पल (=नीलकमल), पद्म (=रक्तकमल) या पुंडरीक (=श्वेतकमल) उदकमें उत्पन्न, उदकमें बँधे (भी) उदकके बराबरही खड़े होते हैं। कोई कोई उत्पल, पद्म या पुंडरीक उदकमें उत्पन्न, उदकमें बँधे (भी), उदकसे बहुत ऊपर निकलकर, उदकसे अलिप्त (हो) खड़े होते हैं। इसी तरह भगवान्ने बुद्धचक्षुसे लोकको देखते हुये—अल्पमल, तीक्ष्णबुद्धि, सुस्वभाव, सुबोध्य प्रणियोंको देखा; जो परलोक तथा बुराईसे भय खाते विहर रहे थे। देखकर सहापति ब्रह्मासे गाथाद्वारा कहा—

'उनके लिये अमृतका द्वार बंद होगया है, जो कानवाले होनेपर भी, श्रद्धाको छोड़ देते हैं। हे ब्रह्मा! (वृथा) पीड़ाका ख्यालकर मैं मनुष्योंको निपुण, उत्तम, धर्मको नहीं कहता था।'

"तब ब्रह्मा सहापति—'भगवान्ने धर्मोपदेशके लिये मेरी बात मानली' यह जान, मुझको अभिवादनकर प्रदक्षिणाकर वहीं अन्तर्धान होगया। उस समय मेरे (मनमें) हुआ—'मैं पहिले किसे इस धर्मकी देशना (=उपदेश) करूँ; इस धर्मको शीघ्र कौन जानेगा?' फिर मेरे (मनमें) हुआ—'यह आलार-कालाम पण्डित, चतुर, मेधावी चिरकालसे अल्प-मलिन-चित्त है; मैं पहिले क्यों न आलार-कालामको ही धर्मोपदेश करूँ? वह इस धर्मको शीघ्रही जान लेगा।' तब (गुप्त) देवताने मुझसे कहा—'भन्ते! आलार-कालामको मरे सप्ताह होगया।' मुझको भी ज्ञान-दर्शन हुआ—'आलार कालामको मरे सप्ताह होगया।' तब मेरे (मनमें) हुआ—'आलार कालाम महा आजानीय था, यदि वह इस धर्मको सुनता, तो शीघ्रही जान लेता।' फिर मेरे (मनमें) हुआ—'यह उद्दक-रामपुत्र पण्डित, चतुर, मेधावी, चिरकालसे अल्प-मलिन चित्त है, क्यों न मैं पहिले उद्दक रामपुत्रको ही धर्मोपदेश करूँ? वह इस धर्मको शीघ्रही जान लेगा।' तब (गुप्त=अन्तर्धान) देवताने आकर कहा—'भन्ते! रातही उद्दक रामपुत्र मर गया। मुझको भी ज्ञान-दर्शन हुआ।...। फिर मेरे (मनमें) हुआ—'पञ्चवर्गीय भिक्षु मेरे बहुत काम करनेवाले थे, उन्होंने साधनामें लगे मेरी सेवा की थी। क्यों न मैं पहिले पञ्चवर्गीय भिक्षुओंको ही धर्मोपदेश करूँ।' मैंने सोचा—'इस समय पञ्चवर्गीय भिक्षु कहाँ विहर रहे हैं?" मैंने अ-मानुष विशुद्ध दिव्य चक्षुसे देखा—"पञ्चवर्गीय भिक्षु वाराणसीके [1]ऋषिपतन मृग-दावमें विहार कर रहे हैं।'

"तब मैं उरुवेलामें इच्छानुसार विहारकर, जिधर वाराणसी है, उधर चारिका (=रामत) के लिये निकल पड़ा। उपक आजीवक[2] ने देखा—मैं बोधि (=बोधगया) और गयाके बीचमें जा रहा हूँ। देखकर मुझसे बोला—"आयुष्मान् (आवुस)! तेरी इन्द्रियाँ प्रसन्न हैं, तेरा छवि-वर्ण (=कांति) परिशुद्ध तथा उज्वल है। किसको (गुरु) मानकर हे आवुस! तू प्रव्रजित हुआ है? तेरा शास्ता (=गुरु) कौन? तू किसके धर्मको मानता है? 'यह कहनेपर मैंने उपक आजीवकसे गाथामें कहा—

'मैं सबको पराजित करनेवाला, सबका जाननेवाला हूँ; सभी धर्मोंमें निर्लेप हूँ। सर्व-त्यागी (हूँ), तृष्णाके क्षयसे विमुक्त हूँ; मैं अपनेही जानकर उपदेश करूँगा।

मेरा आचार्य नहीं है मेरे सदृश (कोई) विद्यमान नहीं।
देवताओं सहित (सारे) लोकमें मेरे समान पुरुष नहीं।

---

[1] वर्तमान सारनाथ, बनारस। [2] उस समयके जड़वादी नग्न साधुओंका एक सम्प्रदाय, नन्द वात्स्य, कृश सांकृत्य और मक्खली-गोसाल जिसके प्रधान आचार्य थे।

मैं संसारमें अर्हत् हूँ, अपूर्व शास्ता (= गुरु) हूँ।
मैं एक सम्यक् संबुद्ध, शीतल तथा निर्वाणप्राप्त हूँ।
धर्मका चक्का घुमानेके लिये काशियोंके नगरको जारहा हूँ।
(वहाँ) अन्धे हुये लोकमें अमृत-दुन्दुभी बजाऊँगा॥'

'आयुष्मन्! तू जैसा दावा करता है, उससे तो अनन्त जिन हो सकता है।'

'मेरे ऐसेही सत्त्व जिन होते हैं, जिनके कि आस्रव (= क्लेश = मल) नष्ट हो गये हैं।
मैंने पाप (= बुरे)-धर्मोंको जीत लिया है, इसलिये हे उपक! मैं जिन हूँ।' ऐसा कहनेपर उपक आजीवक—'होवोगे आवुस!' कह, शिर हिला, बेरास्ते चल दिया। "तब मैं, भिक्षुओ! क्रमशः यात्रा (= चारिका) करते हुए, जहाँ वाराणसी ऋषि-पतन मृग-दाव था, जहाँ पञ्चवर्गीय भिक्षु थे, वहाँ पहुँचा। दूरसे आते हुये मुझे पञ्चवर्गीय भिक्षुओंने देखा। देखतेही आपसमें पक्का किया—'आवुसो! यह बाहुलिक (= बहुत जमा करने वाला) साधना-भ्रष्ट बाहुल्य-परायण (= जमा करनेमें लगा) श्रमण गौतम आ रहा है। इसे अभिवादन नहीं करना चाहिये, न प्रत्युत्थान (= सत्कारार्थ खड़ा होना) करना चाहिये। न इसके पात्र चीवरको (आगे बढ़कर) लेना चाहिये, केवल आसन रख देना चाहिये, यदि इच्छा होगी तो बैठेगा।'

"जैसे जैसे मैं पञ्चवर्गीय भिक्षुओंके समीप आता गया, वैसेही वैसे वह···अपनी प्रतिज्ञा-पर स्थिर न रह सके। (अन्तमें) मेरे पास आ, एकने मेरे पात्र चीवर लिये, एकने आसन बिछाया; एकने पादोदक (= पैर धोनेका जल) पादपीठ (= पैरका पीढ़ा), पादकठलिका (पैर रगड़नेकी लकड़ी) ला पास रक्खी। मैं बिछाये आसनपर बैठा। बैठकर मैंने पैर धोये। वह मेरे लिये 'आवुस' शब्दका प्रयोग करते थे। ऐसा करनेपर मैंने कहा—'नहीं भिक्षुओ! तथागतको नाम-लेकर या 'आवुस' कहकर मत पुकारो। भिक्षुओ! तथागत अर्हत् सम्यक्-सम्बुद्ध हैं। इधर कान दो, मैंने जिस अमृतको पाया है, उसका तुम्हें उपदेश करता हूँ। उपदेशानुसार आचरण करनेपर, जिसके लिये कुलपुत्र घरसे बेघर हो संन्यासी होते हैं, उस अनुत्तम ब्रह्मचर्यफलको, इसी जन्ममें शीघ्रही स्वयं जान कर = साक्षात्कार कर = लाभ कर विचरोगे।'

"ऐसा कहनेपर पञ्चवर्गीय भिक्षुओंने मुझे कहा—'आवुस गौतम! उस साधनामें, उस धारणामें, उस दुष्कर तपस्यामें भी तुम आर्योंके ज्ञानदर्शनकी पराकाष्ठाकी विशेषता, उत्तर-मनुष्य-धर्म (= दिव्य शक्ति)को नहीं पा सके; फिर अब बाहुलिक साधना-भ्रष्ट, बाहुल्यपरायण तुम आर्य-ज्ञान-दर्शनकी पराकाष्ठा, उत्तर-मनुष्य-धर्मको क्या पाओगे?'

"यह कहनेपर मैंने पञ्चवर्गीय भिक्षुओंसे कहा—'भिक्षुओ! तथागत बाहुलिक नहीं हैं, और न साधनासे भ्रष्ट हैं, न बाहुल्यपरायण हैं। भिक्षुओ! तथागत अर्हत् सम्यक् संबुद्ध हैं ०। ० लाभकर विहार करोगे।

"दूसरी बार भी पञ्चवर्गीय भिक्षुओंने मुझे कहा—'आवुस! गौतम ०।' दूसरी बार भी मैंने फिर (वही) कहा०। तीसरी बार भी पञ्चवर्गीय भिक्षुओंने मुझसे (वही) कहा०। ऐसा कहनेपर मैंने पञ्चवर्गीय भिक्षुओंको कहा—'भिक्षुओ! इससे पहिले भी क्या मैंने कभी इस प्रकार कहा है?'

'भन्ते! नहीं'

'भिक्षुओ! तथागत अर्हत्० विहार करोगे।'

"(तब) मैं पञ्चवर्गीय भिक्षुओंको समझानेमें समर्थ हुआ।

"वहाँ मैं दो भिक्षुओंको उपदेश करता था, तो तीन भिक्षु भिक्षाके लिये जाते थे। तीन

भिक्षु भिक्षाचार करके जो लाते थे, उसीसे छःओं जने निर्वाह करते थे। (जब) तीन भिक्षुओंको मैं उपदेश करता था, तो दो भिक्षु भिक्षाके लिये जाते थे। दो भिक्षु भिक्षाचार करके जो लाते थे, उसीसे छःओं जने निर्वाह करते थे। तब भिक्षुओ ! इस प्रकार मेरे उपदेश करनेसे, अववाद करनेसे पञ्चवर्गीय भिक्षु स्वयं जन्मनेके स्वभाववाले, जन्मनेके दुष्परिणामको जानकर ०[1] फिर अब (दूसरा) जन्म नहीं।'

"भिक्षुओ ! यह पाँच कामगुण (= काम-भोग) हैं। कौनसे पाँच ?—(१) चक्षुद्वारा ज्ञेय इष्ट=कान्त=मनाप=प्रियरूप=कामोपसंहित, रंजनीय रूप। (२) श्रोत्रद्वारा ज्ञेय ० शब्द। (३) घ्राणद्वारा ज्ञेय ० गंध। (४) जिह्वा द्वारा ज्ञेय० रस। (५) काया (= त्वक्) द्वारा ज्ञेय० स्प्रष्टव्य। भिक्षुओ ! यह पाँच कामगुण हैं। भिक्षुओ ! जो कोई श्रमण या ब्राह्मण इन पाँच कामगुणोंमें बँधे, मूर्छित (= गर्क), लिप्त हो, (उनके) दुष्परिणामको न देख, निकलनेकी बुद्धि न रख (उनका) उपभोग करते हैं; उनके लिये समझना चाहिये कि वह अ-नय (= बुराई)में पड़े हैं, दुःखमें पड़े हैं, पापी (दुर्भावनाओं की इच्छानुसार करनेवाले) हैं। जैसे, भिक्षुओ ! जंगली मृग **पाश-राशि** (= जालके ढेर)में बँधा सोवे; उसे समझना होगा—(यह मृग) बुराईमें पड़ा है, व्यसनमें पड़ा है। शिकारीकी इच्छानुसार करनेवाला है। शिकारीके आने पर (अपनी) इच्छाके अनुसार नहीं भाग सकेगा। इसी प्रकार भिक्षुओ ! जो कोई श्रमण या ब्राह्मण इन पाँच काम-गुणोंमें बँधे ० पापी (= दुर्भावनाओं)के इच्छानुसार करनेवाले हैं।

"भिक्षुओ ! जो कोई श्रमण या ब्राह्मण इन पाँच काम-गुणोंमें न-बँधे, अ-मूर्छित, अ-लिप्त हो, दुष्परिणामको देख, निकलनेकी बुद्धि रख उपभोग करते हैं; उनके लिये समझना चाहिये; कि वह अ-नयमें पड़े नहीं हैं, व्यसनमें पड़े नहीं हैं; पापीकी इच्छानुसार करनेवाले नहीं हैं। जैसे, भिक्षुओ ! जंगली मृग पाश-राशिमें न बँधा सोवे, उसके लिये समझना होगा—यह मृग अ-नयमें नहीं पड़ा है। व्यसनमें नहीं पड़ा है। शिकारीकी इच्छानुसार नहीं करनेवाला है। शिकारीके आनेपर अपनी इच्छाके अनुसार भाग सकेगा। इसी प्रकार भिक्षुओ ! जो कोई श्रमण या ब्राह्मण इन पाँच कामगुणोंमें न-बँधे ० पापीकी इच्छानुसार करनेवाले नहीं हैं। जैसे, भिक्षुओ ! जंगली मृग पवनके चलने पर निश्चिन्त चलता है, निश्चिन्त खड़ा होता है, निश्चिन्त बैठता है, निश्चिन्त लेटता है। सो क्यों ?—भिक्षुओ ! (वह) शिकारीकी पहुँचसे बाहर है। इसी प्रकार भिक्षुओ ! भिक्षु ०[2] प्रथम ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। भिक्षुओ ! उस भिक्षुके लिये इसलिये कहा जाता है—इसने मारको अंधा कर दिया; मार की आँख को⋯मारकर, वह पापीके सामनेसे अन्तर्धान हो गया।

"और फिर, भिक्षुओ ! भिक्षु ०[2] द्वितीय ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। भिक्षुओ ! इस भिक्षुके लिये कहा जाता है—० पापीके सामनेसे अन्तर्धान हो गया।

" ०[2] तृतीय ध्यान ०।

" ०[2] चतुर्थ ध्यान ०।

" ०[2] आकाशानन्त्यायतन ०।

" ०[2] विज्ञानानन्त्यायतन ०।

" ०[2] आकिंचन्यायतन ०।

" ०[2] नैवसंज्ञा-नासंज्ञायतन ०।

---

[1] देखो पृष्ठ १०५।　　[2] देखो पृष्ठ १५,२७,२८।

"०[1] संज्ञावेदित-निरोधको प्राप्त हो विहरता है। प्रज्ञासे देखकर उसके आस्रव (=चित्त-मल) नष्ट होगये। भिक्षुओ! इस भिक्षुके लिये कहा जाता है—० पापीके सामनेसे अन्तर्धान हो गया। वह लोकमें फन्देके पार होगया। वह निश्चिन्त चलता है, निश्चिन्त खड़ा होता है, निश्चिन्त बैठता है, निश्चिन्त सोता है। सो क्यों?—भिक्षुओ! वह पापीकी पहुँचसे बाहर हो गया।"

भगवान्‌ने यह कहा, सन्तुष्ट हो उन भिक्षुओंने भगवान्‌के भाषणको अभिनंदित किया।

२७—चूल-हत्थिपदोपम-सुत्तन्त (१।३।७)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथ-पिंडिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे।

उस समय जाणुस्सोणि (= जानुश्रोणि) ब्राह्मण सर्वश्वेत घोड़ियोंके रथपर सवार हो, मध्याह्नको श्रावस्तीसे बाहर जा रहा था। जानुश्रोणि ब्राह्मणने पिलोतिक परिव्राजकको दूरसे ही आते देखा। देखकर पिलोतिक परिव्राजकसे यह कहा—

"हन्त! वात्स्यायन (= वच्छायन)! आप मध्याह्नमें कहाँसे आ रहे हैं?"

"भो! मैं श्रमण गौतमके पाससे आ रहा हूँ।"

"तो आप वात्स्यायन श्रमण गौतमकी प्रज्ञा, पाण्डित्यको क्या समझते हैं? पंडित मानते हैं?"

"मैं क्या हूँ, जो श्रमण गौतमका प्रज्ञा-पांडित्य जानूँगा?"

"आप वात्स्यायन उदार (= बड़ी) प्रशंसाद्वारा श्रमण गौतमकी प्रशंसा कर रहे हैं?"

"मैं क्या हूँ, और मैं क्या श्रमण गौतमकी प्रशंसा करूँगा? प्रशस्त प्रशस्त (ही) हैं। आप गौतम, देव-मनुष्योंमें श्रेष्ठ हैं।"

"आप वात्स्यायन किस कारणसे श्रमण गौतमके विषयमें इतने अभिप्रसन्न हैं?"

"(जैसे) कोई चतुर नाग-वनिक (= हाथीके जंगलका आदमी) नाग-वनमें प्रवेश करे। वह वहाँ बड़े भारी (लंबे-चौड़े) हाथीके पैर (= हस्ति-पद)को देखे। उसको विश्वास हो जाय—अरे, बड़ा भारी नाग है। इसी प्रकार जब मैंने श्रमण गौतमके चार पद देखे, तो विश्वास होगया—कि (वह) भगवान् सम्यक्-संबुद्ध हैं, भगवान्‌का धर्म स्वाख्यात है, भगवान्‌का श्रावक-संघ सुप्रतिपन्न (= सुन्दर प्रकारसे रास्तेपर लगा) है। कौनसे चार?—(१) मैं देखता हूँ, बालकी खाल उतारनेवाले, दूसरोंसे वाद-विवाद किये हुये, निपुण, कोई कोई क्षत्रिय पंडित—मानों प्रज्ञामें स्थित, (तत्त्व) से दृष्टिगत (= धारणामें स्थित तत्त्व)को खंडा-खंडी करते चलते हैं—सुनते हैं—श्रमण गौतम अमुक ग्राम या निगममें आवेगा। वह प्रश्न तैयार करते हैं—'इस प्रश्नको हम श्रमण गौतमके पास जाकर पूछेंगे। ऐसा हमारे पूछनेपर, यदि वह ऐसा उत्तर देगा; तो हम इस प्रकार वाद (= शास्त्रार्थ) रोपेंगे।' वह सुनते हैं—श्रमण गौतम अमुक ग्राम या निगममें आगया। वह जहाँ श्रमण गौतम होता है, वहाँ जाते हैं। उनको श्रमण गौतम धार्मिक उपदेश कर दर्शाता है, समादपन,=समुत्तेजन, संप्रशंसन करता है। वह श्रमण गौतमसे धार्मिक उपदेश द्वारा संदर्शित, समादपित, समुत्तेजित, संप्रशंसित हो, श्रमण गौतमसे प्रश्न भी नहीं पूछते, उसके (साथ) वाद कहाँसे रोपेंगे? बल्कि और भी श्रमण गौतमके ही श्रावक (= शिष्य) हो जाते हैं। भो! जब मैंने श्रमण गौतममें यह प्रथम पद देखा, तब मुझे विश्वास हो गया—भगवान् सम्यक् संबुद्ध हैं ०।

"(२) और फिर भो ! मैं देखता हूँ, यहाँ कोई कोई बालकी खाल उतारने वाले, दूसरोंसे वाद-विवादमें सफल, निपुण ब्राह्मण पण्डित ०। मैंने श्रमण गौतममें यह दूसरा पद देखा।

"(३) ० गृहपति (= वैश्य)-पण्डित। ० यह तीसरा पद ०।

"(४) ० श्रमण (= प्रव्रजित)-पण्डित ०। वह श्रमण गौतमके धार्मिक उपदेशद्वारा ० समुत्तेजित संप्रशंसित हो, श्रमण गौतमसे प्रश्न भी नहीं पूछते, उसके (साथ) वाद कहाँसे रोपेंगे? बल्कि और भी श्रमण गौतमसे घरसे बेघर (होकर मिलनेवाली) प्रव्रज्याके लिये आज्ञा माँगते हैं। उनको श्रमण गौतम प्रव्रजित करता है, उपसम्पन्न करता है। वह वहाँ प्रव्रजित हो, अकेले एकान्तसेवी, प्रमादरहित, तत्पर, आत्म-संयमी हो विहार करते, अचिरहीमें, जिसके लिये कुल-पुत्र घरसे बेघर हो, प्रव्रजित होते हैं, उस अनुपम ब्रह्मचर्य-फलको इसी जन्ममें स्वयं जान कर, साक्षात् कर, प्राप्त कर, विहरते हैं। वह ऐसा कहते हैं—'मनको भो! नाश किया, मनको भो! प्र-नाश किया। हम पहिले अ-श्रमण होते हुये भी 'हम श्रमण हैं'—दावा करते थे; अ-ब्राह्मण होते हुये भी 'हम ब्राह्मण हैं'—दावा करते थे। अन्-अर्हत् होते हुये भी 'हम अर्हत् हैं'—दावा करते थे। अब हम श्रमण हैं, अब हम ब्राह्मण हैं, अब हम अर्हत् हैं।' श्रमण गौतममें जब इस चौथे पदको देखा, तब मुझे विश्वास हो गया—भगवान् सम्यक् संबुद्ध हैं ०। भो! मैंने जब इन चार पदोंको श्रमण गौतममें देखा, तब मुझे विश्वास हो गया ०।"

ऐसा कहनेपर जानुश्रेणी ब्राह्मणने सर्व-श्वेत घोड़ीके रथसे उतरकर, एक कंधेपर उत्तरासंग (= चादर) करके, जिधर भगवान् थे उधर अञ्जलि जोड़कर, तीन बार यह उदान कहा—"[1]नमस्कार है, उस भगवान् अर्हत् सम्यक् संबुद्धको,' 'नमस्कार है ०।' 'नमस्कार है ०।' क्या मैं कभी किसी समय उन आप गौतमके साथ मिल सकूँगा? क्या कभी कोई कथा-संलाप हो सकेगा?'

तब जानु श्रोणि ब्राह्मण जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया। जाकर भगवान्‌के साथ ० संमोदन-कर···(कुशलप्रश्न पूछ) एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे हुये जानु-श्रोणि ब्राह्मणने, जो कुछ पिलोतिक परिव्राजकके साथ कथा-संलाप हुआ था, सब भगवान्‌से कह दिया। ऐसा कहनेपर भगवान्‌ने जानु-श्रोणि ब्राह्मणसे कहा—

"ब्राह्मण! इतने (ही) विस्तारसे हस्ति-पद-उपमा परिपूर्ण नहीं होती। ब्राह्मण! जिस प्रकारके विस्तारसे हस्ति-पद-उपमा परिपूर्ण होती है, उसे सुनो और मनमें (धारण) करो···।"

"अच्छा भो!" कह जानु-श्रोणि ब्राह्मणने भगवान्‌को उत्तर दिया।

भगवान्‌ने कहा—"जैसे ब्राह्मण नाग-वनिक नाग-वनमें प्रवेश करे। वहाँपर नाग-वनमें वह बड़े भारी ० हस्ति-पदको देखे। जो चतुर-नाग-वनिक होता है वह विश्वास नहीं करता—'अरे! बड़ा भारी नाग है।' किसलिये? ब्राह्मण! नाग-वनमें बामकी (= बँवनी) नामकी हथिनियाँ भी महा-पदवाली होती हैं, उनका वह पैर हो सकता है। उसके पीछे चलते हुए वह नाग-वनमें बड़े भारी···(लम्बे चौड़े)···हस्ति-पद और ऊँचे डीलको देखता है। जो चतुर नाग-वनिक होता है, वह तब भी विश्वास नहीं करता—'अरे बड़ा भारी नाग है'। किसलिये? ब्राह्मण! नागवनमें ऊँची कालारिका नामक हथिनियाँ बड़े पैरोंवाली होती हैं, वह उनका पद हो सकता है। वह उसका अनुगमन करता है, अनुगमन करते नाग-वनमें देखता है—बड़े भारी लम्बे चौड़े हस्ति-पद, ऊँचे डील और ऊँचे दाँतोंसे आरञ्जित (प्राणी)को। जो चतुर नाग-वनिक होता है, वह तब भी विश्वास नहीं करता ०। सो किसलिये? ब्राह्मण! नाग-वनमें ऊँची करेणुका नामक हथिनियाँ

---

[1] 'नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मा सम्बुद्धस्स'।

महा-पदवाली होती हैं। वह उनका भी पद हो सकता है। वह उसका अनुगमन करता है। उसका अनुगमन करते नागवनमें, बड़े भारी,...(लम्बे-चौड़े) हस्ति-पद, ऊँचे डील, ऊँचे दाँतोंसे सुशोभित (प्राणी), और शाखाको ऊँचेसे टूटा देखता है। और वहाँ वृक्षके नीचे, या चौड़ेमें जाते, खड़े, बैठे या लेटे उस नागको देखता है। वह विश्वास करता है, यही वह महानाग है।

"इसी प्रकार ब्राह्मण यहाँ तथागत, अर्हत् सम्यक्-सम्बुद्ध, विद्या-आचरण-सम्पन्न, सुगत, लोकविद्, अनुत्तर पुरुप-दम्य-सारथी, देव-मनुष्योंके शास्ता, बुद्ध भगवान् लोकमें उत्पन्न होते हैं। वह इस देव-मार-ब्रह्मा सहित लोक, श्रमण-ब्राह्मण-देव-मनुष्य-सहित प्रजाको, स्वयं जान कर, साक्षात् कर, समझाते हैं। वह आदि-कल्याण, मध्य-कल्याण, पर्यवसान-कल्याणवाले धर्मका उपदेश करते हैं। अर्थ-सहित व्यंजन-सहित, केवल परिपूर्ण परिशुद्ध, ब्रह्म-चर्यको प्रकाशित करते हैं। उस धर्मको गृह-पति या गृह-पतिका पुत्र, या और किसी छोटे कुलमें उत्पन्न (पुरुप) सुनता है। वह उस धर्मको सुन-कर तथागतके विपयमें श्रद्धा लाभ करता है। वह उस श्रद्धा-लाभसे संयुक्त हो, यह सोचता है—गृह-वास जंजाल मैलका मार्ग है। प्रव्रज्या मैदान (= चौड़ा) है। इस एकान्त सर्वथा-परिपूर्ण, सर्वथा परिशुद्ध, खरादे शंख जैसे ब्रह्मचर्यका पालन, घरमें वसते हुयेके लिये सुकर नहीं है। क्यों न मैं सिर-दाढ़ी मुँड़ा कर, कापायवस्त्र पहिन, घरसे बेघर हो प्रव्रजित हो जाऊँ? सो वह दूसरे समय अपनी अल्प (=थोड़ी) भोग-राशि, या महा-भोग-राशिको छोड़, अल्प-ज्ञाति-मंडल या महा-ज्ञाति-मंडलको छोड़, सिर-दाढ़ी मुँड़ा, कापायवस्त्र पहिन, घरसे बेघर हो, प्रव्रजित होता है। वह इस प्रकार प्रव्रजित हो, भिक्षुओंकी शिक्षा, समान-जीविकाको प्राप्त हो, प्राणातिपात छोड़ प्राणहिंसासे विरत होता है। दंड-त्यागी, शस्त्र-त्यागी, लज्जी, दयालु, सर्व-प्राणों सर्व-प्राण-भूतोंका हित और अनुकंपक हो, विहार करता है। अ-दिन्नादान (= चोरी) छोड़ दिन्नादायी (= दियेको लेनेवाला), दत्त-प्रति-कांक्षी (= दियेका चाहनेवाला),...पवित्रात्मा हो, विहरता है। अ-ब्रह्मचर्यको छोड़कर ब्रह्म-चारी, ग्राम्यधर्म मैथुनसे विरत हो, आर-चारी (= दूर रहनेवाला) होता है। मृपावादको छोड़, मृपावादसे विरत हो, सत्य-वादी, सत्य-संध, लोकका अ-विसंवादक = विश्वास-पात्र...होता है। पिशुन-वचन (= चुगली) छोड़, पिशुन-वचनसे विरत होता है,—यहाँ सुनकर इनके फोड़नेके लिये, वहाँ नहीं कहनेवाला होता; या, वहाँ सुनकर उनके फोड़नेके लिये, यहाँ कहनेवाला नहीं होता। इस प्रकार भिन्नों (= फूटों)को मिलानेवाला, मिले हुओंको भिन्न न करनेवाला, एकतामें प्रसन्न, एकतामें रत, एकतामें आनन्दित हो, समग्र (= एकता)-करणी वाणीका बोलने-वाला होता है, परुप (= कटु) वचनको छोड़, परुप वचनसे विरत होता है। जो वह वाणी... कर्ण-सुखा, प्रेमणीया, हृदयङ्गमा, पौरी (= नागरिक, सभ्य) वहुजन-कान्ता = वहुजन-मनापा है; वैसी वाणीका बोलनेवाला होता है। प्रलापको छोड़कर प्रलापसे विरत होता है। काल-वादी (= समय देखकर बोलनेवाला), भूत (= यथार्थ)वादी, अर्थ-वादी, धर्म-वादी, विनय-वादी हो, तात्पर्य-सहित, पर्यन्त-सहित, अर्थ-सहित, निधान-वती वाणीका बोलनेवाला होता है।

"वह बीज-समुदाय भूत-समुदायके विनाश[1] (= समारंभ)से विरत होता है। एका-हारी, रातको उपरत = विकाल (= मध्याह्नोत्तर) भोजनसे विरत होता है। माला, गंध और विलेपनके धारण, मंडन और विभूपणसे विरत होता है। उच्चशयन और महाशयन (= राजसी शय्या)से विरत होता है। जातरूप(= सोना)-रजतके प्रतिग्रहणसे विरत होता है। कच्चे अनाजके प्रतिग्रहण (= लेना)से विरत होता है। कच्चा मांस लेनेसे विरत होता है। स्त्री-कुमारी ०।

---

[1] समारम्भ = समालम्भ = हिंसा, जैसे अश्वालम्भ, गवालम्भ।

दासी-दास ० । भेड़-बकरी ० । मुर्गी-सूअर ० । हाथी-गाय ० । घोड़ा-घोड़ी ० । खेत-घर ० । दूत बनकर जाने… ० । क्रय-विक्रय ० । तराजूकी ठगी, काँसेकी ठगी, मान (= सेर मन आदि) की ठगी ० । घूस, वंचना, जाल-साजी, कुटिल-योग ० । छेदन, वध, बंधन, छापा मारने, आलोप (ग्राम आदिका विनाश) करने, डाका डालने ० ।

"वह शरीरपरके चीवरसे, पेटके खानेसे सन्तुष्ट होता है । वह जहाँ जहाँ जाता है, (अपना सामान) लिये ही जाता है ; जैसे कि पक्षी जहाँ कहीं उड़ता है, अपने पत्र-भार सहितही उड़ता है । इसी प्रकार भिक्षु शरीरके चीवरसे, पेटके खानेसे, सन्तुष्ट होता है । ० । वह इस प्रकार आर्य-शील (= निर्दोष सदाचारकी)-स्कंध (= राशि)से युक्त हो, अपनेमें (= अध्यात्म) निर्दोष सुख अनुभव करता है ।

"वह चक्षुसे रूपको देखकर, निमित्त (= लिंग, आकृति आदि) और अनुव्यंजनका ग्रहण करनेवाला नहीं होता । चूँकि चक्षु इन्द्रियको अ-रक्षित रख विहरनेवालेको, राग द्वेष पाप = अ-कुशल धर्म उत्पन्न हो जाते हैं, इसलिये उसको रक्षित रखता (= संवर करता) है । चक्षु इन्द्रियकी रक्षा करता है = चक्षु इन्द्रियमें संवर ग्रहण करता है । वह श्रोतसे शब्द सुनकर निमित्त और अनुव्यंजनका ग्रहण करनेवाला नहीं होता ० । घ्राणसे गंध ग्रहणकर ० । जिह्वासे रस ग्रहणकर ० । कायासे स्पर्श ग्रहणकर ० । मनसे धर्म ग्रहण कर ० । इस प्रकार वह आर्य-इन्द्रिय-संवरसे युक्त हो, अपनेमें निर्मल सुखको अनुभव करता है ।

"वह आने जानेमें, जानकर करनेवाला होता है । अवलोकन विलोकनमें, संप्रजन्य-युक्त (= जानकर करनेवाला) होता है । समेटने-फैलानेमें संप्रजन्य-युक्त होता है । संघाटी पात्र-चीवर धारण करनेमें ० । खाना-पीना भोजन-आस्वादनमें ० । पाखाना-पेशाबके काममें ० । जाते-खड़े होते, बैठते, सोते-जागते, बोलते-चुप रहते, संप्रजन्य-युक्त होता है । वह इस आर्य शील-स्कंधसे युक्त, इस आर्य इन्द्रिय-संवरसे युक्त, इस आर्य स्मृति-संप्रजन्यसे युक्त हो, एकान्तमें—अरण्य, वृक्षके नीचे, पर्वत, कन्दरा, गिरि-गुहा, श्मशान, वन-प्रान्त, चौड़े, या पुआलके गंजमें—वास करता है । वह भोजनके पश्चात्…आसन मार कर, कायाको सीधा कर, स्मृतिको सन्मुख रख बैठता है । वह लोकमें (१) अभिध्या (= लोभ)को छोड़, अभिध्या-रहित-चित्त हो, विहरता है ; चित्तको अभिध्यासे परिशुद्ध करता है । (२) व्यापाद (= द्रोह)-दोषको छोड़कर, व्यापाद-रहित चित्तसे, सर्व प्राणियोंका हितानुकम्पी हो, विहरता है ; व्यापाद दोषसे चित्तको परिशुद्ध करता है । (३) स्त्यानमृद्ध (= शरीर-मनके आलस)को छोड़, स्त्यान-मृद्ध-रहित हो, आलोक-संज्ञावाला, स्मृति, सम्प्रजन्यसे युक्त हो विहरता है । औद्धत्य-कौकृत्यको छोड़ अन्-उद्धत हो भीतरसे शान्त हो, विहरता है । (४) औद्धत्य-कौकृत्यसे चित्तको परिशुद्ध करता है । (५) विचिकित्सा (= सन्देह)को छोड़ विचिकित्सा-रहित हो, कुशल (= उत्तम)-धर्मोंमें विवाद-रहित (= अकथंकथी) हो, विहरता है ; चित्तको विचिकित्सासे परिशुद्ध करता है ।

"वह इन पाँच नीवरणोंको चित्तसे छोड़, उप-क्लेशों (= चित्त-मलों)को जान, (उनके) दुर्बल करनेके लिये, कामोंसे पृथक् हो, अ-कुशल-धर्मोंसे पृथक् हो, स-वितर्क, स-विचार विवेकसे उत्पन्न, प्रीति-सुखवाले प्रथम ध्यानको प्राप्त हो, विहरता है । ब्राह्मण ! यह पद भी तथागतका पद कहा जाता है, यह (पद) भी तथागतसे सेवित है, यह (पद) भी तथागत-रंजित है । किन्तु आर्य-श्रावक इतनेही से विश्वास नहीं कर लेता—भगवान् सम्यक् संबुद्ध हैं, भगवान्का धर्म स्वाख्यात है, भगवान्का श्रावक-संघ सु-प्रतिपन्न है ।

"और फिर ब्राह्मण ? भिक्षु वितर्क और विचारके उपशांत होनेपर, भीतरके संप्रसाद

(= प्रसन्नता) = चित्तकी एकाग्रताको प्राप्त हो, वितर्क-विचार-रहित, समाधिसे उत्पन्न प्रीति-सुखवाले, द्वितीय-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। ब्राह्मण! यह पद भी तथागतका पद कहा जाता है, यह भी तथागत-सेवित है, यह भी तथागत-रंजित है। किन्तु आर्य-श्रावक इतनेहीसे विश्वास नहीं कर लेता—भगवान् सम्यक्-संबुद्ध हैं ०।

"और फिर ब्राह्मण! भिक्षु प्रीति और विरागसे उपेक्षक हो, स्मृति और संप्रजन्यसे युक्त हो, कायासे सुखको अनुभव करता विहरता है; जिसको (और) कि आर्य-जन उपेक्षक स्मृतिमान् सुख-विहारी कहते हैं, ऐसे तृतीय-ध्यानको प्राप्त हो, विहरता है। ब्राह्मण! यह पद भी तथागत-पद कहा जाता है०। किन्तु आर्य श्रावक इतनेहीसे विश्वास नहीं कर लेता०।

"और फिर ब्राह्मण! भिक्षु सुख और दुःखके विनाशसे, सौमनस्य और दौर्मनस्यके पूर्वही अस्त हो जानेसे, दुःख-रहित, सुख-रहित उपेक्षक हो, स्मृतिकी परिशुद्धता-युक्त चतुर्थध्यानको प्राप्त हो विहरता है। यह भी ब्राह्मण! तथागत-पद कहा जाता है०। किन्तु आर्यश्रावक इतनेहीसे विश्वास नहीं कर लेता—भगवान् सम्यक् संबुद्ध हैं ०।

"सो इस प्रकार चित्तके—परिशुद्ध=परि-अवदात, अंगण-रहित=उपक्लेश (= मल)रहित, मृदु हुये, काम-लायक, स्थिर=अचलता-प्राप्त=समाहित—हो जानेपर, पूर्वजन्मोंकी स्मृतिके ज्ञान (= पूर्व-निवासाऽनुस्मृति-ज्ञान)के लिये चित्तको झुकाता है। फिर वह अनेक पूर्व-निवासोंको स्मरण करने लगता है—जैसे 'एक जन्म भी, दो जन्म भी, तीन जन्म भी, चार०, पाँच०, छः०, दस०, बीस०, तीस०, चालीस०, पचास०, सौ०, हजार०, सौहजार०, अनेक संवर्त (= प्रलय) कल्प, अनेक विवर्त (= सृष्टि)-कल्प, अनेक संवर्त-विवर्त-कल्पको भी,—इस नामवाला, इस गोत्रवाला, इस वर्णवाला, इस आहारवाला, इस प्रकारके सुख दुःखको अनुभव करनेवाला, इतनी आयु-पर्यन्त, मैं अमुक स्थानपर रहा। सो मैं वहाँसे च्युत हो, यहाँ उत्पन्न हुआ।' इस प्रकार आकार-सहित उद्देश्य-सहित अनेक किये गये निवासोंको स्मरण करता है। यह भी ब्राह्मण! तथागत-पद कहा जाता है। ०।

"सो इस प्रकार चित्तके परिशुद्ध ० समाहित होनेपर प्राणियोंके जन्म-मरणके ज्ञान (= च्युति-उत्पाद-ज्ञान)के लिये चित्तको झुकाता है। सो अ-मानुष विशुद्ध दिव्य चक्षुसे अच्छे बुरे, सु-वर्ण, दुर्वर्ण, सुगत, दुर्गत, मरते, उत्पन्न होते, प्राणियोंको देखता है। उनके कर्मोंके साथ सत्त्वोंको जानता है—'यह जीव काय-दुश्चरित-सहित, वचन-दुश्चरित-सहित, मन-दुश्चरित-सहित थे, आर्योंके निन्दक (= उपवादक) मिथ्या-दृष्टिवाले, मिथ्यादृष्टि-सम्बन्धी कर्मोंसे युक्त थे। यह काया छोड़, मरनेके बाद अ-पाय = दुर्गति = विनिपात = नर्कमें उत्पन्न हुये हैं। और यह जीव (= सत्त्व) काय-सुचरित-सहित, वचन-सुचरित-सहित, मन-सुचरित-सहित थे, आर्योंके अ-निन्दक सम्यग्-दृष्टिवाले सम्यग्-दृष्टि-सम्बन्धी कर्मोंसे युक्त थे। यह कायासे अलग हो...मरनेके बाद सुगति = स्वर्गलोकको प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार अ-मानुष विशुद्ध दिव्य चक्षुसे प्राणियोंको ० देखता है। यह भी ब्राह्मण! तथागत-पद कहा जाता है। ०।

"सो इस प्रकार चित्तके ० समाहित हो जानेपर आस्रव-क्षय-ज्ञान (= रागादि चित्त-मलोंके नाश होनेका ज्ञान)के लिये चित्तको झुकाता है। सो 'यह दुःख है' इसे यथार्थसे जानता है, 'यह दुःख-समुदय है' इसे यथार्थसे जानता है, 'यह दुःख-निरोध है' इसे यथार्थसे जानता है। 'यह आस्रव है' ०। 'यह आस्रव-समुदय है'। 'यह आस्रव-निरोध है' ०। 'यह आस्रव-निरोध-गामिनी-प्रतिपद् (= रागादि चित्त-मलोंके नाशकी ओर ले जानेवाला मार्ग) है' ०। यह भी ब्राह्मण! तथागत-पद कहा जाता है ०। ०।

"इस प्रकार जानते, इस प्रकार देखते, उस (पुरुष)के चित्तको काम-आस्रव भी छोड़ देता है, भव-आस्रव भी ०, अ-विद्या-आस्रव भी ०। छोड़ देने (=विमुक्त हो जाने)पर, 'छूट गया हूँ' ऐसा ज्ञान होता है। 'जन्म खतम हो गया, ब्रह्मचर्य पूरा हो गया, करना था, सो कर लिया, अब यहाँके लिये कुछ नहीं'—यह भी जानता है। ब्राह्मण ! यह भी तथागत-पद कहा जाता है ०। इतनेसे ब्राह्मण ! आर्य-श्रावक विश्वास करता है—भगवान् सम्यक्-संबुद्ध हैं ०।

"इतनेसे ब्राह्मण ! हस्ति-पदकी उपमा (हत्थि-पदोपम) विस्तारपूर्वक पूरी होती है।"

ऐसा कहनेपर जानुश्रोणि ब्राह्मणने भगवान्‌को यह कहा—

"आश्चर्य ! भो गौतम !! आश्चर्य ! भो गौतम !! ०[1] मैं आप गौतमकी शरण जाता हूँ, धर्म और भिक्षु-संघकी भी। आजसे (मुझे) आप गौतम अंजलि-बद्ध उपासक धारण करें।

२८—महाहत्थिपदोपम-सुत्तन्त (१।३।८)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथ-पिंडिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे।

वहाँ आयुष्मान् सारिपुत्रने भिक्षुओंको संबोधित किया—

"आवुसो ! भिक्षुओ !"

"आवुस"—कह, उन भिक्षुओंने आयुष्मान् सारिपुत्रको उत्तर दिया।

आयुष्मान् सारिपुत्रने कहा—

"जैसे आवुसो ! जंगली प्राणियोंके जितने पद हैं, वह सभी हाथीके पैर (=हस्ति-पद) में समा जाते हैं। बड़ाईमें हस्ति-पद उनमें उग्र (=श्रेष्ठ) गिना जाता है। ऐसे ही आवुसो ! जितने कुशल धर्म हैं, वह सभी चार आर्य-सत्योंमें सम्मिलित हैं। कौनसे चारोंमें ?—दुःख आर्य-सत्यमें, दुःख-समुदय आर्य-सत्यमें, दुःख-निरोध आर्य-सत्यमें, और दुःख-निरोध-गामिनी-प्रतिपद् आर्य-सत्यमें।

"क्या है आवुसो ! दुःख आर्य-सत्य ?—जन्म भी दुःख है। जरा (=बुढ़ापा) भी दुःख है। मरण भी दुःख है। शोक, रोना-पिटना, दुःख है। मनःसंताप, परेशानी भी दुःख है। जो इच्छा करके नहीं पाता वह भी दुःख है। संक्षेपमें पाँच उपादान-स्कंध दुःख हैं।

"आवुसो ! पाँच उपादान-स्कंध कौनसे हैं ?—(पाँच उपादान-स्कंध हैं) जैसे कि—रूप-उपादान स्कंध, वेदना ०, संज्ञा ०, संस्कार ०, विज्ञान ०। आवुसो ! रूप-उपादान-स्कंध क्या है ?—चार महाभूत, और चारों महाभूतोंको लेकर (बननेवाले) रूप। आवुसो ! चार महाभूत कौनसे हैं ?—पृथिवी-धातु, आप (= पानी) ०, तेज (= अग्नि) ०, वायु ०। आवुसो ! पृथिवी-धातु क्या है ?—पृथिवी धातु हैं (दो), आध्यात्मिक (= शरीरमें) और बाहरी। आवुसो ! आध्यात्मिक पृथिवी-धातु क्या है ?—जो शरीरमें (= अध्यात्म) हरएक शरीरमें कर्कश कठोर (पदार्थ) हैं, जैसे कि—केश, लोम, नख, दन्त, त्वक् (=चमड़ा), माँस, स्नायु (= नहारु), अस्थि, अस्थिके भीतरकी मज्जा, बुक्क, हृदय, यकृत, क्लोमक, प्लीहा, फुफ्फुस, आँत, पतली-आँत, उदरका मल (= करीष)। और भी जो कुछ शरीरमें प्रतिशरीरके भीतर कर्कश, कठोर (पदार्थ) गृहीत है। यह आवुसो ! आध्यात्मिक पृथिवी-धातु कही जाती है। जो कि आध्यात्मिक पृथिवी धातु है, और जो बाहरी (= बाहिरा) पृथिवी-धातु है, यह पृथिवी धातुही है। 'वह यह (पृथिवी) न मेरी है, न यह मैं हूँ, न यह मेरा आत्मा है' यह यथार्थसे अच्छी प्रकार जानकर देखना चाहिये। इस प्रकार इसे यथार्थसे अच्छी प्रकार जानकर देखनेसे, (द्रष्टा) पृथिवी-धातुसे निर्वेद (= उदासीनता)को प्राप्त होता है। पृथिवी धातुसे चित्तको विरक्त करता है।

"आवुसो ! ऐसा भी समय होता है, जब बाहरी पृथिवी-धातु कुपित होती है, उस समय बाहरी पृथिवी धातु अन्तर्धान होती है। (तब) आवुसो ! इतनी महान् बाहरी पृथिवी-धातुकी भी अनित्यता=क्षय-धर्मता = वि-परिणाम-धर्मता जान पड़ती है। इस क्षुद्र कायाका तो क्या (कहना है) ? तृष्णामें फँसा (= तण्हुपादिण्ण) जिसे 'मैं', 'मेरा' या 'मैं हूँ' (कहता); वही इसकी नहीं होती।

"भिक्षुओ ! जब दूसरे आक्रोश = परिहास = रोष = पीड़ा देते हैं, तो वह समझता है—'यह उत्पन्न दुःखरूप-वेदना (= ० अनुभव) मुझे श्रोत्रके सम्बन्ध (= संस्पर्श) से उत्पन्न हुई है। और यह कारणसे (उत्पन्न हुई है) अ-कारणसे नहीं। किस कारणसे ?—स्पर्शके कारण। 'स्पर्श अ-नित्य है'—यह वह देखता है। 'वेदना अ-नित्य है' ० 'संज्ञा अ-नित्य है' ०। 'संस्कार अ-नित्य है' ०। 'विज्ञान अ-नित्य है' ०। उसका चित्त धातु (= पृथिवी) रूपी विषयसे पृथक्, प्रसन्न (= स्वच्छ), स्थिर; विमुक्त होता है। उस भिक्षुके साथ आवुसो ! यदि दूसरे, हाथके योग (= संस्पर्श) से, ढेलेके योगसे, दंडके योगसे, शस्त्रके योगसे अन्-इष्ट = अ-कांत = अ-मनाप (व्यवहार) से वर्ताव करते हैं। वह यह जानता है—कि 'यह इस प्रकारकी काया है, जिसमें पाणि-संस्पर्श भी लगते हैं, ढेलेके संस्पर्श भी ०, दंडके संस्पर्श भी ०, शस्त्रके संस्पर्श भी ०। भगवान्‌ने क्रकचोपम (= आराके समान) अववाद (= उपदेश) में कहा है—'भिक्षुओ ! यदि चोर डाकू (= ओचरक = उचक्का) दोनों ओर दस्तेवाले आरेसे भी एक एक अंग काटें, वहाँपर भी जो मनको दूषित करे, वह मेरे शासन (= उपदेश) (के अनुकूल आचरण) करनेवाला नहीं है।' मेरा वीर्य (= उद्योग) चलता रहेगा, विस्मरण-रहित स्मृति मेरी उपस्थित (रहेगी), काया स्थिर (= प्रश्रब्ध) अ-चंचल (= अ-सारद्ध), चित्त समाहित = एकाग्र (रहेगा)। चाहे इस कायामें पाणि-संस्पर्श हो, ढेला मारना हो, डण्डा पड़े, शस्त्र लगे, (किंतु) बुद्धोंका उपदेश (पूरा) करना ही होगा।'

"आवुसो ! उस भिक्षुको, इस प्रकार बुद्धको याद करते, इस प्रकार धर्मको याद करते, इस प्रकार संघको याद करते, कुशल-संयुक्त (= निर्मल) उपेक्षा जब नहीं ठहरती। वह उससे उदास होता है, संवेगको प्राप्त होता है—'अहो ! अ-लाभ है मुझे, मुझे लाभ नहीं हुआ; मुझे दुर्लभ है, सुलाभ नहीं हुआ, जो मुझे इस प्रकार बुद्ध-धर्म-संघको स्मरण करते कुशल-युक्त उपेक्षा नहीं ठहरती; जैसे कि आवुसो ! बहू (= सुणिसा) ससुरको देखकर संविग्न होती है, संवेगको प्राप्त होती है। इसी प्रकार आवुसो ! उस भिक्षुको ऐसे बुद्ध-धर्म-संघ (के गुणों) को याद करते कुशल-संयुक्त उपेक्षा नहीं ठहरती, वह उससे ० संवेगको प्राप्त (= उदास) होता है—मुझे अलाभ है ०। आवुसो ! उस भिक्षुको यदि इस प्रकार बुद्ध-धर्म-संघको अनुस्मरण करते कुशल-युक्त उपेक्षा ठहरती है, तो वह उससे सन्तुष्ट होता है। इतनेसे भी आवुसो ! भिक्षुने बहुत कर लिया।

"क्या है आवुसो ! आप-धातु ?—आप (= जल)-धातु दो होती है, आध्यात्मिक और बाहरी। आवुसो ! आध्यात्मिक आप-धातु क्या है ?—जो शरीरमें प्रतिशरीरमें पानी, या पानीका (पदार्थ) है; जैसे कि पित्त, श्लेष्म (= कफ), पीव, लोहू, स्वेद (= पसीना), मेद, अश्रु, वसा (= चर्बी), राल, नासिका-मल, कर्ण-मल (= लसिका), मूत्र, और जो कुछ और भी शरीरमें पानी या पानीका है। आवुसो ! यह आप-धातु कही जाती है। जो आध्यात्मिक आप-धातु है, और जो बाहरी आप-धातु है, यह आप-धातुही है। 'यह मेरा नहीं', 'यह मैं नहीं', 'यह मेरा आत्मा नहीं'—इस प्रकार इसे यथार्थ जानकर, देखना चाहिये। इस प्रकार यथार्थतः

अच्छी तरह, जानकर, देखकर, आप-धातुसे निर्वेदको प्राप्त (=उदास) होता है। आप-धातुसे चित्तको विरक्त करता है।

"आवुसो! ऐसा भी समय होता है, जब कि बाह्य आप-धातु प्रकुपित होती है। वह गाँवको भी, निगमको भी, नगरको भी, जनपदको भी, जनपद-प्रदेशको भी बहा देती है। आवुसो! ऐसा समय होता है, जब महासमुद्रमें सौ योजन, दो सौ योजन, सात सौ योजनके भी पानी आते हैं। आवुसो! सो भी समय होता है, जब महासमुद्रमें सात ताल, छः ताल, पाँच ताल, चार ताल, तीन ताल, दो ताल, तालभर भी पानी होता···है। आवुसो! सो समय होता है, जब महासमुद्रमें सात पोरिसा (=पुरुष-परिमाण), ० पोरिसा भर पानी रह जाता है। ० जब महासमुद्रमें आध-पोरिसा, कमर भर, जाँघ भर, घुट्टी भर पानी ठहरता है। ० जब महासमुद्रमें अंगुलिके पोर धोने भरके लिये भी पानी नहीं रह जाता। आवुसो! उस इतनी बड़ी बाह्य आप-धातुकी अनित्यता ०। ०। आवुसो! इतनेसे भी भिक्षुने बहुत किया।

"आवुसो! तेज-धातु क्या है?—तेज-धातु है आध्यात्मिक और बाह्य। आवुसो! आध्यात्मिक तेज-धातु क्या है?—जो शरीरमें प्रतिशरीरमें तेज (=अग्नि) या तेजका है; जैसे कि—जिससे संतप्त होता है, जर्जरित होता है, परिदग्ध होता है, खाया पीया अच्छी प्रकार हजम होता है; या जो कुछ और भी शरीरमें, प्रति-शरीरमें, तेज या तेज-विषय है। यह कहा जाता है आवुसो! तेज-धातु। जो यह आध्यात्मिक (=शरीरमेंकी) तेज-धातु है, और जो कि यह बाह्य तेज-धातु है, यह तेज-धातु ही है। 'न यह मेरी है', 'न यह मैं हूँ', 'न यह मेरा आत्मा है'—इस प्रकार इसे यथार्थ जानकर देखना चाहिये। इस प्रकार इसे यथार्थतः जानकर, देखनेसे तेज-धातुसे निर्वेदको प्राप्त होता है, तेज-धातुसे चित्तको विरक्त करता है। ०।

"आवुसो! ऐसा समय (भी) होता है, जब बाह्य तेज-धातु कुपित होती है। वह गाँव, निगम, नगर ० को भी जलाती है। वह हरियाली महामार्ग (=पन्थन्त), या शैल या पानी (या) भूमि-भागको प्राप्त हो, आहार न पा बुझ जाती है। आवुसो! ऐसा भी समय होता है, जब कि इसे मुर्गीके पर भर भी, चमड़ेके छिलके भर भी ढूँढ़ते हैं। आवुसो! उस इतने बड़े तेज-धातुकी अ-नित्यता ०। ०। आवुसो! इतनेसे भी भिक्षुने बहुत किया।

"आवुसो! वायु-धातु क्या है?—वायुधातु आध्यात्मिक भी है, बाह्य भी। आध्यात्मिक वायु-धातु कौन है?—जो शरीरमें प्रति-शरीरमें वायु या वायुका (पदार्थ) है; जैसे कि ऊर्ध्वगामी वात, अधोगामी वात (=हवा), कुक्षि (=पेट)के वात, कोठेमें रहनेवाले वात, अङ्ग प्रत्यङ्गमें अनुसरण करनेवाले वात, या आश्वास-प्रश्वास, और जो कुछ और भी०। यह आवुसो! आध्यात्मिक वायु-धातु। ० कहा जाता है।

"आवुसो! ऐसा समय भी होता है, जब कि बाह्य वायु-धातु कुपित होती है, वह गाँवको भी० उड़ा ले जाती है। आवुसो! ऐसा समय (भी) होता है, जब ग्रीष्मके पिछले महीनेमें तालका पंखा डुलाकर भी हवाको खोजते हैं,···आवुसो! इस इतनी बड़ी वायुधातु ०। उस भिक्षुको यदि आक्रोश ०। ०' इतनेसे आवुसो! भिक्षुने बहुत कर लिया।

"जैसे, आवुसो! काष्ठ, वल्ली, तृण और मृत्तिकासे घिरा आकाश घर कहा जाता है; ऐसेही आवुसो! अस्थि, स्नायु, माँस और चर्मसे घिरा आकाश, रूप (=मूर्ति=शरीर) कहा जाता है। (जब) आध्यात्मिक (शरीरमेंकी) आँख अ-विकृत होती है, (किन्तु) बाह्य रूप सामने नहीं आते; (तो) उनसे समन्वाहार (=मनसिकार-पूर्वक विषय-ज्ञान) उत्पन्न नहीं होता; उनसे उत्पन्न विज्ञान-भाग प्रादुर्भूत नहीं होता। जब आवुसो! शरीरमेंकी आँख अ-विकृत होती

है, बाह्य रूप सामने आते हैं, तो उनसे विषय-ज्ञान उत्पन्न होता है, इस प्रकार उनसे उत्पन्न (स्कन्धके) विज्ञान-भागका प्रादुर्भाव होता है।

"जो चक्षु-विज्ञानके साथका रूप है, वह रूप-उपादान-स्कंध गिना जाता है। जो ० वेदना है, वेदना-उपादान-स्कंध गिना जाता है। ० संज्ञा ० संज्ञा-उपादान-स्कंध ०। ० संस्कार ० संस्कार-उपादान-स्कंध ०। ० विज्ञान ० विज्ञान-उपादान-स्कंध ०। सो इस प्रकार जानता है—इस प्रकार इन पाँचों उपादान-स्कंधोंका संग्रह=सन्निपात=समवाय होता है। यह भगवान्ने भी कहा है—'जो प्रतीत्य-समुत्पादको देखता (=साक्षात् करता) है; वह धर्मको देखता है; जो धर्मको देखता है, वह प्रतीत्य-समुत्पाद (=कार्य कारणसे सभी चीज़ोंकी उत्पत्ति)को देखता है। यह प्रतीत्य-समुत्पन्न (=कारण करके उत्पन्न हैं) जो कि यह पाँच उपादान-स्कंध हैं। जो इन पाँच उपादान-स्कंधोंमें छन्द (= रुचि)=आलय=अनुनय=अध्यवसान है, वही दुःख समुदय है। जो इन पाँच उपादान स्कंधोंमें छन्द राग का हटाना, छोड़ना है, वह दुःख निरोध है। इतनेसे भी आवुसो ! भिक्षुने बहुत किया। ०।

"आवुसो ! यदि आध्यात्मिक (= शरीरमेंका) श्रोत्र अ-विकृत होता है। ०। ० घ्राण ०। ० जिह्वा ०। ० काय ०। ० मन ०। इतनेसे भी, आवुसो ! भिक्षुने बहुत किया। ०।"

आयुष्मान् सारिपुत्रने यह कहा। सन्तुष्ट हो उन भिक्षुओंने आयुष्मान् सारिपुत्रके भाषणको अनुमोदित किया।

२९—महा-सारोपम-सुत्तन्त (१।३।९)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय, देवदत्तके निकल जानेके थोड़े ही समय बाद भगवान् राजगृहमें गृध्रकूट-पर्वत पर विहार करते थे।

वहाँ भगवान्ने भिक्षुओंको देवदत्तके संबंधमें सम्बोधित किया।

"भिक्षुओ ! कोई कुलपुत्र श्रद्धापूर्वक घरसे बेघर हो प्रव्रजित (= संन्यासी) होता है—'मैं जन्म, जरा, मरण, शोक, रोदन, क्रंदन, दुःख = दुर्मनस्कता, परेशानीमें पड़ा हुआ हूँ। दुःखमें पड़ा, दुःखसे लिप्त मेरे लिये क्या कोई इस केवल (= ख़ालिस) दुःख-स्कंध (= दुःखपुंज) के अन्त करनेका उपाय है?' वह इस प्रकार प्रव्रजित हो, लाभ, सत्कार, श्लोक (= प्रशंसा) का भागी होता है। उस लाभ, सत्कार, श्लोकसे संतुष्ट हो (अपनेको) परिपूर्ण-संकल्प समझता है। वह उस लाभ, सत्कार, श्लोकसे अपने लिये अभिमान करता है और दूसरेको नीच समझता है—'मैं लाभवाला, सत्कारवाला, श्लोकवाला हूँ और यह दूसरे भिक्षु अप्रसिद्ध शक्ति-हीन हैं। वह उस लाभ, सत्कार, श्लोकसे मतवाला होता है, प्रमादी बनता है, प्रमाद (= भूल) करने लगता है। प्रमत्त हो दुःखमें पड़ता है।

"जैसे भिक्षुओ ! सार चाहनेवाला = सारगवेषी पुरुष, सार (= हीर)की खोजमें घूमता हुआ एक सारवाले महान् वृक्षके रहते, उसके सारको छोड़, फल्गु [1]को छोड़, छालको छोड़, पपड़ीको छोड़, शाखा पत्तेको काट, 'यही सार है'—समझ लेकर चला जाय। उसको आँखवाला पुरुष देखकर ऐसा कहे—'हे पुरुष ! आपने सारको नहीं समझा, फल्गुको नहीं समझा, छालको नहीं समझा, पपड़ीको नहीं समझा, शाखा-पत्तेको नहीं समझा, जो कि आप सार चाहनेवाले, सार-गवेषी ० 'यही सार है'—समझ ले जा रहे हैं। सारसे जो काम करना है वह············ इससे न होगा'। ऐसे ही भिक्षुओ ! यहाँ एक कुल-पुत्र ० दुःखमें पड़ता है। भिक्षुओ ! इसे कहते हैं कि भिक्षुने ब्रह्मचर्यके शाखा-पत्तेको ग्रहण किया और उतने ही से (अपने कृत्यको) समाप्त कर दिया।

"यहाँ भिक्षुओ ! कोई कुल-पुत्र श्रद्धासे ० वह इस प्रकार प्रव्रजित हो, लाभ, सत्कार श्लोकका भागी होता है। (किन्तु) वह उस लाभ, सत्कार, श्लोकसे संतुष्ट नहीं होता (अपने को) परिपूर्ण-संकल्प नहीं समझता। वह उस लाभ, सत्कार, श्लोकसे न अपने लिये घमंड करता है, न दूसरों को नीच समझता है। वह उस लाभ, सत्कार, श्लोकसे, मतवाला नहीं होता, प्रमादी नहीं होता, प्रमादमें लिप्त नहीं होता ! प्रमादरहित हो शील (= सदाचार)का आराधन

---

[1] हीर और छिलकेके बीचका काष्ठ।

करता है। उस शीलके आराधनसे संतुष्ट होता है। (अपनेको) पूर्ण-संकल्प समझता है। वह उस शील-संपदासे अपने लिये अभिमान करता है और दूसरोंको नीच समझता है—'मैं शीलवान् (= सदाचारी), कल्याण-धर्मा (= पुण्यात्मा) हूँ और ये दूसरे भिक्षु दुराचारी, पापधर्मा हैं'। वह उस शीलकी संपदासे मतवाला हो जाता है, प्रमादी होता है, प्रमादमें लिप्त होता है, प्रमादी होकर दुःखित होता है।

"जैसे भिक्षुओ! सारका चाहनेवाला, सारका खोजी, पुरुष सारकी तलाशमें फिरते (घूमते हुए) ० फल्गु छोड़कर छाल और पपड़ीको काटकर—'यही सार है'—समझ लेकर चला जाय। उसको आँखवाला पुरुष देखकर ऐसा कहे—आप सारको नहीं समझे, नहीं फल्गुको समझे, नहीं छालको समझे, नहीं पपड़ीको समझे, नहीं शाखा-पत्रको समझे। यह आप सार चाहनेवाले ० लेकर जा रहे हैं; ० ऐसेही भिक्षुओ! यहाँ कोई कोई कुल-पुत्र ० दुःखित होता है। यह कहा जाता है भिक्षुओ! कि भिक्षुने ब्रह्मचर्यकी पपड़ीको ग्रहण किया, उसीसे (अपने कृत्यकी) समाप्ति कर दी।

"और भिक्षुओ! कोई कुल-पुत्र ० लाभ सत्कार श्लोकसे संतुष्ट न हो ० वह उस शील-संपदासे नहीं मतवाला होता ० प्रमाद-रहित हो ० उस समाधिकों संपदासे संतुष्ट होता है (अपनेको) परिपूर्ण-संकल्प समझता है। वह उस समाधि-संपदासे अपने लिये अभिमान करता है और दूसरोंको नीच समझता है—'मैं समाधि-युक्त-चित्तवाला हूँ, एकाग्र चित्त हूँ, किन्तु ये, दूसरे भिक्षु समाधि-रहित, विक्षिप्त-चित्तवाले हैं। वह उस समाधि-संपत्तिसे मतवाला होता है ० प्रमादी हो दुखित होता है। जैसे भिक्षुओ! सार चाहनेवाला ० सार (= हीर)को छोड़कर फल्गु और छालको काटकर, यही सार है—समझ लेकर चला जाय। उसको आँखवाला पुरुष ० ऐसे ही भिक्षुओ! यहाँ कोई कुल-पुत्र ० दुःखी होता है। यह कहा जाता है भिक्षुओ! कि भिक्षुने ब्रह्मचर्यकी छालको ही ग्रहण किया ०।

"और भिक्षुओ! कोई कुल-पुत्र ० वह उस समाधि-संपदासे नहीं मतवाला होता ०; प्रमाद-रहित हो ज्ञान-दर्शन (= तत्त्व-साक्षात्कार)का आराधन करता है। वह उस ज्ञान-दर्शनसे सन्तुष्ट होता है, परिपूर्ण-सङ्कल्प (समझता है)। वह ज्ञान-दर्शनसे अपने लिये अभिमान करता है, दूसरोंको नीच समझता है—'मैं जानता देखता (= तत्व-साक्षात्कार करता) विहरता हूँ', किन्तु, ये दूसरे भिक्षु न जानते, न देखते विहरते हैं वह उस ज्ञान-दर्शनसे मतवाला होता है ० दुःखी होता है। जैसे भिक्षुओ! सार चाहनेवाला ० सारको छोड़कर फल्गुको काट, यही सार है—समझ लेकर चला जाय। ० ऐसेही भिक्षुओ! यहाँ कोई कुल-पुत्र ० दुःखित होता है। यह कहा जाता है भिक्षुओ! कि भिक्षुने ब्रह्मचर्यके फल्गुको ग्रहण किया। ०

"और भिक्षुओ! कोई कुल-पुत्र ० वह उस ज्ञान-दर्शनसे संतुष्ट होता है; किन्तु, परिपूर्ण संकल्प नहीं होता। वह उस ज्ञान-दर्शनसे न अपने लिये अभिमान करता है; और न दूसरेको नीच समझता है। वह उस ज्ञान-दर्शनसे मतवाला नहीं होता; प्रमाद नहीं करता······। प्रमाद-रहित हो अकालिक (= सद्यः प्राप्य) मोक्षको आराधित करता है। भिक्षुओ! यह संभव नहीं, इसका अवकाश नहीं, कि वह भिक्षु उस अकालिक मोक्षसे च्युत होवे। जैसे भिक्षुओ! सार चाहनेवाला ० सारको ही काटकर 'यही सार है'—समझ ले जाये। उसे आँखवाला पुरुष देखकर यह कहे—'अहो! आपने सारको समझा है ० शाखा-पत्रको समझ लिया है; सो यह आप सार चाहनेवाले = सार-गवेषी, सारकी खोजमें घूमते, सारवाले महान् वृक्षके खड़े रहते सारको ही—'यह सार है' (समझ), काटकर ले जा रहे हैं। जो इन्हें सारसे काम लेना है वह मतलब पूरा

होगा। ऐसेही भिक्षुओ! यहाँ कोई कुल-पुत्र ० उस अकालिक मोक्षसे च्युत होवे।

"इस प्रकार भिक्षुओ! यह ब्रह्मचर्य लाभ, सत्कार, श्लोक पानेके लिये नहीं है। शील-संपत्तिके लाभके लिये नहीं है, न समाधि-संपत्तिके लाभ लिये है, न ज्ञान-दर्शन (= तत्त्वके ज्ञान और साक्षात्कार)के लाभके लिये है। भिक्षुओ! जो यह न च्युत होनेवाली चित्तकी मुक्ति है, इसीके लिये यह ब्रह्मचर्य है। यही सार है, यही अन्तिम निष्कर्ष है।"

भगवान्‌ने यह कहा, संतुष्ट हो उन भिक्षुओंने भगवान्‌के भाषणको अभिनंदित किया।

३०—चूल-सारोपम-सुत्तन्त (१।३।१०)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथपिंडिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे।

तब पिंगलकोच्छ ब्राह्मण, जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया, जाकर भगवान्के साथ········ (कुशल प्रश्न पूछ) एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे पिंगलकोच्छ ब्राह्मणने भगवान्से यह कहा—

"भो गौतम ! जो यह संघपति = गण-पति ज्ञात, यशस्वी तीर्थंकर (= मतस्थापक) हैं, जैसे कि—पूर्ण काश्यप, मक्खली गोसाल, अजित केश-कम्बली, प्रकुध कात्यायन, संजय वेलट्ठि-पुत्त, निगंठ नात-पुत्त, सभी अपनी प्रतिज्ञा (= मत)को समझते हैं; या सभी नहीं समझते या कोई कोई समझते हैं; कोई कोई नहीं समझते ?"

"बस ब्राह्मण ! रहने दे इसे—'सभी अपने ० नहीं समझते।' ब्राह्मण तुझे धर्मका उपदेश करता हूँ, उसे सुन अच्छी तरह मनमें कर, कहता हूँ।"

"अच्छा, भो !"—(कह) पिंगलकोच्छ ब्राह्मणने भगवान्को उत्तर दिया।

भगवान्ने यह कहा—"जैसे ब्राह्मण ! सार चाहनेवाला पुरुष ०[1] शाखापत्रको काट, यही सार है—समझ लेकर चला जाय। तो सार (= हीर) से जो काम करना है, वह उससे न होगा।

"जैसे कि ब्राह्मण ! सार चाहनेवाला पुरुष ०[2] छालको काटकर—'यही सार है'—समझ लेकर चला जाय; तो सारसे जो काम करना है वह उससे न होगा।

"जैसे ब्राह्मण ! ०[3] पपड़ीको काटकर, यही सार है—समझ लेकर चला जाय। ०।

"जैसे ब्राह्मण ! ०[4] फल्गुको काटकर, यही सार है—समझ लेकर चला जाय। ०।

"जैसे ब्राह्मण ! ०[5] सारको ही काट कर-'यही सार हैं'—समझ ले जाय। उसे आँख वाला पुरुष देख कर यह कहे—अहो ! आपने सारको समझा है ०[5] सारसे जो काम आपको करना है वह इससे होगा।

"ऐसे ही ब्राह्मण ! कोई पुरुष श्रद्धापूर्वक घरसे बेघर हो प्रव्रजित होता है ०[6] वह उस लाभ, सत्कार, श्लोकसे संतुष्ट हो अपनेको परिपूर्ण-संकल्प समझता है। वह उस लाभ, सत्कार श्लोकसे अपने लिये अभिमान करता है, और दूसरेको नीच समझता है—मैं लाभ-सत्कार श्लोक वाला हूँ, और ये दूसरे भिक्षु अप्रसिद्ध, शक्ति-हीन हैं। वह उस लाभ, सत्कार श्लोकके कारण,

---

[1] देखो पृष्ठ १२२। [2] देखो पृष्ठ १२२। [3] देखो पृष्ठ १२२। [4] देखो पृष्ठ १२२।
[5] देखो पृष्ठ १२२। [6] देखो पृष्ठ १२२।

जो दूसरे उत्तम=प्रणीततर पदार्थ (= धर्म) हैं, उनके साक्षात्कारके लिये रुचि नहीं उत्पन्न करता, उद्योग नहीं करता, आलसी और शिथिल होता है। जैसे ब्राह्मण! वह सार चाहने वाला ० शाखा पत्र को ० लेकर चला जाय ० वह बात उससे न हो। उसीके समान, ब्राह्मण! मैं इस मनुष्यको कहता हूँ।

"और फिर ब्राह्मण! यहाँ कोई पुरुष श्रद्धापूर्वक ०[1] वह उस शीलका आराधन करता है, वह उस शील-संपदासे अपने लिये अभिमान करता है ०[1] वह उस शील-संपदाके कारण जो दूसरे उत्तम ० पदार्थ हैं, उनके सक्षात्कारके लिये रुचि नहीं उत्पन्न करता, उद्योग नहीं करता ०। जैसे ब्राह्माण! वह सार चाहनेवाला ० छालको ० लेकर चला जाय ० वह इससे न होगा। उसीके समान ब्राह्मण! मैं इस मनुष्यको कहता हूँ।

"और फिर ब्राह्मण! कोई पुरुष श्रद्धापूर्वक ०[1] वह न उस शील-संपदासे अपने लिये अभिमान करता है न दूसरेको नीच समझता है। शील-सम्पदासे जो उत्तम=प्रणीततर पदार्थ हैं, उनके साक्षात्कारके लिये रुचि उत्पन्न करता है, उद्योग करता है, आलसी नहीं होता, शिथिल नहीं होता। (और) वह समाधि-सम्पदाका आराधन करता है। वह उस समाधि-सम्पदासे सन्तुष्ट होता है; (अपनेको) परिपूर्ण-संकल्प समझता है ०[1] विभ्रान्त-चित्त हैं। समाधि-संपदा से जो दूसरे पदार्थ उत्तम=प्रणीततर हैं, उनके साक्षात्कार करनेके लिये रुचि नहीं उत्पन्न करता०। जैसे ब्राह्मण! वह सार चाहने वाला ० पपड़ीको ० लेकर चला जाय ० वह बात इससे न हो। उसीके समान ब्राह्मण! मैं इस मनुष्यको कहता हूँ।

"और फिर ब्राह्मण! कोई पुरुष श्रद्धापूर्वक ०[1] वह उस समाधि-सम्पदासे न अपने लिये अभिमान करता है ०। समाधि संपदासे जो उत्तम ० पदार्थ है, उनके साक्षात्कारके लिये रुचि उत्पन्न करता है ०। (और) वह ज्ञान-दर्शनका आराधन करता है। वह उस ज्ञान-दर्शनसे संतुष्ट होता है ०। जैसे ब्राह्मण! वह सार चाहनेवाला पुरुष ० फल्गुको ० लेकर चला जाय ० उसीके समान ब्राह्मण! मैं इस मनुष्यको कहता हूँ।

"और फिर ब्राह्मण! कोई पुरुष श्रद्धापूर्वक ०[1] वह उस ज्ञान-दर्शनसे सन्तुष्ट होता है। किन्तु परिपूर्ण-संकल्प नहीं समझता। वह उस ज्ञान-दर्शनसे न अपने लिये अभिमान करता है न दूसरेको नीच समझता है। उस ज्ञानदर्शनसे जो दूसरे पदार्थ उत्तम ० हैं; उनके साक्षात्कारके लिये रुचि उत्पन्न करता है ०।

"ब्राह्मण! कौनसे पदार्थ ज्ञान-दर्शनसे उत्तम=प्रणीततर हैं?—ब्राह्मण! ०[2] प्रथम-ध्यान को प्राप्त हो विहरता है। ब्राह्मण! यह पदार्थ भी ज्ञान-दर्शनसे उत्तम ० हैं। और फिर ब्राह्मण! ०[2] द्वितीय-ध्यानको ०। ०[2] तृतीय-ध्यानको ०। ०[2] चतुर्थ-ध्यानको०। ०[3] आकाशानन्त्यायतनको ०। ०[3] विज्ञानानन्त्यायतनको ०। ०[3] आकिञ्चन्यायतनको ०। ०[3] नैवसंज्ञा-नासंज्ञायतनको ०। ०[3] संज्ञावेदित-निरोधको प्राप्त हो विहरता है। प्रज्ञासे देखकर उसके आस्रव (= चित्तमल) नष्ट होते हैं। ब्राह्मण! यह पदार्थ भी ज्ञान-दर्शनसे उत्तम ० है। जैसे ब्राह्मण! सार चाहनेवाला ०[4] सारको ही काट कर, 'यही सार है'—समझ ले जाये। जो उसे सारसे काम करना है वह उसका होगा। ब्राह्मण! उसीके समान मैं इस पुरुषको कहता हूँ।

---

[1] देखो पृष्ठ १२४। [2] देखो पृष्ठ १५। [3] देखो पृष्ठ २७, २८, ११०।
[4] देखो पृष्ठ १२२।

"इस प्रकार ब्राह्मण! यह ब्रह्मचर्य लाभ ०[1] के लिये नहीं है। ब्राह्मण! जो यह न च्युत होने वाली चित्त की मुक्ति है, इसीके लिये यह ब्रह्मचर्य है, यही सार है, यही अन्तिम निष्कर्ष है।"

ऐसा कहने पर पिंगलकोच्छ ब्राह्मणने भगवान्से यह कहा—

"आश्चर्य भो गौतम! ०[2] आजसे आप गौतम मुझे अंजलि-बद्ध शरणागत उपासक स्वीकार करें।"

३—(इति) ओपम्मवग्ग (१।३)

३१—चूल-गोसिङ्ग-सुत्तन्त (१।४।१)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् नादिक[१]के गिंजकावसथमें विहार करते थे। उस समय आयुष्मान् अनुरुद्ध, आयुष्मान् नन्दिय, आयुष्मान् किम्बिल, गोसिंग-सालवनदायमें विहार करते थे।

तब भगवान् सायंकालको एकान्तचिन्तनसे उठकर जहाँ गोसिंग सालवनदाय था, वहाँ गये। दावपालक (= वनपाल)ने दूरसे ही भगवान्को आते देखा। देख कर भगवानसे कहा—

"महाश्रमण! इस दावमें प्रवेश मत करो। यहाँपर तीन कुलपुत्र यथाकाम (= मौजसे) विहर रहे हैं। इनको तकलीफ़ मत दो।"

आयुष्मान् अनुरुद्धने दाव-पालको भगवान्के साथ वात करते सुना। सुन कर दाव-पालसे यह कहा—

"आवुस! दाव-पाल! भगवान्को मत मना करो। हमारे शास्ता भगवान् आये हैं।"

तब आयुष्मान् अनुरुद्ध जहाँ आयुष्मान् नन्दिय और आयु० किम्बिल थे, वहाँ गये। जाकर वोले—

"आयुष्मानो! चलो आयुष्मानो! हमारे शास्ता भगवान् आ गये।"

तब आयुष्मान् अनुरुद्ध, आ० नन्दिय, आ० किम्बिलने भगवान्की अगवानी कर, एकने पात्र-चीवर ग्रहण किया, एकने आसन विछाया, एकने पादोदक रक्खा। भगवान्ने विछाये आसन पर वैठ पैर धोया। वे भी आयुष्मान्, भगवान्को अभिवादन कर एक ओर वैठ गये। एक ओर वैठे हुए आयुष्मान् अनुरुद्धको भगवान्ने कहा—

"अनुरुद्धो! खमनीय तो है? = यापनीय तो है? पिंडके लिये तो तुम लोग तकलीफ़ नहीं पाते?"

"खमनीय है भगवान्! ०"

"अनुरुद्धो! क्या एक चित्त, परस्पर मोद-सहित, दूध-पानी हुए, परस्पर प्रिय दृष्टिसे देखते, विहरते हो?"

"हाँ भन्ते! हम एक-चित्त०।"

"तो कैसे अनुरुद्धो! तुम एक-चित्त ०?"

"भन्ते! मुझे यह विचार होता है—'मेरे लिये लाभ है' 'मेरे लिये सुलाभ प्राप्त हुआ है' जो ऐसे स-ब्रह्मचारियों (= गुरु भाइयों)के साथ विहरता हूँ भन्ते! इन आयुष्मानोंमें मेरा कायिक कर्म अन्दर और वाहरसे मित्रतापूर्ण होता है, वाचिक कर्म अन्दर और वाहरसे मित्रतापूर्ण

---

[१] संभवतः वर्तमान जेथरडीह, मसरख (जि० सारन)।

होता है, मानसिक कर्म अन्दर और बाहर ०। तब भन्ते! मुझे यह होता है—क्यों न मैं अपना मन हटाकर, इन्हीं आयुष्मानोंके चित्तके अनुसार वर्तूं। सो भन्ते! मैं अपने चित्तको हटा कर इन्हीं आयुष्मानोंके चित्तोंका अनुवर्तन करता हूँ। भन्ते! हमारा शरीर नाना है किन्तु चित्त एक···।"

आयुष्मान् नन्दियने भी कहा—"भन्ते! मुझे यह होता है ०।"

आयुष्मान् किम्बिलने भी कहा "भन्ते! मुझे यह ०।"

"साधु, साधु, अनुरुद्धो! अनुरुद्धो! क्या तुम प्रमाद-रहित, आलस्य-रहित, संयमी हो, विहरते हो?"

"भन्ते! हाँ! हम प्रमाद-रहित ०।"

"साधु, साधु, अनुरुद्धो! क्या अनुरुद्धो! इस प्रकार प्रमाद-रहित उद्योगी और एकाग्र चित्त हो विहरते, तुम्हें उत्तर-मनुष्य धर्म (=दिव्य-शक्ति=) अलमार्य-ज्ञान-दर्शन सुखपूर्वक विहार करना प्राप्त हुआ?"

"क्या होगा भन्ते! हमें?—यहाँ हम भन्ते! यथेच्छ ०[1] प्रथम ध्यानको प्राप्त हो विहरते हैं। भन्ते! प्रमाद-रहित ० विहरते यह उत्तर-मनुष्य-धर्म ० प्राप्त हुआ है।"

"साधु, साधु, अनुरुद्धो! किन्तु इस विहारको पार करनेके लिये, इस विहारको शान्त करनेके लिये, क्या अनुरुद्धो! दूसरा कोई उत्तर-मनुष्य-धर्म प्राप्त हुआ?"

"क्या होगा भन्ते! हमें?—यहाँ हम भन्ते! यथेच्छ ०[1] द्वितीय ध्यान ०। ०[1] तृतीय ध्यान ०। ०[1] चतुर्थ ध्यान ०[2] आकाशानन्त्यायतन ०। ०[2] विज्ञानानन्त्यायतन ०। ०[2] नैव-संज्ञानासंज्ञायतनको प्राप्त हो विहरते हैं। प्रज्ञासे देखकर हमारे आस्रव नष्ट हो गये। भन्ते! इस विहारके अतिक्रमणके लिये, इस विहारको शान्त करनेके लिये, यह दूसरा उत्तर-मनुष्य-धर्म० प्राप्त हुआ है। भन्ते! इस सुखपूर्वक विहारसे बढ़ कर उत्तम दूसरे सुख विहारको हम नहीं जानते।"

"साधु, साधु, अनुरुद्धो! इस सुख-पूर्वक विहारसे बढ़कर उत्तम दूसरा सुख पूर्वक विहार नहीं है।"

तब भगवान् आयुष्मान् अनुरुद्ध, आयुष्मान् नन्दिय, और आयुष्मान् किम्बिलको धार्मिक कथा द्वारा संदर्शित, सुसमुत्तेजित, प्रशंसित कर आसनसे उठ कर, चले गये।

तब आयुष्मान् अनुरुद्ध, आयुष्मान नन्दिय, और आयुष्मान् किम्बिल भगवान्‌को (कुछ दूर) पहुँचा कर लौट आये। आयुष्मान् नन्दिय और आयुष्मान् किम्बिलने आयुष्मान् अनुरुद्धसे यह कहा—

"क्या हमने आयुष्मान् अनुरुद्धको यह कहा था—'हम इन इन विहारोंकी पूर्णताको प्राप्त हैं' जो कि आयुष्मान् अनुरुद्धने भगवान्‌के सन्मुख हमारे बारेमें आस्रवोंके क्षय पर्यन्त (की बात) कही?"

"मुझे आयुष्मानोंने नहीं कहा—'हम इन इन विहारोंकी पूर्णताको प्राप्त हैं' किन्तु मैंने आयुष्मानोंके चित्त (की बात)को अपने चित्तसे जान कर जाना कि, यह आयुष्मान् इन इन विहारोंकी पूर्णताको प्राप्त हैं। देवताओंने मुझे इस बातको बतलाया है—यह आयुष्मान् ०। उसे मैंने भगवान्‌के प्रश्न करनेपर कहा।"

---

[1] देखो पृष्ठ १५। [2] देखो पृष्ठ २७, २८।

तब दीर्घ-परजन नामक यक्ष (= देवता) जहाँ भगवान् थे वहाँ गया; जाकर भगवान्‌को अभिवादन कर एक ओर खड़ा हुआ। एक ओर खड़े हुए दीर्घपरजन यक्षने भगवान्‌से यह कहा—

"वज्जियों [1] को लाभ है। सुन्दर लाभ मिला है, भन्ते! वज्जी जनताको, जहाँ कि तथागत अर्हत्-सम्यक्-सम्बुद्ध विहरते हैं, और आयुष्मान् अनुरुद्ध, आयुष्मान् नन्दिय, आयुष्मान् किम्बिल—ये तीन कुल-पुत्र भी (विहरते) हैं। ०—

दीर्घपरजन यक्षके शब्दको सुनकर भूमिवासी देवताओंने शब्द किया—वज्जियोंको ०। भूमिवासी देवताओंके शब्दको सुनकर चातुर्महाराजिक देवताओंने ०। ० त्रायस्त्रिंश-देवताओंने ०। ० याम देवताओंने ०। ० तुषित देवताओंने ०। ० निर्माण-रति देवताओंने ०। पर-निर्मित-वशवर्ती देवताओंने ०। ० ब्रह्म-कायिक देवताओंने ०। इस प्रकार उसी क्षण उसी मुहूर्त में वह आयुष्मान् ब्रह्मलोक पर्यन्त विदित हो गये।—

"ऐसा ही है दीर्घ! यह, ऐसा ही है दीर्घ! यह; क्योंकि दीर्घ! जिस कुलसे यह तीनों कुलपुत्र घरसे बेघर हो प्रव्रजित हुए यदि वह कुल भी इन तीनों कुलपुत्रोंको प्रसन्न चित्तसे स्मरण करे तो वह उसके लिये दीर्घ-काल तक हितकर सुखकर होगा। दीर्घ! जिस कुल-समुदायसे ०। ० जिस ग्रामसे ०। ० जिस निगम (= क़स्बे)से ०। ० जिस नगरसे ०। ० जिस जन-पद (= देश)से यह तीनों कुलपुत्र घरसे बेघर हो प्रव्रजित हुए, यदि वह जनपद भी इन तीनों कुल पुत्रोंको प्रसन्नचित्तसे स्मरण करे, तो वह उसके लिये दीर्घकाल तक हितकर सुखकर होगा।

"यदि दीर्घ! क्षत्रिय ०। ० ब्राह्मण ०। ० वैश्य ०। ० शूद्र भी प्रसन्नचित्त ० सुखकर होगा। दीर्घ! देवता-मार-ब्रह्मा-सहित, श्रमण-ब्राह्मण, देव-मनुष्य युक्त सारी प्रजा इन तीनों कुलपुत्रोंका प्रसन्नचित्तसे स्मरण करे; तो देवता-मार-ब्रह्मा-सहित श्रमण-ब्राह्मण, देव-मनुष्य युक्त सारी प्रजाके लिये दीर्घकाल तक हितकर, सुखकर होगा।...क्योंकि यह तीनों कुलपुत्र बहुत जनोंके सुखके लिये, बहुत जनोंके हितके लिये, लोककी अनुकंपाके लिये देव-मनुष्योंके अर्थ, हित, सुखके लिये तत्पर हैं।"

भगवान्‌ने यह कहा, संतुष्ट हो दीर्घ-परजन यक्षने भगवान्‌के भाषणको अभिनंदित किया।

३२—महा-गोसिंग-सुत्तन्त (१।४।२)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् गोसिंग-साल वनदायमें वहुतसे प्रसिद्ध प्रसिद्ध स्थविर (= वृद्ध) शिष्योंके साथ विहार करते थे; जैसे कि—आयुष्मान् सारिपुत्र, आयुष्मान् महामौद्गल्यायन, आयुष्मान् महाकाश्यप, आयुष्मान् अनुरुद्ध, आयुष्मान् रेवत, और आयुष्मान् आनंद तथा दूसरे भी प्रसिद्ध प्रसिद्ध स्थविर शिष्योंके साथ। तव आयुष्मान् महामौद्गल्यायन सायंकाल ध्यानसे उठकर जहाँ आयुष्मान् महाकाश्यप थे वहाँ गये। जाकर आयुष्मान् महाकाश्यपसे यह बोले—

"चलो आवुस काश्यप ! जहाँ आयुष्मान् सारिपुत्र हैं वहाँ धर्म सुननेके लिये चलें।"

"अच्छा आवुस!" (कह) आयुष्मान् महाकाश्यपने आयुष्मान् महामौद्गल्यायनको उत्तर दिया।

तव आयुष्मान् महामौद्गल्यायन और आयुष्मान् महाकाश्यप और आयुष्मान् अनुरुद्ध जहाँ आयुष्मान् सारिपुत्र थे वहाँ धर्म सुननेके लिये गये। आयुष्मान् आनंदने दूरसे ही आ. महामौद्गल्यायन, आ. महाकाश्यप, और आ. अनुरुद्धको जिधर आ. सारिपुत्र थे उधर धर्म सुननेके लिये जाते देखा। देखकर जहाँ आयुष्मान् रेवत थे वहाँ गये। जाकर आयुष्मान् रेवतसे यह बोले—

"आवुस ! यह सत्पुरुष जहाँ आ. सारिपुत्र हैं वहाँ धर्म सुननेके लिये जा रहे हैं। चलो आवुस ! जहाँ आ. सारिपुत्र हैं वहाँ हम भी धर्म सुननेके लिये चलें।"

"अच्छा आवुस !" (कह) आ. रेवतने आ. आनंदको उत्तर दिया।

तव आयुष्मान् रेवत और आ. आनंद जहाँ आ. सारिपुत्र थे वहाँ धर्म सुननेके लिये चले। आयुष्मान् सारिपुत्रने दूरसे ही आ. रेवत और आयुष्मान् आनंदको आते देखा। देखकर आ. आनंदसे कहा—

"आइये आ. आनंद ! स्वागत है भगवान्‌के उपस्थाक (= निरंतर-सेवक) भगवान्‌के सदा समीप रहनेवाले आनंदका। आवुस आनंद ! रमणीय है गोसिंग सालवन। चाँदनी रात है। सारी पाँतियोंमें साल फूले हुए हैं। मानो दिव्य गंध वह रहे हैं। आवुस आनंद ! किस प्रकार के (भिक्षु)से यह गोसिंग सालवन शोभित होवेगा ?"

"आवुस सारिपुत्र ! भिक्षु यदि वहुश्रुत, श्रुतधर, श्रुत-संचयी (= सुनी शिक्षाओंका संचय करनेवाला) हो। जो वह धर्म आदिमें कल्याण, मध्यमें कल्याण और अन्तमें कल्याण रखने वाले, सार्थक स-व्यंजन केवल परिपूर्ण, परिशुद्ध, ब्रह्मचर्यको वखाननेवाले हैं, वैसे धर्मोंको उस (भिक्षु)ने वहुत सुना हो, धारण किया हो, वचनसे परिचय किया हो, मनसे परखा हो, दृष्टि (= साक्षात्कार)में धँसा लिया हो; (ऐसा भिक्षु) चार (प्रकार)की परिषद्‌को सर्वांग पूर्ण, पद-व्यंजन-युक्त, स्वतंत्रता पूर्वक धर्म को अनुशयों (= चित्तमलों)के नाशके लिये उपदेशे। आवुस सारिपुत्र ! इस प्रकारके भिक्षु द्वारा गोसिंग सालवन शोभित होगा।"

ऐसा कहने पर आयुष्मान् सारिपुत्रने आ. रेवतसे यह कहा—"आवुस रेवत ! आ. आनंदने अपने विचारके अनुसार कह दिया। अब मैं आ. रेवतसे पूछता हूँ। आ. रेवत रमणीय है गोसिंग सालवन। ० आवुस रेवत ! किस प्रकार (के भिक्षु)से यह गोसिंग सालवन शोभित होगा ?"

"यहाँ आवुस सारिपुत्र ! भिक्षु यदि ध्यान-रत, ध्यान-प्रेमी होवे, अपने (मनके) भीतर चित्तकी एकाग्रतामें तत्पर और ध्यानसे न हटनेवाला, **विपश्यना** (=साक्षात्कार किये गये ज्ञान) से युक्त, शून्य गृहोंको बढ़ानेवाला होवे। आवुस सारिपुत्र ! इस प्रकारके भिक्षुद्वारा गोसिंग सालवन शोभित होगा।"

ऐसा कहने पर आ. सारिपुत्रने आ. अनुरुद्धसे कहा—

"आवुस अनुरुद्ध ! आ. रेवतने अपने विचारके अनुसार कह दिया ० किस प्रकार (के भिक्षु)से गोसिंग सालवन शोभित होगा ?"

"आवुस सारिपुत्र ! भिक्षु अ-मानव विशुद्ध दिव्यचक्षुसे सहस्रों लोकोंको अवलोकन करे; (वैसे ही) जैसे कि आवुस सारिपुत्र ! आँखवाला पुरुष महलके ऊपर खड़ा सहस्रों चक्कोंके समुदाय को देखे; वैसेही आवुस सारिपुत्र ! ० दिव्यचक्षुसे सहस्रों लोकोंको देखे। आवुस सारिपुत्र ! ऐसे भिक्षुसे गोसिंग सालवन शोभित होगा।"

ऐसा कहने पर आ. सारिपुत्रने आ. महाकाश्यपसे यह कहा—"आवुस काश्यप ! आ. अनुरुद्धने अपने विचारके अनुसार कह दिया ० ?"

"आवुस सारिपुत्र ! भिक्षु स्वयं आरण्यक (=वनमें रहनेवाला) हो और आरण्यकताका प्रशंसक हो। स्वयं **पिंडपातिक** (=मधूकरी माँगनेवाला) हो और पिंडपातिकताका प्रशंसक हो। स्वयं **पांसुकूलिक** (=फेंके चिथड़ोंको पहिननेवाला) हो ०। स्वयं **त्रैचीवरिक** (=सिर्फ़ तीन वस्त्रोंको पासमें रखनेवाला ०। स्वयं-अल्पेच्छ ०। स्वयं-संतुष्ट ०। ० प्रविविक्त (=एकान्त चिंतन-रत) ०। ० संसर्गरहित ०। ० उद्योगी ०। ० सदाचारी ०। ० समाधियुक्त ०। ० प्रज्ञा-युक्त ०। ० विमुक्ति-युक्त ०। ० विमुक्तिके ज्ञान-दर्शन (=साक्षात्कार)से युक्त ०। आवुस सारिपुत्र ! इस प्रकारके भिक्षुसे ०।"

ऐसा कहने पर आ. सारिपुत्रने आ. मौद्गल्यायनसे यह कहा—

"आवुस महामौद्गल्यायन ! आ. महाकाश्यपने अपने विचारके अनुसार कह दिया ० ?"

"आवुस सारिपुत्र ! दो भिक्षु **अभिधर्म** (=धर्म-संबंधी) कथा कहें, वह एक दूसरेसे प्रश्न पूछें, एक दूसरेके प्रश्नका उत्तर दें, ज़िद न करें, उनकी कथा धर्म-संबंधी चले। आवुस सारिपुत्र ! इस प्रकारके भिक्षुसे ०।"

तब आ. महामौद्गल्यायनने आ. सारिपुत्रसे यह कहा—"आवुस सारिपुत्र ! हमने अपने विचारके अनुसार कह दिया। अब हम आ. सारिपुत्रसे पूछते हैं ० ?"

"आवुस मौद्गल्यायन ! एक भिक्षु चित्तको वशमें करता है, (स्वयं) चित्तके वशमें नहीं होता। वह जिस **विहार** (=ध्यान-प्रकार)को प्राप्तकर पूर्वाह्न समय विहरना चाहता है उसी विहारसे पूर्वाह्न समय विहरता है। जिस विहारसे मध्याह्न समय ०। ० सन्ध्या समय ०। जैसे आवुस महामौद्गल्यायन ! किसी राजा या राज-मंत्रीके पास नाना रंगके दुशालोंके करंडक (=बक्स) भरे हों; वह जिस दुशालेको पूर्वाह्न समय धारण करना चाहे उसे पूर्वाह्न समय धारण करे; जिस दुशालेको मध्याह्न समय ०। ० सायंकाल ०। ऐसे ही आवुस महामौद्गल्यायन ! जो भिक्षु चित्तको वशमें करता है स्वयं चित्तके वशमें नहीं होता वह जिस विहारको प्राप्त कर ०। आवुस मौद्गल्यायन ! इस प्रकारके भिक्षुसे ०।"

तब आ. सारिपुत्रने उन आयुष्मानोंसे यह कहा—

"आवुसो ! हमने अपने विचारोंके अनुसार कह दिया। आओ आवुसो ! जहाँ भगवान् हैं वहाँ चलें। चलकर भगवान्से यह बात कहें। जैसे हमें भगवान् बतलाएँ वैसे उसे धारण करें।"

"अच्छा आवुस !" (कह) उन आयुष्मानोंने आयुष्मान् सारिपुत्रको उत्तर दिया।

तब वह आयुष्मान् जहाँ भगवान् थे वहाँ गये। जाकर भगवान्को अभिवादन कर एक ओर बैठे। आयुष्मान् सारिपुत्रने भगवान्से कहा—

"भन्ते ! आ. रेवत और आ. आनंद जहाँ मैं था वहाँ धर्म सुननेके लिये आये। भन्ते ! मैंने दूरसे ही ० [१]। दो भिक्षु अभिधर्म कथा कहें, ० [१]।"

"साधु, साधु, सारिपुत्र ! मौद्गल्यायन ही ठीकसे कथन करेगा क्योंकि सारिपुत्र ! मौद्गल्यायन धर्म-कथिक (= धर्मका वक्ता) है।"

ऐसा कहने पर आ. महामौद्गल्यायनने भगवान्से यह कहा—

"तब मैंने भन्ते ! आ. सारिपुत्रको यह कहा—'आवुस सारिपुत्र। ० [२]। ऐसे ही आवुस मौद्गल्यायन ०।"

"साधु साधु मौद्गल्यायन ! सारिपुत्र ही ठीकसे कथन करेगा क्योंकि मौद्गल्यायन ! सारिपुत्र चित्तको वशमें रखता है। स्वयं चित्तके वशमें नहीं होता। वह जिस विहार ० सायंकाल विहरता है।"

ऐसा कहने पर आ. सारिपुत्रने भगवान्से यह कहा—

"भन्ते ! किसका (भाषित = कथन) सुभाषित है ?"

"सारिपुत्र ! तुम सभीका (भाषित) एक एक करके सुभाषित है। और मेरी भी सुनो। किस प्रकारके भिक्षुसे गोसिंग सालवन शोभित होगा ?—यहाँ सारिपुत्र ! भिक्षु भोजनके बाद भिक्षा से निबटकर, आसन मार शरीरको सीधा रख, स्मृतिको सामने उपस्थित कर, (यह संकल्प करता है—) मैं तब तक इस आसनको नहीं छोड़ूँगा, जब तक कि मेरे चित्त-मल चित्तको न छोड़ देंगे। सारिपुत्र ! ऐसे भिक्षुसे गोसिंग सालवन शोभित होगा।"

भगवान्ने यह कहा। संतुष्ट हो उन आयुष्मानोंने भगवान्के भाषणका अभिनंदन किया।

३३—महा-गोपालक-सुत्तन्त (१।४।३)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथ-पिंडिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे।

वहाँ भगवान्ने भिक्षुओंको संबोधित किया—"भिक्षुओ !"

"भदन्त !" (कह) उन भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया।

भगवान्ने यह कहा—"भिक्षुओ ! ग्यारह बातों (= अंगों)से युक्त गोपालक गोयूथकी रक्षाकरनेके अयोग्य है। कौनसे ग्यारह ?—(१) गोपालक रूप (= वर्ण)का जानने वाला नहीं होता; (२) लक्षण (= चिह्न)में भी चतुर नहीं होता; (३) काली मक्खियोंको हटाने-वाला नहीं होता; (४) घावका ढाँकनेवाला नहीं होता; (५) धुआँ नहीं करता; (६) तीर्थ (= जलका उतार) नहीं जानता; (७) पानको नहीं जानता; (८) वीथी (= डगर)को नहीं जानता; (९) चरागाहका जानकार नहीं होता; (१०) बिना छोड़े (सारे)को दूह लेता है; (११) जो वह गायोंके पितर गायोंके स्वामी वृषभ (= साँड़) हैं उनकी अधिक पूजा (= भोज-नादि प्रदान) नहीं करता। भिक्षुओ ! इन ग्यारह बातोंसे युक्त गोपालक गोयूथकी रक्षाकरनेके अयोग्य है।

"ऐसेही भिक्षुओ ! ग्यारह बातोंसे युक्त भिक्षु इस धर्म-विनय (= बुद्धधर्म)में वृद्धि विरूढ़ि=विपुलता पानेके अयोग्य हैं। कौन ग्यारह ?—यहाँ भिक्षुओ ! भिक्षु (१) रूपका जानने वाला नहीं होता; (२) लक्षणमें भी चतुर नहीं होता; (३) आसाटिकों (= काली मक्खियों)को हटाने वाला नहीं होता; (४) व्रण (= घाव)का ढाँकने वाला नहीं होता; (५) धुआँ नहीं करता; (६) तीर्थ नहीं जानता; (७) पानको नहीं जानता; (८) वीथीको नहीं जानता; (९) गोचर (= चरागाह)को नहीं जानता; (१०) बिना छोड़े (= अशेषका) दूहने वाला होता है; (११) जो वह रक्तज्ञ (= अनुरक्त) चिरकालसे प्रव्रजित, संघके पितर, संघके नायक स्थविर भिक्षु हैं उन्हें अतिरिक्त पूजासे पूजित नहीं करता।

"कैसे भिक्षुओ ! भिक्षु रूपका न जाननेवाला होता ?—यहाँ भिक्षुओ ! जो कोई रूप है, वह सब चार महाभूत (= पृथ्वी, जल, वायु, तेज) और चारों भूतोंको लेकर बना है। उसे यथार्थ से नहीं जानता। इस प्रकार भिक्षुओ ! भिक्षु रूपका न जानने वाला होता है।"

"कैसे भिक्षुओ ! भिक्षु लक्षणमें चतुर नहीं होता ?—यहाँ भिक्षुओ ! भिक्षु यह यथार्थसे नहीं जानता कि कर्मके लक्षण (= कारण)से बाल (= अज्ञ) होता है और कर्मके लक्षणसे पंडित होता है। इस प्रकार ०।

"कैसे भिक्षुओ ! भिक्षु आसाटिकका हटाने वाला नहीं होता ?—यहाँ भिक्षुओ ! भिक्षु उत्पन्न काम (= भोग-वासना)के वितर्क का स्वागत करता है, छोड़ता नहीं, हटाता नहीं, अलग नहीं करता, अभावको नहीं प्राप्त करता; उत्पन्न व्यापाद (= पर-पीड़ा)के वितर्कको ०; उत्पन्न

हिंसाके वितर्कको; ० बराबर उत्पन्न होती बुराइयों = अकुशल धर्मोंका स्वागत करता है ०। इस प्रकार ०।

"कैसे भिक्षुओ ! भिक्षु व्रणका ढाँकने वाला नहीं होता है ?—यहाँ भिक्षुओ ! भिक्षु आँख से रूप देखकर उसके निमित्त (= अनुकूल प्रतिकूल होने)का ग्रहण करने वाला होता है, अनु-व्यंजन (= पहिचान)का ग्रहण करने वाला होता है। जिस विषयमें इस चक्षु-इन्द्रियको संयत न रखनेपर लोभ और दौर्मनस्य (रूपी) बुराइयाँ=अकुशल धर्म आ चिपटते हैं, उससे संयम करनेके लिये तत्पर नहीं होता। चक्षुइन्द्रियकी रक्षा नहीं करता; चक्षुइन्द्रियसे संयम (= संवर)में लग्न नहीं होता। श्रोत्रसे शब्द सुनकर ०। घ्राणसे गंध सूँघ कर ०। जिह्वासे रस चख कर ०। कायासे स्प्रष्टव्यको स्पर्श कर ०। मनसे धर्मको जानकर निमित्तका ग्रहण करनेवाला होता है ० मन-इंद्रियके संयममें लग्न नहीं होता। इस प्रकार भिक्षुओ ० !

"कैसे भिक्षुओ ! भिक्षु धूमका न करनेवाला होता है ?—यहाँ भिक्षुओ ! भिक्षु सुने अनु-सार, जाने अनुसार, धर्मको दूसरोंके लिये विस्तारसे उपदेश करने वाला नहीं होता, इस प्रकार ०।

"कैसे भिक्षुओ ! भिक्षु तीर्थको नहीं जानता ?—यहाँ भिक्षुओ ! जो वह भिक्षु बहु-श्रुत, आगम-प्राप्त, धर्म-धर, विनय-धर, मात्रिका-धर, हैं उनके पास समय समयपर जाकर नहीं पूछता, नहीं प्रश्न करता—भन्ते ! यह कैसे, इसका क्या अर्थ है ? उसके लिये वह आयुष्मान्, अविवृतको विवृत (= खोलकर बतलाना) नहीं करते; अस्पष्टको स्पष्ट नहीं करते अनेक प्रकारके शंका-स्थान वाले धर्मोंमें उठी शंकाका निवारण नहीं करते। इस प्रकार ०।

"कैसे भिक्षुओ ! भिक्षु पानको नहीं जानता—यहाँ भिक्षुओ ! भिक्षु तथागतके बतलाये धर्म-विनयके उपदेश किये जाते समय (उसके) अर्थ-वेद (= अर्थ-ज्ञान)को नहीं पाता, धर्म-वेदको नहीं पाता, धर्म संबंधी प्रमोद (= खुशी)को नहीं पाता। इस प्रकार ०।

"कैसे भिक्षुओ ! भिक्षु वीथीको नहीं जानता ?—यहाँ भिक्षुओ ! भिक्षु आर्य-अष्टांगिक मार्गको ठीक ठीक नहीं जानता। इस प्रकार ०।

"कैसे भिक्षुओ ! भिक्षु गोचरमें कुशल नहीं होता ?—यहाँ भिक्षुओ ! भिक्षु चार स्मृति-प्रस्थानोंको ठीक ठीक नहीं जानता। इस प्रकार ०।

"कैसे भिक्षुओ ! भिक्षु अशेषका दूहनेवाला होता है ?—यहाँ भिक्षुओ ! भिक्षुको श्रद्धालु गृहपति वस्त्र, भिक्षान्न, निवास, आसन, रोगीके (उपयोगी) पथ्य-औषधकी सामग्रियोंसे अच्छी तरह संतुष्ट करते हैं; वहाँ भिक्षु मात्रासे ग्रहण करना नहीं जानता। इस प्रकार ०।

"कैसे भिक्षुओ ! भिक्षु ० स्थविर भिक्षुओंको अतिरिक्त पूजासे पुजित नहीं करता ?—यहाँ भिक्षुओ ! भिक्षु ० ० जो वह स्थविर भिक्षु हैं, उनके लिये गुप्त और प्रकट मैत्री-युक्त कायिक कर्म नहीं करता; ० वाचिक कर्म नहीं करता; ० मानस-कर्म नहीं करता। इस प्रकार भिक्षुओ ०।

"भिक्षुओ ! इन ग्यारह धर्मोंसे युक्त भिक्षु इस धर्म-विनयमें वृद्धि विरूढ़िको प्राप्त करनेमें अयोग्य है।

"भिक्षुओ ! ग्यारह अंगोंसे युक्त गोपालक गोयूथकी रक्षा करनेके योग्य होता है। कौनसे ग्यारह ?—यहाँ भिक्षुओ ! गोपालक (१) रूपका जानने वाला होता है; (२) लक्षण-कुशल होता है; (३) आसाटिकका हटाने वाला होता है; (४) व्रणका ढाँकने वाला होता है; (५) धुआँ करनेवाला होता है; (६) तीर्थको जानता है; (७) पीत (= पान)को जानता है; (८) वीथीको जानता है; (९) गोचर-कुशल होता है; (१०) स-शेष दूहनेवाला होता है; (११) जो वह वृषभ ० उन्हें अतिरिक्त पूजासे पूजित करता है। भिक्षुओ ! इन ग्यारह बातोंसे

युक्त गोपालक गोयूथके धारण करने, बढ़ानेके योग्य होता है। इसी प्रकार भिक्षुओ! ग्यारह धर्मोंसे युक्त भिक्षु इस धर्म-विनयमें वृद्धि = विरूढ़ि = विपुलता प्राप्त करनेके योग्य है। कौनसे ग्यारह ?—यहाँ भिक्षुओ! भिक्षु (१) रूपका जानने वाला होता है ०। (११) जो वह भिक्षु ० उन्हें अतिरिक्त पूजासे पूजित करता है।

"कैसे भिक्षुओ! भिक्षु रूपका जानने वाला होता है ?—यहाँ भिक्षुओ! भिक्षु जो कुछ रूप है ० उसे यथार्थसे जानता है। इस प्रकार ०।

"कैसे भिक्षुओ! भिक्षु लक्षण-कुशल होता है ?—यहाँ भिक्षुओ! भिक्षु इसे यथार्थसे जानता है कि कर्म-लक्षणसे बाल होता है और कर्म-लक्षणसे पंडित। इस प्रकार ०।

"० उत्पन्न काम-वितर्क ० व्यापाद-वितर्क ० हिंसा-वितर्क ० लोभ, दौर्मनस्य (रूपी) बुराइयों=अकुशल धर्मोंका स्वागत नहीं करता ०। इस प्रकार ०।

"चक्षुसे रूपको देखकर निमित्त-ग्राही नहीं होता ० इस प्रकार ०।

"० धुएँका करने वाला होता है ?—सुने अनुसार, जाने अनुसार, दूसरोंके लिये धर्मको विस्तारसे उपदेश करता है। इस प्रकार ०।

"कैसे ० तीर्थको जानता है ?—० बहु-श्रुत भिक्षुओंके पास समय समय पर जाकर प्रश्न पूछता है ०। इस प्रकार ०।

"कैसे ० पीतको जानता है !— ० तथागतके बतलाये धर्म और विनयके उपदेश किये जाते समय अर्थवेदको पाता है ०। इस प्रकार ०।

"कैसे ० वीथीको जानता है ?— ० आर्य-अष्टांगिक मार्गको ठीक ठीक जानता है। इस प्रकार ०।

"कैसे ० गोचर कुशल होता है ?— ० चारों स्मृति-प्रस्थानोंको ठीक ठीक जानता है। इस प्रकार ०।

"कैसे ० स-शेष दुहने वाला होता है— ० रोगीके पथ्य औषध आदि सामग्री देते हैं; उसके ग्रहण करनेमें मात्राको जानता है। इस प्रकार ०।

"कैसे भिक्षुओ! ० स्थविर भिक्षुओंको अतिरिक्त पूजासे पूजित करता है ?— ० उन स्थविर भिक्षुओंके लिये गुप्त और प्रकट मैत्रीयुक्त कायिक कर्म करता है; ० वाचिक कर्म ०; ० मानसिक कर्म करता है। इस प्रकार ०।

"भिक्षुओ! इन ग्यारह धर्मों (= बातों)से युक्त भिक्षु इस धर्म-विनयमें वृद्धि = विरूढ़ि = विपुलताको प्राप्त होने योग्य है।"

भगवान्‌ने यह कहा। संतुष्ट हो उन भिक्षुओंने भगवान्‌के भाषणका अभिनंदन किया।

३४—चूल-गोपालक-सुत्तन्त (१।४।४)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् वज्जी (देश)के [1] उक्काचेल (= उल्काचैल)में गंगानदीके तीर पर विहार करते थे।

वहाँ, भगवान्ने भिक्षुओंको संबोधित किया—"भिक्षुओ!"

"भदन्त!" (कह) उन भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया।

भगवान्ने यह कहा "भिक्षुओ! पूर्वकालमें मगधके रहनेवाले एक मूर्ख गोपालकने वर्षाके अन्तिम मासमें शरद्कालमें, गंगानदीके इस पारको बिना सोचे, उस पारको बिना सोचे, बेघाट ही विदेह (देश)की ओर दूसरे तीरको गायें हाँक दीं। तब भिक्षुओ! वह गायें गंगा नदीके स्रोतके मध्यमें भँवरमें पड़कर वहीं विनाशको प्राप्त हो गईं। सो किस लिये?—क्योंकि भिक्षुओ! उस मगधवासी मूर्ख गोपालकने ० गायें हाँक दीं। इसी प्रकार भिक्षुओ! जो कोई श्रमण (= सन्यासी) या ब्राह्मण इस लोकसे नावाकिफ़ (= अकुशल) हैं, परलोकसे नावाकिफ़ हैं, मारके लक्ष्यसे नावाकिफ़ हैं, मारके अलक्ष्यसे नावाक़िफ़ हैं, मृत्युके लक्ष्य ० मृत्युके अलक्ष्यसे नावाकिफ़ हैं; उनके (उपदेशों)को जो सुनने योग्य, श्रद्धा करने योग्य समझेंगे उनके लिये वह चिरकाल तक अहितकर, दुःखकर होगा।

"भिक्षुओ! पूर्वकालमें एक मगधवासी बुद्धिमान ग्वालेने वर्षाके अन्तिम मासमें शरद्कालमें गंगानदीके इस पार को ० सोचकर घाटसे उत्तर तीर पर विदेहकी ओर ० गायें हाँकीं। उसने जो वह गायोंके पितर, गायोंके नायक वृषभ (= साँड) थे उन्हें पहिले हाँका। वह गंगाकी धारको तिरछे काटकर स्वस्तिपूर्वक दूसरे पार चले गये। तब उसने दूसरी बलवान् शिक्षित गायोंको हाँका ०। फिर बछड़े और बछियोंको हाँका ०। फिर दुर्बल बछड़ोंको ०। भिक्षुओ! उस समय तरुण कुछ ही दिनोंका पैदा एक बछड़ा भी माताकी गर्दनके सहारे तैरते गंगाकी धारको तिरछे काटकर स्वस्तिपूर्वक पार चला गया। सो क्यों?—क्योंकि भिक्षुओ! उस मगध-वासी बुद्धिमान् ग्वालेने ० हाँकी। ऐसेही भिक्षुओ! जो कोई श्रमण या ब्राह्मण इस लोकके जानकार ० उनको (उपदेशको) जो सुनने योग्य ० समझते हैं; उनके लिये वह चिरकाल तक हितकर सुखकर होगा।

"जैसे भिक्षुओ! वह गायोंके पितर ० वृषभ गंगाकी धारको तिरछे काटकर स्वस्तिपूर्वक उस पार चले गये; ऐसे ही भिक्षुओ! जो यह अर्हत् क्षीण-आस्रव, (ब्रह्मचर्य-)वास-समाप्त, कृत-कृत्य, भार-मुक्त, सत्पदार्थ-को-प्राप्त, भव-बंधन-रहित, सम्यक्-ज्ञान-द्वारा-मुक्त हैं, वह मारकी धारा को तिरछे काटकर स्वस्तिपूर्वक पार जायेंगे।

---

[1] संभवतः सोनपुर या हाजीपुर (बिहार)।

"जैसे भिक्षुओ ! शिक्षित बलवान् गायें ०; ऐसे ही भिक्षुओ ! जो वह भिक्षु पाँच अवर-भागीय-संयोजनोंके क्षयसे औपपातिक (=अयोनिज देव) हो, उस (देव-)लोकसे लौटकर न आ वहीं निर्वाण प्राप्त करनेवाले हैं; वह भी मारकी धाराको ० ।

"जैसे, भिक्षुओ ! वह बछड़े बछड़ियाँ ०; वैसे ही भिक्षुओ ! जो भिक्षु तीन संयोजनोंके क्षयसे राग-द्वेष-मोहके निर्बल होनेसे सकृदागामी हैं, सकृद् (=एक बार) ही इस लोकमें आकर दुःखका अंत करेंगे; वह भी ० ।

"जैसे भिक्षुओ ! वह एक निर्बल बछड़ा गंगाकी धारको तिरछे काटकर स्वस्तिपूर्वक दूसरे पार चला गया; वैसे ही भिक्षुओ ! जो वह भिक्षु तीन संयोजनोंके क्षयसे स्रोतआपन्न हैं, नियम-पूर्वक संबोधि (=परमज्ञान)-परायण, (निर्वाण-गामी-पथसे) न भ्रष्ट होनेवाले हैं; वह भी ० ।

"भिक्षुओ ! मैं इस लोकका जानकार हूँ, परलोक ० , ० मृत्युके अलक्ष्यका जानकार हूँ; भिक्षुओ ! ऐसे मेरे (उपदेश)को जो सुनने योग्य, श्रद्धाके योग्य मानेंगे उनके लिये वह चिरकाल तक हितकर सुखकर होगा ।"

भगवान्‌ने यह कहा; यह कहकर सुगत शास्ताने यह भी कहा—

"जानकारने इस लोक परलोकको सुप्रकाशित किया ;
जो मारकी पहुँचमें हैं और जो मृत्यु (= मार)की पहुँचमें नहीं हैं ।
जानकार संबुद्धने सब लोकको जानकर ।
निर्वाणकी प्राप्तिके लिये क्षेम (युक्त) अमृतद्वारको खोल दिया ।
पापी (= मार)के स्रोतको छिन्न, विध्वस्त, विश्रृंखलित कर दिया ।
भिक्षुओ ! प्रमोद्‌युक्त होवो, क्षेमकी चाह करो ।"

३५—चूल-सच्चक-सुत्तन्त (१।४।५)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् वैशालीमें महावनकी कूटागारशालामें विहार करते थे।

उस समय वैशालीमें सच्चक (=सत्यक) नामक निगण्ठ-पुत्त (= नंगे साधुका पुत्र) रहता था; (जो कि) बकवादी पंडितमानी और बहुतसे लोगोंसे सम्मानित था। वह वैशालीमें सभाके भीतर ऐसा कहता था—'मैं ऐसे किसी श्रमण या ब्राह्मण, संघपति = गणपति, गणाचार्य—बल्कि (अपनेको) अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध कहनेवालेको भी—नहीं देखता जो मेरे साथ वाद रोपकर कम्पित, सम्प्रकम्पित = सम्प्रवेधित न हो; जिसकी काँखसे पसीना न छूटने लगे। यदि मैं अचेतन स्तम्भसे भी शास्त्रार्थ आरम्भ करूँ तो वह भी मेरे वादके मारे कम्पित, सम्प्रकम्पित, सम्प्रवेधित होवे, आदमीकी तो बात ही क्या कहनी' ?

तब आयुष्मान् अश्वजित् पूर्वाह्णके समय (वस्त्र) पहनकर पात्र-चीवर ले वैशालीमें भिक्षाके लिये प्रविष्ट हुए। वैशालीमें टहलते, अनुचंक्रमण करते = अनुविचरण करते सच्चक निगण्ठ-पुत्तने दूरसे ही आयुष्मान् अश्वजित्को आते देखा। देखकर जहाँ आयुष्मान् अश्वजित् थे वहाँ गया। जाकर आयुष्मान् अश्वजित्के साथ यथायोग्य···(कुशल प्रश्न पूछ) एक ओर खड़ा हो गया। एक ओर खड़े हुए सच्चक निगण्ठपुत्त ने आयुष्मान् अश्वजित्से यह कहा—

"भो अश्वजित् ! कैसे श्रमण गौतम शिष्योंको शिक्षा देते हैं ? किस प्रकारका उपदेश श्रमण गौतमके शिष्योंमें अधिक प्रचलित है ?"

"अग्निवेश ! इस प्रकार भगवान् श्रावकोंको शिक्षा देते हैं; इस प्रकारका उपदेश भगवान्के शिष्योंमें अधिक प्रचलित है—'भिक्षुओ ! रूप अनात्मा (=आत्मा नहीं) है; वेदना अनात्मा है, संज्ञा ०; संस्कार ०; विज्ञान ०; सारे धर्म (=पदार्थ) अनात्मा हैं।' अग्निवेश ! इस प्रकार भगवान् श्रावकोंको शिक्षा देते हैं ०।"

"भो अश्वजित् ! ऐसे वादवाले श्रमण गौतमके बारेमें जो हमने सुना, वह ठीक नहीं सुना। क्या कभी हमारा उन आप गौतमके साथ समागम होगा ? क्या कोई कथा-संलाप होगा ? क्या हमारी वह बुरी धारणा छूटेगी ?"

उस समय पाँच सौ लिच्छवी संस्थागार (= प्रजातन्त्र-भवन)में किसी कामसे एकत्रित हुये थे। तब सच्चक निगण्ठ-पुत्त, जहाँ वह लिच्छवी थे, वहाँ गया। जाकर उन लिच्छवियोंसे बोला—

"चलो आप लिच्छवी ! आज मेरा श्रमण गौतमके साथ कथा-संलाप होगा। यदि श्रमण गौतम वैसे (वाद)में स्थिर रहेगा जैसा कि उसके एक प्रसिद्ध शिष्य अश्वजित् नामक भिक्षुने कहा; तो जैसे बलवान् पुरुष दीर्घ लोमोंवाली भेड़को लोमसे पकड़कर निकाले, घुमावे, फिरावे;

इसी प्रकार मैं श्रमण गौतमको वाद द्वारा निकालूँगा, घुमाऊँगा, फिराऊँगा। जैसे बलवान् शराबकी भट्टीका कर्मचारी शौण्डिका (=भट्टी)के किलञ्ज (=छन्ने)को गम्भीर जलाशयमें फेंक, कानसे पकड़ कर, निकाले, घुमावे, फिरावे; इसी प्रकार मैं ०। जैसे शौण्डिका धूर्त (=शरावमें मस्त) बच्चेको कानसे पकड़कर हिलावे, डुलावे, कँपावे; इसी प्रकार ०। जैसे साठ वरसका पट्ठा (हाथी) गहरी पोखरीमें घुसकर सनधोवन नामकी क्रीड़ाको खेले इसी प्रकार ०। चलो आप लिच्छवी ०।"

वहाँ कोई कोई लिच्छवी कहने लगे—'श्रमण गौतम सच्चक निगण्ठ-पुत्तके साथ क्या वाद कर सकता है? हाँ, सच्चक निगण्ठ-पुत्त श्रमण गौतमके साथ (सफलता पूर्वक) वाद कर सकता है।' कोई कोई लिच्छवी कहने लगे—'क्या होकर सच्चक निगण्ठ-पुत्त भगवान्‌के साथ वाद करेगा? हाँ भगवान् सच्चकके साथ वाद कर सकते हैं।'

तब सच्चक निगण्ठ-पुत्त पाँच सौ लिच्छवियोंके साथ जहाँ महावनमें कूटागार-शाला थी वहाँ गया। उस समय बहुतसे भिक्षु खुली जगहमें टहल रहे थे। तब सच्चक निगण्ठ-पुत्त जहाँ वह भिक्षु थे वहाँ गया। जाकर उन भिक्षुओंसे बोला—

"भो! इस समय आप श्रमण गौतम कहाँ विहार करते हैं? हम आप गौतमका दर्शन करना चाहते हैं।"

"अग्निवेश! यह भगवान् महावनमें प्रविष्ट हो एक वृक्षके नीचे दिनके विहारके लिए बैठे हैं।"

तब सच्चक निगण्ठ-पुत्त बड़ी भारी लिच्छवी-परिषद्‌के साथ प्रवेश कर, जहाँ भगवान् थे वहाँ गया। जाकर भगवान्‌के साथ यथायोग्य......(कुशल प्रश्न पूछ) एक ओर बैठ गया। वह लिच्छवी भी भगवान्‌को अभिवादन कर एक ओर बैठ गये ०। ० एक ओर बैठे सच्चक निगण्ठ-पुत्तने भगवान्‌से यह कहा—

"यदि आप गौतम प्रश्न करनेकी आज्ञा दें, तो कोई बात आप गौतमसे पूछूँ?"

"अग्निवेश[१]! जो चाहो सो पूछो।"

"कैसे आप गौतम शिष्योंको शिक्षा देते हैं ०?"

"अग्निवेश! मैं इस प्रकार शिष्योंको शिक्षा देता हूँ ०—'भिक्षुओ! रूप अनित्य है, वेदना ०, संज्ञा ०, संस्कार ०, विज्ञान ०। रूप अनात्मा है, वेदना ०, संज्ञा ०, संस्कार ०, विज्ञान अनात्मा है। सारे संस्कार (=गतियाँ) अनित्य हैं। सारे धर्म (=पदार्थ) अनात्मा हैं। अग्निवेश! इस प्रकार मैं शिष्योंको शिक्षा देता हूँ ०।"

"भो गौतम! मुझे एक उपमा याद आती है।"

भगवान्‌ने कहा—"अग्निवेश! (कहो क्या) उपमा याद आती है?"

"भो गौतम! जैसे जो कोई भी यह बीज समुदाय, प्राणिसमुदाय, वृद्धि=विरूढ़ि=विपुलताको प्राप्त होते हैं; वह सभी पृथ्वीका आश्रय लेकर, पृथ्वीमें प्रतिष्ठित होकर। इस प्रकार यह बीजग्राम, भूतग्राम (=प्राणि-समुदाय), वृद्धि, विरूढ़ि, विपुलताको प्राप्त होते हैं। जैसे भो गौतम! जो कोई बलसे किये जाने वाले कर्मान्त (=काम) हैं, वह सभी पृथ्वीका आश्रय लेकर ०। इसी प्रकार यह बलसे किये जानेवाले कर्मान्त किये जाते हैं। ऐसे ही भो गौतम! यह पुरुष=पुद्‌गल रूपके कारण रूपमें प्रतिष्ठित हो, पुण्य या अपुण्यको उत्पन्न करता है। वेदना ०। संज्ञा ०। संस्कार ०। विज्ञान ०।"

---

[१] सच्चकका यही गोत्र था।

"क्या अग्निवेश ! तू यह कहता है—'रूप मेरा आत्मा है, वेदना ०, संज्ञा ०, संस्कार ०, विज्ञान ०; ?"

"भो गौतम ! मैं यह कहता हूँ—रूप मेरा आत्मा है, वेदना ०, संज्ञा ०, संस्कार ०, विज्ञान ०; और यह बड़ी जनता भी (कहती है)।"

"अग्निवेश ! यह बड़ी जनता क्या कहेगी ? तू अपने ही अपने वादको चला।"

"भो गौतम ! मैं यह कहता हूँ—रूप मेरा आत्मा है ०।"

"तो अग्निवेश ! तुझसे ही यह पूछता हूँ, जैसे तुझे जँचे वैसा उत्तर दे। तो क्या मानता है, अग्निवेश ! क्या मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा अपने राज्यमें 'मारो'—कह मरवा सकता है, 'जलाओ'—कह जलवा सकता है, 'देशसे निकालो'—कह देशसे निकलवा सकता है; जैसे कि राजा प्रसेनजित् कोसल या जैसे मगधराज वैदेही-पुत्र अजातशत्रु ?"

"हाँ, भो गौतम ! मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा अपने राज्यमें ० देशसे निकलवा सकता है ० जैसे मगधराज वैदेहीपुत्र अजातशत्रु। भो गौतम ! यह जो संघ (=प्रजातंत्र) हैं जैसे कि वज्जी या मल्ल वह भी अपने राज्यमें ० देशसे निकलवा सकते हैं; राजा प्रसेनजित् कोसल या मगधराज वैदेही-पुत्र अजातशत्रु—मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजाओंके लिए तो क्या ? होता है हे गौतम ! हो सकता है।"

"तो क्या मानता है अग्निवेश ! जो तू कहता है—रूप मेरा आत्मा है। क्या वह रूप तेरे वशका है—मेरा रूप ऐसा होवे, मेरा रूप ऐसा न होवे ?"

ऐसा कहनेपर सच्चक निगण्ठ-पुत्त चुप हो गया। दूसरी बार भी भगवान्‌ने सच्चक निगण्ठ-पुत्तसे यह कहा—'तो क्या मानता है ० ?' दूसरी बार भी ० चुप हो गया। तब भगवान्‌ने सच्चक निगण्ठ-पुत्तसे यह कहा—

"अग्निवेश ! अब जवाब दो। यह चुप रहनेका समय नहीं है। अग्निवेश ! जो कोई तथागतद्वारा धार्मिक प्रश्न पूछनेपर तीसरी बार तक चुप रहता है; यहीं उसका शिर सात टुकड़े हो जाता है।"

उस समय वज्रपाणि यक्ष आदीप्त = सम्प्रज्वलित आग-समान दहकते लोहेके वज्रको लेकर सच्चक निगण्ठ-पुत्तके ऊपर आकाशमें खड़ा था—यदि यह सच्चक निगण्ठ-पुत्त भगवान्‌के धार्मिक प्रश्न पूछनेपर तीसरी बार भी उत्तर न देगा तो यहीं इसके सिरके सात टुकड़े करूँगा। उस वज्रपाणि यक्षको भगवान् देखते थे और सच्चक निगण्ठ-पुत्त देखता था। तब सच्चक निगण्ठ-पुत्तने भयभीत, उद्विग्न, रोमाञ्चित हो भगवान्‌हीको शरण पाया, भगवान्‌को ही त्राण पाया, भगवान् ही को लयन (= आश्रय-स्थान) पाया; और भगवान्‌से कहा—

"पूछें आप गौतम ! मैं उत्तर दूँगा।"

"तो क्या मानता है अग्निवेश ! जो तू यह कहता है—रूप मेरा आत्मा है। क्या रूप तेरे वशमें है ० ?"

"नहीं, भो गौतम !"

"अग्निवेश ! होश कर। अग्निवेश ! होश करके उत्तर दे। तेरा पूर्वका (कथन) पिछलेसे नहीं मिलता है; पिछला, पहिलेसे नहीं मिलता है। तो क्या मानता है अग्निवेश ! वेदना ०, संज्ञा ०, संस्कार ०, विज्ञान ०।"

"नहीं भो गौतम !"

"होश कर अग्निवेश ! होश करके अग्निवेश उत्तर दे ०। तो क्या मानता है अग्निवेश ? रूप नित्य है या अनित्य ?"

"अनित्य है, भो गौतम !"

"जो अनित्य है वह दुःख है या सुख ?"

"दुःख है, भो गौतम !"

"जो अनित्य दुःख परिवर्तन-शील है, क्या उसके लिये यह ख्याल करना उचित है—'यह मेरा है,' 'यह मैं हूँ', 'यह मेरा आत्मा है' ?"

"नहीं भो गौतम !"

"तो क्या मानता है, अग्निवेश ! वेदना ०, संज्ञा ०, संस्कार ०, विज्ञान ० ।"

"नहीं भो गौतम !"

"तो क्या मानता है अग्निवेश ! जो कोई दुःखमें पड़ा है, दुःखमें लिपटा है, दुःखको अनुभव कर रहा है, दुःखको—'यह मेरा है,' 'यह मैं हूँ', 'यह मेरा आत्मा है',—समझता है; क्या वह स्वयं (उस) दुःखको हटा सकेगा; दुःखको दूर फेंक कर विहर सकेगा ?"

"भो गौतम ! कैसे होगा ? नहीं होगा, भो गौतम ।"

"तो क्या मानता है अग्निवेश ! इस प्रकार तू दुःखमें पड़ा है ० दुःखको दूर फेंककर विहर सकेगा ?"

"भो गौतम ! कैसे होगा ? नहीं होगा, भो गौतम ।"

"जैसे अग्निवेश ! सार चाहनेवाला, सार खोजनेवाला पुरुष, सार (= हीर)की खोजमें विचरते तीक्ष्ण कुल्हाड़ेको लेकर वनमें प्रविष्ट हो। वह वहाँ सीधे, नये,······बड़े भारी केलेके तनेको देखे। उसे वह जड़से काटे। जड़से काटकर सिरेसे काटे। सिरसे काट कर पत्तेकी लपेटनको उधेड़े। वहाँपर वह पत्तोंकी लपेटनको उधेड़ते हुये फलगूको भी न पावे, सार कहाँसे पायेगा ? इसी प्रकार अग्निवेश ! अपने वादमें तुमसे प्रश्न करनेपर, भापण करनेपर······तू रिक्त = तुच्छ अपराधी (सा जान पड़ा)। और अग्निवेश ! तूने वैशालीमें सभाके भीतर यह बात कही—"मैं ऐसे किसी श्रमण या ब्राह्मण ०[1] आदमीकी तो बात ही क्या कहनी ?' अग्निवेश ! तेरे ललाटपर कोई कोई पसीनेकी बूँदे आ गई हैं, उत्तरासंग (= उपरना) छूटकर ज़मीनपर गिर पड़ा है। मेरे तो अग्निवेश ! कायामें पसीना नहीं।"—

यह (कह कर) भगवान्ने सभामें (अपने) सुवर्ण-वर्ण शरीरको खोल दिया। ऐसा कहने पर सच्चक निगण्ठपुत्त तूष्णी हो, मूक हो, कन्धेको गिराकर, नीचेकी ओर-मुँह कर, प्रतिभा-हीन हो, सोचते बैठा रहा। तब दुर्मुख लिच्छवि-पुत्र सत्यकको ० सोचते देख, भगवान्से यह बोला—

"भन्ते ! यहाँ मुझे एक उपमा याद आती है।"

भगवान्ने यह कहा—"(कहो)-दुर्मुख ! (क्या) उपमा याद आती है ?"

"जिस प्रकार भन्ते ! गाँव या क़स्बेके पासमें पुष्करणी हो। वहाँ एक केकड़ा हो। तब भन्ते ! बहुतसे लड़के या लड़कियाँ उस गाँव या क़स्बेसे निकल कर जहाँ वह पुष्करणी है, वहाँ जायें। जाकर उस केकड़ेको पानीसे निकाल स्थलपर रक्खें। वह केकड़ा जिस जिस आरको निकाले उसी उसीको वह बालक बालिकायें काठसे या कठला (= ठीकरे)से काटें, तोड़ें, भग्न करें; इस प्रकार भन्ते ! वह केकड़ा सारे छिन्न, भग्न, परिभग्न आरोंके कारण उस पुष्करणीमें फिर उतरनेके अयोग्य हो जाये। ऐसे ही भन्ते ! सच्चक निगण्ठ-पुत्तके जो कोई अभिमान, अहङ्कार······थे, वह सभी भगवान्ने काट दिये, तोड़ दिये, भग्न कर दिये। भन्ते ! अब सच्चक

---

[1] देखो पृष्ठ १३८ ।

निगण्ठ-पुत्त फिर भगवान्‌के साथ वादके लिये आने योग्य नहीं है।"

ऐसा कहनेपर सच्चक निगण्ठ-पुत्तने दुर्मुख लिच्छवी-पुत्रसे यह कहा—

"ठहरो, दुर्मुख! ठहरो, दुर्मुख! हम तुम्हारे साथ बात नहीं कर रहे हैं। हम यहाँ आप गौतमके साथ बात कर रहे हैं। भो गौतम! रहने दो, हमारे और दूसरे श्रमण-ब्राह्मणोंके इस वाचिक प्रलाप······को; कैसे आप गौतमके श्रावक शासन-कर (= उपदेशके अनुसार चलनेवाले) संदेह-रहित, वाद-विवादसे-रहित, विशारदता प्राप्त हो, दूसरेके अनाश्रित बन, अपने शास्ता (= उपदेशक)के शासन (= धर्म)में विहरते हैं?"

"अग्निवेश! यहाँ मेरे श्रावक भूत, भविष्य, वर्तमानका, शरीरके भीतर या बाहरका, स्थूल या सूक्ष्म, हीन या उत्तम, दूर या नज़दीक—जो कुछ भी रूप है, सभी रूपको—'न यह मेरा है', 'न यह मैं हूँ', 'न यह मेरा आत्मा है';—इस प्रकार इसे यथार्थतः सम्यक् प्रज्ञासे देखते हैं। ० वेदना ०। ० संज्ञा ०। ० संस्कार ०। ०। इस प्रकार अग्निवेश! मेरे, शिष्य शास्ताके शासनमें विहरते हैं।"

"भो गौतम! किस प्रकार भिक्षु अर्हत् = क्षीणास्रव, समाप्त(ब्रह्मचर्य)-वास कृत-करणीय, भार-मुक्त, सत्पदार्थ-प्राप्त भव-बंधन-रहित, सम्यक्-ज्ञान-से मुक्त होता है?"

"अग्निवेश! यहाँ भिक्षु ० जो कुछ रूप है सभी रूपको—'न यह मेरा है' ०; इस प्रकार इसे ठीक ठीक सम्यक् प्रज्ञासे जान कर (उसे) न ग्रहण कर मुक्त होता है। ० वेदना ०। ० संज्ञा ०। ० संस्कार ०। ० विज्ञान ०। इस प्रकार अग्निवेश! भिक्षु अर्हत् ० होता है। इस प्रकार अग्निवेश! भिक्षु तीन अनुत्तरीय (= अनुपम पदार्थों)से मुक्त होता है—दर्शन (= साक्षात्कार) अनुत्तरीय, प्रतिपद् (= लाभ)-अनुत्तरीय विमुक्ति (= मुक्ति)-अनुत्तरीय। इस प्रकार मुक्त हुआ भिक्षु अग्निवेश! तथागतका ही सत्कार = गुरुकार = सम्मान = पूजन करता है—वह भगवान् बुद्ध हैं, बोधके लिये धर्म-उपदेश करते हैं, वह भगवान् दान्त हैं, दमनके लिये उपदेश करते हैं, वह भगवान् शान्त हैं, शान्तिके लिये धर्म-उपदेश करते हैं; वह भगवान् तीर्ण हैं, तरनेके लिये ०; ० परिनिर्वृत हैं, परिनिर्वाण (= निर्वाण)के लिये धर्म-उपदेश करते हैं।"

ऐसा कहनेपर सच्चक निगंठ-पुत्तने भगवान्‌से यह कहा—

"भो गौतम! हमही अभिमानी हैं, हमहीं प्रगल्भ हैं; जो कि हमने आप गौतमके साथ विवाद करनेका स्वाद लेना चाहा। भो गौतम! मुक्त हाथीके साथ भिड़कर पुरुषका कल्याण हो जाय; किन्तु, आप गौतमसे भिड़कर पुरुषका कल्याण नहीं हो सकता। भो गौतम! घोर विष वाले आशीविष (= सर्प)से भिड़कर पुरुषका कल्याण हो जाय ०। ० जलते अग्निपुंजसे भिड़कर ०। भो गौतम! हमही अभिमानी हैं ०। आप गौतम भिक्षु-संघके साथ कलके लिये मेरा भोजन स्वीकार करें।"

भगवान्‌ने मौनसे स्वीकार किया।

तब सच्चक निगंठ-पुत्तने भगवान्‌की स्वीकृतिको जान, उन लिच्छवियोंको संबोधित किया—

"सुनें आप सब लिच्छवि! मैंने कलके भोजनके लिये भिक्षु-संघ सहित श्रमण गौतमको निमंत्रित किया है; सो वैसा करें जैसा कि इसके लिये योग्य समझें। तब उन लिच्छवियोंने उस रातके बीत जानेपर सच्चक निगंठ-पुत्तके पास भोजनार्थ पाँच सौ स्थालीपाकों (= सीधों) को पहुँचा दिया। तब सच्चक निगंठ-पुत्तने अपने आराममें उत्तम खाद्य भोज्य संपादितकर भगवान्‌के पास कालकी सूचना दी—"भो गौतम! काल हो गया, भोजन तैयार है।"

तब भगवान् पूर्वाह्ण समय पहिन कर पात्रचीवर ले, जहाँ सच्चक निगंठ-पुत्तका आराम था,

वहाँ गये। जाकर भिक्षु-संघके साथ बिछे आसनपर बैठे। तब सच्चक निगंठ-पुत्तने बुद्ध-प्रमुख भिक्षु-संघको उत्तम खाद्य भोज्य द्वारा अपने हाथसे संतर्पित=संप्रवारित किया। तब भगवान्‌के भोजन कर हाथ हटा लेनेपर, सच्चक निगंठ-पुत्त एक छोटे आसनको लेकर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे सच्चक निगंठ-पुत्तने भगवान्‌से यह कहा—

"भो गौतम! जो यह दानमें पुण्य है, वह दायकोंके सुखके लिये हो।"

"अग्निवेश! जो अ-वीतराग, अ-वीतद्वेष, अ-वीत-मोह, दान-पात्रको देनेसे (पुण्य होता है) वह दायकोंको होगा; और अग्निवेश! जो मेरे ऐसे वीत-राग, वीत-द्वेष, वीत-मोह, दान-पात्रों (को दान देनेसे पुण्य है) वह तेरे लिये होगा।"

३६—महा-सच्चक-सुत्तंत (१।४।६)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् वैशालीमें महावनकी कूटागार-शालामें विहार करते थे।

उस समय भगवान् पूर्वाह्न समय पहिन कर पात्रचीवर ले वैशालीमें भिक्षाके लिये प्रविष्ट होना चाहते थे। तब सच्चक निगंठ-पुत्त जंघाविहार (= टहलने)के लिये अनुचंक्रमण करता, अनुविचरण करता, जहाँ महावनकी कूटागार-शाला थी, वहाँ गया। आयुष्मान् आनंदने दूरसे ही सच्चक निगंठ-पुत्तको आते देखा। देखकर भगवान्‌से यह कहा—

"भन्ते! यह सच्चक निगंठ-पुत्त आरहा है (जो कि) बहुत बकवादी पंडित-मानी और बहुत जनों द्वारा सम्मानित है। भन्ते! यह बुद्धकी निन्दा चाहने वाला, धर्मकी निंदा चाहने वाला, संघकी निन्दा चाहनेवाला है। अच्छा हो भन्ते! यदि भगवान् कृपा करके थोड़ी देर यहीं बैठें।"

भगवान् बिछे आसनपर बैठ गये। तब सच्चक निगंठ-पुत्त जहाँ भगवान् थे वहाँ गया। जाकर भगवान्‌के साथ यथायोग्य (कुशल प्रश्न पूछ) एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे सच्चक निगंठ-पुत्तने भगवान्‌से यह कहा—

"भो गौतम! कोई कोई श्रमण ब्राह्मण कायिक भावनामें तत्पर हो विहरते हैं, चित्तकी भावनामें नहीं (तत्पर होते)। वह शारीरिक दुःखमय, वेदनाको पाते हैं। भो गौतम! पहिले शारीरिक दुःख-वेदनामें पड़े हुएका उरुस्तंभ (= जाँघोंका कठिया जाना) भी होगा, हृदय भी विदीर्ण होगा, मुखसे गरम खून भी निकल आयेगा, उन्माद, चित्त-विक्षेप भी होगा। भो गौतम! उसका यह चित्त काय ही तो है, कायाके ही वशमें तो है। सो क्यों?—चित्तकी भावना न करने से। भो गौतम! यहाँ कोई कोई श्रमण ब्राह्मण चित्तकी भावनामें तत्पर हो विहरते हैं। कायाकी भावनामें नहीं। भो गौतम! वह चैतसिक दुःख-वेदनामें पड़ते हैं। भो गौतम! चैतसिक दुःख-वेदनामें पड़नेसे (उस समय) (उनका) उरुस्तंभ भी होगा ० सो क्यों?—कायाकी भावना न करनेसे। भो गौतम! मुझे ऐसा होता है, ज़रूर आप गौतमके शिष्य, चित्तकी भावनामें तत्पर हो विहरते हैं, कायाकी भावनामें नहीं।"

"अग्निवेश! तूने काय-भावना क्या सुनी है?"

"जैसे कि यह नन्द वात्स्य, कृश सांकृत्य, मक्खली-गोसाल (मानते हैं)। भो गौतम! यह अचेलक (= नग्न), मुक्त-आचार ० [1] साप्ताहिक भी आहार करते हैं। ऐसे इस प्रकार बीचमें अन्तर देकर अर्धमासिक आहारको ग्रहणकर विहरते हैं।"

---

[1] देखो पृष्ठ ४८।

"अग्निवेश ! क्या वह उतनेहीसे गुज़ारा करते हैं ?"

"नहीं भो गौतम ! कभी कभी उत्तम उत्तम भोजनोंको खाते हैं। उत्तम उत्तम खाद्योंको ग्रहण करते हैं। उत्तम उत्तम स्वादनीय (पदार्थों)को स्वादन करते हैं। उत्तम उत्तम पानोंको पीते हैं। वह इस शरीरको बढ़ाते हैं, पोसते हैं, चरबी पैदा करते हैं। इस प्रकार इस शरीरका संचय-प्रचय होता है।"

"अग्निवेश ! चित्त-भावना तूने कैसी सुनी है ?"

भगवान्‌के चित्त-भावनाके विषयमें पूछने पर सच्चक निगंठ-पुत्त कुछ न बोला। तब भगवान्‌ने सच्चक निगंठ-पुत्तसे यह कहा—

"अग्निवेश ! जो तूने वह पहले काय-भावना कही वह भी आर्यविनय (= धर्म)में धार्मिक काय-भावना नहीं है। अग्निवेश ! तूने काय-भावनाको ही नहीं जाना; चित्त-भावनाको तो क्या जानेगा ? अग्निवेश ! जैसे कायासे अभावित, चित्तसे अभावित; (एवं) कायासे भावित और चित्तसे भावित होता है, उसे सुन अच्छी तरह मनमें कर कहता हूँ।"

"अच्छा भो !" (वह) सच्चक निगंठपुत्तने भगवान्‌को उत्तर दिया।

भगवान्‌ने यह कहा—

"अग्निवेश ! कैसे (पुरुष) कायासे अभावित और चित्तसे अभावित होता है ?—यहाँ अग्निवेश ! अज्ञ अनाड़ी जनको जब सुख-वेदना (= सुखका अनुभव)होती है तो वह सुख-वेदनासे लिप्त हो, सुखमें रागी होता है, सुखकी रागिताको प्राप्त होता है। (कालान्तरमें जब) उसकी वह सुख-वेदना निरुद्ध हो जाती है। सुख-वेदनाके निरुद्ध होनेसे दुःख-वेदना उत्पन्न होती है। दुःख-वेदनामें पड़कर वह शोक करता है, कलपता है, विलाप करता है, छाती पीटकर रोता है, मूर्छित होता है। (इस प्रकार) अग्निवेश ! उसके लिये उत्पन्न हुई यह सुख-वेदना कायाके भावित न होनेसे चित्तको पकड़कर ठहरती है; चित्तकी भावना न करनेसे उत्पन्न हुई दुःख-वेदना चित्तको पकड़कर ठहरती है। अग्निवेश। जिस किसीको इस प्रकार दोनों ओरसे ० उत्पन्न सुख-वेदना, दोनों ओरसे चित्तकी भावना न करनेसे उत्पन्न हुई दुःख वेदना चित्तको पकड़कर ठहरती है; अग्निवेश ! (वह)-(पुरुष) कायासे भावना-रहित और चित्तसे भावना-रहित होता है।

"कैसे अग्निवेश ! (पुरुष) भावित-काय और भावित-चित्त होता है ?—अग्निवेश बुद्धिमान् आर्य श्रावकको जब सुख-वेदना उत्पन्न होती है, तो वह सुख-वेदनाको पाकर सुख-रागी नहीं होता, सुखमें रागित्वको प्राप्त नहीं होता। (जब) उसकी वह सुख-वेदना नष्ट होती है; सुख-वेदनाके निरोध(= नाश)से दुःख-वेदना उत्पन्न होती है; (तब) वह दुःख-वेदनामें पड़कर न शोक करता है ० न मूर्छाको प्राप्त होता है। अग्निवेश ! कायाके भावित होनेसे उसकी वह उत्पन्न हुई सुख-वेदना चित्तको पकड़कर नहीं ठहरती; ० दुःख-वेदना चित्तको पकड़कर नहीं ठहरती। अग्निवेश ! इस प्रकार दोनों ओरसे कायाके भावित होनेसे जिस किसीकी उत्पन्न सुख-वेदना भी चित्तको पकड़कर नहीं ठहरती, चित्तके भावित होनेसे उत्पन्न दुःख-वेदना भी चित्तको पकड़कर नहीं ठहरती; अग्निवेश ! (वह)...(पुरुष) भावितकाय और भावितचित्त होता है।"

"भो गौतम ! मेरा विश्वास है, कि आप गौतम भावित-काय (शरीरकी साधना जिसनेकी है) और भावित-चित्त (= चित्तकी साधना जिसने की है) हैं।"

"जरूर, अग्निवेश ! तूने तानेसे यह बात कही। अच्छा, तो मैं तुझसे कहता हूँ—जब कि, अग्निवेश ! मैं केश-दाढ़ी मुँड़ा, काषाय-वस्त्र पहिन घरसे बेघर हो प्रव्रजित हुआ ० तो उत्पन्न हुई सुख-वेदना चित्तको पकड़कर ठहरेगी उत्पन्न दुःख-वेदना चित्तको पकड़कर ठहरेगी—यह संभव नहीं।"

"क्या, आप गौतमको वैसी सुख-वेदना उत्पन्न होती है, जैसी उत्पन्न हुई सुख-वेदना चित्तको पकड़कर ठहरती है? क्या आप गौतमको वैसी दुःख-वेदना उत्पन्न होती है, जैसी उत्पन्न हुई दुःख-वेदना चित्तको पकड़कर ठहरती है?"

"हमें क्या होगा अग्निवेश! यहाँ, अग्निवेश! बुद्ध होनेसे पूर्व, बुद्ध न हो बोधिसत्व होते समय मुझे ऐसा हुआ—घरका निवास जंजाल है, मलका मार्ग है, प्रव्रज्या (= संन्यास) खुला स्थान है। इस सर्वथा परिपूर्ण, सर्वथा परिशुद्ध, छिले शंखसे (उज्वल) ब्रह्मचर्यका पालन घरमें रहकर सुकर नहीं है; क्यों न मैं केश-दाढ़ी मुँड़ा, काषाय-वस्त्र पहन घरसे बेघर हो प्रव्रजित हो जाऊँ। सो मैं, अग्निवेश! दूसरे समय ०[1]। सो मैं अग्निवेश! उस धर्मको अपर्याप्त मान, उस धर्मसे उदास हो चल दिया। ०[1] मगधमें क्रमशः चारिका करता, जहाँ उरुवेला सेनानी-निगम था, ०[2] वहीं बैठ गया। मुझे, अग्निवेश! (उस समय) अद्भुत, अश्रुत-पूर्व तीन उपमायें भासित हुईं—

(१) "जैसे गीला काष्ठ भीगे पानीमें डाला हो ०[2]।

(२) "० जैसे स्नेह-युक्त गीला काष्ठ जलके पास स्थल पर फेंका हो ०[2]।

(३) "० जैसे नीरस शुष्क काष्ठ जलसे दूर स्थलपर फेंका हो ०[2]।

"तब अग्निवेश! मेरे (मनमें) हुआ—'क्यों न मैं दाँतोंके ऊपर दाँत रख, जिह्वा द्वारा तालूको दबा ०[2]। उस समय मैंने न-दबनेवाला वीर्य (=उद्योग) आरम्भ किया हुआ था, न-भूली स्मृति मेरी जागृत थी; उसी दुःखमय प्रधान (= साधना)से पीड़ित होनेके कारण मेरी काया चंचल अ-शान्त हो गई।—इस प्रकार अग्निवेश! उत्पन्न हुई वेदना चित्तको पकड़कर नहीं ठहरती।

"तब, अग्निवेश! मेरे (मनमें) हुआ—क्यों न मैं श्वास-रहित ध्यान धरूँ?—सो मैंने अग्निवेश! मुख और नासिकासे श्वासका आना जाना रोक दिया। ०[2]। उसी दुःखमय प्रधानके कारण ०।

"०[2] मैंने अग्निवेश! मुख और नासिकासे श्वासका आना जाना रोक दिया। ०[2]। उसी दुःखमय प्रधानके कारण ०।

"०[2] मैंने अग्निवेश! मुख, नासिका और कानसे श्वासका आना जाना रोक दिया। ०[2]। उसी दुःखमय प्रधानके कारण ०।

"०[2] मैंने अग्निवेश! मुख, नासिका और कानसे श्वासका आना जाना रोक दिया। ०[2]।

"तब मुझे अग्निवेश! यह हुआ—'क्यों न मैं आहारको बिल्कुल ही छोड़ देना स्वीकार करूँ ०[2]। अग्निवेश! मेरा वैसा परिशुद्ध, पर्यवदात (= सफेद, गोरा), छविवर्ण (= चमड़ेका रंग) नष्ट हो गया था। ०[2] सो मैं अग्निवेश! स्थूल आहार ओदन कुल्माष ग्रहण करने लगा। ०[3] प्रथम ध्यान ०[3]। ०[3] द्वितीय ध्यान ०[3]। ०[3] तृतीय ध्यान ०[3]। ०[3] चतुर्थ ध्यानको प्राप्त कर विहरने लगा। अग्निवेश! उत्पन्न हुई सुखवेदना इस प्रकार मेरे चित्तको पकड़कर नहीं ठहरती।

"सो मैंने अग्निवेश! इस प्रकार चित्तके ०[4] परिशुद्ध होनेपर पूर्वजन्मोंकी स्मृतिके लिये चित्तको झुकाया ०[4]। अग्निवेश! रात्रिके प्रथम याममें यह प्रथम विद्या प्राप्त हुई ०[4]।

---

[1] देखो पृष्ठ १०४-५। (अरियपरियेसन-सुत्तन्त २६), भिक्षुओंको संबोधित करनेकी जगह, अग्निवेशको संबोधित करनेके साथ। [2] देखो बोधिराजकुमार-सुत्तन्त ८५, राजकुमारकी जगह अग्निवेशको संबोधित कर। [3] देखो पृष्ठ १५। [4] देखो तीन विद्यायें, पृष्ठ १५, १६।

"०[1] विशुद्ध दिव्य-चक्षुसे ०[1] प्राणियोंको देखने लगा ०[1]। रातके बिचले पहर यह द्वितीय विद्या प्राप्त हुई[1]।

"०[1] आस्रवोंके क्षयके ज्ञानके लिये चित्तको झुकाया ०[1] अब यहाँके लिये कुछ (करणीय) नहीं"—इसे जाना। अग्निवेश ! रातके पिछले याममें यह तृतीय विद्या प्राप्त हुई ०[1]। ० इस प्रकार अग्निवेश ! उत्पन्न हुई सुखवेदना मेरे चित्तको पकड़ कर नहीं ठहरती।

"अग्निवेश ! मैं अनेक सौकी परिषद्में व्याख्यान देता था, और उनमेंसे हर एक समझता था, कि श्रमण गौतम मेरेही लिये धर्म-उपदेश कर रहा है। अग्निवेश ऐसा न समझो, कि तथागत केवल विज्ञापनके लिये दूसरोंको धर्म-उपदेश करते हैं। मैं अग्निवेश उस कथाके समाप्त होने पर उसी पहिलेके समाधि-निमित्त (= चित्त-एकाग्रताके आकार)में, अपने भीतर ही चित्तको ठहराता हूँ, बैठाता हूँ, एकाग्र करता हूँ, समाहित करता हूँ, उसके साथ सदा सर्वदा विहार करता हूँ।"

"अर्हत् सम्यक् संबुद्धकी भाँति आप गौतमको यह योग्य ही है। क्या आप गौतम दिनको सोते हैं ?"

"सोता हूँ, अग्निवेश ! ग्रीष्मके अन्तिम मासमें भोजनान्तर भिक्षासे निबट कर, चौपेती संघाटीको बिछवा दाहिनी करवटसे स्मृति-संप्रजन्य युक्त हो निद्रित होता हूँ।"

"भो गौतम ! इसे कोई कोई श्रमण ब्राह्मण संमोह (= मूढता)का विहार करते हैं।"

"अग्निवेश ! इतनेसे संमूढ (= मूढ) या अ-संमूढ नहीं होता। अग्निवेश ! जैसे संमूढ या अ-संमूढ होता है, उसे सुन अच्छी तरह मनमें कर, कहता हूँ।"

"अच्छा, भो !" (कह) सच्चक निगंठपुत्तने भगवान्को उत्तर दिया।

भगवान्ने यह कहा—"अग्निवेश ! जिस किसीके वह संक्लेशिक (= मलिन करनेवाले), पुनर्जन्म देनेवाले, दुःख-परिणामवाले, भविष्यमें जन्म-जरा-मरण देनेवाले आस्रव (= चित्त-मल) नष्ट नहीं हुये, उसे मैं संमूढ (= मूढ) कहता हूँ। अग्निवेश ! आस्रवोंके नाश न होनेसे (पुरुष) संमूढ होता है। अग्निवेश ! जिस किसीके वह आस्रव ० नष्ट हो गये, उसे मैं अ-संमूढ कहता हूँ। अग्निवेश ! आस्रवोंके नाश होनेसे अ-संमूढ होता है। अग्निवेश ! तथागतके वह आस्रव—०—हो गये, उच्छिन्न-मूल, अभावको प्राप्त, भविष्यमें न उत्पन्न होने लायक सिर-कटे ताड़ जैसे होगये। जैसे, अग्निवेश ! सिर-कटा ताड़ फिर बढ़ने योग्य नहीं रहता; ऐसे ही अग्निवेश ! तथागतके वह आस्रव-०-०, उच्छिन्न-मूल ० सिरकटे ताड़ जैसे हो गये।"

ऐसा कहने पर सच्चक निगंठपुत्तने भगवान्से यह कहा—"आश्चर्य है, भो गौतम ! अद्भुत है भो गौतम ! इतना चिढ़ा चिढ़ा (ताना दे दे) कर कहे जानेपर, चुभनेवाले वचनोंके प्रयोगसे भी आप गौतमका मुखवर्ण (वैसा ही) स्वच्छ प्रसन्न है, जैसा कि अर्हत् सम्यक् संबुद्धका। भो गौतम ! मैंने पूर्ण काश्यपके साथ वाद किया है। वह दूसरी दूसरी (बात) करने लगता था, वह बातको (विषयसे) बाहरले जाता था; कोप, द्वेष, नाराजगी प्रकट करने लगता था। किन्तु इतना चिढ़ा चिढ़ाकर कहे जानेपर ०। ० मक्खलि गोसाल ०। ० अजित केश-कम्बली ०। ० प्रक्रुध कात्यायन ०। ० संजय बेलट्ठिपुत्त ०। मैंने निगंठ नातपुत्तके साथ वाद किया है ०। भो गौतम ! अब हम जायेंगे। हमें बहुत काम बहुत करणीय हैं।"

"अग्निवेश ! जिसका तू इस समय काल समझता है, (उसे कर)।"

तब सच्चक निगंठपुत्त भगवान्के भाषणका अभिनंदन, अनुमोदन कर आसनसे उठकर चला गया।

---

[1] देखो तीन विद्यायें, पृष्ठ १५, १६।

३७—चूल-तण्हा-संखय-सुत्तन्त (१।४।७)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें मृगारमाताके प्रासाद पूर्वाराममें विहार करते थे।

तब देवताओंका इन्द्र शक्र जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया; जाकर भगवान्‌को अभिवादनकर एक ओर खड़ा होगया। एक ओर खड़े देवेन्द्र शक्रने भगवान्‌से यह कहा—

"कैसे, भन्ते! भिक्षु संक्षेपमें तृष्णाके क्षय द्वारा मुक्त हो, अत्यन्त-निष्ठ अत्यन्त योग-क्षेम (= कल्याण)-वाला, अत्यन्त ब्रह्मचारी, अत्यन्त पर्यवसान (= कर्तव्य जिसके समाप्त हो गये), देव-मनुष्योंमें श्रेष्ठ होता है?"

"देवोंके इन्द्र! भिक्षु यह सुने होता है—सारे धर्म (= पदार्थ) अभिनिवेश (= राग) करने लायक नहीं हैं। जब देवोंके इन्द्र! भिक्षु यह भी सुने होता है—"सारे धर्म अभिनिवेश करने लायक नहीं हैं।' वह सारे धर्मोंको जानता है—'सारे धर्मोंको जानकर सब धर्मोंको छोड़ता है। सारे धर्मोंको छोड़कर, जिस किसी सुखा, दुःखा या अ-दुःख-अ-सुखा वेदनाको अनुभव करता है; उसमें वह अनित्यानुदर्शी (= यह अनित्य है, ऐसा समझनेवाला) हो विहरता है, विराग-अनुदर्शी ०, निरोध (= नाश)-अनुदर्शी, प्रतिनिस्सर्ग (= त्याग)-अनुदर्शी हो विहरता है। वह उन वेदनाओंमें ० प्रतिनिस्सर्गानुदर्शी हो विहरते, लोकमें किसी वस्तुका उपादान (= रागयुक्त ग्रहण) नहीं करता। उपादान न करनेसे (विछोहके) त्रासको नहीं पाता। परि-त्रास न पानेसे इसी शरीरमें परिनिर्वाण (= दुःखके सर्वथा अभाव)को प्राप्त होता है;—'जन्म क्षीण हो गया, ब्रह्मचर्य समाप्त हो गया, करना था सो कर लिया, और कुछ (कर्त्तव्य) यहाँके लिये नहीं रहा'—जानता है। देवोंके इन्द्र! ऐसे भिक्षु संक्षेपमें ० देव-मनुष्योंमें श्रेष्ठ होता है।"

तब देवोंका इन्द्र शक्र भगवान्‌के भाषणका अभिनंदन कर, अनुमोदन कर, भगवान्‌को अभिवादन कर, प्रदक्षिणा कर वहीं अन्तर्धान हो गया।

उस समय आयुष्मान् महामौद्गल्यायन भगवान्‌के अ-विदूर (= समीप)में बैठे थे। तब आयुष्मान् महामौद्गल्यायनको यह हुआ—'क्या उस यक्ष (= देव)ने भगवान्‌के भाषणको समझकर अनुमोदित किया, या विना (समझे)? क्यों न मैं उस यक्षको पूछूँ, कि उस यक्षने भगवान्‌के भाषणको समझकर अनुमोदित किया, ०?' तब आयुष्मान् महामौद्गल्यायन, जैसे बलवान् पुरुष समेटी बाँहको (विना प्रयास) फैला दे, और फैली बाँहको समेट ले, वैसे ही, मृगारमाता[1]के प्रासाद पूर्वारामसे अन्तर्ध्यान हो त्रायस्त्रिंश देव (-लोक)में प्रकट हुये।

उस समय देवोंका इन्द्र शक्र एकपुंडरीक उद्यानमें पाँच प्रकारके दिव्य वाद्योंसे सम-

---

[1] मृगारमाता विशाखाका नाम था, विशेषके लिये देखो बुद्धचर्या, पृष्ठ ३३२।

-र्पित=समंगीभूत हो घिरा बैठा था। ० शक्रने दूरसे ही आयुष्मान् महामौद्गल्यायनको आते देखा। देखकर उन पाँच प्रकारके दिव्य वाद्योंको हटाकर, जहाँ आयुष्मान् महामौद्गल्यायन थे, वहाँ गया। जाकर आयुष्मान् महामौद्गल्यायनसे यह बोला—

"आओ, मार्ष मौद्गल्यायन! स्वागत है मार्ष मौद्गल्यायन! चिरकालके बाद मार्ष मौद्गल्यायन! आपका...यहाँ आना हुआ। बैठिये मार्ष मौद्गल्यायन! यह आसन बिछा है।"

आयुष्मान् महामौद्गल्यायन बिछे आसनपर बैठ गये। देवोंका इन्द्र शक्र भी एक नीचे आसनको लेकर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे ० शक्रसे आयुष्मान् महामौद्गल्यायनने यह कहा—

"कौशिक! किस प्रकार भगवान्‌ने तुम्हें संक्षेपसे तृष्णा-क्षय द्वारा मुक्तिके बारेमें कहा है? अच्छा हो, हम भी उस कथाके श्रवण करनेके भागी हों।"

"मार्ष मौद्गल्यायन! हम बहुकृत्य बहुकरणीय हैं; अपना करणीय (काम) तो थोड़ा ही है, त्रायस्त्रिंश देवोंका ही करणीय (बहुत है)। और मार्ष मौद्गल्यायन! सु-श्रुत (= अच्छी प्रकार सुना), सुगृहीत = सु-मनसीकृत, सु-प्रधारित (बात) भी हमें शीघ्र ही भूल जाता है। मार्ष मौद्गल्यायन! पूर्वकालमें देवासुर-संग्राम छिड़ा था। उस संग्राममें, मार्ष मौद्गल्यायन! देव विजयी हुये, असुर पराजित हुये। सो मार्ष मौद्गल्यायन! उस संग्रामको जीत, विजित-संग्राम हो, लौटकर मैंने वैजयन्त नामक प्रासादको बनवाया। मार्ष मौद्गल्यायन! वैजयन्त प्रासादके एक आसन (= तल)में सौ निर्यूह (= खंड) हैं। एक एक निर्यूहमें सात कूटागार हैं। एक एक कूटागारमें सात अप्सरायें हैं। एक एक अप्सराके पास सात सात परिचारिकायें हैं। मार्ष[1] मौद्गल्यायन! क्या वैजयन्त प्रासादकी रमणीकताको देखना चाहते हो?"

आयुष्मान् महामौद्गल्यायनने मौन रह स्वीकार किया।

तब देवोंका इन्द्र शक्र आयुष्मान् महा मौद्गल्यायनको आगे आगे कर, जहाँ वैजयन्त प्रासाद था, वहाँ गया। ० शक्रकी परिचारिकाओंने दूरसे ही आयुष्मान् महामौद्गल्यायनको आते देखा। देखकर, लजाती शर्माती अपनी अपनी कोठरियोंमें घुस गईं। बहू ससुरको देखकर जैसे लजाती शर्माती है, वैसेही ० शक्रकी परिचारिकायें आयुष्मान् महामौद्गल्यायनको देख लजाती शर्माती अपनी अपनी कोठरियोंमें घुस गईं।

तब देवेन्द्र शक्र और महाराज वैश्रवण, आयुष्मान् महामौद्गल्यायनको वैजयन्त प्रासाद दिखाने टहलाने लगे—

"मार्ष मौद्गल्यायन! देखो वैजयन्त प्रासादकी इस रमणीकताको भी। मार्ष मौद्गल्यायन! देखो वैजयन्त प्रासादकी इस रमणीकता को।"

"पहिले पुण्य किये आयुष्मान् कौशिकका यह (भवन) सोहता है।"

"मनुष्यभी थोड़ी रमणीकता देखकर कहते हैं—'त्रायस्त्रिंश देवोंका (भवन) सोहता है; पहिले पुण्य किये आयुष्मान् कौशिकका यह (भवन) सोहता है'।"

तब आयुष्मान् महामौद्गल्यायनको ऐसा हुआ—'यह यक्ष बहुत अधिक प्रमादी हो विहर रहा है; क्यों न मैं इस यक्षको उद्वेजित करूँ।'

तब आयुष्मान् महामौद्गल्यायनने ऐसी ऋद्धि प्रदर्शितकी, कि वैजयन्त प्रासादको पैरके अंगूठेसे संकम्पित (= कम्पित) = संप्रकम्पित=संप्रवेधित कर दिया। तब ० शक्र वैश्रवण

---

[1] देवता लोग अपने समान व्यक्तिको मार्ष कहकर संबोधित करते हैं।

महाराज, और त्रायस्त्रिंश देव आश्चर्य-चकित···हो गये—'अहो ! श्रमणकी महा-ऋद्धि-मत्ता=महा-नुभावता; जो कि (उसने) दिव्य-भवनको पैरके अंगूठेसे संकम्पित ० कर दिया।

तब आयुष्मान् महामौद्गल्यायनने ० शक्रको उद्विग्न रोमांचित जान, शक्रसे यह कहा—

"कौशिक ! किस प्रकार भगवान्ने तुम्हें ०[1] मुक्तिके बारेमें कहा ०।"

"मार्ष मौद्गल्यायन ! मैं जहाँ भगवान् थे, वहाँ, जाकर भगवान्को अभिवादनकर एक ओर खड़ा हो गया। एक ओर खड़े मैंने भगवान्से यह कहा—'कैसे भन्ते ! ०[2] देव-मनुष्योंमें श्रेष्ठ होता है'। मार्ष मौद्गल्यायन ! इस प्रकार भगवान्ने मुझे ०[2] मुक्तिके बारेमें कहा।"

तब आयुष्मान् महामौद्गल्यायन ० शक्रके भाषणका अभिनंदन अनुमोदन कर, जैसे बलवान् पुरुष समेटी बाँहको फैलादे ०[2], वैसेही त्रायस्त्रिंश देव (लोक)में अन्तर्धान हो, मृगारमाताके प्रासाद पूर्वाराममें प्रकट हुये। आयुष्मान् महामौद्गल्यायनके चले जानेके थोड़ीही देर बाद ० शक्रकी परिचारिकाओंने देवेन्द्र, शक्रसे पूछा—

"मार्ष ! यही वह तुम्हारे शास्ता (= गुरु) थे ?"

"मार्षो ! यह मेरे शास्ता नहीं थे, यह मेरे सब्रह्मचारी (= गुरुभाई) आयुष्मान् महा-मौद्गल्यायन थे।"

"लाभ है, मार्ष ! जबकि तेरे सब्रह्मचारी ऐसे महा-ऋद्धिमान् ऐसे महानुभाव हैं। अहो ! वह तुम्हारे भगवान् शास्ता (कैसे होंगे) !!'

तब आयुष्मान् महामौद्गल्यायन, जहाँ भगवान् थे, वहीं गये, जाकर भगवान्को अभिवादनकर एक ओर बैठ गये। एक ओर बैठे आयुष्मान् महामौद्गल्यायनने भगवान्से यह कहा—

"जानते हैं, भन्ते ! अभी एक प्रसिद्ध महाप्रतापी यक्षको भगवान्ने संक्षेपसे तृष्णा-क्षय विमुक्तिको बतलाया था ?"

"जानता हूँ, मौगद्ल्यायन !—देवेन्द्र शक्र जहाँ मैं था, वहाँ आया। आकर मुझे अभिवादनकर एक ओर खड़ा हो गया। एक ओर खड़े देवेन्द्र शक्रने मुझसे यह कहा—०[2] देव-मनुष्योंमें श्रेष्ठ होता है। मौद्गल्यायन ! मैं जानता हूँ—ऐसे मैंने देवेन्द्र शक्रको संक्षेपसे तृष्णा-क्षय-विमुक्तिको बतलाया था।"

भगवान्ने यह कहा, सन्तुष्ट हो आयुष्मान् महामौद्गल्यायनने भगवान्के भाषणका अभि-नंदन किया।

[1] देखो पृष्ठ १४९। [2] देखो पृष्ठ १४८।

३८—महा-तण्हा-संखय-सुत्तन्त (१।४।८)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथपिंडिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे। उस समय साति केवट्टपुत्त भिक्षुको ऐसी बुरी दृष्टि (=धारणा) उत्पन्न हुई थी—"मैं भगवान्‌के उपदेश किये धर्मको इस प्रकार जानता हूँ, कि वही विज्ञान संसरण (जन्म-मरणमें जाना) करता है, संधावन (=धावन) करता है, अन्य नहीं।

बहुतसे भिक्षुओंने सुना कि—साति केवट्टपुत्त (=कैवर्त-पुत्र) भिक्षुको ऐसी बुरी दृष्टि उत्पन्न हुई है—० संधावन करता है ०। तब वह भिक्षु जहाँ साति केवट्टपुत्त भिक्षु था, वहाँ गये। जाकर साति केवट्टपुत्त भिक्षुसे यह बोले—

"सचमुच, आवुस साति! तुम्हें इस प्रकारकी बुरी धारणा उत्पन्न हुई है?—०संधावन करता है!"

"हाँ आवुसो! ० संधावन करता है ०।"

तब वह भिक्षु उस बुरी धारणसे हटानेके लिये साति केवट्टपुत्त भिक्षुको समझाते बुझाते समनुभाषण करने लगे—

"आवुस साति! मत ऐसा कहो, मत भगवान् पर झूठ लगाओ। भगवान् पर झूठ लगाना ठीक नहीं है। भगवान् ऐसा नहीं कहते। आवुस साति! भगवान्‌ने अनेक प्रकारसे विज्ञानको प्रतीत्य-समुत्पन्न (कार्य-कारणसे उत्पन्न) कहा है। प्रत्यय(=हेतु)के विना विज्ञान (=चेतना) का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता।"

इस प्रकार उन भिक्षुओंद्वारा समझाये बुझाये जाने पर भी केवट्टपुत्त साति भिक्षु, उसी बुरी धारणाको दृढ़तासे पकड़े कहता था—'मैं भगवान्‌के उपदिष्ट धर्मको इस प्रकार जानता हूँ ०।' जब वह भिक्षु केवट्टपुत्त साति भिक्षुकी उस बुरी धारणाको न हटा सके; तब जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये; जाकर भगवान्‌को अभिवादन कर एक ओर बैठ गये···उन भिक्षुओंने भगवान्‌से यह कहा—

"भन्ते! केवट्टपुत्त साति भिक्षुको ऐसी बुरी धारणा (=पापदृष्टि) उत्पन्न हुई है—'मैं भगवान्‌के उपदिष्ट धर्मको इस प्रकार जानता हूँ ०। हमने भन्ते!···सातिकी इस बुरी धारणाको सुना। तब हम भन्ते!···साति भिक्षुके पास···जाकर यह बोले—सचमुच आवुस साति! तुम्हें इस प्रकार ०?···हाँ आवुसो! ०[1] जब हम भन्ते!···साति भिक्षुकी इस बुरी धारणाको न हटा सके, तब हमने आकर इस बातको भगवान्‌से कहा।"

तब भगवान्‌ने एक भिक्षुको संबोधित किया—"आओ भिक्षु! तुम मेरी ओरसे केवट्टपुत्त

---

[1] देखो ऊपर।

साति भिक्षुको बोलना—'आवुस साति ! शास्ता (= उपदेशक, बुद्ध) तुम्हें बुला रहे हैं' ।"

"अच्छा, भन्ते !—"(कह) वह भिक्षु···साति भिक्षुके पास···जाकर यह बोला—"आवुस ! शास्ता तुम्हें बुला रहे हैं ।"

"अच्छा, आवुस !"—कहा···केवट्टपुत्त साति भिक्षु जहाँ भगवान् थे,···वहाँ जाकर भगवान्‌को अभिवादन कर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे···साति भिक्षुको भगवान्‌ने यह कहा—

"सचमुच, साति ! तुझे इस प्रकारकी बुरी धारणा हुई है—'मैं भगवान्‌के ० ?"

"हाँ, भन्ते ! मैं भगवान्‌के उपदिष्ट धर्मको इस प्रकार जानता हूँ; कि वही विज्ञान संसरण, संधावन करता है, दूसरा नहीं।"

"साति ! वह विज्ञान क्या है ?"

"यह जो भन्ते ! वक्ता, अनुभव-कर्ता है, जो कि तहाँ तहाँ (जन्म लेकर) अच्छे, बुरे कर्मोंके विपाकको अनुभव करता है।"

"मोघपुरुष[1] ! तुमने किसको मुझे ऐसा उपदेश करते सुना ? मैंने तो मोघपुरुष ! अनेक प्रकारसे विज्ञानको प्रतीत्य-समुत्पन्न कहा है; प्रत्ययके विना विज्ञानका प्रादुर्भाव नहीं हो सकता (–कहा है)। मोघपुरुष ! तू अपनी ठीकसे न समझी बातका हमारे पर लांछन लगाता है; अपना नुकसान कर रहा है, और बहुत पाप कमा रहा है; मोघपुरुष ! यह तेरे लिये दीर्घकाल तक अहितकर, दुःखकर होगा।"

तब भगवान्‌ने भिक्षुओंको संबोधित किया—

"तो क्या मानते हो, भिक्षुओ ! क्या इस···साति भिक्षुने इस धर्म-विनय (= धर्म)में थोड़ा भी अवगाहन कर पाया (= उसमीकत) है ?"

"क्या कर पायेगा, भन्ते ? नहीं भन्ते !"

ऐसा कहने पर केवट्टपुत्त साति भिक्षु सुम्‌गुम् हो, मूक हो, कंधा गिराकर, नीचे मुँह करके चिन्तामें पड़, प्रतिभाहीन हो बैठा रहा। तब भगवान्‌ने···साति भिक्षुको सुम्-गुम् हो ० प्रतिभाहीन हो बैठे देख···(उसे) यह कहा—

"मोघपुरुष ! जानेगा तू इस अपनी बुरी धारणाको। अब मैं भिक्षुओंको पूछता हूँ।"

तब भगवान्‌ने भिक्षुओंको संबोधित किया—

"भिक्षुओ ! तुमने मुझे ऐसा धर्म उपदेश करते देखा है, जैसे कि···साति भिक्षु अपनी ठीकसे न समझी बातका, हमारे पर लांछन लगाता है; अपना नुकसान कर रहा है; और बहुत पाप कमा रहा है ?"

"नहीं भन्ते ! भगवान्‌ने तो भन्ते ! हमें अनेक प्रकारसे विज्ञानको प्रतीत्य-समुत्पन्न कहा है; प्रत्ययके विना विज्ञानका प्रादुर्भाव नहीं होता है (–कहा है)।"

"साधु, भिक्षुओ ! तुम इस प्रकार मेरे उपदेशित धर्मको ठीकसे जानते हो—'अनेक प्रकारसे ० प्रादुर्भाव नहीं हो सकता' तो भी यह···साति भिक्षु अपनी ठीकसे न समझी ० यह उसके लिये दीर्घकाल तक अहितकर दुःखकर होगा।

"भिक्षुओ ! जिस जिस प्रत्यय (= निमित्त)से विज्ञान उत्पन्न होता है, वही वही उसकी संज्ञा (=नाम) होती है। चक्षु (= आँख)के निमित्तसे रूपमें (जो) विज्ञान उत्पन्न होता है;

---

[1] मोघी (बनारसी हिन्दी) = फजूलका आदमी।

चक्षु-विज्ञान ही उसकी संज्ञा होती है। श्रोत्रके निमित्तसे शब्दमें (जो) विज्ञान उत्पन्न होता है; श्रोत्र-विज्ञान ही उसकी संज्ञा होती है। घ्राण (= नाक)के निमित्तसे गंधमें (जो) विज्ञान उत्पन्न होता है, घ्राण-विज्ञान ही उसकी संज्ञा होती है। जिह्वाके निमित्तसे रसमें (जो) विज्ञान उत्पन्न होता है, रस-विज्ञान ही उसकी संज्ञा होती है। कायाके निमित्तसे स्प्रष्टव्य (= छूये जानेवाले विषय)में (जो) विज्ञान उत्पन्न होता है, काय-विज्ञान ही उसका नाम होता है। मनके निमित्तसे धर्म (= उपरोक्त पाँच बाहरी इन्द्रियोंसे प्राप्त ज्ञान)में (जो) विज्ञान उत्पन्न होता है, मनो-विज्ञान ही उसकी संज्ञा होती है।

"जैसे कि, भिक्षुओ! जिस जिस निमित्त (= प्रत्यय)को लेकर (जो) आग जलती है, वही वही उसकी संज्ञा होती है। काष्ठके निमित्तसे (जो) आग जलती है, काष्ठ-अग्नि ही उसकी संज्ञा होती है। (लकड़ीकी) चुन्नीके निमित्तसे जो आग जलती है, चुन्नीकी आग ही उसकी संज्ञा होती है। तृणके निमित्तसे (जो) आग जलती है, तृण-अग्नि ही उसकी संज्ञा होती है। कंडे (= गोमय)के निमित्तसे (जो) आग जलती है, कंडेकी आग ही उसकी संज्ञा होती है। भूसी (= तुष)के निमित्तसे (जो) आग जलती है, भूसीकी आग ही उसकी संज्ञा होती है। कूड़े (= संकार)के निमित्तसे (जो) आग जलती है, कूड़ेकी आग ही उसकी संज्ञा होती है। ऐसे ही भिक्षुओ! जिस जिस निमित्तसे विज्ञान उत्पन्न होता है, वही वही उसकी संज्ञा होती है। चक्षुके निमित्तसे ०[1] मनो-विज्ञान ही उसकी संज्ञा होती है।

"भिक्षुओ! इस (पाँच स्कंधो[2])को उत्पन्न देखते हो?"

"हाँ, भन्ते!"

"भिक्षुओ! अपने आहारसे (उन्हें) उत्पन्न हुआ देखते हो?"

"हाँ, भन्ते!"

"भिक्षुओ! जो उत्पन्न होने वाला है, अपने आहारके निरोधसे वह निरुद्ध (= नष्ट) होनेवाला होता है—इसे देखते हो?"

"हाँ, भन्ते!"

"भिक्षुओ! 'यह (पाँच स्कंध) उत्पन्न हुआ है, या नहीं'—यह दुविधा करते सन्देह (= विचिकित्सा) उत्पन्न होती है न?"

"हाँ, भन्ते!"

"भिक्षुओ! अपने आहारसे उत्पन्न हुआ है, या नहीं—०?"

"हाँ, भन्ते!"

"भिक्षुओ! 'जो उत्पन्न होनेवाला है, (वह) अपने आहार (= स्थितिके आधार)के निरोधसे निरुद्ध होनेवाला होता है, या नहीं'—यह दुविधा करते सन्देह उत्पन्न होता है न?"

"हाँ, भन्ते!"

"भिक्षुओ! 'यह (= पाँच स्कंध) उत्पन्न हैं'—यह अच्छी प्रकार प्रज्ञासे देखने पर सन्देह नष्ट हो जाता है न?"

---

[1] देखो पृष्ठ १५२-५३। [2] रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान यह पाँच स्कंध हैं। वेदना, संज्ञा, संस्कार रूपके संबंधसे विज्ञानहीकी तीन अवस्थायें हैं, इस प्रकार वह उसके अन्तर्गत हैं। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु रूप-स्कंध हैं। जिसमें न भारीपन है, और जो न जगह घेरता है, वह विज्ञान-स्कंध है। रूप (= Matter) और विज्ञान (= Mind)के मेलसे ही सारा संसार बना है।

"हाँ, भन्ते !"

"भिक्षुओ ! इसे अपने आहारसे उत्पन्न ०।० 'जो उत्पन्न होनेवाला है, (वह) अपने आहारके निरोधसे निरुद्ध होने वाला होता है'—यह ठीकसे अच्छी प्रकार प्रज्ञासे देखने पर सन्देह नष्ट हो जाता है न ?"

"हाँ, भन्ते !"

"भिक्षुओ ! 'यह (पंच स्कंध) उत्पन्न हैं'—इस (विषयमें) तुम सन्देह-रहित हो न ?"

"हाँ, भन्ते !"

"भिक्षुओ ! 'वह अपने आहारसे उत्पन्न हैं'—इस (विषय)में भी तुम सन्देह-रहित हो न ?"

"हाँ, भन्ते !"

"० अपने आहारके निरोधसे निरुद्ध होनेवाला होता है—इस (विषय)में भी तुम सन्देह-रहित हो न ?"

"हाँ, भन्ते !"

"भिक्षुओ ! 'यह उत्पन्न है'—इसे ठीकसे अच्छी प्रकार जानना सुदृष्ट (=अच्छा दर्शन) है न ?"

"हाँ, भन्ते !"

"भिक्षुओ ! '(यह) अपने आहारसे उत्पन्न है—०।० अपने आहारके निरोधसे निरुद्ध होने वाला होता है'—यह ठीकसे अच्छी प्रकार जानना सुदृष्ट है न ?"

"हाँ, भन्ते !"

"भिक्षुओ ! क्या तुम इस ऐसे परिशुद्ध, उज्वल, दृष्ट (= दर्शन, ज्ञान)में भी आसक्त होगे, रमोगे, '(मेरा) धन है'—समझोगे, ममता करोगे ? भिक्षुओ ! (मेरे) उपदेशे धर्मको कुल्ल (= नदी पार करनेके बेड़े)के समान, (यह) पार होनेके लिये है, पकड़ कर रखनेके लिये नहीं है—(समझोगे) ?"

"(पकड़ कर रखनेके लिये) नहीं है भन्ते !"

"भिक्षुओ ! तुम इस ऐसे परिशुद्ध, उज्वल, दृष्टमें भी आसक्त न होना, न रमना, '(मेरा) धन[1] हैं'—न समझना, ममता न करना। बल्कि भिक्षुओ ! मेरे उपदेशे धर्मको कुल्ल (= बेड़े) के समान समझना, (यह) पार होनेके लिये है, पकड़ रखनेके लिये नहीं है।"

"हाँ, भन्ते !"

"भिक्षुओ ! उत्पन्न प्राणियोंकी स्थितिके लिये, आगे उत्पन्न होने वाले (सत्त्वों)की सहायता (= अनुग्रह)के लिये यह चार आहार हैं। कौनसे चार ?—(पहिला) स्थूल या सूक्ष्म कवलीकार (= कवल, कवल करके खाने योग्य) आहार; दूसरा स्पर्श (आहार); तीसरा मनःसंचेतना (= मनसे विषयका ख्यालकरके तृप्तिलाभ करना), चौथा विज्ञान (= चेतना)।

"भिक्षुओ ! इन चार आहारोंका क्या निदान (= हेतु) है = क्या समुदय है ? (यह) किससे जन्मे हैं = किससे संभूत हैं ?—भिक्षुओ ! इन चारों आहारोंका निदान है तृष्णा।० समुदय है, तृष्णा। यह जन्मे हैं तृष्णासे =[1] यह संभूत हैं तृष्णासे।

"भिक्षुओ ! इस तृष्णाका क्या निदान है ० ?— ० वेदना ०।

"० वेदना ०[1] ?—० स्पर्श ०।

---

[1] ऊपरकी तरह।

"० स्पर्श ०[1] ?—० षड्-आयतन[2] ० ।
"० षड्-आयतन ०[1] ?—० नाम-रूप[3] ० ।
"० नाम-रूप ०[1] ?—० विज्ञान ० ।
"० विज्ञान ०[1] ?—० संस्कार ० ।
"० संस्कार ०[1] ?—० अविद्या ० ।

"इस प्रकार भिक्षुओ ! अ-विद्याके कारण संस्कार होता है, संस्कारके कारण विज्ञान, विज्ञानके कारण नाम-रूप, नाम-रूपके कारण षड्-आयतन, षड्-आयतनके कारण स्पर्श, स्पर्शके कारण वेदना, वेदनाके कारण तृष्णा, तृष्णाके कारण उपादान (= ग्रहण या ग्रहण करनेकी इच्छा), उपादानके कारण भव (= संसार), भवके कारण जन्म, जन्मके कारण जरा-मरण, शोक, रोना-काँदना, दुःख = दौर्मनस्य, हैरानी-परेशानी होती हैं। इस प्रकार इस केवल (= खालिस) दुःख-स्कन्ध (= दुःख-समुदाय)की उत्पत्ति होती है ।

"भिक्षुओ ! जाति (= जन्म)के कारण जरा-मरण होता है—यह जो कहा । भिक्षुओ ! जातिके कारण जरा-मरण होता है या नहीं—इसमें तुम्हें क्या जान पड़ता है ?

"जातिके कारण जरा-मरण होता है । भन्ते ! हमको यही जान पड़ता है, कि जातिके कारण जरा-मरण होता है ।

"भिक्षुओ ! भवके कारण जाति (= जन्म) होती है—यह जो कहा । भिक्षुओ ! भवके कारण जाति होती है या नहीं—इसमें तुम्हें क्या जान पड़ता है ?"

"० भवके कारण, भन्ते ! जाति होती है ० ।"
"० उपादानके कारण ०[1] ?—० ।"
"० तृष्णाके कारण ०[1] ?—० ।"
"० वेदनाके कारण ०[1] ?—० ।"
"० स्पर्शके कारण ०[1] ?—० ।"
"० षड्-आयतनके कारण ०[1] ?— ० ।"
"० नाम-रूपके कारण ०[1] ?— ० ।"
"० विज्ञानके कारण ०[1] ?— ० ।"
"० संस्कारके कारण ०[1] ?— ० ।"
"० अविद्याके कारण ०[1] ?— ० ।"

"साधु, भिक्षुओ ! तुमभी भिक्षुओ ! इस प्रकार कहो, मैं भी ऐसेही कहता हूँ—'इसके होनेपर यह होता है, इसके उत्पन्न होनेसे यह उत्पन्न होता है'—जो कि यह अविद्याके कारण संस्कार, संस्कारके कारण विज्ञान, विज्ञानके कारण नाम-रूप, नाम-रूपके कारण षड्-आयतन षड्-आयतनके कारण स्पर्श, स्पर्शके कारण वेदना, वेदनाके कारण तृष्णा, तृष्णाके कारण उपादान, उपादानके कारण भव, भवके कारण जाति, जातिके कारण जरा-मरण, जरा-मरणके कारण शोक, रोना-काँदना, दुःख = दौर्मनस्य, हैरानी-परेशानी होती है।—इस प्रकार इस केवल दुःख-स्कंध (= दुःख-पुंज)की उत्पत्ति होती है ।

---

[1] ऊपरकी तरह । [2] चक्षु आदि पाँच बाहरी इन्द्रियाँ और छठा भीतरी इन्द्रिय मन, यह छः आयतन हैं । [3] रूप भूतोंको कहते हैं, और नाम विज्ञानको (देखो टिप्पणी पृष्ठ १५३) ।

"अविद्याके पूर्णतया विरक्त होनेसे, (अविद्याके) नष्ट होनेसे संस्कारका नाश (= निरोध) होता है, संस्कारके निरोधसे विज्ञानका निरोध होता है, विज्ञानके निरोधसे नाम-रूपका निरोध होता है, नाम-रूपके निरोधसे षड्-आयतनका निरोध होता है, षड्-आयतनके निरोधसे स्पर्शका निरोध होता है, स्पर्शके निरोधसे वेदनाका निरोध होता है, वेदनाके निरोधसे तृष्णाका निरोध होता है, तृष्णाके निरोधसे उपादानका निरोध होता है, उपादानके निरोधसे भवका निरोध होता है, भवके निरोधसे जातिका निरोध होता है, जातिके निरोधसे जरा-मरण, शोक रोने-काँदने, दुःख = दौर्मनस्य हैरानी-परेशानीका निरोध होता है।—इस प्रकार इस केवल दुःख-स्कंधका निरोध होता है।

"भिक्षुओ! 'जातिके निरोधसे जरा-मरणका निरोध होता है'—यह जो कहा। भिक्षुओ! जातिके निरोधसे जरामरणका निरोध होता है या नहीं होता—यहाँ तुम्हें कैसा जान पड़ता है?"

" 'जातिके निरोधसे जरामरणका निरोध होता' भन्ते! (यहाँ) भन्ते! हमें होता है—जातिके निरोधसे जरा-मरणका निरोध होता है।"

"० भवके निरोधसे ०[1] ?—०।"

"० उपादानके निरोधसे ०[1] ?—०।"

"० तृष्णाके निरोधसे ०[1] ?—०।"

"० वेदनाके निरोधसे ०[1] ?—०।"

"० स्पर्शके निरोधसे ०[1] ?—०।"

"० षड्-आयतनके निरोधसे ०[1] ?—०।"

"० नाम-रूपके निरोधसे ० ?—०।"

"० विज्ञानके निरोधसे ० ?—० "

"० संस्कारके निरोधसे ० ?—०।"

"० अविद्याके निरोधसे ० ?—०।"

"साधु, भिक्षुओ! तुमभी भिक्षुओ! इस प्रकार कहो, मैं भी ऐसे कहता हूँ—'इसके न होनेपर यह नहीं होता, इसके निरोध होनेपर इसका निरोध होता है'; जो कि यह अविद्याके निरोधसे संस्कारका निरोध होता है; संस्कारके निरोधसे विज्ञानका निरोध होता है, ० नाम-रूप ०, ० षड्-आयतन ०, ० स्पर्श ०, ० वेदना ०, ० तृष्णा ०, ० उपादान ०, ० भव ०, ० जातिके निरोधसे जरा-मरण, शोक, रोने-काँदने, दुःख = दौर्मनस्य, हैरानी-परेशानीका निरोध होता है।

"भिक्षुओ! इस प्रकार (पूर्वोक्त क्रमसे) जानते देखते हुये क्या तुम पूर्वके छोर (= पूर्व-अन्त = पुराने समय या पुराने जन्म)की ओर दौड़ोगे—' अहो! क्या हम अतीत-कालमें थे, या हम अतीत-कालमें नहीं थे? अतीत-कालमें हम क्या थे? अतीत-कालमें हम कैसे थे? अतीत-कालमें क्या होकर हम क्या हुये थे?'"

"नहीं, भन्ते!"

"भिक्षुओ! इस प्रकार जानते देखते हुये, क्या तुम बादके छोर (= अपर-अन्त = आगे आने वाले समय)की ओर दौड़ोगे—'अहो! क्या हम भविष्य कालमें होंगे, या हम भविष्य कालमें नहीं होंगे? भविष्य कालमें हम क्या होंगे? ० हम कैसे होंगे? भविष्य कालमें क्या होकर हम क्या होंगे?'"

---

[1] ऊपरकी तरह ही।

"नहीं, भन्ते !"

"भिक्षुओ ! इस प्रकार जानते देखते हुये, क्या तुम इस वर्तमान कालमें अपने भीतर इस प्रकार कहने-सुनने वाले (= कथंकथी) होगे—'अहो ! क्या मैं हूँ, ० या मैं नहीं हूँ ? मैं क्या हूँ ? मैं कैसा हूँ ? यह सत्त्व (= प्राणी) कहाँसे आया ? वह कहाँ जानेवाला होगा ?'—?"

"नहीं, भन्ते !"

"भिक्षुओ ! इस प्रकार देखते जानते क्या तुम ऐसा कहोगे—'शास्ता (= उपदेष्टा) हमारे गुरु हैं, शास्ताके गौरव(के ख्याल)से हम ऐसा कहते हैं'—?"

"नहीं, भन्ते !"

"० ऐसा कहोगे—'श्रमण(= संन्यासी)ने हमें ऐसा कहा, श्रमणके वचनसे हम ऐसा कहते हैं'—?"

"नहीं, भन्ते !"

"भिक्षुओ ! इस प्रकार देखते जानते क्या तुम दूसरे शास्ताके अनुगामी होगे ?"

"नहीं, भन्ते !"

"० क्या तुम नाना श्रमण ब्राह्मणोंके (जो वह) व्रत, कौतुक, मंगल (-संबंधी क्रियायें) हैं, उन्हें सारके तौर पर ग्रहण करोगे ?"

"नहीं, भन्ते !"

"क्या भिक्षुओ ! जो तुम्हारा अपना जाना है, अपना देखा है, अपना अनुभव किया है; उसीको तुम कहते हो ?"

"हाँ, भन्ते !"

"साधु, भिक्षुओ ! मैंने भिक्षुओ ! तुम्हें समयान्तरमें नहीं तत्काल फलदायक, यहीं दिखाई देनेवाले, विज्ञों द्वारा अपने आपमें जानने योग्य इस धर्मके पास उपनीत किया (= पहुँचाया) है । भिक्षुओ ! 'यह धर्म समयान्तरमें नहीं' तत्काल फलदायक है, (इसका परिणाम) यहीं दिखाई देनेवाला है, (यह) विज्ञोंद्वारा अपने आपमें जानने योग्य है'—यह जो कहा है, वह इसी (उक्त कारण)से ही कहा है ।

"भिक्षुओ ! तीनके एकत्रित होनेसे गर्भ धारण होता है—माता और पिता एकत्र होते हैं, किंतु माता ऋतुमती नहीं होती और गंधर्व[१] उपस्थित नहीं होता; तो गर्भ-धारण नहीं होता । माता-पिता एकत्र होते हैं, माता ऋतुमती होती है; किन्तु, गंधर्व उपस्थित नहीं होता, तो भी गर्भ-धारण नहीं होता । जब माता-पिता एकत्र होते हैं, माता ऋतुमती होती है, और गंधर्व उपस्थित होता है; इस प्रकार तीनोंके एकत्रित होनेसे गर्भ-धारण होता है । तब उस गरु-भार-वाले गर्भको बड़े संशयके साथ माता कोखमें नौ या दस मास धारण करती है । फिर उस गरु भारवाले गर्भको बड़े संशयके साथ माता नौ या दस मासके बाद जनती है । तब उस जात (= सन्तान)को भिक्षुओ ! माता अपनेही लोहितसे पोसती है । भिक्षुओ ! आर्योंके मतमें यह लोहित (= खून) ही है, जो कि यह माताका दूध है ।

"तब भिक्षुओ ! वह कुमार बड़ा होने पर, इन्द्रियोंके परिपक्व होने पर जो वह बच्चोंके खिलौने हैं, जैसे कि—वंकक (= वंका), घटिक (= घड़िया), मोक्खचिक (= मुँहका लट्टू),

---

[१] उत्पन्न होनेवाला चेतना-प्रवाह । देखो अभिधर्मकोश (३।१२), पृष्ठ ३५४ ।

चिंगुलक (= चिंगुलिया), पात्र-आढक (= तराजूका खिलौना), रथक (= खिलौनेकी गाड़ी), धनुक (= धनुही)—उनसे खेलता है।

"तब भिक्षुओ ! वह कुमार (और) बड़ा होने पर, इन्द्रियोंके परिपक्व होने पर, संयुक्त संलिप्त हो, पाँच (प्रकारके) काम-गुणों (= विषय-भोगों)—चक्षुसे विज्ञेय इष्ट (= अभिलषित) कान्त (= कमनीय), मनोज्ञ, प्रिय, कामनायुक्त, रंजनीय रूपों; श्रोत्रसे विज्ञेय ० शब्दों; घ्राणसे विज्ञेय ० गंधों; जिह्वासे विज्ञेय ० रसों; कायासे विज्ञेय ० स्पर्शों—को सेवन करता है। वह चक्षु (= आँख)से प्रिय रूपोंको देखकर राग-युक्त होता है, अ-प्रिय रूपोंको देखकर द्वेष-युक्त होता है। कायिक स्मृति (= होश)को न कायम रख छोटे चित्तसे विहरता है। (वह) उस चित्तकी विमुक्ति और प्रज्ञाकी विमुक्ति (= मुक्ति)का ठीकसे ज्ञान नहीं करता; जिससे कि उसकी सारी बुराइयाँ = अकुशल-धर्म निरुद्ध हो जायें। वह इस प्रकार अनुरोध (= राग), विरोधमें पड़ा, सुखमय दुःखमय न-सुख-न-दुखमय—जिस किसी वेदनाको वेदन (= अनुभव) करता है; उसका वह अभिनन्दन करता है, अभिवादन करता है, अवगाहन करता है। इस प्रकार अभिनन्दन करते, अभिवादन करते, अवगाहन करते रहते उसे नन्दी (= तृष्णा) उत्पन्न होती है। वेदनाओंके विषयमें जो यह नन्दी है, (यही) उसका उपादान है, उसके उपादानके कारण भव होता है, भवके कारण जाति, जातिके कारण जरामरण, शोक, रोना-काँदना, दुःख = दौर्मनस्य, हैरानी-परेशानी होती है। इस प्रकार इस केवल दुःख-स्कंधकी उत्पत्ति = समुदय, होता है। वह श्रोत्रसे प्रिय शब्दोंको सुन कर ०[1] ० घ्राणसे प्रिय गंधोंको सूँघ कर ०[1]। ० जिह्वासे प्रिय रसोंको चख कर ०[1]। ० कायासे प्रिय स्प्रष्टव्योंको छू कर ०[1]। ० मनसे प्रिय धर्मोंको जान कर ०। इस प्रकार इस केवल दुःख-स्कंधकी उत्पत्ति होती है।

"भिक्षुओ ! यहाँ लोकमें तथागत, अर्हत्, सम्यक-संबुद्ध, विद्या-आचरण-युक्त, सुगत, लोक-विद्, पुरुषोंके अनुपम-चाबुक-सवार, देवताओं-और-मनुष्योंके उपदेष्टा भगवान् बुद्ध उत्पन्न होते हैं। वह ब्रह्मलोक, मारलोक, देवलोक सहित इस लोकको, देव-मनुष्य-सहित श्रमण-ब्राह्मण-युक्त (सभी) प्रजाको स्वयं समझ कर = साक्षात्कार कर (धर्मको) बतलाते हैं। वह आदिमें कल्याण(-कारी), मध्यमें कल्याण(-कारी), अन्तमें कल्याण(-कारी) धर्मको अर्थ-सहित = व्यञ्जन-सहित उपदेशते हैं। वह केवल (= मिश्रण-रहित) परिपूर्ण परिशुद्ध ब्रह्मचर्यको प्रकाशित करते हैं। उस धर्मको गृहपति या गृहपतिका पुत्र, या और किसी छोटे कुलमें उत्पन्न (पुरुष) सुनता है। वह उस धर्मको सुनकर तथागतके विषयमें श्रद्धा लाभ करता है। वह उस श्रद्धा-लाभसे संयुक्त हो सोचता है—'गृह-वास जंजाल है, मैलका मार्ग है। प्रव्रज्या (= संन्यास) मैदान (सा खुला स्थान) है। इस नितान्त सर्वथा-परिपूर्ण, सर्वथा-परिशुद्ध, खरादे शंख जैसे (उज्वल) ब्रह्मचर्यका पालन घरमें रहते सुकर नहीं है। क्यों न मैं सिर-दाढ़ी मुँडाकर, काषाय वस्त्र पहन, घरसे बेघर हो प्रव्रजित हो जाऊँ ?' सो वह दूसरे समय अपनी अल्प भोग-राशिको या महा-भोग-राशिको अल्प-ज्ञाति-मंडलको या महा-ज्ञाति-मंडल को छोड़; सिर-दाढ़ी मुँडा, काषाय वस्त्र पहिन घरसे बेघर हो प्रव्रजित (= संन्यासी) होता है।

"वह इस प्रकार प्रव्रजित हो, भिक्षुओंकी शिक्षा, समान-जीविकाको प्राप्त हो, प्राणाति-पात छोड़, प्राणिहिंसासे विरत होता है। दंड-त्यागी, शस्त्र-त्यागी, लज्जालु, दयालु, सर्व प्राणियों, सारे प्राणि-भूतोंका हित और अनुकंपक हो विहरता है। अ-दिन्नादान (= चोरी)

---

[1] रूपकी तरह इसे भी।

छोड़, दिन्नादायी (= दियेका लेनेवाला), दियेका चाहनेवाला,···पवित्रात्मा हो विहरता है। अ-ब्रह्मचर्यको छोड़ ब्रह्मचारी हो, ग्राम्य-धर्म मैथुनसे विरत हो, आर-चारी (= दूर रहनेवाला) होता है। मृषावादको छोड़, मृषावादसे विरत हो, सत्यवादी सत्य-संध, लोकका अ-विसंवादक = विश्वास-पात्र···होता है। पिशुन-वचन (= चुगली) छोड़, पिशुन-वचनसे विरत होता है—इन्हें फोड़नेके लिये यहाँसे सुनकर वहाँ कहनेवाला नहीं होता; या उन्हें फोड़नेके लिये वहाँसे सुनकर यहाँ कहनेवाला नहीं होता। (वह तो) फूटोंको मिलानेवाला, मिले हुओंको न फोड़नेवाला, एकतामें प्रसन्न, एकतामें रत, एकतामें आनन्दित हो, एकता करनेवाली वाणीका बोलनेवाला होता है। कटुवचन छोड़ कटु-वचनसे विरत होता है। जो वह वाणी···कर्ण-सुखा, प्रेमणीया, हृदयंगमा, सभ्य, बहुजन-कान्ता = बहुजन-मनापा है; वैसी वाणीका बोलनेवाला होता है। प्रलापको छोड़ प्रलापसे विरत होता है। समय देखकर बोलनेवाला, यथार्थवादी = अर्थ-वादी, धर्म-वादी, विनय-वादी हो, तात्पर्य-युक्त, फल-युक्त, सार्थक, सारयुक्त वाणीका बोलनेवाला होता है।

"वह बीज-समुदाय, भूत-समुदायके विनाशसे विरत होता है। एकाहारी, रातको उपरत-विकाल(= मध्याह्नोत्तर)-भोजनसे विरत होता है। माला, गंध, विलेपनके धारण, मंडन, विभूषणसे विरत होता है। उच्च-शयन और महाशयनसे विरत होता है। सोना चाँदी लेनेसे विरत होता है। कच्चा अनाज लेनेसे विरत होता है। कच्चा मांस लेनेसे विरत होता है। स्त्री-कुमारी ०, दासी-दास ०, भेड़-बकरी ०, मुर्गी-सूअर ०, हाथी-गाय ०, घोड़ा-घोड़ी ०, खेत-घर लेनेसे विरत होता है। दूत बन कर जानेसे विरत होता है। क्रय-विक्रय करनेसे विरत होता है। तराजूकी ठगी, कांसेकी ठगी, मान (= मन, सेर आदि तोल)की ठगीसे विरत होता है। घूस, वंचना, जाल-साज़ी, कुटिल-योग ०। छेदन, वध, बंधन, छापा मारने, ग्राम आदिके विनाश करने, डाका डालनेसे विरत होता है।

"वह शरीरके वस्त्र, और पेटके खानेसे सन्तुष्ट रहता है। वह जहाँ जहाँ जाता है (अपना सामान) लिये ही जाता है; जैसे कि पक्षी जहाँ कहीं उड़ता है, अपने पक्ष-भारके साथ ही उड़ता है। इसी प्रकार भिक्षु शरीरके वस्त्र, और पेटके खानेसे सन्तुष्ट रहता है। ०। वह इस प्रकार आर्य (= निर्दोष) शील-स्कंध (= सदाचार-समूह)से युक्त हो; अपने भीतर निर्मल सुखको अनुभव करता है।

"वह आँखसे रूपको देखकर, निमित्त (= आकृति आदि) और अनुव्यंजन (= चिन्ह) का ग्रहण करनेवाला नहीं होता। चूँकि चक्षु इन्द्रियको अ-रक्षित रख विहरनेवालेको, राग, द्वेष, बुराइयाँ = अ-कुशल धर्म उत्पन्न होते हैं; इसलिये वह उसे सुरक्षित रखता है; चक्षु-इन्द्रियकी रक्षा करता है = चक्षु-इन्द्रियमें संवर ग्रहण करता है। वह श्रोत्रसे शब्द सुनकर निमित्त और अनुव्यंजनका ग्रहण करनेवाला नहीं होता ०। घ्राणसे गंध ग्रहण कर ०। जिह्वासे रस ग्रहण कर ०। कायासे स्पर्श ग्रहण कर ०। मनसे धर्म ग्रहण कर ०। इस प्रकार वह आर्य इन्द्रिय-संवरसे युक्त हो, अपने भीतर निर्मल सुखको अनुभव करता है।

"वह आने-जानेमें, जानकर करनेवाला (= संप्रजन्य-युक्त) होता है। अवलोकन-विलोकनमें संप्रजन्य-युक्त होता है। समेटने-फैलानेमें ०, संघाटी-पात्र-चीवरके धारण करनेमें ०, खानपान, भोजन-आस्वादनमें ०। मल-मूत्र विसर्जनमें ०, जाते-खड़े होते, बैठते, सोते-जागते, बोलते चुप रहते ०। इस प्रकार वह आर्य स्मृति-संप्रजन्यसे युक्त हो, अपनेमें निर्मल सुखको अनुभव करता है।

"वह इस आर्य-शील-स्कंधसे युक्त, इस आर्य इन्द्रिय-संवरसे युक्त, इस आर्य स्मृति-संप्रजन्यसे युक्त हो, एकान्तमें—अरण्य, वृक्ष-छाया, पर्वत, कन्दरा, गिरि-गुहा, श्मशान, वन-प्रान्त,

खुले मैदान, या पुआलके गंजमें—वास करता है। वह भोजनके बाद'''आसन मार कर, कायाको सीधा रख, स्मृतिको सन्मुख ठहरा कर बैठता है। वह लोकमें (१) अभिध्या (=लोभ)को छोड़, अभिध्या-रहित चित्त वाला हो विहरता है; चित्तको अभिध्यासे शुद्ध करता है। (२) व्यापाद (=द्रोह)-दोषको छोड़ कर, व्यापाद-रहित चित्त-वाला हो, सारे प्राणियोंका हितानुकम्पी हो विहरता है; व्यापादके दोषसे चित्तको शुद्ध करता है। (३) स्त्यान-मृद्ध (=शारीरिक मानसिक आलस्य)को छोड़ स्त्यान-मृद्ध-रहितहो, आलोक-संज्ञा वाला (=रोशन-ख्याल) हो, स्मृति और संप्रजन्य (=होश) से युक्त हो विहरता है ०। (४) औद्धत्य-कौकृत्य (=उद्धतपने और हिचकिचाहट)को छोड़, अनुद्धत भीतरसे शान्त हो विहरता है ०। (५) विचिकित्सा (=सन्देह)को छोड़, विचिकित्सा-रहित हो, निस्संकोच भलाइयोंमें (लग्न) हो विहरता है; विचिकित्सासे चित्तको शुद्ध करता है।

"वह इन (अभिध्या आदि) पाँच नीवरणोंको चित्तसे हटा, उपक्लेशों (=चित्त-मलों) को जान, उनके दुर्बल करनेके लिये, काम (=विषयों)से अलग हो, बुराइयोंसे अलग हो, विवेकसे उत्पन्न एवं वितर्क-विचार-युक्त प्रीति-सुख-वाले प्रथम ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। और फिर भिक्षुओ! वह वितर्क और विचारके शान्त होने पर, भीतरकी प्रसन्नता = चित्तकी एकाग्रताको प्राप्त कर, वितर्क-विचार-रहित, समाधिसे उत्पन्न प्रीति-सुखवाले द्वितीय ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। और फिर भिक्षुओ! वह प्रीति और विरागसे उपेक्षा वाला हो, स्मृति और संप्रजन्य से युक्त हो, कायासे सुख अनुभव करता विहरता है। जिस (से युक्त)को कि आर्य लोग उपेक्षक, स्मृतिमान् और सुख विहारी कहते हैं; ऐसे तृतीय ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। और फिर भिक्षुओ! वह सुख और दुःखके विनाशसे, सौमनस्य (=चित्त-तुष्टि) और दौर्मनस्य (=चितकी असंतुष्टि)के पूर्व ही अस्त हो जानेसे, दुःख-सुख-रहित और उपेक्षक हो, स्मृतिकी शुद्धतासे युक्त चतुर्थ ध्यानको प्राप्त हो विहरता है।

"वह चक्षुसे रूपको देखकर, प्रिय रूपमें राग-युक्त नहीं होता; अ-प्रिय रूपमें द्वेष-युक्त नहीं होता; विशाल चित्तके साथ कायिक स्मृतिको कायम रखकर विहरता है। (वह) उस चित्तकी विमुक्ति (=मुक्ति) और प्रज्ञाकी विमुक्तिको ठीकसे जानता है; जिसमें कि उसकी सारी बुराइयाँ=अकुशल-धर्म निरुद्ध हो जाते हैं। वह इस प्रकार अनुरोध विरोधसे रहितहो, सुखमय, दुःखमय, न-सुख-न-दुःख-मय—जिस किसी वेदनाको अनुभव करता है;''''''उसका वह अभिनंदन नहीं करता, अभिवादन नहीं करता, (उसमें) अवगाहन कर नहीं स्थित होता। इस प्रकार अभिनंदन न करते, अभिवादन न करते, अवगाहन न करते, जो वेदना-विषयक नन्दी (=तृष्णा) है, वह उसकी निरुद्ध (=नष्ट) हो जाती है। उस नन्दीके निरोधसे उपादान (=रागयुक्त ग्रहण) का निरोध होता है। उपादानके निरोधसे भवका निरोध, भवके निरोधसे जाति (=जन्म)का निरोध, जातिके निरोधसे जरा-मरण, शोक, रोने-काँदने, दुःख=दौर्मनस्य, हैरानी-परेशानीका निरोध होता है। इस प्रकार इस केवल दुःख-स्कंध (=दुःख-पुंज) का निरोध होता है। श्रोत्रसे शब्द सुन कर ०। घ्राणसे गंध सूँघ कर ०। जिह्वासे रसको चख कर ०। कायासे स्प्रष्टव्य (स्पर्श वस्तु)को छू कर ०। मनसे धर्मको जान कर प्रिय धर्मोमें राग-युक्त नहीं होता, अ-प्रिय धर्मोंमें द्वेष-युक्त नहीं होता ०। इस प्रकार इस केवल दुःख-स्कंधका निरोध होता है।

"भिक्षुओ! मेरे संक्षेपसे कहे इस तृष्णा-संक्षय-विमुक्ति (=तृष्णाके विनाशसे होनेवाली मुक्ति) को धारण करो; केवट्टपुत्त साति भिक्षुको तृष्णाके महाजाल=तृष्णाके महा-संघाटमें फँसा (जानो)।"

भगवान्‌ने यह कहा, सन्तुष्ट हो उन भिक्षुओंने भगवान्‌के भाषणका अभिनन्दन किया।

३९—महा-अस्सपुर-सुत्तन्त (१।४।९)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् अंग (देश)में अंगवालोंके अश्वपुर नामक नगरमें विहरते थे।

तब भगवान्‌ने भिक्षुओंको संबोधित किया—"भिक्षुओ !"

"भदन्त !" (कह) उन भिक्षुओंने भगवान्‌को उत्तर दिया।

भगवान्‌ने यह कहा—

"भिक्षुओ ! 'श्रमण', 'श्रमण' कह लोग तुम्हारा नाम धरते हैं। तुम भी 'तुम कौन हो ?' —यह पूछने पर 'श्रमण (हैं)'—उत्तर देते हो। भिक्षुओ ! तुम्हारी यह संज्ञा होते हुये, तुम्हारी वह प्रतिज्ञा होते हुये, तुम्हें सीख लेनी चाहिये—'जो श्रमण बनाने वाले धर्म हैं, जो ब्राह्मण बनाने वाले धर्म हैं, उन्हें लेकर हम वर्तेंगे; इस प्रकार हमारी संज्ञा (= नाम) सच्ची होगी, हमारी प्रतिज्ञा यथार्थ होगी। और जिन (गृहस्थों)के (दिये) अन्न, वस्त्र, निवास, रोगमें पथ्य-औषध हम उपभोग करते हैं; उनका वह हमपर किया उपकार भी महाफलदायक, = महा-आनृशंस्य होगा। हमारी यह प्रव्रज्या (= संन्यास) भी अ-वंध्या = सफला = स-उदया होगी'।

"भिक्षुओ ! कौनसे धर्म श्रमण बनानेवाले हैं, ब्राह्मण बनानेवाले हैं ?—हम लज्जा और संकोचवाले बनेंगे—यह भिक्षुओ ! तुम्हें सीखना चाहिये। शायद भिक्षुओ ! तुम्हें ऐसा हो—'हम लज्जा-संकोच (= ह्री, अपत्रपा)वाले हैं; इतना काफी है, इतना बस है। श्रमण-पन (= श्रामण्य) का अर्थ हमें मिल गया। (इससे) आगे हमारे लिये कुछ करणीय नहीं है'—मत इतनेसे सन्तोष कर लेना।

"भिक्षुओ ! तुम्हें कहता हूँ, तुम्हें समझाता हूँ; मत श्रमणपनकी कामना (शेष) रखते, आगे करणीय बाकी रहनेके कारण, श्रमणपनका अर्थ तुमसे निकल जाये। क्या है भिक्षुओ ! आगे करणीय ?—भिक्षुओ ! तुम्हें ऐसा सीखना चाहिये—'हमारा कायिक आचार परिशुद्ध होगा, उत्तान = खुला होगा, वह छिद्र (= दोष) युक्त और ढँका न होगा। उस कायिक आचारके शुद्ध होनेसे न हम अपने लिये अभिमान करेंगे, न दूसरेको नीच कहेंगे'। शायद भिक्षुओ ! तुम्हें ऐसा हो—'हम लज्जा-संकोच वाले हैं, हमारा कायिक आचार परिशुद्ध है। इतना काफी है ०[१]'—मत इतनेसे सन्तोष कर लेना।

"भिक्षुओ ! तुम्हें कहता हूँ, तुम्हें समझाता हूँ ०। क्या है भिक्षुओ ! आगे करणीय ? —भिक्षुओ ! तुम्हें ऐसा सीखना चाहिये—'हमारा वाचिक आचार परिशुद्ध होगा ०। शायद भिक्षुओ ! तुम्हें ऐसा हो—'हम लज्जा-संकोच वाले हैं। हमारा कायिक आचार परिशुद्ध है।

---

[१] कायिक आचारकी भाँति दुहराना चाहिये।

हमारा वाचिक आचार परिशुद्ध है। इतना काफी है ०'—मत इतनेसे सन्तोष कर लेना।

"भिक्षुओ! ०—'हमारा मानसिक आचार (=आचरण=कर्म) परिशुद्ध होगा ०। ०[1]।

" ०—'हमारी जीविका परिशुद्ध होगी ०। ०[1]।

" ०—'हम इन्द्रियोंमें संयम रक्खेंगे। चक्षुसे रूपको देखकर निमित्तग्राही, अनुव्यंजन-ग्राही[2] नहीं होंगे। चक्षु-इन्द्रियोंमें संयम न करके विहरने वाले (व्यक्तिमें) अभिध्या (=लोभ) दौर्मनस्य (=दुर्मनता), (आदि) बुराइयाँ=अकुशल-धर्म आपड़ते हैं। (इसलिये) उसके संयममें तत्पर होंगे। चक्षु-इन्द्रियकी रक्षा करेंगे=चक्षु इन्द्रियका संवर करेंगे। श्रोत्रसे शब्द सुन ०। घ्राणसे गंध सूँघ ०। जिह्वासे रस चख ०। कायासे स्प्रष्टव्य (वस्तु)को छू ०। मनसे धर्मको जान ०। शायद भिक्षुओ! तुम्हें ऐसा हो ०।

" ०—'हम भोजनमें मात्रा (=परिमाण)का ख्याल रक्खेंगे। ठीकसे जानकर, न दव (=मस्ती)के लिये, न मदके लिये, न मंडनके लिए न विभूषणके लिये; (बल्कि) जितना इस कायाकी स्थितिके लिये, गुजारेके लिये, पीड़ाको रोकनेके लिये, और ब्रह्मचर्यकी सहायताके लिये (आवश्यक है, उतनाही) आहार ग्रहण करेंगे। इस प्रकार पुरानी वेदना (=भोग)को नाश करेंगे, और नई वेदनाको नहीं उत्पन्न करेंगे; हमारी (शरीर-)यात्रा भी चलेगी, निर्दोषपन भी रहेगा, सुखपूर्वक विहार होवेगा ०। शायद ०। ०।

" ०—'जागरणमें तत्पर रहेंगे। दिनमें टहलने, बैठने, या आचरणीय धर्मों द्वारा चित्त को शोधित करेंगे। रातके प्रथम याममें टहलने, बैठने, या (अन्य) आचरणीय धर्मोंके द्वारा चित्तको शोधित करेंगे। रातके मध्यम (बिचले) याममें पैरपर पैर रखकर, स्मृति-संप्रजन्यके साथ उत्थानका ख्याल मनमें रख दाहिनी कर्वट सिंह-शय्या करके (सोयेंगे)। रातके अन्तिम याममें उठकर टहलने, बैठने या (अन्य) आचरणीय धर्मोंसे चित्तको शुद्ध करेंगे ०। शायद ०।

" ०—'स्मृति और संप्रजन्यसे युक्त रहेंगे। आने जानेमें संप्रजन्ययुक्त, संप्रजानकारी (=होश कर करनेवाला) ०[2] बोलने-चुप रहनेमें संप्रजानकारी होंगे ०। शायद ०।

" ०—' यहाँ भिक्षुओ! भिक्षु एकान्तमें—अरण्य ०[2] चित्तको विचिकित्सा (=संदेह) से शुद्ध करता है।

"जैसे भिक्षुओ! (कोई) पुरुष ऋण लेकर कर्मान्त(=खेती)में लगावे। उसका कर्मान्त ठीक उतरे। सो वह अपने पुराने ऋणके धनको दे डाले; और दारा(=भार्या)के भरण-पोषणके लिये भी (उसके पास कुछ) बच रहे। तब उसको ऐसा हो—'मैंने पहिले ऋण लेकर कर्मान्तमें लगाया। मेरा कर्मान्त ठीक उतरा। सो मैंने अपने पुराने ऋणके धनको दे डाला; और दाराके भरण-पोषणके लिये भी बच रहा है'। सो उसके कारण उसे प्रसन्नता हो, सन्तोष हो।

"जैसे भिक्षुओ! (कोई) पुरुष भारी बीमारीसे पीड़ित हो, रोगी हो। उसे भोजन (=भक्त) अच्छा न लगता हो, और न उसके शरीरमें बलकी मात्रा हो। वह दूसरे समय उस बीमारीसे मुक्तहो जाये, उसे भोजन भी अच्छा लगने लगे, तथा उसके शरीरमें बलकी मात्रा भी आजाये। तब उसको ऐसा हो—'मैं पहिले भारी बीमारीसे पीड़ित था, रोगी था ०। सो मैं उस बीमारीसे मुक्त हो गया हूँ, मुझे भोजन भी अच्छा लगता है, और मेरे शरीरमें बलकी मात्रा भी आगई है'। सो उसके कारण उसे प्रसन्नता हो, सन्तोष हो।

---

[1] कायिक आचारकी भाँति दुहराना चाहिये।

[2] देखो पृष्ठ १५९ (स्मृति-संप्रजन्य)।

"जैसे भिक्षुओ! (कोई) पुरुष बन्धनागारमें बँधा हो। वह दूसरे समय सकुशल विना हानिके उस बंधनसे मुक्त होवे; और उसके भोगों (= धन)की कुछ हानि न हो। तब उसको ऐसा हो—'मैं पहिले बंधनागारमें बँधा था ०।०।

"० जैसे भिक्षुओ! (कोई) पुरुष अ-स्वाधीन, पराधीन जहाँ चाहे तहाँ (न जा सकने वाला) दास हो। वह दूसरे समय उस दासतासे मुक्त हो, स्वाधीन, अ-पराधीन, भोग-योग्य जहाँ चाहे तहाँ जाने वाला हो। उसको ऐसा हो— ०।०।

"जैसे भिक्षुओ (कोई) धनवान् भोगवान् पुरुष कान्तार (= रेगिस्तान)के रास्तेमें जा रहा हो। सो दूसरे समय सकुशल, विना हानिके उस कान्तारको पार हो आये, और उसके भोगों (= धन)की भी कोई हानि न होवे। उसको ऐसा हो— ०।०।

"ऐसे ही भिक्षुओ! भिक्षु ऋणके समान, रोगके समान, बंधनागारके समान, दासताके समान, (और) कान्तार-मार्गके समान इन न-छूटे (अभिघ्या आदि) पाँच नीवरणोंको अपनेमें समझता है। इन पाँच नीवरणोंके छूट जाने पर अपने भीतर वह ऋण-मुक्ति, रोग-मुक्ति, बंधन-मुक्ति, स्वतंत्रता, (और) क्षेमयुक्त भूमि जैसा समझता है।

"वह इन पाँच नीवरणोंको चित्तसे हटा, उपक्लेशोंको जान, उनके दुर्बल करनेके लिये काम (= विषयों)से अलग हो, बुराइयोंसे अलग हो ०[1] प्रथम-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। वह इसी कायाको विवेक (= एकान्त-चिन्तन)से उत्पन्न प्रीति-सुखसे परिपूर्ण, निमग्न = संमग्न, सिक्त करता है। उसकी सारी कायाका कुछ भी (भाग) विवेकज प्रीति-सुखसे वंचित नहीं रहता। जैसे भिक्षुओ! चतुर नहापक (= नहलानेवाला) या नहापकका शागिर्द काँसेकी थालीमें स्नान-चूर्ण डालकर पानीका छींटा दे दे मिलावे। सो वह स्नेह (= गीलापन, नमी)से अनुगत, स्नेहसे परिगत भीतर वाहर स्नेहसे तर, न-पिघलने-वाली स्नान-पिंडी हो जाये। ऐसे ही भिक्षुओ! भिक्षु इसी कायाको विवेकसे उत्पन्न ०।

"और फिर भिक्षुओ! भिक्षु ०[1] द्वितीय-ध्यान ०[1]। ० उसकी कायाका कुछ भी (भाग) समाधिज प्रीतिसुखसे अलिप्त नहीं रहता। जैसे भिक्षुओ! (कोई) उदक-ह्रद (= जलाशय) (पाताल) फूटे जल वाला हो। उसमें न पूर्व दिशासे जलके आनेका मार्ग हो, न पश्चिम दिशासे ०, न उत्तर दिशासे ०, न दक्षिण दिशासे जलके आनेका मार्ग हो। देव (= वृष्टि) भी समय-समय पर (उसमें) अच्छी प्रकार धाराका प्रवेश न कराता हो। तो भी उसी उदक-ह्रदसे शीतल जलधारा फूटकर उस उदकह्रदको शीतल जलसे परिषिक्त, संसिक्त, परिपूर्ण = सम्पूर्ण करे; चारों ओर उस उदकह्रदका कुछ भी (भाग) शीतल जलसे अ-लिप्त न हो। ऐसे ही भिक्षुओ! ०।

"और फिर भिक्षुओ! भिक्षु ०[1] तृतीय ध्यान ०। वह इसी कायाको निष्प्रीतिक सुखसे अभिष्यन्दित, परिष्यन्दित, परिपूर्ण, तर करता है। उसकी कायाका कुछ भी (भाग) निष्प्रीतिक सुखसे अलिप्त नहीं रहता। जैसे, भिक्षुओ! उत्पल-समूह, पद्म-समूह, या पुण्डरीक-समूहमें, कोई कोई उत्पल, पद्म या पुण्डरीक उदकमें उत्पन्न उदकमें संवर्द्धित उदकसे ऊपर न निकल उदकमें निमग्न हुये ही पोषित हों। वह मूलसे अग्र भाग तक शीतल जलसे अभिषिक्त, परिषिक्त परिपूर्ण, और तर हों; उनका कुछ भी (भाग) शीतल जलसे अ-लिप्त न हो। ऐसे ही भिक्षुओ! ०।

"और फिर भिक्षुओ! भिक्षु ०[1] चतुर्थ-ध्यान ०। वह इसी कायाको परिशुद्ध, उज्वल

---

[1] देखो पृष्ठ १५।

चित्तसे व्याप्त कर आसीन होता है। उसकी कायाका कुछ भी भाग परिशुद्ध उज्वल चित्तसे अ-व्याप्त नहीं होता। जैसे, भिक्षुओ! (कोई) पुरुष श्वेत वस्त्रसे सिरतक ढाँक कर बैठा हो; उसकी सारी कायाका कोई भी (भाग) श्वेत वस्त्रसे विना ढँका न हो। ऐसे ही भिक्षुओ! ०।

"वह इस प्रकार चित्तके एकाग्र ०[1]होनेपर पूर्व जन्मोंकी स्मृतिके ज्ञानके लिये चित्तको झुकाता है। फिर वह [1]।—इस प्रकार आकार, उद्देश्यके सहित अनेक प्रकारके पूर्व-निवासोंको स्मरण करने लगता है।

"वह इस प्रकार चित्तके एकाग्र ०[1]होनेपर ०[1]। ० अ-मानुष, विशुद्ध, दिव्य-चक्षुसे ० प्राणियोंको पहचानता है।

"वह इस प्रकार ० आस्रवोंके क्षयके ज्ञानके लिये चित्तको झुकाता है। फिर वह—'यह दुःख है'—इसे यथार्थसे जानता है ० [1] 'अब यहाँ (करने)के लिये कुछ (शेष) नहीं है'—इसे जान लेता है।

"भिक्षुओ! यह (ऊपर वर्णित) भिक्षु श्रमण भी कहा जाता है, ब्राह्मण भी, स्नातक भी, वेदगू भी, श्रोत्रिय भी, आर्य भी, अर्हत् भी (कहा जाता है)।

"भिक्षुओ! कैसे भिक्षु श्रमण होता है?—इसके मलिन करनेवाले, पुनर्जन्मदेनेवाले, भयप्रद, दुःख-विपाकवाले, भविष्यमें जन्म-जरा-मरणमें डालनेवाले, अकुशल-धर्म=बुराइयाँ शमन (=समन = श्रमण) होगई हैं। इस प्रकार भिक्षुओ! भिक्षु श्रमण (= समन) होता है।

"भिक्षुओ! कैसे भिक्षु ब्राह्मण होता है?—इसकी ० बुराइयाँ वहा दीगई (= वाहित होंगई) हैं"। ०।

"० स्नातक ०?—इसकी ० बुराइयाँ धुलगई (= नहात) हैं। ०।

"० वेदगू ०?—इसकी ० बुराइयाँ विदित हैं। ०।

"० श्रोत्रिय ०?—इसकी ० बुराइयाँ निकलगई (= नि-स्सुत) हैं। ०।

"० आर्य ०?—इससे ० बुराइयाँ दूर (= आरक) होती हैं। ०।

"० अर्हत् ०?—इससे ० बुराइयाँ दूर (= आरक) होती हैं। ०।"

भगवान्‌ने यह कहा, सन्तुष्ट हो उन भिक्षुओंने भगवान्‌के भाषणको अभिनंदित किया।

४०—चूल-अस्सपुर-सुत्तन्त (१।४।१०)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् अंग (देश)में अंगोंके कस्बे अश्वपुरमें विहार करते थे। वहाँ भगवान्ने भिक्षुओंको संबोधित किया—"भिक्षुओ!"

"भदन्त!" कह उन भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया। भगवान्ने कहा—

"भिक्षुओ! 'श्रमण' 'श्रमण' लोग नाम धरते हैं। तुमलोग भी, 'तुम कौन हो'—पूछनेपर '(हम) श्रमण हैं' उत्तर देते हो। ऐसी संज्ञा ऐसी प्रतिज्ञावाले तुम लोगोंको यह सीखना चाहिये—'जो वह श्रमणको सच करनेवाला मार्ग है, हम उस मार्गपर आरूढ़ होंगे, इस प्रकार यह हमारी संज्ञा सच होगी, हमारी प्रतिज्ञा (= दावा) यथार्थ होगी। (और) जिनके (दिये) चीवर (= वस्त्र), पिंड-पात (= भिक्षा), शयनासन (= निवास), ग्लान-प्रत्यय-भैपज्य (= रोगी के औषधि-पथ्य) सामग्रीका हम उपभोग करते हैं। उनके (किये) हमारे प्रति वह (दान-) कार्यभी महाफलवाले महामाहात्म्यवाले होंगे; और हमारी भी यह प्रव्रज्या निर्मल सफल=स-उदय होगी।'

"भिक्षुओ! भिक्षु श्रमणको सच करनेवाले मार्ग (= श्रमण-सामीची प्रतिपदा)पर कैसे आरूढ़ नहीं होता?—भिक्षुओ! जिस किसी अभिध्यालु (= लोभी) भिक्षुकी अभिध्या नष्ट नहीं होती, द्रोह-सहित चित्तवाले (= व्यापन्नचित्त)का व्यापाद (= द्रोह) नष्ट नहीं हुआ रहता, क्रोधीका क्रोध ०, पाखंडी (= उपनाही)का पाखंड ०, म्रर्षीकी कलक (= आमर्ष=अमरख) ०, पलासी (= प्रदाशी=निष्ठुर)का पलास ०, ईर्ष्यालुकी ईर्ष्या ० मत्सरीका मत्सर (= कृपणता) ०, शठकी शठता ०, मायावी (= वंचक)की माया ०, पापेच्छु (= बद-नीयत)की पापेच्छा ०, मिथ्या-दृष्टि (= झूठे सिद्धान्तवाले)की मिथ्या दृष्टि (= झूठी धारणा) नष्ट नहीं हुई रहती। वह इन श्रमण-मलों=श्रमण-दोषों=श्रमण-कसटों, अपायको ले जानेवाले, दुर्गतिको अनुभव करानेवाले कारणोंके अ-विनाशसे 'श्रमण-सामीचि-प्रतिपद्‌पर आरूढ़ नहीं हुआ,' (ऐसा) मैं कहता हूँ। जैसे भिक्षुओ! **मटज** नामक... तेज, दुधारा आयुध (= हथियार) संघाटी(= साधुके वस्त्रों)से ढँका लिपटा हो; उसके ही समान भिक्षुओ! मैं इस भिक्षुकी प्रव्रज्या कहता हूँ।

"भिक्षुओ! मैं संघाटी (= भिक्षु-वस्त्र) वालेके संघाटी-धारण मात्रसे, श्रमणता (= श्रामण्य) नहीं कहता। अचेलक (= वस्त्र-रहित)के नंगे रहने मात्रसे श्रामण्य (= साधुपन) नहीं कहता। भिक्षुओ! रजोजल्लिक (= कीचड-वासी साधु)की रजोजल्लिकता मात्रसे श्रामण्य नहीं कहता।... उदकावरोहक (= जल-वासी)के जलवास मात्रसे ०। ० वृक्षमूलिक (= सदा वृक्षके नीचे रहनेवाले)के वृक्षके नीचे वास मात्रसे ०। ० अध्यवकाशिक (= चौड़ेमें रहनेवाले) ०। ० उब्भट्ठक (= सदा खड़े रहनेवाले) ०। ० पर्याय-भक्तिक (बीच बीचमें निराहार रह, भोजन करनेवाले)

०।० मंत्र-अध्यायक (=वेद-पाठी)के मंत्र-अध्ययन मात्रसे मैं श्रामण्य नहीं कहता। ० जटिलकके जटा-धारण मात्र से ०।

"भिक्षुओ ! यदि संघाटिकके संघाटी-धारण मात्रसे, अभिध्यालुका लोभ हट जाता, ० व्यापाद हट जाता, ० क्रोध ०, ० उपनाह ०, ० मर्ष ०, ०पलास ०, ० ईर्ष्या ०, ० मात्सर्य ०, ० शठता ०, ० माया ०, ० पापेच्छा ०, मिथ्या-दृष्टिकी मिथ्या-दृष्टि हट जाती; तो उसको मित्र-अमात्य जाति-बन्धु पैदा होते ही, संघाटिक बना देते, संघाटिकताका ही उपदेश करते—'आ भद्रमुख ! तू संघाटिक हो जा। संघाटिक होनेपर संघाटी-धारण मात्रसे, तुझ अभिध्यालुका लोभ नष्ट हो जायगा। ०। मिथ्या-दृष्टिकी मिथ्या-दृष्टि नष्ट हो जायगी।' क्योंकि भिक्षुओ ! मैं किसी किसी संघाटिकको भी अभिध्यालु, व्यापन्न-चित्त, क्रोधी, उपनाही, मर्षी, पलासी, ईर्ष्यालु, मत्सरी, शठ, मायावी, पापेच्छु, मिथ्या-दृष्टि देखता हूँ, इसलिये संघाटिकके संघाटी-धारण मात्रसे श्रामण्य नहीं कहता।

"भिक्षुओ ! यदि अचेलककी अचेलकता-मात्रसे ०। ० रजोजल्लिककी रजोजल्लिकता मात्रसे ०। ० उदकावरोहकके उदकावरोहण मात्रसे ०। ० वृक्ष-मूलिककी वृक्ष-मूलिकता मात्रसे ०। ० अध्यवकाशिक ०। ० उब्भट्टिक ०। ० पर्याय-भक्तिक ०। ० मंत्र-अध्यायक ०। ० जटिलकके जटा-धारण मात्रसे ० अभिध्या ०—० मिथ्या-दृष्टि नष्ट होती ०।

"भिक्षुओ ! भिक्षु श्रमण-सामीची-प्रतिपद् (= सच्चा श्रमण बनानेवाले मार्ग) पर कैसे मार्गारूढ़ होता है ?—भिक्षुओ ! जिस किसी अभिध्यालु भिक्षुकी अभिध्या (= लोभ) नष्ट होती है, ०—० मिथ्यादृष्टि नष्ट होती है; (वह) इन श्रमण-मलों ० के विनाशसे श्रमण-सामीची-प्रतिपद्पर मार्गारूढ़ कहता हूँ। (फिर) वह इन सभी पापक अ-कुशल धर्मोंसे, अपने को विशुद्ध देखता है, अपनेको विमुक्त देखता है। (फिर) इन सभी पापक ० धर्मोंसे अपनेको विशुद्ध ० विमुक्त देखनेवाले उस (पुरुष)को, प्रमोद उत्पन्न होता है। प्रमुदितको प्रीति उत्पन्न होती है। प्रीतिमान्की काया स्थिर होती है। स्थिर-शरीर सुख अनुभव करता है। सुखितका चित्त समाहित (=एकाग्र) होता है। वह (१) मैत्रीयुक्त चित्तसे एकदिशाको प्लावितकर विहरता है, और दूसरी दिशा ०, और तीसरी ०, और चौथी ० इसी प्रकार ऊपर, नीचे, तिर्छे, सबकी इच्छासे सबके अर्थ, सभी लोकको विपुल, महान्, अ-प्रमाण, अ-वैर, द्वेष-रहित मैत्री-पूर्ण चित्तसे प्लावित कर विहरता है। (२) करुणा-युक्त चित्तसे ०। (३) मुदिता-युक्त चित्तसे ०। (४) उपेक्षा-युक्त चित्तसे ०।

"जैसे भिक्षुओ ! स्वच्छ, मधुर, शीतल, जलवाली रमणीय सुन्दर घाटोंवाली पुष्करणीय हो। यदि पूर्वदिशासे भी घाममें तपा (= घर्म-अभितप्त) = घर्म-परेत, थका, तृषित = पिपासित पुरुष आवे; वह उस पुष्करिणीमें उतर कर उदक-पिपासाको दूर करे, घामके तापको दूर करे। पश्चिम-दिशासे भी ०। उत्तर-दिशासे भी ०। दक्षिण-दिशासे भी ०। जहाँ कहींसे भी ०। ऐसेही भिक्षुओ ! यदि क्षत्रिय-कुलसे घरसे बेघर प्रव्रजित होवे, और वह तथागतके उपदेश किये धर्मको प्राप्तकर, इस प्रकार मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षाकी भावना करे, (तो वह) आध्यात्मिक शांतिको प्राप्त करता है। आध्यात्मिक शान्ति (= उपशम)से ही 'श्रमण-सामीची-प्रतिपद्पर आरूढ है' कहता हूँ। ० यदि ब्राह्मण-कुलसे ०। ० यदि वैश्यकुलसे ०। ० जिस किसी कुलसे भी घरसे बेघर प्रव्रजित ०।

"क्षत्रिय-कुलसे भी घरसे बेघर प्रव्रजित हो। और वह आस्रवों (= चित-दोषों)के क्षयसे, आस्रव-रहित चित्त-विमुक्ति प्रज्ञा-विमुक्तिको, इसी जन्ममें स्वयं जान कर = साक्षात् कर = प्राप्त कर

विहरता है। आस्रवोंके क्षयसे श्रमण होता है। ब्राह्मण-कुलसे भी ०। वैश्य-कुलसे भी ०। शूद्र-कुलसे भी ०। जिस किसी कुलसे भी ०।"

भगवान्‌ने यह कहा, सन्तुष्ट हो उन भिक्षुओंने भगवान्‌के भाषणको अनुमोदित किया।

(४—इति महायमक-वग्ग १।४)

४१—सालेय्य-सुत्तन्त (१।५।१)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् महान् भिक्षु-संघके साथ कोसल (देश)में विचरते जहाँ कोसल (= वासियों) का साला (= शाला) नामक ब्राह्मण-ग्राम है, वहाँ पहुँचे।

शालाके ब्राह्मण गृहस्थोंने सुना—शाक्य-कुलसे प्रव्रजित शाक्य-पुत्र श्रमण गौतम महान् भिक्षु-संघके साथ कोसलमें विचरते शालामें आ पहुँचे हैं। उन भगवान् गौतमका ऐसा मंगल कीर्तिशब्द उठा हुआ है—'वह भगवान् अर्हत् हैं ०[1], भगवान् बुद्ध हैं। वह ब्रह्मलोक-सहित ०[2] ब्रह्मचर्यको प्रकाशित करते हैं। ऐसे अर्हतोंका दर्शन अच्छा होता है।

तब शाला-निवासी ब्राह्मण गृहस्थ जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये; जाकर (कोई कोई) भगवान्को अभिवादन कर एक ओर बैठ गये। कोई कोई भगवान्से कुशल क्षेम पूछ एक ओर बैठ गये। कोई कोई जिधर भगवान् थे, उधर हाथ जोड़कर ०। कोई कोई नाम-गोत्र सुनाकर एक ओर बैठ गये। कोई कोई चुप-चाप एक ओर बैठ गये।

एक ओर बैठे शाला-निवासी ब्राह्मण गृहस्थोंने भगवान्से यह कहा—

"हे गौततम ! क्या हेतु है = क्या प्रत्यय है, जो कोई प्राणी काया छोड़ मरनेके बाद अपाय = दुर्गति, पतन नर्कमें उत्पन्न होते हैं ? हे गौतम ! क्या हेतु है = क्या प्रत्यय है, जो कोई प्राणी काया छोड़ मरनेके बाद सुगति, स्वर्गलोकमें उत्पन्न होते हैं ?

"गृहपतियो ! अधर्माचरणके कारण कोई प्राणी ० नर्कमें उत्पन्न होते हैं। धर्माचरणके कारण गृहपतियो ! कोई प्राणी सुगति, स्वर्गलोकमें उत्पन्न होते हैं।

"हम लोग आप गौतमके इस विस्तारसे न विभाजित किये, संक्षिप्त भाषणका विस्तारपूर्वक अर्थ नहीं समझ रहे हैं। अच्छा हो, आप गौतम हमें इस प्रकार धर्म उपदेश करें, जिसमें आप गौतमके इस विस्तारसे न विभाजित किये, संक्षिप्त भाषणका विस्तारपूर्वक अर्थ हम समझ सकें।"

"तो गृहपतियो ! सुनो, अच्छी तरह मनमें करो, कहता हूँ।"

"अच्छा, भो !"—कह, शाला-निवासी ब्राह्मण गृहस्थोंने भगवान्को उत्तर दिया।

भगवान्ने यह कहा—"गृहपतियो ! कायिक अधर्माचरण, विषम आचरण तीन प्रकारका होता है। वाचिक अधर्माचरण, विषम-आचरण चार प्रकारका होता है। मानसिक अधर्माचरण, विषम-आचरण तीन प्रकारका होता है। गृहपतियो ! कैसे कायिक अधर्माचरण ० तीन प्रकारका होता है ?—यहाँ गृहपतियो ! कोई (पुरुष) (१) हिंसक, क्रूर, लोहित-पाणि (= खून रंगे हाथोंवाला), मार-काटमें रत, प्राणियोंके प्रति निर्दयी होता है। (२) अदिन्नादायी (= चोर)

---

[1] देखो पृष्ठ २४। [2] देखो, पृष्ठ १५८।

होता है, जो दूसरेका विना दिया, चोरीका कहा जानेवाला गाँवमें या जंगलमें रक्खा धन-सामान है, उसका लेनेवाला होता है। (३) कामों (= स्त्री संभोग)में मिथ्याचारी (= दुराचारी) होता है; उन (स्त्रियों)के साथ संभोग करता है, जो कि माता द्वारा रक्षित है, पिता द्वारा रक्षित, माता-पिता द्वारा रक्षित, जाति-वालों द्वारा रक्षित, भगिनी द्वारा रक्षित, जातिवालों द्वारा रक्षित, गोत्रवालों द्वारा रक्षित, धर्मसे रक्षित हैं, पतिवाली दंडयुक्त हैं, अन्तमें (विवाह संबंधी) माला मात्र भी जिनपर डाल दी गई है। इस प्रकार गृहपतियो! तीन प्रकारका कायिक अधर्माचरण ० होता है।

"कैसे गृहपतियो! चार प्रकारका वाचिक अधर्माचरण ० होता है?—यहाँ गृहपतियो! कोई (पुरुष) (१) मिथ्यावादी होता है। सभामें, या परिषद्में, या जातिके मध्यमें, या पूग (= पंचायत)के मध्यमें, राजदर्बारमें, बुलानेपर साक्षीके लिये—'हे पुरुष! जो जानते हो, वह कहो।'—(पूछनेपर); वह न जानते हुए कहता है—'मैं जानता हूँ', जानते हुये कहता है—'मैं नहीं जानता'। न देखे कहता है—'मैंने देखा है'; देखे हुए कहता है—'मैंने नहीं देखा।' इस प्रकार अपने लिये या परायेके लिये, या थोड़े आमिष (= भोगवस्तु)के लिये जानबूझकर झूठ बोलता है। (१) चुगुलखोर होता है—इनमें फूट डालनेके लिये यहाँ सुनकर वहाँ कहता है; उनमें फूट डालनेके लिये, वहाँ सुनकर यहाँ कहता है। इस प्रकार मेलजोलवालोंको फोड़नेवाला, फूटे हुओं (को फूट)को सह देनेवाला, वर्ग(= पार्टीबाजी)में खुश, वर्गमें रत, वर्गमें आनन्दित, वर्गकरणी वाणीका बोलनेवाला होता है। (३) परुष(= कटु)-भाषी होता है—जो वाणी तेज, कर्कश, दूसरेको कड़वी लगनेवाली, दूसरेको पीड़ित करनेवाली, क्रोधपूर्ण, अशांतिपैदाकरनेवाली है, वैसी वाणीका बोलनेवाला होता है। (४) प्रलापी होता है—बेवक्त बोलनेवाला, अयथार्थ बोलनेवाला = अतथ्यवादी, अधर्मवादी, अ-विनय(= अनीति)-वादी, विना समय, विना-उद्देश्यके तात्पर्य-रहित, अनर्थयुक्त निस्सार वाणीका बोलनेवाला होता है। इस प्रकार गृहपतियो! चार प्रकारका वाचिक अधर्माचरण ० होता है।

"कैसे गृहपतियो! तीन प्रकारका मानसिक अधर्माचरण ० होता है?—यहाँ गृहपतियो! कोई (पुरुष) (१) अभिध्यालु (= लोभी) होता है; जो दूसरेका धन-सामान (= वित्त-उपकरण) है, उसका लोभ करता है—'अहो! जो दूसरेका (धन) है, वह मेरा हो जाता।' (२) व्यापन्नचित्त = द्वेषपूर्ण संकल्पवाला होता है—'यह प्राणी मारे जायें, वध किये जायें, उच्छिन्न होवें, विनष्ट होवें, मत रहें'—इत्यादि। (३) मिथ्यादृष्टि = उलटी धारणावाला होता है—'दान कुछ नहीं', यज्ञ कुछ नहीं, हवन कुछ नहीं, सुकृत दुष्कृत कर्मोंका कोई फल = विपाक नहीं, यह लोक नहीं, परलोक नहीं, माता नहीं, पिता नहीं, औपपातिक सत्त्व (अयोनिज प्राणी = देवता लोग) नहीं हैं। लोकमें ठीक-पहुँचवाले ठीक-रास्ते-पर-लगे ऐसे श्रमण ब्राह्मण नहीं हैं, जो इस लोक और परलोकको स्वयं जान कर साक्षात्कार कर (औरोंको) जतलायेंगे। इस प्रकार गृहपतियो! तीन प्रकारका मानसिक अधर्माचरण ० होता है।

"गृहपतियो! इस प्रकार अधर्माचरण = विषम-आचरणके कारण कोई प्राणी काया छोड़ मरनेके बाद ० नरकमें जाते हैं।

"गृहपतियो! तीन प्रकारका कायिक धर्माचरण = सम-आचरण होता है। चार प्रकारका वाचिक धर्माचरण = सम-आचरण होता है। तीन प्रकारका मानसिक धर्माचरण = सम-आचरण होता है। कैसे गृहपतियो! तीन प्रकारका कायिक धर्माचरण ० होता है?—यहाँ गृहपतियो! कोई (पुरुष) (१) प्राणातिपात (= हिंसा) छोड़ प्राणातिपातसे विरत होता है—वह

दण्ड-त्यागी, शस्त्रत्यागी लज्जालु, दयालु, सारे प्राणियोंका हित और अनुकंपक हो विहरता है। (२) अदिन्नादान (= चोरी)को छोड़, अदिन्नादानसे विरत होता है—जो दूसरेका बिना दिया ०[1] उसका न लेनेवाला होता है। (३) कामों (= स्त्री-संभोग)के मिथ्याचारको छोड़, काम-मिथ्याचारसे विरत होता है। उन स्त्रियोंके साथ संभोग नहीं करता, जो कि माता द्वारा रक्षित हैं ०[1]। इस प्रकार गृहपतियो! तीन प्रकारका कायिक धर्माचरण ० होता है।

"कैसे गृहपतियो! चार प्रकारका वाचिक धर्माचरण ० होता है?—यहाँ गृहपतियो! कोई (पुरुष) (१) मृषावादको छोड़ मृषावादसे विरत होता है। सभामें ०[1] जानबूझकर झूठ नहीं बोलता। (२) पिशुनवचन (= चुगली) छोड़, पिशुनवचनसे विरत होता है। इनमें फूट डालने ०[1] फूटे हुओंका मिलानेवाला होता है, मेलजोलवालोंको सहायता देनेवाला होता है। मेलमें रत, मेलमें प्रसन्न, मेलमें आनंदित, मेलकरणी वाणीका बोलनेवाला होता है। (३) परुषवचनको छोड़, परुषवचनसे विरत होता है। जो वह वाणी मधुर, कर्णसुखद, प्रेमणीय, हृदयंगम, सभ्य (= पौरी), बहुजन-कान्ता = बहुजन-मनापा होती है, उसका बोलनेवाला होता है। (४) प्रलापको छोड़ प्रलापसे विरत होता है।—समय देख बोलनेवाला ०[2] अर्थयुक्त सारवती वाणीका बोलनेवाला होता है। इस प्रकार ०।

"कैसे गृहपतियो! तीन प्रकारका मानसिक धर्माचरण ० होता है?—यहाँ गृहपतियो! कोई (पुरुष) (१) अभिध्या-रहित (= निर्लोभ) होता है—जो दूसरेका धन-सामान है ०[2] उसका लोभ नहीं करता। (२) अ-व्यापन्न-चित्त रहित-द्वेष संकल्पवाला होता है—यह प्राणी वैर-रहित, व्यापाद (= द्रोह)-रहित प्रसन्न सुखी हो अपनेको धारण करें। (३) सम्यग्-दृष्टि = ठीक धारणावाला होता है—यज्ञ है, हवन है ०[2] ऐसे श्रमण ब्राह्मण हैं, ०[2] जतलायेंगे। इस प्रकार गृहपतियो! तीन प्रकारका धर्माचरण ० होता है।

"गृहपतियो! इस प्रकार धर्माचरण = सम-आचरणके कारण कोई प्राणी काया छोड़ मरनेके बाद सुगति, स्वर्गमें उत्पन्न होते हैं।

"गृहपतियो! यदि धर्मचारी = समचारी इच्छा करे—'अहो! मैं काया छोड़ मरनेके बाद महाधनी क्षत्रिय हो उत्पन्न होऊँ'; यह हो सकता है, कि वह ० मरनेके बाद महाधनी क्षत्रिय हो उत्पन्न होवे। सो किस कारण?—वह वैसा धर्माचरण करनेवाला है, सम-आचरण करनेवाला है। गृहपतियो! यदि धर्मचारी इच्छा करे—'अहो! मैं ० महाधनी ब्राह्मण हो उत्पन्न होऊँ'; ०। ०-'अहो मैं महाधनी गृहपति (= वैश्य) हो उत्पन्न होऊँ'; ०।

"गृहपतियो! यदि धर्मचारी ० इच्छा करे—'अहो! मैं ० चातुर्महाराजिक देवताओंमें उत्पन्न होऊँ; ०। ० त्रायस्त्रिंश देवताओंमें ०। ० तुषित देवताओंमें ०। ० निर्माणरति देवताओंमें ०। ० परनिर्मित-वशवर्ती देवताओंमें ०। ० ब्रह्म-कायिक देवताओंमें ०। ० आभा देवताओंमें ०। ० परीत्ताभ देवताओंमें ०। ० अप्रमाणाभ देवताओंमें ०। ० आभस्वर देवताओंमें ०। ० शुभ देवताओंमें ०। ० परीत्त-शुभ देवताओंमें ०। ० अप्रमाण-शुभ देवताओंमें ०। ० शुभकृत्स्न देवताओंमें ०। ० बृहत्फल देवताओंमें ०। ० अविभ देवताओंमें ०। ० आतप्य देवताओंमें ०। ० सुदर्शन देवताओंमें ०। ० सुदर्शी देवताओंमें ०। ० अकनिष्ठक देवताओंमें ०। ० आकाशानन्त्यायतनके देवताओंमें ०। ० विज्ञानानन्त्यायतनके देवताओंमें ०

[1] देखो पृष्ठ १६९ (को अनंगीकारात्मक करके)। [2] पृष्ठ १६९ (निषेधको हटा कर)।

० आकिंचन्यायतनके देवताओंमें ० । ० नैवसंज्ञानासंज्ञायतनके देवताओंमें ० ।

"गृहपतियो ! यदि धर्मचारी = समचारी इच्छा करे—'अहो ! मैं आस्रवों (= चित्त-मलों)के क्षयसे आस्रव-रहित चित्तकी विमुक्ति, प्रज्ञाकी विमुक्तिको इसी जन्ममें स्वयं जानकर साक्षात्कार कर प्राप्त कर विहरूँ । यह हो सकता है, कि वह आस्रवोंके क्षयसे ० प्राप्त कर विहरे । सो किस कारण ?—वह वैसा धर्मचारी = समचारी है ।"

ऐसा कहनेपर शाला-निवासी ब्राह्मण गृहस्थोंने भगवान्‌से यह कहा—

"आश्चर्य भो गौतम ! आश्चर्य भो गौतम ! जैसे औंधेको सीधा कर दे ०[1] यह हम भगवान् गौतमकी शरण जाते हैं, धर्म और भिक्षु-संघकी भी । आजसे आप गौतम हमें अंजलिबद्ध शरणागत उपासक स्वीकार करें ।

४२—वेरंजक-सुत्तन्त (१।५।२)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथपिंडिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे।

उस समय वेरंजा-निवासी ब्राह्मण-गृहस्थ किसी कामसे श्रावस्तीमें रहते थे।

वेरञ्जा-निवासी ब्राह्मण-गृहस्थोंने सुना—'शाक्यकुलसे प्रव्रजित ०[1] एक ओर बैठे वेरञ्जा-निवासी ब्राह्मण-गृहस्थोंने भगवान्‌से यह कहा—

"भो गौतम! क्या हेतु है, क्या प्रत्यय है, जो कोई प्राणी काया छोड़ मरनेके बाद अपाय, दुर्गति, पतन, नर्कमें उत्पन्न होते हैं? ०[2] आजसे आप गौतम हमें अंजलिबद्ध शरणागत उपासक समझें।

[1] देखो पृष्ठ १६८। [2] देखो पृष्ठ १६८-७१ (४१ सालेय्यसुत्तन्तकी तरह)।

४३—महा-वेदल्ल-सुत्तन्त (१।५।३)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथपिंडिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे।

तब आयुष्मान् महाकोट्ठिल (= कोट्ठित) सायङ्काल प्रतिसँल्लयन (= एकान्त चिन्तन, ध्यान)से उठ जहाँ आयुष्मान् सारिपुत्र थे, वहाँ गये। जाकर आयुष्मान् सारिपुत्रके साथ···यथा-योग्य संमोदन कर एक ओर बैठ गये। एक ओर बैठे आयुष्मान् महाकोट्ठितने आयुष्मान् सारिपुत्रसे यह कहा—

"आवुस! 'दुष्प्रज्ञ' 'दुष्प्रज्ञ' कहा जाता है, किस (कारण)से वह······दुष्प्रज्ञ कहा जाता है?"

"चूँकि नहीं समझता, (= न प्रजानाति) इसलिये आवुस! वह दुष्प्रज्ञ कहा जाता है।"

"क्या नहीं समझता?"

"'यह दुःख है'—इसे नहीं समझता; 'यह दुःख-समुदय (= दुःखका कारण) है'—इसे नहीं समझता; 'यह दुःख-निरोध है'—इसे नहीं समझता; 'यह दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपद् (= मार्ग) है'—इसे नहीं समझता। नहीं समझता है, इसलिये आवुस! वह दुष्प्रज्ञ कहा जाता है।"

"साधु, आवुस!"—(कह) आयुष्मान् महाकोट्ठितने आयुष्मान् सारिपुत्रके भाषणका अभिनन्दन कर अनुमोदन कर, आयुष्मान् सारिपुत्रसे आगेका प्रश्न पूछा—

"आवुस! 'प्रज्ञावान्' 'प्रज्ञावान्' कहा जाता है, किस(कारण)से प्रज्ञावान् कहा जाता है?"

"चूँकि वह समझता है (= प्रजानाति), इसलिये आवुस! वह प्रज्ञावान् कहा जाता है।"

"क्या समझता है?"

"'यह दुःख है'—इसे समझता है ०; ० 'यह दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपद् है'—इसे समझता है। समझता है, इसलिये आवुस! वह प्रज्ञावान् कहा जाता है।"

"आवुस! 'विज्ञान' 'विज्ञान' कहा जाता है, किससे विज्ञान कहा जाता है?"

"चूँकि आवुस! (वह) जानता है (= विजानाति), इसलिये विज्ञान कहा जाता है?"

"क्या जानता है?"

"'(यह) सुख है—(इसे) जानता है; (यह) दुःख है'—(इसे) जानता है; '(यह) न-सुख-न-दुःख है'—(इसे) जानता है। जानता है, इसलिये आवुस! विज्ञान कहा जाता है।"

"आवुस ! जो यह प्रज्ञा है, और यह जो विज्ञान, यह दोनों पदार्थ मिले-जुले (= संसृष्ट) हैं, या अलग अलग ? इन (दोनों) पदार्थों (= धर्मों)को विलग विलग कर उनका भेद जतलाया जा सकता है ?"

"आवुस ! यह जो प्रज्ञा है, और यह जो विज्ञान है, यह दोनों पदार्थ मिले जुले हैं, अलग अलग नहीं हैं; किन्तु इन (दोनों) पदार्थोंको विलग विलग कर उनका भेद नहीं जतलाया जा सकता।"

"आवुस ! जो यह प्रज्ञा है, और जो यह विज्ञान है; इन (दोनों) मिले-जुले न-विलग पदार्थोंका क्या भेद है ?"

"आवुस ! ० इन दोनों ० पदार्थोंका यह भेद है—प्रज्ञा भावना (= मनोयोग) करने योग्य है, और विज्ञान परिज्ञेय (= ज्ञेय) है।"

"आवुस ! 'वेदना' 'वेदना' कही जाती है; किस (कारण)से वेदना कही जाती है ?"

"चूँकि आवुस ! (यह) वेदन (= अनुभव) करती है, इसलिये वेदना कही जाती है ?"

"क्या वेदन करती है ?"

"सुखको भी वेदन करती है। दुःखको भी वेदन करती है, न दुःख-न सुखको भी वेदन करती है। वेदन करती है इसलिये ०।"

"आवुस ! 'संज्ञा' 'संज्ञा' कही जाती है ; ० ?"

"चूँकि आवुस ! (यह) संजानन (= पहिचान) करती है, ०।"

"क्या संजानन करती है ?"

"नीलेको भी संजानन करती है, पीलेको भी ०, लालको भी०, सफेदको भी ०। संजानन करती है, इसलिये ०।"

"आवुस ! जो संज्ञा है, जो वेदना है, और जो विज्ञान है; यह धर्म (= पदार्थ) मिले-जुले हैं, या अलग ? इन धर्मोंको विलग विलग कर इनका भेद जतलाया जा सकता है ?"

"आवुस ! ० यह (तीनों) धर्म मिले जुले हैं, विलग नहीं हैं। और इन (तीनों) पदार्थोंको विलग विलग करके उनका भेद नहीं जतलाया जा सकता।"

"आवुस ! ० इन (तीनों) धर्मोंका क्या भेद है ?"

"आवुस ! जिसको वेदन[1] (= अनुभव) करता है, उसका संजानन करता है; उसका विजानन करता है। इसलिये यह धर्म मिले-जुले हैं, विलग नहीं; और उन्हें ० विलग करके, उनका भेद नहीं जतलाया जा सकता है।"

"आवुस ! पाँच (चक्षु आदि बाह्य) इन्द्रियोंसे असंबद्ध शुद्ध मनो-विज्ञान द्वारा क्या विज्ञेय (= जानने योग्य) है ?"

---

[1] वस्तुके दुःखात्मक, सुखात्मक, न-दुःख-न-सुखात्मक मात्र अनुभवको वेदना कहते हैं, जैसे लड्डू-खाते वक्त उसका स्वाद मात्र जानना। वस्तु क्या है, इस परिचय-युक्त ज्ञानको संज्ञा कहते हैं; जैसे यह मूँगका लड्डू है, पीला है; इसके बाद यथार्थ ज्ञानकी अवस्था विज्ञान है। जो ज्ञान मार्गपर आरूढ़ करनेमें समर्थ होता है, वह प्रज्ञा है। उत्तर-उत्तरवाले पूर्व-पूर्वकी क्रियाके संपादक होते हैं। वेदना, संज्ञा, प्रज्ञा, अशर्फियोंकी राशिके पास बैठे बच्चे, गँवार और सराफकी तरह हैं। बच्चा अशर्फियोंके चित्र-विचित्र रूपहीको जानता हैं, गँवार उनके द्वारा कामकी चीजें खरीदनेके उपयोगको भी जानता है, किन्तु खरे खोटेकी बात नहीं जानता; सराफ सब जानता है।

"आवुस ! ० शुद्ध मनोविज्ञान द्वारा 'आकाश' अनन्त है'—यह आकाश-आनन्त्य-आयतन विज्ञेय है; 'विज्ञान अनन्त है'—यह विज्ञान-आनन्त्य-आयतन विज्ञेय है; 'कुछ नहीं है' (= अ-किंचित्)—यह आकिंचन्य-आयतन विज्ञेय है।"

"आवुस ! विज्ञेय धर्मों (= पदार्थों)को किससे प्रजानन करता (= अच्छी तरह जानता) है ?"

"आवुस ! विज्ञेय धर्मोंको प्रज्ञा-चक्षुसे प्रजानता है।"

"आवुस ! प्रज्ञा किस लिये है ?"

"आवुस ! प्रज्ञा अभिज्ञाके लिये है, परिज्ञाके लिये है, प्रहाण(= त्याग)के लिये है।'

"आवुस ! सम्यग्-दृष्टि (= ठीक धारणा)के ग्रहणमें कितने प्रत्यय (= हेतु) हैं ?"

"आवुस ! ० दो प्रत्यय होते हैं—(१) दूसरोंसे घोष (= उपदेश-श्रवण), और (२) योनिशः मनस्कार (= मूलपर विचार करना)। ०। यह दोनों ०।"

"आवुस ! किन अंगोंसे युक्त होनेपर, सम्यग्-दृष्टि चेतो-विमुक्ति-फलवाली, तथा चेतो-विमुक्ति-फलके माहात्म्यवाली होती है; प्रज्ञा-विमुक्ति-फलवाली तथा प्रज्ञा-विमुक्ति-फलके माहात्म्यवाली होती है ?"

"आवुस ! पाँच अंगोंसे युक्त सम्यग्-दृष्टि ० माहात्म्यवाली होती है।—यहाँ आवुस ! सम्यग्-दृष्टि (१) शील(= सदाचार)से युक्त होती है; (२) श्रुत(= धर्मोपदेश-श्रवण)से युक्त होती है; (३) साक्षात्कार (= साकच्छा = भावना आदिकी प्रक्रियाके जाननेके लिये अभिज्ञसे वार्तालाप) ०; (४) शमथ (= समाधि) ०; (५) विपश्यना (= परम-ज्ञान)से युक्त होती है। इन पाँच ०।"

"आवुस ! भव कितने हैं ?"

"आवुस ! यह तीन भव (= लोक) हैं—काम-भव, रूप-भव, अ-रूप-भव।"

"कैसे आवुस ! भविष्यमें पुनर्भव (= पुनर्जन्म) संपन्न होता है ?"

"आवुस ! अविद्या नीवरणों (= ढक्कनों) वाले, तृष्णा(रूपी) संयोजनों(= बंधनों) वाले प्राणियोंकी वहाँ वहाँ अभिनन्दना (= लालसा) होती है; इस प्रकार आवुस ! भविष्यमें ०।"

"आवुस ! प्रथम-ध्यान क्या है ?"

"आवुस ! यहाँ भिक्षु कामनाओंसे रहित बुराइयोंसे रहित, वितर्क-विचार-सहित, विवेकसे उत्पन्न प्रीतिसुखवाले प्रथम-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। यह आवुस ! प्रथम-ध्यान कहा जाता है।"

"आवुस ! प्रथम-ध्यान किस अंगवाला है ?"

"आवुस ! प्रथम-ध्यान पाँच अंगोंवाला है। आवुस ! प्रथम-ध्यान प्राप्त भिक्षुको वितर्क रहता है, विचार रहता है, प्रीति रहती है, सुख रहता है, और चित्तकी एकाग्रता रहती है। आवुस ! इस प्रकार प्रथम-ध्यान पाँच अंगोंवाला है।"

"आवुस ! प्रथम-ध्यान किन अंगोंसे विहीन और किन अंगोंसे युक्त है ?"

"आवुस ! प्रथम-ध्यान पाँच अंगोंसे विहीन और पाँच अंगोंसे युक्त होता है। आवुस ! प्रथम-ध्यान-प्राप्त भिक्षुका कामच्छन्द (= विषयमें अनुराग) प्रहीण (= छूट गया) होता है, व्यापाद (= द्रोह) ०, स्त्यान-मृद्ध (= आलस्य) ०, औद्धत्य-कौकृत्य (= उद्धतपना-हिचकिचाहट) ०, विचिकित्सा (= संशय) प्रहीण होती है। वितर्क रहता है, विचार रहता है, प्रीति रहती है, सुख रहता है, चित्तकी एकाग्रता रहती है। ०।"

"आवुस ! यह पाँच इन्द्रियाँ; जैसे कि—चक्षु-इन्द्रिय, श्रोत्र ०, घ्राण ०, जिह्वा ०, काय-इन्द्रिय—भिन्न भिन्न विषयोंवाली = भिन्न भिन्न गोचरोंवाली हैं; (यह) एक दूसरेके विषय = गोचरको नहीं ग्रहण कर सकतीं; आवुस ! भिन्न भिन्न विषयोंवाली ०, एक दूसरेके विषय = गोचरको न ग्रहण कर सकने वाली इन पाँच इन्द्रियोंका क्या प्रतिशरण (= आश्रय) है, इनके गोचर = विषयको कौन अनुभव करता है ?"

"आवुस ! इन पाँच ० इन्द्रियोंका प्रतिशरण मन है; मन इनके ० विषयको अनुभव करता है।"

"आवुस ! यह चक्षु ० पाँच इन्द्रियाँ किसके प्रत्यय (= आश्रय)से स्थित हैं ?"

"आवुस ! यह ० पाँच इन्द्रियाँ आयुके आश्रयसे स्थित हैं।"

"आवुस ! आयु किसके आश्रयसे स्थित है ?"

"आयु उष्मा (= उष्णता, शरीरकी गर्मी)के आश्रयसे स्थित है।"

"आवुस ! उष्मा किसके आश्रयसे स्थित है ?"

"उष्मा आयुके आश्रयसे स्थित है।"

"आवुस ! अभी हम आयुष्मान् सारिपुत्रके भाषणको सुने हैं—'आयु उष्माके आश्रयसे स्थित है'; अभी (फिर) हम आयुष्मान् सारिपुत्रके भाषणको सुनते हैं—'उष्मा आयुके आश्रयसे स्थित है'। आवुस ! इस कथनका मतलब हमें कैसे समझना चाहिये ?"

"तो आवुस ! मैं तुम्हें उपमा देता हूँ; उपमासे भी कोई कोई विज्ञ पुरुष भाषणका अर्थ समझ जाते हैं। आवुस ! जैसे जलते हुये तेलके दीपकमें, लौके सहारे प्रकाश दिखाई पड़ता है, प्रकाशके सहारे लौ दिखाई पड़ती है; ऐसे ही आवुस ! आयु उष्माके आश्रयसे स्थित है, उष्मा आयुके आश्रयसे स्थित है।"

"आवुस ! वही आयु-संस्कार हैं, और वही वेदनीय (=अनुभवके विषय) धर्म (=पदार्थ) हैं; अथवा आयु-संस्कार दूसरे हैं, और वेदनीय-धर्म दूसरे हैं ?"

"आवुस ! आयु-संस्कार और वेदनीय-धर्म एक नहीं हैं; यदि आयु-संस्कार और वेदनीय-धर्म एक होते; तो संज्ञा-वेदित-निरोध(ध्यान)में अवस्थित भिक्षुका (वेदना-रहित अवस्थासे वेदनासहित अवस्थामें) उठना न होता। चूँकि आवुस ! आयु-संस्कार दूसरे हैं, और वेदनीय-धर्म दूसरे हैं, इसलिये संज्ञा-वेदित-निरोधमें अवस्थित भिक्षुका उठना होता है।"

"आवुस ! कितने धर्म (= पदार्थ) इस कायाको छोड़ते हैं, जब कि यह छोड़ा फेंका हुआ अचेतन (शरीर) काठकी भाँति सोता है ?"

"आवुस ! जब इस कायाको आयु, उष्मा और विज्ञान—यह तीन धर्म छोड़ते हैं; तो यह ० अचेतन काठकी भाँति सोता है।"

"आवुस ! यह जो मरा हुआ=कालकृत है, और जो यह संज्ञा-वेदित-निरोध (ध्यान)-में अवस्थित भिक्षु है; इन दोनोंमें क्या भेद है ?"

"आवुस ! यह जो मरा हुआ=कालकृत है, इसके काय-संस्कार (=शारीरिक गति) निरुद्ध, शान्त हो गये होते हैं, उसके वाचिक संस्कार निरुद्ध, शान्त हो गये होते हैं, चित्त-संस्कार निरुद्ध शान्त हो गये रहते हैं; आयु क्षीण, उष्मा शांत, इन्द्रियाँ उच्छिन्न हो गई रहती हैं। जो वह संज्ञा-वेदित-निरोधमें अवस्थित भिक्षु है, उसके भी काय-संस्कार (=कायिक क्रियायें), वाचिक-संस्कार, चित्त-संस्कार निरुद्ध और प्रतिप्रश्रब्ध होते हैं, किन्तु उसकी आयु क्षीण नहीं होती, उष्मा शान्त नहीं होती, इन्द्रियाँ विशेषतः प्रसन्न (= निर्मल) होती हैं। यह है आवुस ! ० (दोनों) का भेद।"

"आवुस ! सुख-दुख(दोनों)-रहित चेतो-विमुक्तिकी समापत्ति (= प्राप्ति)के कितने प्रत्यय (= आश्रय) हैं ?"

"आवुस ! चार हैं ० (जब) भिक्षु सुख और दुःखके परित्यागसे; सौमनस्य (= चित्तोल्लास), और दौर्मनस्य (= चित्त संताप)के पहिलेही अस्त हो जानेसे, सुख-दुःख रहित उपेक्षासे स्मृतिकी परिशुद्धि वाले चतुर्थ ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। यह आवुस ! सुख-दुःख-रहित चेतोविमुक्ति समापत्तिके चार प्रत्यय हैं।"

"आवुस ! आनिमित्त-चेतोविमुक्तिकी समापत्तिके लिये कितने प्रत्यय हैं ?"

"आवुस ! ० दो प्रत्यय हैं—(१) सारे निमित्तों (= रूप-आकृति आदि)का मनमें न करना; और (२) अ-निमित्त धातु (= लोक)का मनमें करना। यह आवुस ! ०।"

"आवुस ! आनिमित्त-चेतोविमुक्तिकी स्थितिके लिये कितने प्रत्यय हैं ?"

"आवुस ! ० तीन प्रत्यय हैं—(१) सारे निमित्तोंको मनमें न करना; (२) अ-निमित्त धातुको मनमें करना; और (३) पूर्वका अभिसंस्कार (= संस्कार)। यह आवुस ! ०।"

"आवुस ! आनिमित्त-चेतोविमुक्तिके उत्थानके कितने प्रत्यय हैं ?"

"आवुस ! ० दो प्रत्यय हैं—(१) सारे निमित्तोंको मनमें न करना; और (२) अनिमित्त-धातुको मनमें न करना। यह आवुस ! ०।"

"आवुस ! जो यह अप्रमाणा चेतोविमुक्ति है, जो यह आकिंचन्या चेतो-विमुक्ति है, जो यह शून्यता चेतोविमुक्ति है, और जो यह आनिमित्त-चेतोविमुक्ति है; यह धर्म (= पदार्थ) नाना-अर्थ-वाले और नाना-व्यंजन-वाले हैं, अथवा एक-अर्थ-वाले किन्तु नाना-व्यंजन-वाले हैं ?"

"आवुस ! ० ऐसा मतलब (= पर्याय) है, जिससे यह (चारों) धर्म नाना-अर्थ-वाले, नाना-व्यंजन-वाले हैं; ऐसा मतलब भी है, जिससे कि यह एक-अर्थ-वाले हैं व्यंजन ही (इनका) नाना है। क्या है वह मतलब जिससे यह ०?—आवुस ! (जब) भिक्षु (१) मैत्रीयुक्त चित्तसे एक दिशाको पूर्ण कर विहरता है, वैसे ही दूसरी दिशाको, वैसे ही तीसरी दिशाको, वैसे ही चौथी दिशाको, इस प्रकार ऊपर नीचे, आड़े-बेड़े, सबके विचारसे सबके अर्थ, विपुल, महान्, प्रमाण-रहित (= अति-विशाल), वैर-रहित, व्यापाद-रहित, मैत्री-युक्त चित्तसे सभी लोकको पूर्ण कर विहरता है। (२) करुणायुक्त चित्तसे ०। (३) मुदिता-युक्त चित्तसे ०। (४) उपेक्षा-युक्त चित्तसे ०। यह आवुस ! अप्रमाणा चेतोविमुक्ति कही जाती है।

"क्या है आवुस ! आकिंचन्या चेतोविमुक्ति ?"—आवुस ! (जब) भिक्षु विज्ञान-आयतनको अतिक्रमण कर, 'कुछ नहीं है' (= अ-किंचन)—इस आकिंचन्य-आयतनको प्राप्त हो विहरता है; यह आवुस ! आकिंचन्या चेतोविमुक्ति है।

क्या है आवुस ! शून्यता चेतोविमुक्ति ?—आवुस ! (जब) भिक्षु अरण्य, वृक्ष-छाया या शून्य-आगारमें रहते यह सोचता है—'यह सभी (जगत्) आत्मा या आत्मीयसे शून्य है'; यह आवुस ! ०। क्या है आवुस ! आनिमित्ता चेतोविमुक्ति ? आवुस ! (जब) भिक्षु सभी निमित्तोंको मनमें न कर, अनिमित्त चित्तकी समाधिको प्राप्त कर विहरता है; यह है आवुस ! ०। यह है आवुस ! मतलब, जिस मतलबसे यह धर्म नाना-अर्थ-वाले और नाना-व्यंजन-वाले हैं।

"क्या है आवुस ! मतलब, जिस मतलबसे यह एक-अर्थ-वाले हैं, व्यंजन ही (इनके) नाना हैं ?—आवुस ! राग, द्वेष, मोह (—यह तीनों) प्रमाण करनेवाले हैं; किन्तु क्षीणास्रव (= चित्तमलोंसे मुक्त, अर्हत्) भिक्षुके वह क्षीण हो गये, जड़से उच्छिन्न हो गये हैं, सिर-कटे ताड़की तरह हो गये हैं, अभावको प्राप्त हो गये हैं, भविष्यमें उत्पन्न होने योग्य नहीं रह गये हैं।

आवुस ! जितनी अप्रमाणा चेतोविमुक्तियाँ हैं, अकोप्या (चेतो-विमुक्ति) उनमें (सबसे) श्रेष्ठ है। अकोप्या चेतो-विमुक्ति राग-द्वेष-मोहसे शून्य है। आवुस ! राग किंचन है, द्वेष किंचन है, मोह किंचन है। वह (राग, द्वेष, मोह), क्षीणास्रव भिक्षुके क्षीण हो गये ०। आवुस ! जितनी आकिंचन्या चेतोविमुक्तियाँ हैं, अकोप्या चेतोविमुक्ति उनमें (सर्व-)श्रेष्ठ है। और वह अकोप्या चेतोविमुक्ति राग-द्वेष-मोहसे शून्य है। आवुस ! राग निमित्त-करण है, द्वेष निमित्त-करण है, मोह निमित्त-करण है। वह, क्षीणास्रव भिक्षुके क्षीण हो गये ०। आवुस ! जितनी अनिमित्ता चेतोविमुक्तियाँ हैं, अकोप्या चेतोविमुक्ति उनमें (सर्व -)श्रेष्ठ है। वह अकोप्या चेतोविमुक्ति राग-द्वेष-मोहसे शून्य है। आवुस ! यह मतलब (= पर्याय) है, जिस मतलबसे यह धर्म एक-अर्थ-वाले हैं, व्यंजन ही (इनके) नाना हैं।''

आयुष्मान् सारिपुत्रने यह कहा; सन्तुष्ट हो आयुष्मान् महाकोट्ठितने आयुष्मान् सारिपुत्रके भाषणको अभिनंदित किया।

४४—चूल-वेदल्ल-सुत्तन्त (१।५।४)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् राजगृहमें कलन्दकनिवाप वेणुवनमें विहार करते थे।

तब उपासक विशाख जहाँ धम्मदिन्ना[1] भिक्षुणी थी, वहाँ गया, जाकर धम्मदिन्ना भिक्षुणीको अभिवादन कर एक ओर बैठा। एक ओर बैठे उपासक विशाखने धम्मदिन्ना भिक्षुणी को यह कहा—

"आर्ये (=अय्या)! 'सत्काय' 'सत्काय' कहा जाता है; आर्ये! भगवान्ने किसे सत्काय कहा है?"

"यह जो रूप उपादान-स्कंध, वेदना उपादान-स्कंध, संज्ञा उपादान-स्कंध, संस्कार-उपादान-स्कंध, विज्ञान उपादान-स्कंध हैं; आवुस विशाख! इन्हीं पाँच उपादान-स्कंधों[2]को भगवान्ने सत्काय कहा है।"

"साधु, आर्ये!"—(कह) उपासक विशाखने धम्मदिन्ना भिक्षुणीके भाषणको अभिनंदित कर=अनुमोदित कर; धम्मदिन्ना भिक्षुणीसे आगेका प्रश्न पूछा—

"अय्या! 'सत्काय-समुदय', 'सत्काय-समुदय' कहा जाता है; अय्या! भगवान्ने किसे सत्काय-समुदय कहा है?"

"आवुस विशाख! जो यह सुख-संबंधी इच्छासे संयुक्त, उन उन (विषयों)को अभिनन्दन करने वाली आवागमनकी तृष्णा है; जैसे कि काम-तृष्णा, भव (=जन्म)-तृष्णा, विभव-तृष्णा, आवुस विशाख! इसी (तृष्णा)को भगवान्ने सत्काय-समुदय (=आत्मवादका कारण) कहा है।"

"अय्या! 'सत्काय-निरोध', 'सत्काय-निरोध' कहा जाता है। अय्या! भगवान्ने किसे सत्काय-निरोध (=आत्माके ख्यालका नाश) कहा है?"

"आवुस विशाख! उसी तृष्णाका जो सम्पूर्णतया वैराग्य विनाश (=निरोध), त्याग=

---

[1] धम्मदिन्ना (=धर्मदत्ता) राजगृहके इसी विशाख सेठकी भार्या थी; पीछे पतिकी सम्मतिसे भिक्षुणी हो, एक बहुत ही प्रभावशालिनी धर्मोपदेष्ट्री हुई।

[2] चराचर जगत्का उपादान-कारण रूप आदि पाँच स्कंधोंमें बँटा है। इनमें वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञानकी ही अवस्था-विशेष होनेसे इन्हें रूप और विज्ञान दो स्कंधोंमें विभक्त किया जा सकता है। विज्ञान-को नाम भी कहते हैं। यह पाँच स्कंध जब व्यक्तिमें लिये जाते हैं, तो इन्हें उपादान-स्कंध कहते हैं। इन स्कंधोंसे परे जीव या चेतन कोई पदार्थ नहीं। पांच उपादान-स्कंधोंसे बनी इस 'कायामें सत्ता' (=सत्+काय) है आत्माकी—यह मिथ्याज्ञान होता है।

प्रतिनिस्सर्ग, मुक्ति, अनालय (= अनासक्ति) है; आवुस विशाख ! इसे भगवान्‌ने सत्काय-निरोध कहा है।"

"अय्या ! 'सत्काय-निरोध गामिनी प्रतिपद्', 'सत्काय-निरोध-गामिनी प्रतिपद्' कहा जाता है। अय्या ! भगवान्‌ने किसे सत्काय-निरोध-गामिनी प्रतिपद् (= आत्माके ख्यालके नाशकी ओर ले जानेवाला मार्ग) कहा है ?"

"आवुस विशाख ! भगवान्‌ने सत्काय-निरोध-गामिनी प्रतिपद् कहा है, इसी आर्य-अष्टांगिक-मार्ग[1] को; जैसे कि—सम्यग्-दृष्टि, सम्यक्-संकल्प, सम्यग्-वचन, सम्यक्-कर्मान्त, सम्यग्-आजीव, सम्यग्-व्यायाम, सम्यक्-स्मृति, सम्यक्-समाधि।"

"अय्या ! वही उपादान है, और वही उपादान-स्कंध है; अथवा उपादान पाँच उपादान स्कंधोंसे अलग है ?"

"आवुस विशाख ! न उपादान और पाँच उपादान-स्कंध एक हैं, न उपादान पाँच उपादान स्कंधोंसे अलग है। आवुस विशाख ! पाँच उपादान-स्कंधोंमें जो छन्द = राग है, वही वहाँ उपादान है।"

"कैसे अय्या ! सत्काय-दृष्टि होती है ?"

"आवुस विशाख ! (जब) आर्योंके दर्शनसे वंचित, आर्य-धर्मसे अपरिचित, आर्य-धर्ममें अ-विनीत (= न पहुँचे); सत्पुरुषोंके दर्शनसे वंचित, सत्पुरुष-धर्मसे अपरिचित, सत्पुरुष-धर्ममें अ-विनीत, अज्ञ, अनाड़ी (= पृथग्जन) पुरुष रूपको आत्माके तौर पर देखता है, या रूपवान्‌को आत्मा, आत्मामें रूपको, रूपमें आत्माको (देखता है)। वेदनाको आत्माके तौर पर ०। संज्ञाको आत्माके तौर पर ०। संस्कारको आत्माके तौर पर ०। विज्ञानको आत्माके तौरपर०। इस प्रकार आवुस विशाख ! ०।"

"क्या है अय्या ! आर्य अष्टांगिक मार्ग ?"

"आवुस विशाख ! आर्य अष्टांगिक मार्ग है यही—सम्यग्-दृष्टि०[2]।

"अय्या ! आर्य अष्टांगिक मार्ग संस्कृत (= कृत) है या अ-संस्कृत !"

"आवुस विशाख ! ० संस्कृत है।"

"अय्या ! आर्य अष्टांगिक मार्गमें तीनों स्कंध संगृहीत हैं, या तीनों स्कंधोंमें आर्य अष्टांगिक मार्ग संगृहीत है ?"

"आवुस विशाख ! आर्य अष्टांगिक मार्गमें तीनों स्कंध संगृहीत नहीं हैं, (बल्कि) तीन स्कंधोंमें आर्य अष्टांगिक मार्ग संगृहीत है। आवुस विशाख ! जो सम्यग्-वचन, सम्यग्-आजीव और सम्यक्-कर्मान्त हैं, वह···शील-स्कंधमें संगृहीत हैं। जो सम्यग्-व्यायाम, सम्यक्-स्मृति, और सम्यक्-समाधि है, वह···समाधि-स्कंधमें संगृहीत हैं। जो सम्यग्-दृष्टि और सम्यक्-संकल्प हैं, वह···प्रज्ञा-स्कंधमें संगृहीत हैं।"

"अय्या ! क्या है समाधि, क्या हैं समाधि-निमित्त, क्या हैं समाधि-परिष्कार, और क्या है समाधि-भावना ?"

"आवुस विशाख ! जो चित्तकी एकाग्रता है, वही समाधि है। चार स्मृति-प्रस्थान[3] समाधि - निमित्त (= ० चिह्न) हैं। चार सम्यक्-प्रधान समाधिके परिष्कार हैं। जो उन्हीं

---

[1] इसके अर्थके लिये देखो सतिपट्ठान-सुत्त (३५-४०) [2] देखो पृष्ठ ३१।

[3] देखो सतिपट्ठान-सुत्त, पृष्ठ ३५-४०।

धर्मों (= पदार्थों)का सेवन करना = भावना करना, बढ़ाना, यही समाधि भावना है।"

"अय्या ! संस्कार कितने हैं ?"

"आवुस विशाख ! यह तीन संस्कार हैं—काय-संस्कार (=कायिक गति या क्रिया) वचन-संस्कार, चित्त-संस्कार।"

"अय्या ! क्या है काय-संस्कार, क्या है वचन-संस्कार, क्या है चित्त-संस्कार ?"

"आवुस विशाख ! आश्वास-प्रश्वास काय-संस्कार हैं, वितर्क-विचार वचन-संस्कार हैं, संज्ञा और वेदना चित्त-संस्कार हैं।"

"क्यों अय्या ! आश्वास-प्रश्वास काय-संस्कार हैं ? क्यों वितर्क-विचार वचन-संस्कार हैं ? क्यों वेदना, संज्ञा चित्त-संस्कार हैं ?"

"आवुस विशाख ! आश्वास-प्रश्वास (= साँस लेना छोड़ना) यह कायासे संबद्ध कायिक धर्म (= क्रियायें) हैं; इसलिये आश्वास-प्रश्वास काय-संस्कार हैं। आवुस विशाख ! पहिले वितर्क करके विचारकरके पीछे वचन निकालता है; इसलिये वितर्क-विचार वचन-संस्कार हैं। आवुस विशाख ! संज्ञा और वेदना चित्तसे संबद्ध चेतसिक धर्म है; इसलिये संज्ञा और वेदना चित्त-संस्कार हैं।"

"अय्या ! कैसे संज्ञा वेदित-निरोध समापत्ति होती है ?

"आवुस विशाख ! संज्ञा-वेदित-निरोध को समापन्न (= प्राप्त) हुये भिक्षुको यह नहीं होता—'मैं संज्ञा-वेदित-निरोधको समापन्न होऊँगा', 'मैं संज्ञा-वेदित-निरोधको समापन्न हो रहा हूँ' या 'मैं संज्ञा-वेदित-निरोध को समापन्न हुआ'। बल्कि उसका चित्त पहिलेहीसे इस प्रकार भावित (= अभ्यस्त) होता है, कि वह उस स्थितिको पहुँच जाता है।"

"अय्या ! जो संज्ञा-वेदित-निरोधमें समापन्न हुआ है, उसके कौनसे धर्म पहिले निरुद्ध (= रुद्ध) होते हैं—क्या काय-संस्कार या वचन-संस्कार या चित्त-संस्कार ?"

"आवुस विशाख ! ० समापन्न हुये भिक्षुका पहिले वचन-संस्कार निरुद्ध होता है, फिर काय-संस्कार, तब चित्त-संस्कार।"

"अय्या ! संज्ञा-वेदित-निरोध समापत्तिसे उट्ठान (= उठना) कैसे होता है ?"

"आवुस विशाख ! संज्ञा-वेदित-निरोध समापत्तिसे उट्ठान करते भिक्षुको यह नहीं होता—'मैं संज्ञा ० से उठूंगा', या 'मैं ० उठ रहा हूँ', या 'मैं ० उठा'। बल्कि उसका चित्त पहिलेहीसे इस प्रकार भावित होता है, कि वह उस स्थितिको पहुँच जाता है।"

"अय्या ! संज्ञा-वेदित-निरोध समापत्तिसे उठते हुये भिक्षुको कौनसे धर्म पहिले उत्पन्न होते हैं—क्या काय-संस्कार, या वचन-संस्कार या चित्त-संस्कार ?"

"आवुस विशाख ! ० उठते हुये भिक्षुको पहिले चित्त-संस्कार उत्पन्न होता है, फिर काय-संस्कार तब वचन-संस्कार।"

"अय्या ! संज्ञा-वेदित-निरोध समापत्तिसे उठे भिक्षुको कितने स्पर्श स्पर्श करते हैं ?"

" ० तीन स्पर्श स्पर्श करते हैं—शून्यता-स्पर्श, अनिमित्त-स्पर्श, और अप्रणिहित (= अदृढ)-स्पर्श।"

"अय्या ! ०से उठे भिक्षुका चित्त किधर निम्न=किधर प्रवण,=किधर झुका (= प्राग्भार= पहाड़) होता है ?"

" ० का चित्त विवेक (= एकान्त चिन्तन)की ओर निम्न,=विवेक-प्रवण=विवेक-प्राग्भार होता है।"

"अय्या ! कितनी वेदनायें हैं ?"

"आवुस विशाख ! यह तीन वेदनायें हैं—सुखा (= सुखमय) वेदना, दुःखा वेदना, और अदुःख-असुखा वेदना ।"

"अय्या ! क्या सुखा वेदना है, क्या दुःखा वेदना है, और क्या अदुःख-असुखा वेदना है ?"

"आवुस विशाख ! जो कोई कायिक या मानसिक अनुभव (= वेदित, वेदयित) सात (= अनुकूल), सुखमय प्रतीत होता है; वह सुखा वेदना है।...जो कायिक या मानसिक अनुभव असात (= प्रतिकूल), दुःखमय प्रतीत होता है; वह दुःखा वेदना है।...और जो कायिक या मानसिक अनुभव न सात न असात प्रतीत होता है; वह अदुःख-असुखा वेदना है।"

"अय्या ! सुखा वेदना क्या सुखा है, क्या दुःखा है ? दुःखा वेदना क्या सुखा है, क्या दुःखा है ? अदुःख-असुखा वेदना क्या सुखा है, क्या दुःखा है ?"

"आवुस विशाख ! सुखा वेदना रहते वक्त (= स्थिति) सुखा है, परिणाममें दुःखा है। दुःखा वेदना रहते वक्त दुःखा है, परिणाममें सुखा है। अदुःख-असुखा वेदना ज्ञानमें सुखा है, अज्ञानमें दुःखा है।"

"अय्या ! सुखा वेदनामें कौन अनुशय (= चित्त-मल) चिपटता है ? दुःखा वेदनामें कौन अनुशय चिपटता है ? अदुःख-असुखा वेदनामें कौन अनुशय चिपटता है ?"

"आवुस विशाख ! सुखा वेदनामें राग-अनुशय चिपटता है; दुःखा वेदनामें प्रतिघ (= प्रतिहिंसा)-अनुशय चिपटता है; अदुःख-असुखा वेदनामें अविद्या-अनुशय चिपटता है।"

"अय्या ! क्या सभी सुखा वेदनाओंमें राग-अनुशय चिपटता है ? क्या सभी दुःखा-वेदनाओंमें प्रतिघ-अनुशय चिपटता है ? क्या सभी अदुःख-असुखा वेदनाओंमें अविद्या-अनुशय चिपटता है ?"

"आवुस विशाख ! सभी सुखा वेदनाओंमें राग-अनुशय नहीं चिपटता, न सभी दुःखा वेदनाओंमें प्रतिघ-अनुशय चिपटता है, और न सभी अदुःख-असुखा वेदनाओंमें अविद्या-अनुशय चिपटता है।"

"अय्या ! सुखा वेदनामें क्या प्रहातव्य (= त्याज्य) है ? दुःखा वेदनामें क्या प्रहातव्य है ? अदुःख-असुखा वेदनामें क्या प्रहातव्य है ?"

"आवुस विशाख ! सुखा वेदनामें राग-अनुशय प्रहातव्य है, दुःखा वेदनामें प्रतिघ-अनुशय०, अदुःख-असुखा वेदनामें अविद्या-अनुशय प्रहातव्य है।"

"अय्या ! क्या सभी सुखा वेदनाओंमें राग-अनुशय प्रहातव्य है ? ० प्रतिघ-अनुशय प्रहातव्य है ? ० अविद्या-अनुशय प्रहातव्य है ?"

"आवुस विशाख ! सभी सुखा वेदनाओंमें राग-अनुशय प्रहातव्य नहीं है, ० प्रतिघ-अनुशय प्रहातव्य नहीं, सभी अदुःख-असुखा वेदनाओंमें अविद्या-अनुशय प्रहातव्य नहीं है। आवुस विशाख ! (जब) भिक्षु कामनाओंसे रहित, बुराइयोंसे रहित, विवेकसे उत्पन्न वितर्क-विचार-सहित, प्रीति और सुखवाले प्रथम ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। उस (ध्यान)से वह रागको छोड़ता है; वहाँ राग-अनुशय नहीं चिपटता। (जब) आवुस विशाख ! भिक्षु ऐसा सोचता है—कैसे उस आयतन (= स्थान)को प्राप्त हो विहरूँगा, जिस आयतनको प्राप्तकर आर्य (लोग) इस समय विहर रहे हैं; इस प्रकार अनुत्तर (= उत्तम) विमोक्षोंमें स्पृहा उपस्थित करने पर स्पृहाके कारण दौर्मनस्य उत्पन्न होता है, उससे (वह) प्रतिघको छोड़ता है; वहाँ प्रतिघ-अनुशय नहीं चिपटता। आवुस विशाख ! (जब) भिक्षु सुख और दुःखके परित्यागसे, सौमनस्य

और दौर्मनस्य (= चित्त-संताप)के अस्त हो जानेसे, सुख-दुःख-विरहित, उपेक्षा द्वारा स्मृति की परिशुद्धिवाले चतुर्थ ध्यानको प्राप्त हो विहरता है; इससे वह अविद्याको छोड़ता है; उसमें अविद्या-अनुशय नहीं चिपटता।"

"अय्या ! सुखा वेदनाका क्या **प्रतिभाग** (= विपक्षी) है ?"

"० दुःख-वेदना प्रतिभाग है।"

"अय्या ! दुःखा वेदनाका क्या प्रतिभाग है ?"

"० सुखा वेदना प्रतिभाग है।"

"अय्या ! अदुःख-असुखा वेदनाका क्या प्रतिभाग (= सपक्षी) है ?"

"० अविद्या प्रतिभाग है।"

"० अय्या ! अविद्याका क्या प्रतिभाग है ?"

"० विद्या ०।"

"अय्या ! विद्याका क्या प्रतिभाग (= सपक्षी) है ?"

"० विमुक्ति ०।"

"अय्या ! विमुक्तिका क्या प्रतिभाग (= सपक्षी) है ?"

"० निर्वाण ०।"

"अय्या ! निर्वाणका क्या प्रतिभाग है ?"

"आवुस विशाख ! तुम प्रश्नको अतिक्रमण कर गये। प्रश्नोंके पर्यन्त (= सीमा,)को नहीं पकड़ रख सके। आवुस विशाख ! ब्रह्मचर्य निर्वाणपर्यन्त है, निर्वाण-परायण है = निर्वाण-पर्यवसान है। आवुस विशाख ! यदि चाहो तो भगवान्‌से जाकर इस प्रश्नको पूछो, जैसा तुम्हें भगवान् कहें, वैसा धारण करना।"

तब उपासक **विशाख** धम्मदिन्ना भिक्षुणीके भाषणको अभिनंदित कर अनुमोदित कर, आसनसे उठ धम्मदिन्ना भिक्षुणीको अभिवादन कर, प्रदक्षिणा कर जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया; जाकर भगवान्‌को अभिवादन कर एक ओर बैठा। एक ओर बैठे उपासक विशाखने जो कुछ धम्मदिन्ना भिक्षुणीके साथ कथा-संलाप हुआ था, वह सब भगवान्‌से कह दिया। ऐसा कहने पर भगवान्‌ने उपासक विशाखसे यह कहा—

"विशाख ! धम्मदिन्ना भिक्षुणी पंडिता है। विशाख ! धम्मदिन्ना भिक्षुणी महाप्रज्ञा है। विशाख ! यदि तुम मुझे भी इस बातको पूछते, तो मैं भी ऐसे ही उत्तर देता, जैसे कि धम्मदिन्ना भिक्षुणीने उत्तर दिया। यही इसका अर्थ है। इसी तरह इसे धारण करो।"

भगवान्‌ने यह कहा, सन्तुष्ट हो उपासक विशाखने भगवान्‌के भाषणको अभिनंदित किया।

४५–चूल-धम्मसमादान-सुत्तन्त (१।५।५)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथपिंडिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे।

वहाँ भगवान्ने भिक्षुओंको संबोधित किया—"भिक्षुओ!"

"भदन्त! (कह) उन भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया।

भगवान्ने यह कहा—"भिक्षुओ! यह चार धर्मसमादान (= धर्मकी स्वीकृतियाँ) हैं। कौनसे चार?—भिक्षुओ! (१) एक धर्मसमादान वर्तमानमें सुखद किन्तु भविष्यमें दुःख-विपाक वाला होता है।···(२) वर्तमानमें भी दुःखद और भविष्यमें भी दुःखद होता है।···(३) वर्तमानमें दुःखद, भविष्यमें सुखद होता है।···(४) वर्तमानमें भी सुखद और भविष्यमें भी सुखद होता है।

(१) "भिक्षुओ! कौनसा धर्मसमादान वर्तमानमें सुखद, (किन्तु) भविष्यमें दुःखद होता है?—भिक्षुओ! कोई कोई श्रमण ब्राह्मण इस वादके माननेवाले इस दृष्टि (= धारणा) वाले होते हैं—'काम (= विषय)में कोई दोष नहीं।' वह कामोंमें पतित होते हैं। वह मौलि (= जूड़ा)-बद्ध परिव्राजिका (= साधुनी स्त्रियों)का सेवन करते हैं। वह कहते हैं—'क्यों वह श्रमण ब्राह्मण कामोंके विषयमें भविष्यका भय देख कामोंके छोड़नेको कहते हैं, कामोंकी परिज्ञा (= परित्याग)को कहते हैं। इस तरुण, मृदुल, लोमश परिव्राजिकाका बाँहसे स्पर्श (तो) सुखमय है'—और कामोंमें पतित होते हैं। वह कामोंमें पतित हो, काया छोड़ मरनेके बाद अपाय = दुर्गति, विनिपात = नरकमें उत्पन्न होते हैं। वह वहाँ दुःखमय, तीव्र, कटु वेदनाओंको झेलते हैं। (तब) वह यह कहते हैं—'वह आप श्रमण ब्राह्मण कामोंमें इसी भविष्यके भयको देख कामोंके प्रहाणको कहते थे, कामोंकी परिज्ञा (= त्याग)को कहते थे। यह हम कामोंके हेतु, कामोंके कारण दुःखमय, तीव्र कटु वेदना झेल रहे हैं।' जैसे भिक्षुओ! ग्रीष्मके अन्तिम-मासमें मालुवा (लता)का पका फल गिर पड़े। और भिक्षुओ! वह मालुवाका बीज किसी शाल (= साखू)के वृक्षके नीचे पड़े। तब भिक्षुओ! जो शाल वृक्ष पर रहनेवाला देवता है, वह भय-भीत, उद्विग्न हो संत्रासको प्राप्त होवे। तब उस शालवृक्ष पर रहनेवाले देवताके मित्र अमात्य, जाति-बिरादरीवाले आराम-देवता, वन-देवता, वृक्ष-देवता, ओषधि-तृण-वनस्पतियोंमें बसनेवाले देवता आकर जमा हो उसे इस प्रकार आश्वासन दें—'आप मत डरें, क्या जाने इस मालुवाके बीजको मोर निगल जाये, या मृग खा जाये, या जंगलकी आगसे जल जाये, या वनमें कामकरनेवाले उठाले-जायें; या विचरनेवाले खा जायें, या विना बीजकी होवे। तब भिक्षुओ! उस मालुवाके बीजको न मोर निगले, न मृगखाये ० न विचरनेवाले खायें, और उसको बीज होवे। वह वर्षा कालीन मेघसे सिक्तहो अच्छी प्रकार उगे। उस (वृक्ष)पर तरुण, मृदुल, लोमश मालुवा लता विलंबित होवे। वह

उस शालको लपेट ले। तब भिक्षुओ ! उस शालपर बसनेवाले देवताको ऐसा हो। क्यों उन (मेरे) मित्र-अमात्य ० देवताओंने आकर जमा हो मुझे इस प्रकार आश्वासन दिया—आप मत डरें ०। इस तरुण, मृदुल, लोमश, विलंबिनी मालुवा लताका स्पर्श (तो) सुखमय है।—वह (लता) उस शालको पकड़े। पकड़कर ऊपर छत्ता बनावे। ऊपर छत्ता बनाकर नीचे घना करे। नीचे घना-कर उस शालके बड़े बड़े स्कन्धोंको प्रदारित करे। तब उस शालपर रहनेवाले देवताको ऐसा हो—उन (मेरे) मित्र-अमात्य ० देवताओंने आकर मुझे इस प्रकार आश्वासन दिया—आप मत डरें ०। और मैं अब उस मालुवा-बीजके कारण दुःखमय, तीव्र, कटु वेदनाओंको झेल रहा हूँ। ऐसे ही भिक्षुओ ! वह श्रमण-ब्राह्मण इस वादके माननेवाले ०[1] झेल रहे हैं। भिक्षुओ ! यह वर्तमानमें सुखमय, भविष्यमें दुःखमय धर्मसमादान कहा जाता है।

(२) "भिक्षुओ ! कौनसा **धर्मसमादान** वर्तमानमें भी दुःखमय और भविष्यमें भी दुःखमय है ?—भिक्षुओ ! यहाँ कोई अचेलक (=नंगा साधु) होता है ०[2] शामको जलशयनके व्यापारमें लग्न होता है, वह कायाको छोड़ मरनेके बाद ० नरकमें उत्पन्न होता है। भिक्षुओ ! यह कहा जाता है वर्तमानमें भी दुःखद, और भविष्यमें भी दुःखद धर्मसमादान।

(३) "भिक्षुओ ! कौनसा **धर्मसमादान** वर्तमानमें दुःखद, (किन्तु) भविष्यमें सुखमय है ?—भिक्षुओ ! यहाँ कोई (पुरुष) स्वभावसे ही तीव्र रागवाला होता है, वह निरंतर रागसे उत्पन्न दुःख, दौर्मनस्यको झेलता रहता है। स्वभावसे ही तीव्र द्वेषवाला होता है ०। स्वभावसे ही तीव्र मोहवाला होता है; वह निरंतर मोहसे उत्पन्न दुःख दौर्मनस्यको झेलता रहता है। वह दुःख = दौर्मनस्यके साथ भी अश्रुमुख, रुदन करते परिपूर्ण परिशुद्ध ब्रह्मचर्यका आचरण करता है। वह काया छोड़ मरनेके बाद सुगति स्वर्ग लोकमें उत्पन्न होता है। भिक्षुओ ! यह कहा जाता है ०।

(४) "भिक्षुओ ! कौनसा **धर्मसमादान** वर्तमानमें भी सुखद है, भविष्यमें भी सुखमय है ?—भिक्षुओ ! यहाँ कोई (पुरुष) स्वभावसे ही तीव्र रागवाला नहीं होता, वह निरन्तर रागसे उत्पन्न दुःख दौर्मनस्यको नहीं अनुभव करता। ० तीव्र द्वेषवाला नहीं होता ०। ० तीव्र मोहवाला नहीं होता ०। वह ०[3] प्रथम-ध्यान ० द्वितीय-ध्यान ० तृतीय-ध्यान ० चतुर्थ-ध्यानको प्राप्तहो विहरता है। वह काया छोड़ मरनेके बाद सुगति स्वर्ग लोकमें उत्पन्न होता है। भिक्षुओ ! यह वर्तमानमें भी सुखद, भविष्यमें भी सुखमय **धर्मसमादान** कहा जाता है। भिक्षुओ ! यह चार धर्म-समादान हैं।"

भगवान्‌ने यह कहा, सन्तुष्ट हो उन भिक्षुओंने भगवान्‌के भाषणको अभिनंदित किया।

[1] देखो पृष्ठ १८४।　　[2] देखो पृष्ठ ४८-४९।　　[3] देखो पृष्ठ १५।

४६—महा-धम्मसमादान-सुत्तन्त (१।५।६)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथपिंडिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे।

वहाँ भगवान्ने भिक्षुओंको संबोधित किया—"भिक्षुओ!"

"भदन्त!"—(कह) उन भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया।

भगवान्ने यह कहा—"भिक्षुओ! अधिकतर प्राणी इस प्रकारकी कामनावाले, इस प्रकारकी इच्छावाले, इस प्रकारके अभिप्रायवाले होते हैं—'अहो! अनिष्ट = अकान्त = अमनाप धर्म (= पदार्थ) क्षीण हो जायें। इष्ट = कान्त = मनाप धर्म वृद्धिको प्राप्त होवें'। भिक्षुओ! इस प्रकारकी कामनावाले ० उन प्राणियोंके अनिष्ट ० धर्म बढ़ते हैं; इष्ट ० धर्म क्षीण होते हैं। वहाँ भिक्षुओ! तुम्हें क्या हेतु जान पड़ता है?"

"भन्ते! हमारे धर्मके भगवान् ही मूल हैं, भगवान् ही नेता हैं, भगवान् ही प्रतिशरण हैं। अच्छा हो भन्ते! भगवान् ही इस भाषणका अर्थ कहें, भगवान्से सुनकर भिक्षु उसे धारण करेंगे।"

"तो भिक्षुओ! सुनो, अच्छी प्रकार मनमें धारण करो कहता हूँ।"

"अच्छा, भन्ते!" (कह) उन भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया।

भगवान्ने यह कहा—"यहाँ भिक्षुओ! आर्योंके दर्शनसे वंचित ०[1] अज्ञ, अनाड़ी जन, सेवन करने योग्य धर्मोंको नहीं जानता, अ-सेवन करने योग्य धर्मोंको नहीं जानता; भजनीय (= सेवनीय) धर्मोंको नहीं जानता, अ-भजनीय धर्मोंको नहीं जानता। वह सेवनीय धर्मोंको न जानते ० असेवनीय धर्मोंका सेवन करता है, सेवनीय धर्मोंको सेवन नहीं करता ०। असेवनीय धर्मोंको सेवन करते, सेवनीय धर्मोंको न सेवन करते ० उसके अनिष्ट ० धर्म बढ़ते हैं, इष्ट ० क्षीण होते हैं। सो किस हेतु?—भिक्षुओ! उस अज्ञको यह ऐसा ही होता है।

"भिक्षुओ! आर्योंके दर्शनको प्राप्त ०[2] बहुश्रुत आर्यश्रावक सेवनीय धर्मोंको जानता है, असेवनीय धर्मोंको जानता है ०। ० जानते हुये असेवनीय धर्मोंको सेवन नहीं करता, सेवनीय धर्मोंको सेवन करता है ०। ०। सेवन करते ० अनिष्ट ० धर्म क्षीण होते हैं, इष्ट ० धर्म वृद्धिको प्राप्त होते हैं। सो किस हेतु?—भिक्षुओ! उस अज्ञको ऐसा ही होता है।

"भिक्षुओ! यह चार धर्म-समादान हैं। कौनसे चार?—(१) वर्तमानमें दुःखद, भविष्यमें भी दुःखद धर्मसमादान; (२) वर्तमानमें सुखद, भविष्यमें दुःखद; (३) वर्तमानमें दुःखद, भविष्यमें सुखद; (४) वर्तमानमें सुखद, भविष्यमें भी सुखद।

---

[1] देखो पृष्ठ ३। [2] देखो पृष्ठ ७।

"वहाँ, भिक्षुओ ! जो यह वर्तमानमें दुःखद, भविष्यमें भी दुःखद धर्मसमादान है, उसे अविद्यामें पड़ा अविद्वान् ठीकसे नहीं जानता, कि यह धर्मसमादान वर्तमानमें दुःखद ०। अविद्यामें पड़ा अविद्वान् उसे ठीकसे न जानते हुये उसका सेवन करता है, उसे छोड़ता नहीं। उसे सेवन करते, उसको न छोड़ते हुये उस (पुरुष)के अनिष्ट ० धर्म बढ़ते हैं, इष्ट ० धर्म क्षीण होते हैं। सो किस हेतु ?—अज्ञको ऐसा ही होता है।

"वहाँ, भिक्षुओ ! जो वह वर्तमानमें सुखद, भविष्यमें दुःखद धर्मसमादान है, उसे अविद्या में पड़ा अविद्वान् ठीकसे नहीं जानता ०।

"वहाँ, भिक्षुओ ! जो यह वर्तमानमें दुःखद, भविष्यमें सुखद, धर्मसमादान है, उसे अविद्यामें पड़ा अविद्वान् ठीकसे नहीं जानता ०।

"वहाँ, भिक्षुओ ! जो यह वर्तमानमें सुखद भविष्यमें भी सुखद धर्म-समादान है, उसे अविद्यामें पड़ा अविद्वान् ठीकसे नहीं जानता ०। उसका सेवन नहीं करता, उसे छोड़ता है। ०।

"वहाँ, भिक्षुओ ! जो यह वर्तमानमें दुःखद भविष्यमें भी दुःखद धर्म-समादान है, उसे विद्यायुक्त विद्वान् ठीकसे जानता है, कि यह ०। विद्यायुक्त विद्वान् उसे ठीकसे जानते हुये उसका सेवन नहीं करता, उसे छोड़ता है। उसे सेवन न करते, उसको छोड़ते हुये, उस के अनिष्ट ० धर्म क्षीण होते हैं, इष्ट ० धर्म बढ़ते हैं। सो किस हेतु ?—विद्वान्‌को ऐसा ही होता है।

"वहाँ, भिक्षुओ ! जो यह वर्तमानमें सुखद, भविष्यमें दुःखद धर्मसमादान है, उसे विद्या-युक्त विद्वान् ठीकसे जानता है, कि यह ०। ०।

" ० जो यह वर्तमानमें दुःखद, भविष्यमें सुख ०। ०।

" ० जो यह वर्तमानमें सुखद, धर्मसमादान है, उसे विद्यायुक्त विद्वान् ठीकसे जानता है, कि यह ०। ० उसका सेवन करता है, छोड़ता नहीं। उसे सेवन करते, उसे न छोड़ते हुये, उस (पुरुष)के अनिष्ट ० धर्म क्षीण होते हैं, इष्ट ० धर्म बढ़ते हैं। सो किस हेतु ?—विद्वान्‌को ऐसा ही होता है।

"भिक्षुओ ! कौनसा धर्मसमादान वर्तमानमें दुःखद, भविष्यमें भी दुःखद है ?—(जब) भिक्षुओ ! कोई (पुरुष) दुःखके साथ भी, दौर्मनस्यके साथ भी प्राणातिपाती (=हिंसक) होता है। प्राणातिपात (= हिंसा)के कारण दुःख=दौर्मनस्यको झेलता है। दुःख दौर्मनस्यके साथ भी अदिन्नादायी (= चोरी करनेवाला) होता है। अदिन्नादान (= चोरी करने)के कारण दुःख दौर्मनस्य भी झेलता है। ० काम-मिथ्याचारी (= व्यभिचारी) ०। ० मृषावादी ०। ० चुगुलखोर ०। ० परुष-भाषी ०। ० प्रलापी ०। ० अभिध्यालु (= लोभी) ०। ० व्यापन्न-चित्त (= द्वेषी) ०। ० मिथ्या-दृष्टि (= झूठी धारणा वाला) ०। वह काया छोड़ मरनेके बाद ० नरकमें उत्पन्न होता है। भिक्षुओ ! यह वर्तमानमें दुःखद भविष्यमें दुःखद धर्मसमादान कहा जाता है।

"भिक्षुओ ! कौनसा धर्मसमादान वर्तमानमें सुखद भविष्यमें दुःखद होता है ?—(जब) कोई (पुरुष) दुःख दौर्मनस्यके साथ भी प्राणातिपाती होता है। ०। ०[1]।

" ० धर्मसमादान (= धर्मस्वीकार, विचार-स्वीकार) वर्तमानमें दुःखद भविष्यमें सुखद है ? ०। ०[1]।

" ० धर्मसमादान वर्तमानमें सुखद, भविष्यमें भी सुखद होता है ?—(जब) भिक्षुओ ! कोई (पुरुष) सुख=सौमनस्यके साथ भी प्राणातिपातसे विरत होता है। प्राणातिपातसे विरत

---

[1] ऊपर सा ही यहाँ भी पाठ है, अन्तमें (२) धर्मसमादान आता है।

होनेके कारण सुख सौमनस्यको अनुभव करता है। ० अदिन्नादान ०।०। ० मिथ्या-दृष्टि ०। वह काया छोड़ मरनेके बाद ० स्वर्गलोकमें उत्पन्न होता है। भिक्षुओ! यह वर्तमानमें भी सुखद भविष्यमें भी सुखद धर्मसमादान कहा जाता है।

"जैसे भिक्षुओ! विषसे लिप्त कड़वा लौका हो, तब कोई जीवनकी इच्छा वाला, मरनेकी इच्छा न रखनेवाला, सुखेच्छुक, दुःखानिच्छुक पुरुष आवे। उसे (लोग) यह कहें—'हे पुरुष! यह विषसे लिप्त कड़वा लौका है, यदि इच्छा हो तो पिओ। उसे पीते वक्त भी वह तुम्हें वर्ण-गंध-रसमें अच्छा न लगेगा। पीनेके बाद मृत्यु को प्राप्त होगा, या मृत्यु-तुल्य दुःखको'। यदि वह विना सोचे विचारे उसे पिये, छोड़े नहीं; तो उसे पीते वक्त ० मृत्यु-तुल्य दुःखको। भिक्षुओ! वर्तमानमें दुःखद, भविष्यमें भी दुःखद धर्मसमादानको उस (लौके)के समान कहता हूँ।

"जैसे, भिक्षुओ! (सुंदर) वर्ण-रस-गंध युक्त आवख़ोरा (= आपानीय कांस्य) हो, और वह विषसे संलिप्त हो। तब कोई जीवनकी इच्छावाला ० पुरुष आवे। ०। उसे पीते वक्त वह वर्ण-गंध-रसमें अच्छा लगेगा; (किन्तु) पीनेके बाद वह मृत्युको प्राप्त होगा, या मृत्यु-तुल्य दुःख को। ०। भिक्षुओ! वर्तमानमें सुखद और भविष्यमें दुःखद धर्मसमादानको मैं उस (आवखोरे)के समान कहता हूँ।

"जैसे, भिक्षुओ! नाना औषधियोंसे मिश्रित गोमूत्र (= पूति-मुत्त) हो। तब (कोई) पांडुरोगी पुरुष आवे। उसको ऐसे कहें—'हे पुरुष! यह नाना औषधियोंसे मिश्रित गोमूत्र है; यदि चाहो तो पिओ। तुम्हें पीते वक्त यह वर्ण-गंध-रसमें अच्छा न लगेगा; (किन्तु) पीनेके बाद तुम सुखी (= निरोग) होगे'। वह सोच विचारकर उसे पिये, छोड़े नहीं। ०। भिक्षुओ! वर्तमानमें दुःखद और भविष्यमें सुखद धर्मसमादानको मैं उस (गोमूत्र)के समान कहता हूँ।

"जैसे, भिक्षुओ! दही, मधु, घी, खाँड (= फाणित) एकमें मिला हो। तब (कोई) लोहू गिरनेवाला (= अतिसारका रोगी) पुरुष आवे। उसको ऐसा कहें—'हे पुरुष! यह एकमें मिला दही, मधु, घी, खाँड हैं; यदि चाहो तो पिओ। पीते वक्त यह वर्ण-गंध-रसमें अच्छा लगेगा पीनेके बाद (भी) तुम सुखी होगे। ०। भिक्षुओ! वर्तमानमें भी सुखद और भविष्यमें सुखद धर्मसमादानको मैं उस मिश्रित दधि-मधु-सर्पिष्-फाणितके समान कहता हूँ।

"जैसे, भिक्षुओ! वर्षाके अन्तिममासमें शरद्-कालके समय मेघरहित नभमें चमकता हुआ सूर्य सारे आकाशके अंधकारको ध्वस्तकर प्रकाशे, तपे, और भासे; ऐसेही भिक्षुओ! यह वर्तमानमें भी सुखद और भविष्यमें भी सुखद धर्मसमादान, अन्य सारे श्रमण-ब्राह्मणोंके प्रवाद (= मत) को ध्वस्तकर प्रकाशता है, तपता है, भासता है।"

भगवान्‌ने यह कहा, सन्तुष्ट हो उन भिक्षुओंने भगवान्‌के भाषणको अभिनंदित किया।

४७—वीमंसक-सुत्तन्त (१।५।७)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथ-पिंडिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे।

तब भगवान्‌ने भिक्षुओंको संबोधित किया—"भिक्षुओ !"

"भदन्त !"—(कह) उन भिक्षुओंने भगवान्‌को उत्तर किया।

भगवान्‌ने यह कहा—"भिक्षुओ ! दूसरेके चित्तकी बात न जाननेवाले वीमंसक (=मीमांसक = विमर्शक = सत्यासत्य-परीक्षक) भिक्षुको सम्यक्-संबुद्ध (=यथार्थ ज्ञानी) है या नहीं यह जाननेके लिये तथागत (= लोकगुरु)के विषय में समन्वेषण (=तहक़ीक़ात) करना चाहिये।"

"साधु, भन्ते ! हमारे धर्मके भगवान् ही मूल हैं ०[1] भगवान्‌से सुनकर भिक्षु उसे धारण करेंगे।"

"तो भिक्षुओ ! सुनो, अच्छी प्रकार मनमें धारण करो, कहता हूँ।"

"अच्छा, भन्ते !"—(कह) उन भिक्षुओंने भगवान्‌को उत्तर दिया।

भगवान्‌ने यह कहा—"भिक्षुओ ० विमर्शक भिक्षुको तथागत के विषयमें चक्षु-श्रोत्र द्वारा जानने योग्य (= विज्ञेय) धर्मों (= बातों)के संबंधमें जाँच करनी चाहिये—जो चक्षु-श्रोत्र-विज्ञेय मलिन धर्म (= पाप) हैं, वह (इस) तथागतके हैं, या नहीं ? उसकी जाँच करते हुये (जब) वह यह देखता है—चक्षु-श्रोत्र-विज्ञेय मलिन धर्म तथागतमें नहीं हैं।...तब आगे जाँच करता है—जो चक्षु-श्रोत्र-विज्ञेय व्यतिमिश्र (= पाप-पुण्य-मिश्रित) धर्म हैं, वह तथागतमें हैं या नहीं ?—व्यति-मिश्र धर्म तथागतमें नहीं हैं।...तब आगे जाँच करता है—जो चक्षु-श्रोत्र-विज्ञेय अवदात (= शुद्ध)-धर्म (= पुण्य) हैं, वह तथागतमें हैं, या नहीं ?—०अवदात-धर्म तथागतमें हैं।...तब आगे जाँच करता है—दीर्घ कालसे यह आयुष्मान् इस कुशल-धर्म (= पुण्य-आचरण) को कर रहे हैं; या अचिर कालसे ही कर रहे हैं ?—दीर्घकालसे यह आयुष्मान् इस कुशल-धर्मसे युक्त है, अचिरकालसे नहीं...।...तब आगे जाँच करता है—ख्याति-प्राप्त, यश-प्राप्त इन आयुष्मान् भिक्षुमें कोई आदिनव (= दोष) हैं या नहीं ? भिक्षुओ ! जब तक भिक्षु ख्याति प्राप्त यश-प्राप्त नहीं होता, तब तक कोई कोई दोष उसमें नहीं आते। जब भिक्षुओ ! भिक्षु ख्याति-प्राप्त यश-प्राप्त होता है, तब कोई कोई दोष उसमें आते हैं। उसकी जाँच करते हुये वह यह देखता है—यह आयुष्मान् भिक्षु ख्याति-प्राप्त यश-प्राप्त हैं, (और) इनमें कोई दोष नहीं आये हैं।...तब आगे जाँच करता है—यह आयुष्मान् भयके बिना विरागी हुये हैं, भयसे तो विरागी नहीं हुये; रागके क्षयके कारण वीतराग होनेसे (वह) कामों (= भोगों)को नहीं सेवन करते ?—० वीतराग

---

[1] देखो पृष्ठ १८६।

होनेसे कामोंको सेवन नहीं करते। भिक्षुओ! उस भिक्षुसे यदि दूसरे यह पूछें—'(उन) आयुष्मान्‌के क्या आकार-प्रकार (= ० अन्वय) हैं, जिससे कि (आप) आयुष्मान् ऐसा कह रहे हैं—यह आयुष्मान् भयके बिना विरागी हुये हैं, भयसे विरागी नहीं हुये; रागके क्षयके कारण वीतराग होनेसे वह कामोंको सेवन नहीं करते।' तो ठीक तौरसे उत्तर देते हुये (वह) भिक्षु (उन्हें) ऐसा उत्तर दे—क्योंकि संघमें विहरते (= रहते) या अकेले विहरते, यह आयुष्मान्, सुगत (= सन्मार्गारूढ), दुर्गत (= कुमार्गारूढ) गण-उपदेशक, आमिष (= भोजनाच्छादन)-रक्त, आमिष-अनुपलिप्त (किसीभी व्यक्ति)का तिरस्कार नहीं करते। मैंने इसे भगवान्‌के मुखसे सुना है, भगवान्‌के मुखसे ग्रहण किया है—'मैं भयके बिना विरागी हूँ, भयसे विरागी नहीं हूँ; रागके क्षयके कारण वीतराग होनेसे मैं कामोंका सेवन नहीं करता।'

"आगे फिर भिक्षुओ! तथागतको ही पूछना चाहिये—चक्षु-श्रोत्र-विज्ञेय मलिन धर्म तथागतमें हैं या नहीं? उत्तर देते वक्त तथागत ऐसा उत्तर देंगे—० मलिन धर्म (=पाप) तथागतमें नहीं हैं। ० व्यतिमिश्र (= पाप-पुण्य-मिश्रित) धर्म ०। ० अवदात-धर्म तथागतमें हैं या नहीं? ०—अवदात-धर्म तथागतमें हैं। इसी (अवदात-धर्मवाले) पथपर मैं (=तथागत) आरूढ हूँ, यही मेरा गोचर (= विषय) है; मैं उससे रिक्त नहीं हूँ।"

"भिक्षुओ! ऐसे वाद (= सिद्धान्त) वाले शास्ता (= उपदेशक, तथागत)के पास श्रावक (= शिष्य)को धर्म सुननेके लिये जाना चाहिये। उसे शास्ता, कृष्ण-शुक्ल (=अच्छे बुरे)के विभागके साथ उत्तमोत्तम = प्रणीत-प्रणीत धर्म उपदेशता है। भिक्षुओ! जैसे जैसे शास्ता उस भिक्षुको ० धर्म उपदेशता है; वैसे वैसे वह यहाँ धर्मोंको समझ कर धर्मोंमेंसे किसी धर्ममें आस्था प्राप्त करता है; शास्तामें श्रद्धा करता है—(हमारे) भगवान् सम्यक्-संबुद्ध हैं, भगवान्‌का (उपदेशा) धर्म स्वाख्यात (= सुन्दर प्रकारसे व्याख्यात) भगवान्‌का (शिष्य-)संघ सुप्रतिपन्न (= सुमार्गारूढ) है।

"भिक्षुओ! यदि उस भिक्षुको दूसरे ऐसा पूछें—'(उस) आयुष्मान्‌के क्या आकार प्रकार हैं, जिससे (आप) आयुष्मान् (यह) कह रहे हैं'—'भगवान् सम्यक्-संबुद्ध हैं, भगवान्‌का धर्म स्वाख्यात है, संघ सुप्रतिपन्न है'? अच्छी तरह उत्तर देते हुये भिक्षुओ! (उस) भिक्षुको कहना चाहिये—'आवुसो! जहाँ भगवान् थे, वहाँ मैं धर्म सुननेके लिये गया। (तब) मुझे भगवान्‌ने ० उत्तमोत्तम = प्रणीत-प्रणीत धर्म उपदेश दिया ० संघ सुप्रतिपन्न है'।"

"भिक्षुओ! जिस किसी (पुरुष)को इन आकारों = इन पदों = इन व्यंजनोंसे तथागतमें श्रद्धा निविष्ट होती है, मूल-बद्ध हो प्रतिष्ठित होती है;...वह आकारवती दर्शन-मूलक दृढ़ श्रद्धा कही जाती है। वह (किसी भी) श्रमण, ब्राह्मण, देव, मार (= प्रजापति) ब्रह्मा या लोकमें किसीभी (व्यक्ति)से हटाई नहीं जा सकती।"

"भिक्षुओ! इस प्रकार धर्म-समन्वेषणा होती है; इस प्रकार तथागतकी धर्मता (= तथ्य) का समन्वेषण (= अन्वेषण) होता है।"

भगवान्‌ने यह कहा, सन्तुष्ट हो उन भिक्षुओंने भगवान्‌के भाषणको अभिनंदित किया।

४८—कोसम्बिय-सुत्तन्त[1] (१।५।८)

ऐसे मैंने सुना—

एक समय भगवान् कौशाम्बी (= कोसम्बी)के घोषिता-राममें विहार करते थे।

उस समय कौशाम्बीमें भिक्षु भंडन करते=कलह करते, विवाद करते एक दूसरेको मुख (-रूपी) शक्ति (= हथियार)से बेधते फिरते थे। वह न एक दूसरेको संज्ञापन (=समझाना) करते थे, न संज्ञापनके पास उपस्थित होते थे; न एक दूसरेको निध्यापन (=समझाना) करते थे, न निध्यापनके पास उपस्थित होते थे। तब कोई भिक्षु जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया; जाकर भगवान्‌को अभिवादन कर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे उस भिक्षुने भगवान्‌से यह कहा—

"यहाँ भन्ते! कौशाम्बीमें भिक्षु भंडन करते ० बेधते फिरते हैं ० न निध्यापनके पास उपस्थित होते हैं।"

तब भगवान्‌ने किसी भिक्षुको संबोधित किया—"आओ, भिक्षु, तुम मेरे वचनसे उन भिक्षुओंसे कहो—आयुष्मानोंको शास्ता बुला रहे हैं।"

"अच्छा, भन्ते!"—(कह) भगवान्‌को उत्तर दे, उस भिक्षुने जहाँ वह (झगड़ालू) भिक्षु थे, तहाँ···जाकर उन भिक्षुओंसे कहा—आयुष्मानोंको शास्ता बुला रहे हैं।"

"अच्छा, आवुस!"—(कह) उस भिक्षुको उत्तर दे, वह भिक्षु जहाँ भगवान् थे, वहाँ··· जाकर भगवान्‌को अभिवादन कर एक ओर बैठ गये। एक ओर बैठे उन भिक्षुओंको भगवान्‌ने यह कहा—

"सचमुच भिक्षुओ! तुम भंडन करते ० न निध्यापनके पास उपस्थित होते हो?"

"हाँ, भन्ते!"

"तो क्या मानते हो, भिक्षुओ! जिस समय तुम भंडन करते ० बेधते फिरते हो; क्या उस समय सब्रह्मचारियों (= सधर्मियों)के प्रति गुप्त और प्रकट तुम्हारा मैत्रीपूर्ण कायिक कर्म, ···मैत्रीपूर्ण वाचिक कर्म,···मैत्रीपूर्ण मानसिक कर्म उपस्थित रहता है?"

"नहीं, भन्ते!"

"इस प्रकार भिक्षुओ! जिस समय तुम भंडन करते ०, उस समय ० मैत्रीपूर्ण मानसिक कर्म उपस्थित नहीं रहता। तो मोघ-पुरुषो! तुम क्या जानते क्या देखते भंडन करते ० बेधते फिरते हो? ० न निध्यापनके पास उपस्थित होते हो? मोघ-पुरुषो! यह तुम्हें चिरकाल तक अहित और दुःखके लिये होगा।"

तब भगवान्‌ने (सभी) भिक्षुओंको संबोधित किया—"भिक्षुओ! यह छः धर्म सारा-

---

[1] कोसम् (जि० इलाहाबाद) में ई० पू० ५२३में उपदिष्ट।

णीय=प्रियकारक गुरुकारक हैं, (वह) संग्रह (= मेल), अविवाद, सामग्री (= एकता)=एकी-भावके लिये हैं। कौनसे छः ?—भिक्षुओ ! (१) (जब) भिक्षुका सब्रह्मचारियोंके प्रति गुप्त और प्रकट मैत्रीपूर्ण कायिक कर्म उपस्थित होता है। भिक्षुओ ! यह भी धर्म **साराणीय** ० एकीभावके लिये है।

"और फिर भिक्षुओ ! (२) ० मैत्रीपूर्ण वाचिक कर्म ०।

" ० (३) ० मैत्रीपूर्ण मानसिक कर्म ०।

"और फिर भिक्षुओ ! (४) भिक्षुके जो धार्मिक धर्मसे प्राप्त लाभ हैं, चाहे पात्र चुपड़ने मात्र भी; उन लाभोंको शीलवान् सब्रह्मचारियोंके साथ साधारण-भोगी=बाँटकर उपभोग करने-वाला होता है। भिक्षुओ ! यह भी धर्म **साराणीय** ०।

"और फिर भिक्षुओ ! (५) उन **शीलों** (= सदाचारों) से संयुक्त हो सब्रह्मचारियोंके साथ विहरता है, जो **शील** कि अ-खंड=अ-छिद्र (= दोषरहित) अ-शबल=अ-कल्मष, सेवनीय, विज्ञोंसे प्रशंसित, अ-निन्दित, समाधि-प्रापक हैं। भिक्षुओ ! यह भी धर्म **साराणीय** ०।

"और फिर भिक्षुओ ! (६) उस दृष्टि (= दर्शन, ज्ञान)से युक्तहो, सब्रह्मचारियोंके साथ विहरता है, जो दृष्टि कि आर्य (= निर्मल), निस्तारक है; वैसा करनेवालेको अच्छी प्रकार दुःख-क्षयकी ओर लेजाती है। भिक्षुओ ! यह भी धर्म **साराणीय** ०।

"भिक्षुओ ! यह छः धर्म **साराणीय** ० एकीभावके लिये हैं। भिक्षुओ ! जो यह दृष्टि आर्य ० है, वह इन छःओ **साराणीय** धर्मोंमें अग्र (= श्रेष्ठ) संग्राहक=संघातक (= समूह-प्रधान) है। जैसे भिक्षुओ ! कूटागारका कूट (= शिखर)अग्र, संग्राहक-संघातक होता है; ऐसे ही जो यह दृष्टि आर्य ०।

"क्या है भिक्षुओ ! यह दृष्टि आर्य ० दुःख-क्षयकी ओर लेजाती है ?—(१) (जब) भिक्षुओ ! अरण्य, वृक्ष-छाया या शून्य-आगारमें स्थित भिक्षु यह सोचता है—क्या मेरे भीतर वह परि-उत्थान (= चंचलता) अक्षीण नहीं हुआ है, जिस पर्युत्थानसे पर्युत्थित चित्त हो मैं यथा-भूत (= यथार्थ)को नहीं जान सकता, नहीं देख सकता। भिक्षुओ ! यदि भिक्षु काम-राग (= भोग-इच्छा) से पर्युत्थित होता है, (तो) वह पर्युत्थित-चित्त (= चंचल-चित्त) ही होता है। भिक्षुओ ! यदि भिक्षु **व्यापाद**(= द्वेष)से पर्युत्थित होता है ०। ० **स्त्यान-मृद्ध** (= कायिक मानसिक आलस्य) ०। ० **औद्धत्य-कौकृत्य** (= उद्धतपना, हिचकिचाहट) ०। ० **विचिकित्सा** (= संशय) ०। ० इस लोककी चिन्तामें फँसा ०। परलोककी चिन्तामें फँसा ०। भिक्षुओ ! जब भिक्षु भंडन करते ० बेधते फिरते हैं, (तो) वह पर्युत्थित-चित्त ही होते हैं। वह इस प्रकार जानता है—मेरे भीतर वह पर्युत्थान अ-क्षीण नहीं है ०। मेरा मानस सत्योंके बोधके लिये सुप्रणिहित (= एकाग्र, निश्चल) है। **पृथग्जनों** (= अज्ञों)को न होनेवाला यह उसे प्रथम लोकोत्तर आर्य-ज्ञान प्राप्त होता है।

"और फिर भिक्षुओ ! (२) आर्यश्रावक (= सत्पुरुष शिष्य) यह सोचता है—क्या मैं इस दृष्टिको सेवन करते, भावते, बढ़ाते अपनेमें शमथ (= शान्ति), निर्वृति (= सुख)को पाता हूँ ?—वह इस प्रकार जानता है—० निर्वृतिको पाता हूँ। ० यह उसे द्वितीय लोकोत्तर आर्य-ज्ञान प्राप्त होता है।

"और फिर भिक्षुओ ! (३) आर्यश्रावक यह सोचता है—मैं जिस दृष्टिसे युक्त हूँ, क्या इससे बाहर भी दूसरे श्रमण ब्राह्मण ऐसी दृष्टिसे युक्त हैं ?—० दूसरे श्रमण ब्राह्मण ऐसी दृष्टिसे युक्त नहीं हैं। ० यह उसे तृतीय लोकोत्तर आर्य-ज्ञान प्राप्त होता है।

"और फिर भिक्षुओ ! (४) आर्यश्रावक यह सोचता है—दृष्टि-सम्पन्न (= आर्य-दर्शन युक्त) पुरुष (= पुद्‌गल) जैसी धर्मता (= स्वभाव, गुण)से युक्त होता है, क्या मैं भी वैसी धर्मतासे युक्त हूँ ?···भिक्षुओ ! दृष्टि-सम्पन्न पुरुषकी यह धर्मता है, कि वह ऐसी आपत्ति (= अपराध) का भागी होता है, जिस आपत्तिसे उट्ठान (= उठना) हो सके। (आपत्ति हो जानेके) बाद ही वह शास्ता या विज्ञ सब्रह्मचारियोंके पास उसकी देशना (= अपराध-निवेदन), विवरण (= प्रकट करना)=उत्तानीकरण करता है; देशना करके, विवरण करके, उत्तान करके भविष्यमें संवर (= रक्षा)के लिये तत्पर होता है। जैसे भिक्षुओ ! अबोध, उतान सोनेवाला छोटा बच्चा हाथसे या पैरसे अंगार छूजानेपर तुरन्त ही समेट लेता है; ऐसे ही भिक्षुओ ! दृष्टि-सम्पन्नकी यह धर्मता है, कि वह ऐसी आपत्तिका भागी होता है ० भविष्यमें संवरके लिये तत्पर होता है। (वैसा सोचते) वह जानता है—दृष्टि-सम्पन्न पुरुष जैसी धर्मतासे युक्त होता है, मैं भी वैसी धर्मतासे युक्त हूँ। ० यह उसे चतुर्थ लोकोत्तर आर्य-ज्ञान प्राप्त होता है।

"और फिर भिक्षुओ ! (५) आर्यश्रावक यह सोचता है—दृष्टि-सम्पन्न पुरुष जैसी धर्मतासे युक्त होता है, क्या मैं भी वैसी धर्मतासे युक्त हूँ ?—भिक्षुओ ! दृष्टि-सम्पन्न पुरुषकी यह धर्मता है कि वह सब्रह्मचारियोंके छोटे बड़े (= उच्चावच) करणीयोंका ख़्याल रखता है; (उनकी) शील-संबंधिनी, चित्त-संबंधिनी, प्रज्ञा-संबंधिनी शिक्षाओंमें वह तीव्र अपेक्षा (= ख़याल) रखता है। जैसे भिक्षुओ ! छोटे बच्छेवाली गाय घास चरती जाती है, और बच्छेकी ओर देखती रहती है; ऐसे ही भिक्षुओ ! दृष्टि-सम्पन्न पुरुषकी यह धर्मता है ०। (वैसा सोचते) वह जानता है—० मैं भी वैसी धर्मतासे युक्त हूँ। ० यह उसे पंचम लोकोत्तर आर्य-ज्ञान प्राप्त होता है।

"और फिर भिक्षुओ ! (६) आर्यश्रावक यह सोचता है—दृष्टि सम्पन्न पुरुष जैसी बलतासे (= सामर्थ्य)से युक्त होता है, क्या मैं भी वैसी बलतासे युक्त हूँ ?···भिक्षुओ ! दृष्टि-सम्पन्न पुरुषकी यह बलता है, कि दृष्टि-सम्पन्न पुरुष तथागतके बतलाये धर्म-विनय (= धर्म)के उपदेश किये जाते समय···मन लगाकर चित्तको एकाग्र कर कान लगा धर्मको सुनता है। (वैसा सोचते) वह जानता है—० मैं भी वैसी बलतासे युक्त हूँ। ० यह उसे षष्ठ लोकोत्तर आर्यज्ञान प्राप्त होता है।

"और फिर भिक्षुओ ! (७) आर्यश्रावक यह सोचता है—० क्या मैं भी वैसी बलतासे युक्त हूँ ?—भिक्षुओ ! दृष्टि-सम्पन्न पुरुषकी यह बलता है, कि तथागतके बतलाये धर्म-विनयके उपदेश किये जाते समय (वह) अर्थ-वेद (= अर्थ-ज्ञान)को पाता है, धर्म-वेदको पाता है, धर्म सम्बन्धी प्रामोद्य (= प्रमोद)को पाता है। (वैसा सोचते) वह जानता है—० मैं भी वैसी बलतासे युक्त हूँ। ० यह उसे सप्तम लोकोत्तर आर्यज्ञान प्राप्त होता है।

"भिक्षुओ ! इस प्रकार स्रोत-आपत्ति[1]-फलके साक्षात्कारके लिये सात अंगोंसे युक्त आर्यश्रावककी इस प्रकार सुसमन्विष्ट (= अच्छी प्रकार जाँची गई) धर्मता होती है। भिक्षुओ ! इस प्रकार सात अंगोंसे युक्त आर्यश्रावक स्रोत-आपत्ति-फलसे युक्त होता है।"

भगवान्‌ने यह कहा, सन्तुष्ट हो उन भिक्षुओंने भगवान्‌के भाषणको अभिनंदित किया।

---

[1] निर्वाण-गामी पथ रूपी नदीके स्रोतपर निश्चलतया आरूढ़ व्यक्ति।

४९—ब्रह्म-निमन्तनिक-सुत्तन्त (१।५।९)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथपिंडिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे।

वहाँ भगवान्ने भिक्षुओंको संबोधित किया—"भिक्षुओ!"

"भदन्त!"—(कह) उन भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया।

भगवान्ने यह कहा—"एक समय मैं भिक्षुओ! उक्कट्ठाके सुभगवनमें शालराजके नीचे विहरता था। उस समय भिक्षुओ! वक (नामक) ब्रह्माको ऐसी बुरी धारणा उत्पन्न हुई थी—'यह (ब्रह्मलोक) नित्य है, ध्रुव, शाश्वत, केवल (= शुद्ध), अ-च्यवन-धर्मा (= जहाँसे च्युति नहीं होती) है; यह न जन्मता है, न जीर्ण होता है, न मरता है, न च्युत होता है, न उपजता है। इससे आगे दूसरा निस्सरण (= निकलनेका स्थान) नहीं है।'

"तब भिक्षुओ! मैं चित्तसे वक ब्रह्माके चित्तकी बात जानकर; जैसे बलवान् पुरुष (अप्रयास) अपनी फैलाई बाँहको समेट ले, या समेटीको फैलादे, ऐसे ही उक्कट्ठाके सुभगवनमें शालराजके नीचे अन्तर्धान हो उस ब्रह्मलोकमें (जाकर) प्रकट हुआ।

"भिक्षुओ! वक ब्रह्माने दूरसे ही मुझे आते देखा। देखकर मुझसे यह कहा—'आओ मार्ष[1]! स्वागत, मार्ष! चिरकालके बाद मार्ष! यहाँ आना हुआ। मार्ष! यह नित्य है ० इससे आगे दूसरा निस्सरण नहीं है।'

"भिक्षुओ! ऐसा कहने पर मैंने वक ब्रह्माको यह कहा—'अविद्यामें पड़ा है, अहो! वक ब्रह्मा, अविद्यामें पड़ा है, अहो! वक ब्रह्मा, जो कि अनित्य होतेको नित्य कहता है ० इससे आगे (= बढ़कर) दूसरा निस्सरण होते भी, इससे आगे दूसरा निस्सरण नहीं है—कहता है।

"तब भिक्षुओ! पापात्मा मार एक ब्रह्म-पार्षदके (शरीरके) भीतर प्रविष्ट हो मुझसे बोला—'भिक्षु! भिक्षु! मत इन (ब्रह्मा) का अपमान करो, मत इनका अपमान करो। भिक्षु! यह ब्रह्मा हैं, महाब्रह्मा, अभिभू (= विजेता), अन्-अभिभूत, (सर्व-)दर्शी, वशवर्ती, ईश्वर, (सृष्टि-)कर्ता, निर्माता, श्रेष्ठ, स्रष्टा, वशी, भूत-भव्य (प्राणियों)के पिता हैं। भिक्षु! तुझसे पूर्व भी लोकमें पृथिवी-निन्दक, पृथिवी-जुगुप्सु, जल-निन्दक ०, तेज-निन्दक ०, वायु-निन्दक ०, भूत-निन्दक ०, देव-निन्दक ०, प्रजापति-निन्दक ०, ब्रह्मा-निन्दक ०, श्रमण ब्राह्मण हुये थे; वह काया छोड़ प्राणके विच्छेद होनेपर हीन कायामें प्रतिष्ठित हुये। भिक्षु! तुझसे पूर्व भी लोकमें पृथिवी प्रशंसक = पृथिवी-अभिनन्दी, ०, ० ब्रह्मा-प्रशंसक ०, श्रमण ब्राह्मण हुये थे; वह काया छोड़ प्राणके विच्छेद होनेपर उत्तम कायामें प्रतिष्ठित हुये। सो मैं भिक्षु! तुझे यह कहता हूँ—अरे मार्ष! जो कुछ ब्रह्मा तुझे

---

[1] देवताओंका समान व्यक्तिके साथ संबोधनका शब्द।

कहें, तू वही कर, मत ब्रह्माके वचनका अतिक्रमण कर। यदि तू भिक्षु ! ब्रह्माके वचनका अतिक्रमण करेगा; तो जैसे आदमी आती श्री (= लक्ष्मी)को डंडेसे लौटा दे; या जैसे आदमी नरकके प्रपात (= खड्ड)में गिरता हाथ-पैरसे पृथिवीको विरक्त (= त्यक्त) करे; ऐसी ही हालत भिक्षु ! तेरी होगी। अरे मार्ष ! जो कुछ ब्रह्मा तुझे कहें, तू वही कर, मत ब्रह्माके वचनको अति-क्रमण कर। क्यों भिक्षु ! ब्राह्मी (= ब्रह्माकी) परिषद्को बैठी देख रहा है तू ?' इस प्रकार भिक्षुओ ! पापात्मा मार ब्राह्मी परिषद्की ओर (मेरा ख्याल)ले गया।

"ऐसा कहनेपर भिक्षुओ ! मैंने पाप्मा मारको यह कहा—'पापी ! मैं तुझे जानता हूँ, मत समझ कि मैं तुझे नहीं जानता। पापी ! तू मार है। पापी ! जो ब्रह्मा है, जो ब्रह्म-परिषद् है, और जो ब्रह्मपार्षद हैं, सभी तेरे हाथमें हैं, सभी तेरे वशमें हैं। पापी ! तुझे ऐसा होता है, यह (= मैं) भी मेरे हाथमें आवे, यह भी मेरे वश में हो। किन्तु पापी ! मैं तेरे हाथमें नहीं आया, मैं तेरे वशमें नहीं हुआ हूँ।

"ऐसा कहनेपर भिक्षुओ ! बक ब्रह्माने मुझे यह कहा—मार्ष ! मैं नित्य होतेहीको नित्य कहता हूँ,[1] ० आगे दूसरा निस्सरण न होने ही पर, आगे दूसरा निस्सरण नहीं है—कहता हूँ। भिक्षु ! तुझसे पूर्व भी लोकमें श्रमण ब्राह्मण हुये। जितनी तेरी सारी आयु है, उतना उनका (केवल) तप-कर्म (का समय) था। वह आगे दूसरा निस्सरण होनेपर 'आगे दूसरा निस्सरण है'; आगे दूसरा निस्सरण न होनेपर 'आगे दूसरा निस्सरण नहीं है', यह जान सकते थे। सो भिक्षु ! मैं तुझसे यह कहता हूँ, तू आगे दूसरा निस्सरण नहीं देख पायेगा, सिर्फ परेशानीका भागी बनेगा। यदि भिक्षु ! तू पृथिवीकी अध्येषणा (= प्रार्थना) करेगा, तो तू मेरा पार्श्वचर, गृह-शायी, यथेच्छकारी, स्वल्पकारी होगा। यदि भिक्षु तू जलकी ०, तेजकी ०, वायुकी ०, भूतकी ०, देवताकी ०, प्रजापतिकी ०, ब्रह्माकी ०।

"ब्रह्मा ! मैं भी इसे जानता हूँ, (कि) यदि मैं पृथिवीकी अध्येषणा करूँगा, तो मैं तेरा पार्श्वचर ० होऊँगा। ०। ब्रह्माकी ०। किन्तु ब्रह्मा ! मैं तेरी गति (= निष्पत्ति), और प्रभाव (= द्युति)को जानता हूँ—ऐसा महर्द्धिक (= महाऋद्धिवाला) बक ब्रह्मा है, ऐसा महानुभाव (= महाप्रभावशाली) बक ब्रह्मा है, ऐसा शक्तिशाली (= महेसक्ख) बक ब्रह्मा है।'

" 'क्या तू मार्ष ! मेरी गति, द्युतिको जानता है—ऐसा महर्द्धिक बक ब्रह्मा है ० ?'

'चाँद-सूर्य जितनेको धारण करते हैं, (जितनी) दिशायें प्रकाशसे प्रकाशित होती हैं।
उतने हजार लोक यहाँ (= जगतमें) तेरे वशमें है।
तू रागी-विरागियोंके वार-पारको जानता है।
प्राणियोंके इत्थंभाव, अन्यथा-भाव, गति और अ-गतिको जानता है।

" 'ब्रह्मा ! इस प्रकार मैं तेरी गति द्युतिको जानता हूँ—ऐसा महर्द्धिक ०। ब्रह्मा ! और भी तीन काय (= लोक-समूह)हैं, जिन्हें तू नहीं जानता देखता, (किन्तु) मैं उन्हें जानता देखता हूँ। ब्रह्मा ! आभास्वर नामक (देव-)काय है, जहाँसे च्युत होकर कि तू यहाँ उत्पन्न हुआ। चिरकालके (यहाँके) निवाससे तुझे उसका स्मरण नहीं, जिससे तू उसे नहीं जानता देखता, (किन्तु) उसे मैं जानता देखता हूँ। इस तरह भी ब्रह्मा ! अभिज्ञा (= ज्ञान)में मैं तेरे बराबर नहीं हूँ बल्कि तुझसे बढ़कर हूँ: कम कहाँसे हूँगा। ब्रह्मा ! शुभकृत्स्न नामक (देव -)काय भी है, ०। ब्रह्मा ! वृहत्फल नामक (देव-)काय भी है ० बल्कि तुझसे बढ़कर हूँ। ब्रह्मा ! मैं पृथिवीको

---

[1] देखो पृष्ठ १९४।

पृथिवीके तौरपर जानकर, जो (निर्वाण) = पृथिवीके पृथिवीत्वसे परे है, उसे भी जानकर; मैंने (तृष्णाकी दृष्टि, या मानके ग्रहणसे) पृथिवीको नहीं (पकड़ा) था, पृथिवीका नहीं था, पृथिवीसे नहीं था, पृथिवी मेरी है (यह मुझे) नहीं हुआ; पृथिवीका अभिवादन (= प्रशंसा) मैंने नहीं किया। इस तरह भी ब्रह्मा! अभिज्ञामें मैं तेरे बराबर नहीं, बल्कि तुझसे बढ़कर हूँ, कम कहाँसे हूँगा। ब्रह्मा! मैं जलको जलके तौरपर जानकर ०। ० तेजको ०। ० वायुको ०। ० भूतको ०। ० देवताको ०। ० प्रजापतिको ०। ० ब्रह्माको ०। ब्रह्मा! मैं सर्व (= सारे विश्व)को सर्वके तौरपर जानकर ० सर्व मेरा है (यह मुझे) नहीं हुआ; ०।

" 'यदि मार्ष! तेरा सर्व (= सारा) सर्वत्वसे अन्-अनुभूत (= अ-प्राप्त) है; तो तेरा (सारा वचन) रिक्त (= खाली, निरर्थक) = तुच्छ ही है ?'

" 'विज्ञान अ-निदर्शन (= चक्षुका अ-विषय) है, अनन्त (और) सर्वत्र प्रभा-युक्त है; वह पृथिवीके पृथिवीत्वसे अ-प्राप्त है, जलके जलत्वसे अ-प्राप्त है, तेजके तेजस्त्वसे अ-प्राप्त है, वायुके वायुत्वसे अ-प्राप्त है, भूतोंके ०, देवोंके ०, प्रजापतिके ०, ब्रह्माके ० आभास्वरोंके ०, शुभकृत्स्नोंके ०, बृहत्फलोंके ०, सर्वके सर्वत्वसे अ-प्राप्त है।'

" 'हन्त! मार्ष! तुझे मैं (अपनी दिव्यशक्तिसे) अन्तर्धान करता हूँ।'

" 'हन्त! ब्रह्मा! यदि चाहता है तो तू मुझे अन्तर्धान कर।'

"तब भिक्षुओ! बक ब्रह्माने (दृढ़ मनोबल को लगाया –) 'श्रमण गौतमको अन्तर्धान करूँ, श्रमण गौतमको अन्तर्धान करूँ—किन्तु मुझे अन्तर्धान नहीं कर सका। ऐसा होने पर भिक्षुओ! मैंने बक ब्रह्माको यह कहा—'हन्त! ब्रह्मा! मैं तुझे अन्तर्धान करता हूँ।' 'हन्त! मार्ष! यदि चाहता है, तो मुझे अन्तर्धान कर।' तब भिक्षुओ! मैंने इस प्रकारका ऋद्धि-बल प्रयोग किया, कि जिससे ब्रह्मा, ब्रह्म-परिषद्, और ब्रह्म-पार्षद मेरे शब्दको सुनते थे, किन्तु मुझे देखते न थे; और अन्तर्धान हुये मैंने यह गाथा कही—

" 'भव (= संसार)में भयको देखकर, और भयको विभवका इच्छुक (देख);
मैंने भयका स्वागत नहीं किया, और नन्दी (= तृष्णा)को नहीं स्वीकार किया।

"तब भिक्षुओ! ब्रह्मा; ब्रह्म-परिषद् और ब्रह्म पार्षद् आश्चर्य चकित होगये—'आश्चर्य भो! अद्भुत भो!! श्रमण गौतमकी महा-ऋद्धिमत्ता, = महा-अनुभावता!!! यह शाक्यपुत्र, शाक्यकुलसे प्रव्रजित श्रमण गौतम जिस प्रकारका है, ऐसा महर्द्धिक = महानुभाव दूसरा श्रमण या ब्राह्मण हमने इससे पहिले नहीं देखा। अहो! भवमें खुश, भव-रत, भव-समुदित (= भवसे उत्पन्न) प्रजाका इसने उद्धार किया।'

"तब भिक्षुओ! पापी मारने एक ब्रह्म-पार्षद्में आवेश कर मुझे यह कहा—'यदि मार्ष! तू ऐसा जानता है, यदि तू ऐसा अनुबुद्ध (= ज्ञानी) है, (तो) मत श्रावकोंको (इस धर्ममार्ग पर) लेजा, मत प्रव्रजितों (= संन्यासियों)को लेजा, मत श्रावकोंको धर्म-उपदेश कर, मत प्रव्रजितों को धर्म-उपदेश कर। मत श्रावकों के विषयमें लोभ कर, मत प्रव्रजितोंके विषय में (लोभ कर)। भिक्षु! तुझसे पूर्व भी लोकमें अर्हत्, सम्यक्-संबुद्धका दावा करनेवाले श्रमण हुये थे। वह श्रावकों प्रव्रजितोंको (अपने धर्ममार्ग पर) ले गये, श्रावकों प्रव्रजितोंको (उन्होंने) धर्म-उपदेश किया, श्रावकों प्रव्रजितोंके विषयमें लोभ किया। वह श्रावकों प्रव्रजितोंको लेजाकर, ० धर्म-उपदेश कर, ० लोभ कर, काया छोड़ प्राणोंके विच्छेद होनेपर हीन काय (= योनि)में प्रतिष्ठित हुये। भिक्षु! (किन्तु) तुझसे पूर्व लोकमें (दूसरे भी) अर्हत् सम्यक्-संबुद्धका दावा करनेवाले श्रमण हुये। वह श्रावकों प्रव्रजितोंको (अपने धर्ममार्गपर) न ले गये, ० धर्म-उपदेश नहीं किया, ० लोभ नहीं

किया; वह ०, काया छोड़ प्राणोंके विच्छेदके बाद उत्तम काय (= योनि)में प्रतिष्ठित हुये। तुझे भिक्षु ! मैं यह कहता हूँ—'अरे मार्ष ! तू बेपर्वा हो वर्तमानके सुख-विहारसे युक्त हो विहार कर; मार्ष ! व्याख्यान न करना सुंदर है, मत दूसरोंको उपदेश कर।'

"ऐसा कहनेपर भिक्षुओ ! मैंने पापी मारसे कहा—'पापी ! मैं जानता हूँ तुझे; तू मत समझ कि मैं तुझे नहीं पहिचानता। पापी ! तू मार है। पापी ! हित, अनुकम्पक हो तू मुझे यह नहीं कह रहा है। पापी ! अ-हित, अन्-अनुकम्पक हो तू मुझे यह कह रहा है। पापी ! तुझे ऐसा हो रहा है—श्रमण गौतम जिनको धर्म-उपदेश करेगा, वह मेरे विषय(= अधिकार)से निकल जायेंगे। पापी ! (उपदेश न देनेवाले) वह श्रमण ब्राह्मण सम्यक् संबुद्ध न होते हुये, 'हम सम्यक् संबुद्ध हैं'—दावा करते थे। पापी ! श्रावकोंको उपदेश करते भी तथागत वैसे ही हैं, ० न उपदेश करते भी ०, श्रावकोंको उपनयन (= धर्ममार्गपर ले जाना) करते भी ०, ० न उपनयन करते भी ०। सो किस हेतु ?—तथागतके वह आस्रव (= चित्त-मल) क्षीण होगये, उच्छिन्न-मूल होगये, सिरकटे ताड़से होगये, अभावको प्राप्त होगये, भविष्यमें न उत्पन्न होने लायक होगये; जो (आस्रव)कि समल, पुनर्जन्मकारक, भय-युक्त, दुःख-विपाकवाले, भविष्यमें जरा-मरण देनेवाले हैं। जैसे पापी ! सिरकटा ताड़ फिर बढ़नेके अयोग्य है, ऐसे ही पापी ! तथागतके वह आस्रव क्षीण होगये ० भविष्यमें न उत्पन्न होने लायक होगये।"

इस प्रकार यह (सूत्र) मारके अन्-उल्लापन (= प्रलोभनमें न पड़ने)के लिये, और ब्रह्माके निमंतन (= निमंत्रण)से (कहा गया), इसलिये इस व्याकरण (= उपदेश)का नाम ब्रह्म-निमन्तनिक पड़ा।

५०—मारतज्जनीय-सुत्तन्त (१।५।१०)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय आयुष्मान् महामोग्गलान (= महामौद्गल्यायन) भर्ग (देश)में सुंसुमार-गिरिके भेसकलावन मृगदावमें विहार करते थे।

उस समय आयुष्मान् महामोग्गलान खुली जगहमें टहल रहे थे। उस समय पापी मार आयुष्मान् महामोग्गलानकी कुक्षिमें घुसा था, कोठेमें प्रविष्ट हुआ था। तव आयुष्मान् महामोग्ग-लानको ऐसा हुआ—अरे! क्यों मेरा पेट उड़द भरासा गुड़गुड़ा रहा है। तव आयुष्मान् महा-मोग्गलान टहलने के स्थानसे उतर विहार (= कोठरी)में प्रवेश कर विछे आसनपर बैठे। बैठ कर आयुष्मान् महामोग्गलान अपने मनमें कारण खोजने लगे। (तव) आयुष्मान् महामोग्गलानने पापी मारको कुक्षिमें घुसा ० देखा। देखकर पापी मारको यह कहा—'निकल, पापी! मत तथा-गत या तथागतके श्रावक (= शिष्य)को सता; मत (यह) चिरकाल तक तेरे लिये अहितकर दुःखकर हो।' तव पापी मारको यह हुआ—'यह श्रमण मुझे विना जाने, विना देखे यह कह रहा है—'निकल पापी! ०'। जो इसका शास्ता (= गुरु) है, वह भी मुझे जल्दी नहीं जान सकता, यह श्रावक (= शिष्य) मुझे क्या जानेगा?'

तव आयुष्मान् महामोग्गलानने पापी मारको यह कहा—"पापी! मैं यहाँ तुझे पहिचान रहा हूँ, तू मत समझ—(यह) मुझे नहीं पहिचानता। तू मार है पापी! मुझे यह हो रहा है, पापी!—'यह श्रमण मुझे विना जाने, विना देखे, मार कह रहा है ० यह श्रावक मुझे क्या जानेगा।'

तव पापी मारको यह हुआ—'यह श्रमण मुझे जान कर ही, देखकर ही, ऐसा कह रहा है—निकल पापी! ० दुःख कर हो।' तव पापी मार आयुष्मान् महामोग्गलानके मुखसे निकल कर किवाड़के सामने खड़ा हुआ।

आयुष्मान् महामोग्गलानने मार पापीको किवाड़के सामने खड़ा देखा। देखकर मार पापी को यह कहा—पापी! यहाँ भी मैं तुझे देखता हूँ। तू मत समझ—यह मुझे नहीं देख रहा है। पापी! यह तू किवाड़ (= अर्गल)के सामने खड़ा है। पापी! भूतकालमें मैं दूसी नामक मार था। उस (समय) मेरी काली नामक वहिन थी, उसका तू पुत्र था; इस तरह (तव) तू मेरा भांजा था। पापी! उस समय भगवान् ककुसन्ध (= क्रकुच्छन्द) अर्हत् सम्यक्-संबुद्ध लोकमें उत्पन्न हुये थे। अर्हत् सम्यक्-संबुद्ध भगवान् ककुसन्धके विधुर और संजीव नामक प्रधान श्रावक-युगल (= शिष्योंकी जोड़ी), भद्र-युगल था। पापी! ० भगवान् ककुसंधके जितने श्रावक थे, उनमें कोई धर्म-उपदेश करनेमें आयुष्मान् विधुरके बरावर नहीं था। इसी (विधुर = अ-समान) मतलवसे आयुष्मान् विधुरका 'विधुर' नाम पड़ गया। और आयुष्मान् संजीव अरण्य,

वृक्षछाया या शून्य-आगारमें विना कठिनाईके संज्ञा-वेदित-निरोध (- समाधि)में प्राप्त हो जाते थे। पापी! किसी एक समय आयुष्मान् संजीव एक वृक्षके नीचे संज्ञा-वेदित-निरोध (समाधि)में स्थित थे। तव गोपालकों, पशुपालकों, कृषकों, बटोहियोंने आयुष्मान् संजीवको एक वृक्षके नीचे संज्ञा-वेदित-निरोध (समाधि)में स्थित हो बैठे देखा। देखकर उनके (मनमें) यह हुआ—आश्चर्य है! अद्भुत है!! यह श्रमण बैठेही बैठे मर गया; आओ! इसे जला दें।···तव वह गोपालक ० तृण, काष्ठ, कंडा जमाकर, (उसपर) आयुष्मान् संजीवके शरीरको रखकर आग दे चले गये।...तव आयुष्मान् संजीव उस रातके वीतनेपर उस समाधिसे उठकर, चीवरों (= वस्त्रों)को झाड़कर पूर्वाह्न समय पहिनकर पात्र-चीवर ले गाँवमें पिंडचारके लिये प्रविष्ट हुये।···उन गोपालकों ० ने आयुष्मान् संजीवको पिंडचार करते देखा। देखकर उन्हें यह हुआ—'आश्चर्य है! अद्भुत है!! यह श्रमण बैठेही बैठे मर गया था, और (अव) संजीवित (= जीवित) हो गया। पापी! इसी (संजीवित होने)के मतलवसे आयुष्मान् संजीवका संजीव नाम पड़ गया।

"तव फिर···मारको यह हुआ—इन शीलवान्, कल्याणधर्मा भिक्षुओंकी मैं गति अ-गतिको नहीं जानता; क्यों न मैं ब्राह्मण गृहस्थोंको भरमाऊँ—आओ! तुम शीलवान् कल्याणधर्मा भिक्षुओंको निन्दो, परिहास करो, चिढ़ाओ, सताओ; जिसमें कि तुमसे निन्दित, परिहास किये, चिढ़ाये, सताये जानेपर इनके चित्तमें विकार पैदा हो; फिर दूसी मारको मौका मिल जाये।···तव पापी! दूसी मार द्वारा भरमाये वह ब्राह्मण गृहस्थ उन शीलवान्, कल्याणधर्मा भिक्षुओंको निन्दने लगे ०—'यह नीच, काले, ब्रह्माके पदसे उत्पन्न, मुंडक श्रमण—हम ध्यानी हैं—यह अभिमान करते अधोमुख आलसी हो ध्याते (= ध्यान लगाते) हैं, प्र-ध्याते, नि-ध्याते, अप-ध्याते हैं; जैसेकि उल्लू वृक्षकी शाखापर चूहेकी तलाशमें ध्याता है, प्रध्याता०; ऐसे ही यह नीच ० अप-ध्याते हैं। जैसेकि, गीदड़ (= कोन्थु) नदीके तीर मछलियोंकी तलाशमें ध्याता है ०। जैसेकि बिल्ली कोने-पाखाने-कूड़ेमें चूहोंकी तलाशमें ध्याती है ०। जैसेकि लादीसे छूटा गदहा, कोने-पाखाने-कूड़ेमें ध्याता है ०। पापी! उस समय जो मनुष्य मरते थे, (उसी पापसे) अधिकतर काया छोड़ मरनेके बाद अपाय, दुर्गति=विनिपात, नरकमें उत्पन्न होते थे।

"तव ० भगवान् ककुसंधने भिक्षुओंको संवोधित किया—भिक्षुओ! ब्राह्मण-गृहपति दूसी मार द्वारा भरमाये गये हैं—'आओ! तुम ० दूसी मारको मौका मिले। आओ, भिक्षुओ! तुम मैत्रीयुक्त चित्तसे एक दिशाको पूर्णकर विहार करो, वैसे ही दूसरी (दिशा)को, वैसे ही तीसरीको, वैसे ही चौथीको। इस प्रकार ऊपर नीचे आड़े-वेड़े भी सवका ख्यालकर, सवके हितार्थ, विपुल, महान, प्रमाणरहित, वैररहित, व्यापाद(= हिंसा)-रहित, मैत्रीयुक्त चित्तसे सारे लोकको पूर्णकर विहरो। तुम करुणायुक्त चित्तसे ० सारे लोकको पूर्ण कर विहरो। तुम मुदिता युक्त चित्तसे ०। तुम उपेक्षा-युक्त चित्तसे०।'

"···तव ० भगवान् ककुसंध द्वारा इस प्रकार उपदेशित, अनुशासित हो, (वह भिक्षु) अरण्य, वृक्षछाया या शून्य-आगारमें (जहाँ भी) रहते मैत्रीयुक्त चित्तसे ० सारे लोकको पूर्णकर विहरते थे। करुणा-युक्त ०। मुदितायुक्त०। उपेक्षा-युक्त ०।

"तव पापी! दूसी मारको यह हुआ—ऐसा करते भी इन शीलवान् (= सदाचारी) कल्याणधर्मा भिक्षुओंकी गति, आगतिको मैं नहीं जान सका; क्यों न मैं ब्राह्मण-गृहपतियोंको भरमाऊँ—'आओ! तुम इन० भिक्षुओंका सत्कार=गुरुकार, मानन=पूजन करो; क्या जाने··· तुम्हारे सत्कार ० करनेसे इनके चित्तमें विकार पैदा हो; जिसमें कि दूसी मारको मौका मिले।'

"'''तब दूसी मार द्वारा भरमाये (=आवेश किये) ब्राह्मण गृहपतियोंने ० भिक्षुओंका सत्कार० किया ।

"पापी ! उस समय जो मनुष्य मरते थे, (उनमें) अधिकतर काया छोड़ मरनेके बाद सुगति स्वर्गलोकमें उत्पन्न होते थे ।

"तब ० भगवान् ककुसंधने भिक्षुओंको संबोधित किया—'भिक्षुओ ! ब्राह्मण-गृहपति दूसी मार द्वारा भरमाये गये हैं—आओ ! तुम ० । आओ, भिक्षुओ ! कायामें अशुभ (=गंदगी) देखते, आहारमें प्रतिकूलताका ख्याल रखते, सारे लोकमें वैराग्य रखते, सारे संस्कारोंमें (=कृत, उत्पन्न वस्तुओं)में अनित्यता देखते विहरो' ।

"'''तब ० भगवान् ककुसंध द्वारा इस प्रकार उपदेशित=अनुशासित हो, अरण्यमें, वृक्षके नीचे, या शून्य-आगारमें रहते वह भिक्षु कायामें अशुभ देखते ० विहरने लगे ।

"'''तब ० भगवान् ककुसंध पूर्वाह्ण समय पहिनकर पात्र-चीवर ले आयुष्मान् विधुरको पीछे पीछे ले गाँवमें पिंड (= भिक्षा)के लिये प्रविष्ट हुये ।'''तब दूसी मारने एक बच्चेमें आवेश करके रोड़ा ले आयुष्मान् विधुरके सिरमें प्रहार किया । सिर फट गया ।'''आयुष्मान् विधुर खून गिरते फटे सिरसे भी ० भगवान् ककुसंधका अनुगमन करते रहे ।'''तब ० भगवान् ककुसंधने नाग-अवलोकन (= नाग महापुरुष जैसा अवलोकन) किया । दूसी मार इस मंत्रको नहीं जानता था । अवलोकन मात्र हीसे दूसी मार अपने स्थानसे च्युत हो महानरकमें उत्पन्न हुआ ।

"'''उस महानरकके तीन नाम थे—छः-स्पर्श-आयतनिक,[1] स-अंकुश-आहत, और प्रत्यात्म-वेदनीय । तब मेरे (= दूसीके) पास आकर नरकवालोंने यह कहा—'मार्ष ! जब (शरीरके चारों ओरसे प्रहारित होते) शूल तेरे हृदयमें आकर एक दूसरेसे मिल जायें, तब समझना, कि नरकमें पकते तुझे एक हज़ार वर्ष हो गये' । सो पापी ! मैं उस महानरकमें अनेक वर्षों, अनेक शतवर्षों अनेक सहस्रवर्षों तक पकता रहा । दस हजार वर्ष तक उसी नरकके उत्सद (= उपनरक)में इस वेदनाको सहते पकता रहा । उस (समय) मेरा शरीर मनुष्य जैसा था, और मेरा शिर मछलीका सा ।

वह नरक कैसा था, जिसमें दूसी पचता रहा;
विधुर श्रावक और ककुसंध ब्राह्मणको सता कर ?
सौ लौहके शूल थे जो सभी हर एकको वेदना देनेवाले थे ।
ऐसा वह नरक था, जिसमें दूसी पचता रहा ।
विधुर श्रावक और ककुसंध ब्राह्मणको सताकर ।
जो बुद्धका श्रावक भिक्षु इसे जानता है,
ऐसे भिक्षुको सताकर काले दुःखको पाता है ॥(१)॥

सरोवरके बीचमें कल्प-पर्यन्त रहने वाले विमान हैं,
(जो कि) वैदूर्यवर्ण, रुचिर, अर्चि-मान—प्रभास्वर हैं ।
अलग अलग नाना वर्णोंकी अप्सरायें वहाँ नाचती हैं ।
जो बुद्धका श्रावक ०[1] काले दुःखको पाता है ॥(२)॥

---

[1] देखो पृष्ठ १४९ ।

जिसने बुद्धकी प्रेरणासे भिक्षु-संघके देखते हुये,
मृगार-माताके प्रासादको पैरके अँगूठेसे कँपा दिया।[1]
जो बुद्धका श्रावक ०॥(३)॥
जिसने वैजयन्त प्रासादको पैरके अँगूठेसे कँपा दिया[1]।
और ऋद्धि-बलसे पूर्ण जिसने देवताओंको उद्विग्न किया।
जो बुद्धका श्रावक ०॥(४)॥
जिसने वैजयन्त प्रासादमें शक्रको पूछा—
'क्या आवुस! तू तृष्णाके क्षयवाली मुक्तिको जानता है?'[1]
उसके पूछनेपर शक्रने यथातथा उत्तर दिया।
जो बुद्धका श्रावक ०॥(५)॥
जिसने सुधर्मामें, सभाके सामने ब्रह्माको पूछा—
'आवुस! आज भी तेरी वही दृष्टि है, जो पहिले थी,
तू ब्रह्मलोकमें उस प्रभास्वर वीतिवत्त (= परिवर्तन)को देखता है?'
तब उसे ब्रह्माने क्रमशः यथातथा उत्तर दिया—
'मार्ष! मेरी वह दृष्टि नहीं है, जो पहले थी।
मैं ब्रह्मलोकमें उस प्रभास्वर वीतिवत्तको देखता हूँ।
सो मैं आज कैसे कह सकता हूँ कि, मैं शाश्वत हूँ।
जो बुद्धका श्रावक ०॥(६)॥
जिसने महामेरुके शिखरको विमोक्ष (= ध्यान)से छू दिया।
पूर्व विदेहके वनको, और जो भूमिपर सोनेवाले नर हैं (= उन्हें)भी।
जो बुद्धका श्रावक ०॥(७)॥
अग्नि नहीं चाहती, कि मैं बाल (= मूर्ख)को डाहूँ।
बालही जलती आगसे भिड़ कर जलता है।
इसी प्रकार मार! तू तथागतसे लाग करके
आग पकड़ते बालकी भाँति स्वयं जलेगा।
मार! तथागतसे लाग कर तूने (बहुत) पाप कमाया।
पापी! क्या तू समझता है, कि तुझे पाप नहीं पकायेगा?
अन्ततक, चिरकालतक करते रहनेसे पाप संचित होजाता है।
मार! बुद्धसे हट जा, भिक्षुओंसे (गिरनेकी) आशा मत कर।
इस प्रकार भिक्षुने भेसकलावनमें मारको डाँटा।
तब वह यक्ष उदास हो वहीं अन्तर्धान होगया॥

५—(इति चूल-यमक-वग्ग।१५)

इति मूल-पण्णासक १।

[1] देखो पृष्ठ १४८।

मज्झिम-पण्णासक

[द्वितीय-पंचाशक ५१—१००]

अथ मज्झिम-पण्णासक

५१—कन्दरक-सुत्तन्त (२।१।१)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् बड़े भारी भिक्षु-संघके साथ चम्पामें गग्गरा-पुष्करिणीके तीर विहार करते थे।

तब हाथीवान्‌का पुत्र पेस्स और कन्दरक परिव्राजक जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये। जाकर ० पेस्स भगवान्‌को अभिवादन कर एक ओर बैठ गया, और कन्दरक परिव्राजक भगवान्‌के साथ …कुशल प्रश्न पूँछ एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे कन्दरक परिव्राजकने चुपचाप बैठे भिक्षु-संघको देखकर भगवान्‌से यह कहा—

"आश्चर्य! भो गौतम! अद्‌भुत!! भो गौतम! आप गौतमने कैसे अच्छी तरह भिक्षु-संघको बनाया है। हे गौतम! अतीत-कालमें भी जो अर्हत् सम्यक्-संबुद्ध हुये, उन भगवानोंने भी इतने ही मात्र अच्छी तरह भिक्षु-संघको प्रतिपन्न किया (= बनाया) होगा; जैसा कि इस वक्त आप गौतमने अच्छी तरह भिक्षु-संघको प्रतिपन्न किया है। भो गौतम! भविष्य-कालमें भी जो अर्हत् सम्यक्-संबुद्ध होंगे ०।"

"ऐसा ही है, कन्दरक! ऐसाही है, कन्दरक! जो कोई कन्दरक! अतीत कालमें अर्हत् सम्यक्-संबुद्ध हुये ०। ० भविष्य-कालमें अर्हत् सम्यक्-संबुद्ध होंगे ०। कन्दरक! इस भिक्षु-संघमें क्षीणास्रव, (ब्रह्मचर्य-)वाससमाप्त, कृत-कृत्य, भारमुक्त, सत्य-अर्थ-प्राप्त, भव-बंधन-मुक्त, सम्यग्‌ज्ञान-द्वारा-मुक्त अर्हत् भी हैं। कन्दरक! इस भिक्षु-संघमें निरन्तर शील(-युक्त), निरन्तर (सु-)वृत्ति (-युक्त), सन्तोषी, सन्तोष-वृत्ति-युक्त शैक्ष्य (=सीखनेवाले) भी हैं, जोकि चारों स्मृति-प्रस्थानों-में स्थिर-चित्त हो विहरते हैं। कौनसे चार (स्मृति-प्रस्थानों)में?—०[1] धर्मोंमें धर्मानुपश्यी ०।

ऐसा कहनेपर ० पेस्सने भगवान्‌से यह कहा—

"आश्चर्य! भन्ते! अद्‌भुत!! भन्ते! भगवान्‌ने भन्ते! प्राणियोंकी विशुद्धिके लिये, शोक-पीड़ा हटानेके लिये, दुःख = दौर्मनस्य मिटानेके लिये, न्याय (= परमज्ञान)की प्राप्ति-के लिये, निर्वाणके साक्षात्कारके लिये, इन चार स्मृति-प्रस्थानोंको कितनी अच्छी तरह बतलाया है। श्वेतवस्त्रधारी हम गृही भी समय समयपर, इन चार स्मृति-प्रस्थानोंमें चित्तको सुप्रतिष्ठित कर विहरते हैं। भन्ते! हम कायामें ० काय-अनुपश्यी विहरते हैं ०[1] धर्मोंमें धर्मानु-पश्यी विहरते हैं। आश्चर्य! भन्ते! अद्‌भुत!! भन्ते! इतनी मनुष्योंकी गहनता (= दुरूह)

---

[1] देखो सतिपट्ठान-सुत्त (पृष्ठ ३५-४०)

(होनेपर भी) इतने मनुष्योंके कसट (= मैल), इतनी मनुष्योंकी शठता होनेपर भी, भन्ते ! भगवान् प्राणियोंके हिताहितको देखते हैं। भन्ते ! मनुष्य गहन हैं; भन्ते ! जो पशु हैं वह उत्तान (= खुले, सरल) हैं। भन्ते ! मैं हाथीके स्वभावको जानता हूँ, चम्पामें जितने समयमें वह (= हाथी) गमन-आगमन करेगा, (अपनी) सभी शठता, कुटिलता, वक्रता = जिह्मताको प्रकट कर देगा। किन्तु, भन्ते ! हमारे दास=प्रेष्य या कर्मकर हैं, (वह) कायासे दूसराही करते हैं, वचनसे दूसरा कहते हैं और उनके चित्तमें और ही होता है। आश्चर्य ! भन्ते ! अद्भुत !! भन्ते ! मनुष्योंकी इतनी गहनता ० जो पशु हैं, वह उत्तान हैं।"

"यह ऐसा ही है पेस्स ! यह ऐसा ही है पेस्स ! जो मनुष्य गहन हैं, पशु उत्तान हैं। पेस्स ! लोकमें यह चार (प्रकार)के पुद्गल (= पुरुष) होते हैं। कौनसे चार ?—पेस्स ! (१) यहाँ कोई पुद्गल आत्मंतप—अपनेको संताप देनेवाले कामोंमें लगा होता है; (२)···कोई पुद्गल परंतप—परको संताप देनेवाले उद्योगोंमें लगा होता है; (३)···कोई पुद्गल आत्मंतप-परंतप होता है—अपनेको सन्ताप देनेवाले उद्योगोंमें भी लगा होता, परको सन्ताप देनेवाले उद्योगोंमें भी लगा होता है; (४)···कोई पुद्गल न आत्मंतप-न-परंतप होता है—(वह) न अपनेको सन्ताप देनेवाले उद्योगोंमें लगा होता, न परको सन्ताप देनेवाले उद्योगोंमें लगा होता है। अन्-आत्मंतप-अ-परंतप हो, वह शांत, सुखी, शीतल (-स्वभाव), सुख-अनुभवी, ब्रह्मभूत(= विशुद्ध) -आत्मासे विहरता है। पेस्स ! इन चार पुद्गलोंमें कौनसा तेरे चित्तको पसन्द आता है ?"

"भन्ते ! जो यह आत्मंतप ० पुद्गल है, वह मेरे चित्तको पसन्द नहीं है। जो यह परंतप ० पुद्गल है, वह भी ० पसन्द नहीं है। जो यह आत्मंतप-परंतप ० पुद्गल है, वह भी पसन्द नहीं है। जो यह अन्-आत्मंतप-अ-परंतप ० पुद्गल है, वह ० मुझे पसन्द है।"

"पेस्स ! क्यों यह तीन पुद्गल तेरे चित्तको पसन्द नहीं हैं ?"

"भन्ते ! जो आत्मंतप ० पुद्गल है, वह सुखेच्छुक, दुःख-प्रतिकूल हो अपनेको आतापित परितापित करता है, इसलिये भन्ते ! यह पुद्गल मेरे चित्तको पसन्द नहीं आता। जो वह भन्ते ! परंतप ० पुद्गल है, वह सुखेच्छुक दुःख-प्रतिकूल दूसरेको आतापित परितापित करता है। इसलिये भन्ते ! यह पुद्गल ०। जो वह भन्ते ! आत्मंतप-परंतप ० पुद्गल है। वह सुखेच्छुक, दुःख-प्रतिकूल अपनेको और दूसरेको ०। जो यह भन्ते ! ० अन्-आत्मंतप-अ-परंतप ० पुद्गल ० ब्रह्मभूत-आत्मासे विहरता है; यह सुखेच्छु दुःख-प्रतिकूल हो अपने और परके चित्तको नहीं तपाता, न सन्ताप देता, इसलिये भन्ते ! यह पुद्गल मेरे चित्तको पसन्द आता है। हन्त ! भन्ते ! अब हम जाते हैं; बहुकृत्य-बहुकरणीय हैं हम, भन्ते !"

"जिसका पेस्स ! तू समय समझता है, (वैसा कर)।"

तब हाथीवान्का पुत्र पेस्स भगवान्के भाषणको अभिनंदित अनुमोदित कर आसनसे उठ, भगवान्को अभिवादन कर प्रदक्षिणा कर चला गया।

तब पेस्सके जानेके थोड़े ही समय बाद भगवान्ने भिक्षुओंको संबोधित किया—

"भिक्षुओ ! पेस्स पंडित है। महाप्रज्ञ है भिक्षुओ ! पेस्स। यदि भिक्षुओ ! पेस्स मुहूर्त भर और बैठता, जितनेमें कि मैं इन चारों पुद्गलोंको विस्तारसे विभाजित करता, (तो वह) बड़े अर्थसे युक्त होजाता। परन्तु, इतनेसे भी भिक्षुओ ! पेस्स बड़े अर्थसे युक्त है।"

"इसीका भगवान् ! समय है, इसीका सुगत ! काल है; कि भगवान् इन चारों पुद्गलोंको विस्तारसे विभाजित करें। भगवान्से सुनकर भिक्षु धारण करेंगे !"

"तो भिक्षुओ ! सुनो, अच्छी तरह मनमें करो, कहता हूँ।"

"अच्छा, भन्ते !"—(कह) उन भिक्षुओंने भगवान्‌को उत्तर दिया।

भगवान्‌ने यह कहा—"भिक्षुओ ! कौनसा पुद्‌गल **आत्मंतप**—अपनेको संताप देनेवाले कामोंमें लग्न है ?—भिक्षुओ ! यहाँ कोइ पुद्‌गल अचेलक (= नंगा) ०[1] ऐसे अनेक प्रकारसे कायाके आतापन सन्तापनके व्यापारमें लग्न हो विहरता है। भिक्षुओ ! यह पुद्‌गल **आत्मंतप** ० कहा जाता है।

"भिक्षुओ ! कौनसा पुद्‌गल **परंतप** ० है ?—भिक्षुओ ! यहाँ कोई पुद्‌गल औरभ्रिक (= भेड़ मारनेवाला), शूकरिक, शाकुन्तिक, मार्गविक (= मृग मारनेवाला), रुद्र, मत्स्य-घातक, चोर, चोरघातक, बन्धनागारिक (= जेलर) और जो दूसरे भी क्रूर व्यवसाय हैं (उनका करनेवाला होता है)। भिक्षुओ ! यह पुद्‌गल **परन्तप** ० कहा जाता है।

"भिक्षुओ ! कौनसा पुद्‌गल **आत्मंतप-परंतप** ० है ?—भिक्षुओ ! यहाँ कोई पुरुष मूर्धा-भिषिक्त क्षत्रिय राजा होता है या महाशाल (= महाधनी) ब्राह्मण होता है। वह नगरके पूर्व द्वार पर नये संस्थागार (= यज्ञशाला)को बनवा दाढ़ी-मूँछ मुँडा वर-अजिन धारणकर घी तेलसे शरीर को चुपड़, मृगके सींगसे पीठको खुजलाते हुये (अपनी) महिषी (= पटरानी) और ब्राह्मण पुरोहितके साथ संस्थागारमें प्रवेश करता है। वह वहाँ गोबरसे लिपी नंगी भूमिपर शय्या करता है। समान रूपके बच्छेवाली एक (ही) गायके एक स्तनके दूधसे राजा गुजारा करता है; जो दूसरे स्तनमें दूध है, उससे महिषी गुजारा करती हैं; जो तीसरे स्तनमें दूध है, उससे ब्राह्मण पुरोहित ०; जो चौथे स्तनमें दूध है, उससे अग्निमें हवन करता है; शेष बचेसे बछड़ा ०। वह (यजमान) ऐसा कहता है—यज्ञके लिये इतने बैल मारे जायें, ० बछड़े ०, ० इतनी बछियाँ ०, ० इतनी बकरियाँ ०, ० इतनी भेड़ें, ०, ० इतने वृक्ष काटे जायें, वेदी (= वर्हिष)के लिये इतना कुश काटा जाये। जो इसके दास=प्रेष्य या कर्मकर होते हैं, वह भी दंडसे तर्जित, भयभीत अश्रु-मुख होते कामोंको करते हैं। भिक्षुओ ! यह कहा जाता है **आत्मंतप-परंतप** ० पुद्‌गल।

"भिक्षुओ ! कौनसा पुद्‌गल **अन्-आत्मंतप-अ-परंतप** ० है ?—भिक्षुओ ! यहाँ(लोकमें) तथागत ० उत्पन्न होते हैं ०[2] चतुर्थध्यानको प्राप्त हो विहरता है।

"सो वह इस प्रकार चित्तके 'एकाग्र, परिशुद्ध ०[3] अब यहाँ करनेके लिये कुछ शेष नहीं है'—यह जान लेता है। भिक्षुओ ! यह कहा जाता है **अन्-आत्मंतप-अ-परंतप** ० पुद्‌गल ०।"

भगवान्‌ने यह कहा, सन्तुष्ट हो उन भिक्षुओंने भगवान्‌के भाषणको अभिनंदित किया।

[1] देखो पृष्ठ ४८। [2] देखो पृष्ठ ११३। [3] देखो पृष्ठ १५-१६ (वाक्यमें उत्तम पुरुषके स्थानपर प्रथम पुरुष करके)।

५२—अट्ठकनागर-सुत्तन्त (२।१।२)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय आयुष्मान् आनन्द वैशालीके वेलुवगामक (= वेणुग्राम)में विहरते थे।

उस समय अट्ठकनागर दसम गृहपति किसी कामसे पाटलिपुत्र आया हुआ था। तब .दसम गृहपति, जहाँ कुक्कुटाराममें कोई भिक्षु था, वहाँ गया; जाकर उस भिक्षुको अभिवादन कर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे ० दसम गृहपतिने उस भिक्षुसे यह कहा—"भन्ते! आयुष्मान् आनन्द इस समय कहाँ विहार करते हैं? हम उन आयुष्मान् आनन्दके दर्शनाकांक्षी हैं।"

"गृहपति! आयुष्मान् आनन्द वैशालीके वेलुवगामकमें विहार कर रहे हैं।"

तब ० दसम गृहपति पाटलिपुत्रमें उस कामको करके, जहाँ वैशाली थी, जहाँ वेलुवगामकमें आयुष्मान् आनन्द थे, वहाँ गया। जाकर आयुष्मान् आनन्दको अभिवादन कर एक ओर बैठा। एक ओर बैठे .दसम गृहपतिने आयुष्मान् आनन्दसे यह कहा—

"भन्ते, आनन्द! क्या उन भगवान् जाननहार, देखनहार अर्हत् सम्यक्-संबुद्धने ऐसा एक धर्म उपदेश किया है, जिसमें प्रमादरहित, एकाग्रतायुक्त तत्पर हो विहरते, भिक्षुका अ-मुक्त चित्त विमुक्त (= मुक्त) हो जाये, अक्षीण आस्रव क्षीण हो जाये, अ-प्राप्त अनुपम योग-क्षेम (= निर्वाण) प्राप्त हो जाये?"

"किया है गृहपति! उन भगवान् ० ने ऐसे एक धर्मका उपदेश ० अनुपम योगक्षेम प्राप्त हो जाये।"

"भन्ते आनन्द! उन भगवान् ० ने ऐसा कौनसा एक धर्मका उपदेश किया है ०?"

"यहाँ गृहपति! भिक्षु कामोंसे विरहित ०[1] प्रथम-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। वह ऐसा सोचता है—'अरे! यह प्रथम-ध्यान भी संस्कृत (= कृत) = अभि-संस्कृत = अभिसंचेतयित है। जो कुछ भी संस्कृत ० है, वह अनित्य = निरोध-धर्मा है'—यह समझता है। उस (ध्यान)में अवस्थित हो आस्रवों (= चित्त-मलों)के क्षयको प्राप्त होता है। यदि आस्रवोंके क्षयको प्राप्त नहीं होता, तो उसी धर्म-अनुरागसे = उसी धर्म-नन्दीसे पाँचो अवर-भागीय (= ओरंभगिय) संयोजनोंके क्षयसे उस लोकसे फिर न लौटकर वहीं निर्वाणको प्राप्त होनेवाला औपपातिक (= अयोनिज देव) होता है। गृहपति! यह भी उन भगवान् ० ने ऐसे एक धर्मको उपदेश किया है ०।

"और फिर गृहपति! ०[1] द्वितीय-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। वह ऐसा सोचता है ०। यह भी उन भगवान् ० ने ऐसे एक धर्मका उपदेश किया है ०।

"और फिर गृहपति! ०[1] तृतीय-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। वह ऐसा सोचता है ०।

---

[1] देखो पृष्ठ १५।

"और फिर गृहपति ! ०[1] चतुर्थ-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। वह ऐसा सोचता है ०।

"और फिर गृहपति ! भिक्षु मैत्री-युक्त चित्तसे एक दिशाको परिपूर्ण कर विहरता है। वैसे-ही दूसरी ०[2]। मैत्री-युक्त चित्तसे सारे लोकको परिपूर्ण कर विहरता है। वह करुणा-युक्त चित्तसे ०। मुदिता-युक्त चित्तसे ०। उपेक्षा-युक्त चित्तसे ०। वह यह सोचता है—०।

"और फिर गृहपति ! भिक्षु रूप-संज्ञाको सर्वथा छोड़नेसे, प्रतिहिंसाकी संज्ञाओं (= ख्याल) के सर्वथा अस्त हो जानेसे, नानापनकी संज्ञाओंके न करनेसे, 'आकाश अनन्त' है, इस आकाश-आनन्त्य-आयतनको प्राप्त हो विहरता है। वह यह सोचता है—०।

"और फिर गृहपति ! भिक्षु आकाशानन्त्यायतनको सर्वथा अतिक्रमणकर ०[3] विज्ञान-आनन्त्य-आयतनको प्राप्त हो विहरता है। वह यह सोचता है—०।

"०[3] आकिंचन्य-आयतनको प्राप्त हो विहरता है। वह यह सोचता है—०।

"०[3] नैव-संज्ञा-न-असंज्ञा-आयतन ०। वह यह सोचता है—०।"

ऐसा कहनेपर अट्ठकनागर दसम गृहपतिने आयुष्मान् आनंदसे यह कहा—"भन्ते आनन्द ! जैसे पुरुष एक निधि-मुख (= खजानेके मुँह)को खोजता एक ही बार ग्यारह निधि-मुखोंको पा जाये ऐसेही भन्ते आनन्द ! मैंने एक अमृत-द्वारको खोजते, एकही बार ग्यारह अमृतद्वार सुननेको पाये। भन्ते आनन्द ! जैसे (किसी) पुरुषके पास ग्यारह द्वारोंवाला आगार हो; वह उस घरमें आग लग जानेपर किसी एक द्वारसे अपनी रक्षा कर सकता है; ऐसे ही भन्ते आनन्द ! मैं इन ग्यारह अमृतद्वारोंमेंसे किसी एक अमृत-द्वारसे अपनी स्वस्ति (= मंगल) कर सकता हूँ। यह, भन्ते। दूसरे तीर्थ (= मत) वाले भी आचार्यकी (पूजाके) लिये आचार्य-धन (= आचार्यको देने लायक पूजा द्रव्य)की खोज करते हैं; फिर मैं क्यों न आयुष्मान् आनन्दकी पूजा करूँ?"

तब दसम गृहपतिने पाटलिपुत्रके तथा वैशालीके भिक्षु-संघको एकत्रित कर, अपने हाथसे उत्तम खाद्य-भोज्यद्वारा सन्तर्पित = सम्प्रवारित किया; एक एक भिक्षुको एक एक दुस्स-युग (= धूसेका जोड़ा, थानजोड़ा) ओढ़ाया, और आयुष्मान् आनन्दको तीनों चीवरों (= भिक्षुके तीन वस्त्र—संघाटी, उत्तरासंग, अन्तर्वासक)से आच्छादित किया; तथा आयुष्मान् आनन्दके लिये पाँचसौ विहार (= रहनेकी कोठरियाँ) बनवाये।

५३—सेख-सुत्तन्त (२।१।३)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् शाक्य (देश)में कपिलवस्तुके न्यग्रोधाराममें विहार करते थे।

उस समय कपिलवस्तुके शाक्योंने अभीही अभी एक नया **संस्थागार** (= गण-संस्थाका आगार) बनवाया था; श्रमण ब्राह्मण या किसी मनुष्य-भूत द्वारा जिसका अभी उपयोग नहीं हुआ था। तब कपिलवस्तुके शाक्य जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये, जाकर भगवान्‌को अभिवादनकर एक ओर बैठ गये। एक ओर बैठ कपिलवस्तुके शाक्योंने भगवान्‌से यह कहा—

"भन्ते ! यहाँ (हम) कपिलवस्तुके शाक्योंने अभी ही अभी एक नया **संस्थागार** बनवाया है ०। उसका भन्ते ! भगवान् पहिले उपभोग करें। भगवान्‌के पहिले परिभोग करलेनेके बाद कपिलवस्तुके शाक्य उसका परिभोग करेंगे। यह कपिलवस्तुके शाक्योंको चिरकालतकके-हित सुखके लिये होगा।"

भगवान्‌ने मौनसे स्वीकार किया। तब कपिलवस्तुके शाक्य भगवान्‌की स्वीकृतिको जानकर, आसनसे उठ भगवान्‌को अभिवादनकर प्रदक्षिणाकर, यहाँ संस्थागार था, वहाँ गये। जाकर संस्थागारमें सब ओर फर्श बिछा, आसनोंको स्थापित कर, पानीके मटके रख, तेलके प्रदीप आरोपित कर; जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये; जाकर भगवान्‌को अभिवादनकर ० एक ओर खड़े हो···बोले—

"भन्ते ! संस्थागार सब ओरसे बिछा हुआ है, आसन स्थापित किये हुये हैं; पानीके मटके रक्खे हुये हैं, तेल-प्रदीप आरोपित किये हैं। भन्ते ! अब भगवान् जिसका काल समझें (वैसा) करें।"

तब भगवान् पहिन कर पात्र-चीवर ले, भिक्षुसंघके साथ जहाँ संस्थागार था, वहाँ गये। जाकर पैर पखार, संस्थागारमें प्रवेश कर, पूर्वकी ओर मुँह कर बैठे; भिक्षु संघ भी पैर पखार ० पच्छिमकी भीतके सहारे भगवान्‌को आगे कर बैठा। कपिलवस्तुवाले शाक्य भी पैर पखार, संस्थागारमें प्रवेश कर पच्छिमकी ओर मुँह कर पूर्वकी भीतके सहारे भगवान्‌को सन्मुख रख कर बैठे। तब भगवान्‌ने कपिलवस्तुके शाक्योंको बहुत रात तक धार्मिक कथासे संदर्शित = समादपित, सुमुत्तेजित, संप्रशंसित कर आयुष्मान् आनन्दको संबोधित किया—

"आनन्द ! अब कपिलवस्तुके शाक्योंको बाकी उपदेश तू कर; मेरी पीठ अगिया रही है; सो मैं लेटूँगा।"

"अच्छा, भन्ते !"—(कह) आयुष्मान् आनंदने भगवान्‌को उत्तर दिया।

तब भगवान्‌ने चौपेती **संघाटी** (= भिक्षुकी ऊपरी दोहरी चद्दर) बिछवा, दाहिनी करवटके बल, पैरपर पैर रख, **स्मृति-संप्रजन्यके** हाथ, उत्थानकी संज्ञा (= ख्याल) मनमें कर सिंह-शय्या लगाई।

तब आयुष्मान् आनन्दने **महानाम शाक्यको** संबोधित किया—

"महानाम ! (जब) आर्य श्रावक शील (= सदाचार)से युक्त, इन्द्रियमें संयत (= गुप्त-द्वार), भोजनमें मात्राको जाननेवाला, जागरणमें तत्पर, सात सद्धर्मोंके सहित, इसी जन्ममें सुखसे विहारके उपयोगी चारों चेतसिक ध्यानोंका पूर्णतया लाभी (= पानेवाला), विना कठिनाईके लाभी = (अ-कृच्छ्र-लाभी) होता है।

"महानाम ! कैसे आर्यश्रावक शील-संपन्न होता है ?—जब महानाम ! आर्यश्रावक शीलवान् (= सदाचारी) होता है। प्रातिमोक्ष(= भिक्षुनियम)-संवर(= रक्षा)से संवृत (= रक्षित) हो विहरता है। आचार-गोचर-संपन्न (हो) अणुमात्र दोषोंमें भी भय देखनेवाला (होता है)। शिक्षापदों (= सदाचार-नियमों)को स्वीकार कर (उनका) अभ्यास करता है। इस प्रकार महानाम ! आर्यश्रावक शील-सम्पन्न होता है।

"महानाम ! कैसे आर्यश्रावक इन्द्रियोंमें गुप्तद्वार होता है ?—जब महानाम ! आर्यश्रावक चक्षु (= आँख)से रूपको देख कर न निमित्त (= आकार, लिंग)का ग्रहण करनेवाला होता है, न अनुव्यंजन(= लक्षण)का ग्रहण करनेवाला होता है। जिस विषयमें चक्षु-इन्द्रियके अ-संवृत (= अ-रक्षित)हो विहरनेपर अभिध्या (= लोभ), दौर्मनस्य(रूपी)पाप = बुराइयाँ आ घुसती हैं; उसके संवर (= रक्षा)में तत्पर होता है, चक्षु-इन्द्रियकी रक्षा करता है = चक्षु-इन्द्रियमें संवरयुक्त होता है। श्रोत्रसे शब्द सुन कर ०। घ्राणसे गंध सूंघ कर ०। जिह्वासे रस चख कर ०। कायासे स्प्रष्टव्य (विषय)को स्पर्श कर ०। मनसे धर्मको जान कर ० मन-इन्द्रियमें संवर-युक्त होता है; इस प्रकार महानाम ! आर्यश्रावक इन्द्रियोंमें गुप्तद्वार होता है।

"कैसे महानाम ! आर्यश्रावक भोजनमें मात्राका जाननेवाला होता है ?—महानाम ! भिक्षु ठीकसे जानकर आहार ग्रहण करता है, क्रीड़ा, मद, मंडन-विभूषणके लिये न करके (उतना ही आहार सेवन करता है) जितना कि शरीरकी स्थितिके लिये (आवश्यक) है, (भूखके) प्रकोपके शमनकरने तथा ब्रह्मचर्यमें सहायताके लिये (आवश्यक है)। (यह सोचते हुये, कि) पुरानी (कर्म-विपाक रूपी) वेदनाओं (= पीड़ाओं)को स्वीकार करूँगा; नई वेदनाओंके उत्पन्न होनेकी (नौवत) न आने दूँगा; मेरी शरीरयात्रा निर्दोष होगी, और विहार निर्द्वन्द होगा। इस प्रकार महानाम ! आर्यश्रावक भोजनमें मात्राज्ञ होता है।

"कैसे महानाम ! आर्यश्रावक जागरणमें तत्पर होता है ?—महानाम ! भिक्षु दिनमें टहलने बैठने ०[1] या (अन्य) आचरणीय धर्मोंसे चित्तको शुद्ध करता है। इस प्रकार ०।

"कैसे महानाम ! आर्यश्रावक सात सद्धर्मोंसे युक्त होता है ?—महानाम ! भिक्षु (१) श्रद्धालु होता है—तथागतकी बोधि (= परमज्ञान)में श्रद्धा करता है—'वह भगवान् अर्हत ०'[2] देव-मनुष्योंके शास्ता बुद्ध भगवान् हैं। (२) ह्रीमान् (= लज्जाशील) होता है—कायिक, वाचिक, मानसिक दुराचारोंसे लज्जित होता है, पापों=बुराइयोंके आचरणसे लज्जित होता है। (३) अपत्रपी (= संकोची) होता है—० पापों=बुराइयोंके आचरणसे संकोच करता है। (४) बहुश्रुत श्रुत-धर=श्रुत-संचयी होता है—जो वह धर्म आदि-कल्याण, मध्य-कल्याण, पर्यवसान-कल्याण, सार्थक=स-व्यंजन हैं, (जो) केवल, परिपूर्ण, परिशुद्ध ब्रह्मचर्यको बखानते हैं, वैसे धर्म (= उपदेश) उसके बहुत सुने, वचनसे धारित, परिचित, मनसे चिन्तित, दृष्टि (= दर्शन, ज्ञान)से अवगाहित (= प्रतिविद्ध) होते हैं। (५) आरब्धवीर्य (= उद्योगी) होता है—बुराइयों (= अकुशल-धर्मों)

---

[1] देखो पृष्ठ १६२। [2] देखो पृष्ठ २४।

के छोड़नेमें, और भलाइयोंके ग्रहण करनेमें, स्थिर दृढ़-पराक्रमी होता है। भलाइयोंमें स्थिर, अ-निक्षिप्त-धुर (= जूआ न उतार फेंकनेवाला) होता है। (६) स्मृतिमान् होता है—परम परिपक्व स्मृति (= याद)से युक्त होता है। चिरकालके किये और कहेका स्मरण करनेवाला, अनुस्मरण करनेवाला होता है। (७) प्रज्ञावान् होता है—उत्पत्ति-विनाशको प्राप्त होनेवाली, अच्छी तरह दुःखके क्षयकी ओर ले जानेवाली आर्य निर्वेधिक (= वस्तुके तह तक पहुँचनेवाली) प्रज्ञासे युक्त होता है। इस प्रकार महानाम ! ०।

"कैसे महानाम ! आर्यश्रावक इसी जन्ममें सुख-विहारके उपयोगी चारों चैतसिक ध्यानोंका पूर्णतया लाभी, विना कठिनाईके लाभी, अकृच्छ्र-लाभी होता है ?—महानाम ! आर्यश्रावक कामों से विरहित ०[1] प्रथम-ध्यानको ०। ०[1] द्वितीय-ध्यानको ०। ०[1] तृतीय-ध्यानको ०। ०[1] चतुर्थ-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। इस प्रकार महानाम ! ०।

"जब महानाम ! आर्यश्रावक इस प्रकार शील-सम्पन्न होता है, इस प्रकार इन्द्रियोंमें गुप्तद्वार होता है, इस प्रकार भोजनमें मात्राज्ञ होता है, इस प्रकार जागरणमें तत्पर (= अनुयुक्त) होता है, इस प्रकार सात सद्धर्मोंसे समन्वित होता है, इस प्रकार ० चारों चैतसिक ध्यानोंका पूर्णतया लाभी ० होता है। महानाम ! यह आर्यश्रावक शैक्ष्य (= निर्वाण प्राप्तिके लिये जिसे अभी कुछ करना है) प्रातिपद (= मार्गारूढ़) कहा जाता है। (वह) न-सड़े-अंडे (की भाँति) (पुरुष) निर्भेद (= तह तक पहुँचने)के योग्य है, संबोध (= परमज्ञान)के योग्य है, अनुपम योग-क्षेम (= निर्वाण)की प्राप्तिके योग्य है।

"जैसे महानाम ! आठ, दस या बारह मुर्गीके अंडे हों ०[2] तो भी वह चूज़े पाद-नखसे या मुख-तुंडसे अंडेको फोड़कर स्वस्तिपूर्वक निकल आनेके योग्य हैं; ऐसे ही महानाम ! जब आर्यश्रावक इस प्रकार शील-सम्पन्न होता है ०, तो महानाम ! यह आर्यश्रावक शैक्ष्य ० कहा जाता है, ० (वह) अनुपम योग-क्षेमकी प्राप्तिके योग्य है।

"महानाम ! वह आर्यश्रावक इसी अनुपम स्मृतिकी परिशुद्धि (करनेवाली) उपेक्षा[4] द्वारा अनेक प्रकारके पूर्व निवासों (= पूर्वजन्मों)को स्मरण करने लगता है ०[3] इस प्रकार आकार और उद्देश्यसहित अनेक प्रकारके पूर्व निवासोंको स्मरण करने लगता है। यह महानाम ! मुर्गीके चूज़ेका अण्डेके कोशसे पहिला फूटना होता है।

"महानाम ! फिर वह आर्यश्रावक इसी ० उपेक्षा द्वारा अ-मानुष विशुद्ध दिव्य, चक्षुसे ०[3] कर्मानुसार गतिको प्राप्त होते प्राणियोंको पहिचानता है। यह महानाम ! ० दूसरा फूटना है।

"महानाम ! फिर वह आर्यश्रावक इसी ० उपेक्षा द्वारा आस्रवोंके क्षयसे आस्रव-रहित चित्त-विमुक्ति (= मुक्ति) प्रज्ञा-विमुक्तिको इसी जन्ममें जानकर साक्षात्कार कर, प्राप्त कर विहरता है। यह महानाम ! ० तीसरा फूटना है।

"महानाम ! जो कि आर्यश्रावक शील-सम्पन्न होता है, यह भी उसके चरण (= पद या आचरण)में है। जो कि महानाम ! आर्यश्रावक इन्द्रियोंमें गुप्तद्वार होता है, यह भी उसके चरणमें है। ० भोजनमें मात्राज्ञ ०। ० जागरणमें अनुयुक्त ०। ० सात सद्धर्मोंसे संयुक्त ०। ० चार आभिचेतसिक (= शुद्ध चित्तवाले) ध्यानोंका पूर्णतया लाभी ०।

"महानाम ! जो कि आर्यश्रावक अनेक प्रकारके पूर्व-निवासोंको जानता है ०[3]। यह भी उसकी विद्यामें है। ० विशुद्ध दिव्य-चक्षु ०[3]। ० आस्रवोंके क्षय ०[3]।

---

[1] देखो पृष्ठ १५। [2] देखो पृष्ठ १६२। [3] देखो पृष्ठ १४२। [4] देखो पृष्ठ २५।

"महानाम ! ऐसे आर्यश्रावक विद्या-सम्पन्न कहा जाता है; इस प्रकार चरण-सम्पन्न (कहा जाता है)। इस प्रकार विद्या-चरण-संपन्न (होता है)।

"महानाम ! सनत्कुमार ब्रह्माने भी यह गाथा कही है—

'गोत्रका ख्याल करनेवाले लोगोंमें जन्मसे क्षत्रिय श्रेष्ठ है।
जो विद्या-चरण-सम्पन्न है, वह देव-मनुष्योंमें (सबसे) श्रेष्ठ है ॥'

"महानाम ! सनत्कुमार ब्रह्माकी गाई यह गाथा सु-गीता (= उचित कथन) है, दुर्गीता नहीं; सुभाषिता है, दुर्भाषिता नहीं; अर्थ-युक्त है अन्-अर्थ-युक्त नहीं; भगवान् द्वारा भी (यह) अनुमत है।"

तब भगवान्ने उठकर आयुष्मान् आनन्दको संबोधित किया—

"साधु, साधु (= शावाश), आनन्द ! तूने कपिलवस्तुके शाक्योंके लिये शैक्ष्य मार्गका अच्छी तरह व्याख्यान किया।"

आयुष्मान् आनन्दने यह कहा, शास्ता (= बुद्ध) उससे सहमत हुये। कपिलवस्तुके शाक्योंने आयुष्मान् आनन्दके भाषणको अभिनंदित किया।

५४–पोतलिय-सुत्तन्त (२।१।४)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् अंगुत्तराप-(देश)में अंगुत्तरापोंके आपण नामक निगम (= कस्बे)में विहार करते थे[1] ।

तब भगवान् पूर्वाह्ण समय (चीवर) पहिनकर पात्र-चीवर ले, भिक्षा-चारके लिये आपणमें प्रविष्ट हुये। आपणमें पिंड-चार करके पिंड-पात (= भोजन)-समाप्तकर, एक वन-खंडमें दिनके विहारके लिये गये। भीतर जाकर दिनके विहारके लिये एक वृक्षके नीचे बैठे। पोतलिय गृह-पति भी निवासन (= पोशाक) प्रावरण (= चादर) पहिने, छाता जूता धारण किये, जंघा-विहार (= चहल-कदमी)के लिये टहलता, जहाँ वह वनखंड था वहाँ गया। वनखंडमें घुसकर, जहाँ भगवान् थे, वहाँ पहुँचा। जाकर भगवान्के साथ···संमोदन कर···(और) एक ओर खड़ा हो गया। एक ओर खड़े हुये पोतलिय गृह-पतिको भगवान्ने यह कहा—

"गृहपति ! आसन विद्यमान है, यदि चाहते हो, तो बैठो।"

ऐसा कहनेपर पोतलिय गृह-पति—'गृहपति (= गृहस्थ, वैश्य) कहकर मुझे श्रमण गौतम

---

[1] (यहाँ अट्ठकथामें है)—"अङ्गही यह जनपद है। मही (? गंगा) नदीके उत्तरमें जो पानी है, उसके अ-दूर उत्तर होनेसे उत्तराप कहा जाता है। किस महीके उत्तरमें···' ? महामहीके।···। यह जम्बूद्वीप दश-सहस्र-योजन बड़ा है। इसमें चार हजार योजन प्रदेश जलसे भरा होनेसे, समुद्र कहा जाता है। (और) तीन हजार योजनमें मनुष्य बसते हैं। तीन हजार योजनमें चौरासी हजार कूटों (= चोटियों)से सुशोभित, चारों ओर बहती पाँच सौ नदियोंसे विचित्र, पाँच सौ योजन ऊँचा हिमवान् (= हिमालय) है। जहाँपर कि—लम्बाई, चौड़ाई, गहराईमें पचास पचास योजन; घेरेमें डेढ़सौ योजन, अनवतप्त-दह, कण्णमुंड-दह, रथकार-दह, छद्दन्त-दह, कुणाल-दह, मंदाकिनी सिंहप्पपातक (= सिंह-प्रपातक) यह सात महासरोवर प्रतिष्ठित हैं। अनोतत्त-दह, सुदर्शन-कूट, चित्र-कूट, काल-कूट, गंधमादन-कूट, कैलाश-कूट इन पाँच कूटों (= गिरिशिखरों)से घिरा है।···। इसके चारों ओर सिंह-मुख, हस्ति-मुख, अश्व-मुख, गो (= वृषभ)-मुख—चार मुख हैं; जिनसे चार नदियाँ निकलती हैं। सिंह-मुखसे निकली नदीके किनारे सिंह बहुत होते हैं। हस्ति आदि मुखोंसे (निकली नदियोंके किनारे) हस्ती, अश्व और बैल।···। गङ्गा, यमुना, अचिरवती (= रापती), सरभू (= सरयू, घाघरा), मही (= गंडक)···यह पाँच नदियाँ हिमवान्से निकलती हैं। इनमें जो यह पाँचवीं मही है, वही इस महीसे अभिप्रेत है।···। इस अंगुत्तराप जनपदमें आपण···निगममें बीस हजार आपणों (= दुकानों)के मुँह विभक्त थे। इस प्रकार आपणों(= दुकानों) से भरे होनेसे, आपण नाम हो गया। उस निगमके अ-दूर, नदीतीर-पर घनी छायावाला रमणीय भूमि-भागका वन-खंड था। उसमें भगवान् विहरते थे।

पुकारता है'—कुपित और अ-सन्तुष्ट हो चुप रहा।

दूसरी वार भी ०। ०। तीसरी वार भी ०।

तब पोतलिय गृहपतिने—'गृहपति कहकर ०'—कुपित और असन्तुष्ट हो भगवान्‌से कहा—

"भो गौतम ! तुम्हें यह उचित नहीं, तुम्हें यह योग्य नहीं, जो मुझे गृहपति कहकर पुकारते हो।"

"गृहपति ! तेरे वही आकार हैं, वही लिङ्ग हैं; वही निमित्त (= लिङ्ग) हैं, जैसे कि गृह-पति के।"

"चूँकि भो गौतम ! मैंने सारे कर्मान्त (= खेती) छोड़ दिये, सारे व्यवहार (= व्यापार, वाणिज्य) समाप्त कर दिये। भो गौतम ! मेरे पास जो धन, धान्य, रजत (= चाँदी), जातरूप (= सोना) था, सब पुत्रोंको तर्का दे दिया ! सो मैं (खेती आदिमें) न ताकीद करनेवाला, न कटु कहनेवाला हूँ ; सिर्फ खाने पहिरने भरसे वास्ता रखनेवाला (हो), विहरता हूँ।…"

"गृहपति ! तू जिस प्रकार व्यवहारके उच्छेदको कहता है। आर्योंके विनयमें व्यवहार-उच्छेद, (इससे) दूसरी ही प्रकार होता है।"

"तो भन्ते ! आर्य-विनयमें व्यवहार-उच्छेद कैसे होता है ? अच्छा ! भन्ते ! भगवान् मुझे उस प्रकारका धर्म-उपदेश करें; जैसेकि आर्य-विनयमें व्यवहार-उच्छेद होता है।"

"तो गृहपति ! सुनो, अच्छी तरह मनमें करो; कहता हूँ।"

"अच्छा भन्ते !"—पोतलिय गृह-पतिने भगवान्‌से कहा। भगवान्‌ने कहा—

"गृहपति ! आर्य-विनय (= आर्य-धर्म, आर्य-नियम) में यह आठ धर्म व्यवहार-उच्छेद करनेके लिये हैं। कौनसे आठ ?—(१) अ-प्राणातिपात (= अहिंसा)के लिये, प्राणातिपात छोड़ना चाहिये। (२) दिया लेने (= दिन्नादान)के लिये, अ-दिन्नादान (= चोरी, न दिया लेना) छोड़ना चाहिये। (३) सत्य बोलनेके लिये, मृषावाद छोड़ना चाहिये। (४) अ-पिशुन-वचन (= न चुगली करने)के लिये, पिशुन-वचन छोड़ना चाहिये। (५) अ-गृद्ध-लोभ (= निर्लोभ) के लिये गृद्ध-लोभ छोड़ना चाहिये। (६) अ-निन्दा-दोषके लिये, निन्दा छोड़नी चाहिये। (७) अ-क्रोध उपायास (= परेशानी)के लिये क्रोध-उपायास छोड़ना चाहिये। (८) अन्-अतिमानके लिये, अतिमान (= अभिमान)को छोड़ना चाहिये। गृहपति ! संक्षिप्तसे कहे, विस्तारसे न विभाजित किये, यह आठ धर्म, आर्य-विनयमें व्यवहार-उच्छेद करनेके लिये हैं।"

"भन्ते ! भगवान्‌ने जो मुझे विस्तारसे न विभाजित किये, संक्षिप्तसे, आठ धर्म ० कहे। अच्छा हो भन्ते ! (यदि) भगवान् अनुकम्पाकर (उन्हें) विस्तारसे विभाजित करें।"

"तो गृहपति ! सुनो, अच्छी तरह मनमें करो, कहता हूँ।"

"अच्छा भन्ते !"—पोतलिय गृहपतिने भगवान्‌को उत्तर दिया।

भगवान् बोले—"गृहपति ! 'अ-प्राणातिपातके लिये प्राणातिपात छोड़ना चाहिये,' यह जो कहा, किस कारणसे कहा ?—गृहपति ! आर्य-श्रावक ऐसा सोचता है—'जिन संयोजनोंके कारण मुझे प्राणातिपाती होना है, उन्हीं संयोजनोंको छोड़नेके लिये, उच्छेदके लिये मैं लगा हूँ, और मैं ही प्राणातिपाती हो गया। प्राणातिपातके कारण, आत्मा (= अपना चित्त)भी मुझे धिकारता है। प्राणातिपातके कारण, विज्ञ लोग भी जानकर धिकारते हैं। प्राणातिपातके कारण, काया छोड़नेपर, मरनेके बाद, दुर्गति भी होनी है। यही संयोजन (= बंधन) है, यही नीवरण (= ढकन) है, जो कि प्राणातिपातके कारण उत्पन्न होनेवाले विघात-परिदाह (= द्वेष-जलन) और आस्रव (= चित्त-दोष) प्राणातिपातसे विरतको नहीं उत्पन्न होते। 'अ-प्राणातिपातके लिये, प्राणातिपात

छोड़ना चाहिये' यह जो कहा, वह इसी कारणसे कहा ।

"दिन्नादानके लिये अदिन्नादान छोड़ना चाहिये, यह जो कहा, किस कारणसे कहा ?—गृहपति ! आर्य-श्रावक ऐसा सोचता है, जिन संयोजनोंके हेतु मुझे अदिन्नादायी (= विना दिया लेनेवाले) होना है, उन्हीं संयोजनोंके छोड़नेके लिये, उच्छेद करनेके लिये, मैं लगा हुआ हूँ; और मैं ही अ-दिन्नादायी होगया ! अ-दिन्नादानके कारण आत्मा भी मुझे धिक्कारता है । अ-दिन्नादानके कारण विज्ञ लोग भी जानकर धिक्कारते हैं । अ-दिन्नादानके कारण काया छोड़नेपर, मरनेके बाद दुर्गति भी होनी है । यही संयोजन है, यही नीवरण है, जो कि यह अ-दिन्नादान । अ-दिन्नादानके कारण विघात (= पीड़ा) परिदाह (= जलन) (और) आस्रव उत्पन्न होते हैं; अ-दिन्नादान-विरतको ० नहीं होते । 'दिन्नादानके लिये अ-दिन्नादान छोड़ना चाहिये' यह जो कहा, वह इसी कारण कहा ।

"अ-पिशुन-वचनके लिये ० ।

"अ-गृद्ध-लोभके लिये ० ।

"अ-निन्दा-रोषके लिये ० ।

"अ-क्रोध-उपायासके लिये ० ।

"अन्-अतिमानके लिये ० ।

"गृहपति आर्य-विनयमें यह आठ ! संक्षिप्तसे कहे, विस्तारसे विभाजित, व्यवहार-उच्छेद करनेवाले हैं ।···(किंतु इनसे) सर्वथा सब कुछ व्यवहारका उच्छेद नहीं होता ।"

"तो कैसे भन्ते ! आर्य-विनयमें···सर्वथा सब कुछ व्यवहार-उच्छेद होता है ? अच्छा हो भन्ते ! भगवान् मुझे वैसे धर्मका उपदेश करें, जैसे कि आर्यविनयमें···सर्वथा सब कुछ व्यवहारका उच्छेद होता है ?"

"तो गृहपति ! सुनो, अच्छी तरह मनमें करो, कहता हूँ ।"

"अच्छा भन्ते ।" ० । ० ।

"गृहपति ! जैसे भूखसे अति-दुर्बल कुक्कुर गो-घातकके सूना (= मांस काटनेके पीढ़े)के पास खड़ा हो । चतुर गो-घातक या गोघातकका अन्तेवासी उसको मांस-रहित लोहूमें सनी···हड्डी फेंक दे । तो क्या मानते हो, गृहपति ! क्या वह कुक्कुर उस हड्डी···को खाकर, भूखकी दुर्बलताको हटा सकता है ?"

"नहीं, भन्ते !"

"सो किस हेतु ?"

"भन्ते ! वह लोहूमें चुपड़ी मांस-रहित हड्डी है । वह कुक्कुर केवल परेशानी = पीड़ाका ही भागी होगा ।"

"ऐसे ही गृहपति ! आर्य-श्रावक सोचता है—हड्डी (अस्सिसूना)के समान···भगवान्ने भोगोंको 'बहुत दुःख' बहुत परेशानीवाला कहा है, इनमें बहुतसी बुराइयाँ हैं । अतः इसको यथार्थसे, अच्छी तरह प्रज्ञासे, देखकर, जो यह अनेकतावाली अनेकमें लगी उपेक्षा है, उसे छोड़, जो यह एकान्ततावाली एकान्तमें लगी (उपेक्षा) है, जिसमें लोकके आमिष (= विष)के उपादान (= ग्रहण, स्वीकार) सर्वथा ही टूट जाते हैं; उसी उपेक्षाकी भावना करता है ।

"जैसे गृहपति ! गिद्ध, कौवा या चील्ह माँसके टुकड़ेको लेकर उड़े, उसको गिद्ध भी, कौवे भी, चील्ह भी पीछे उड़ उड़कर नोचें, खसोटें । तो क्या मानता है, गृहपति ! वह गिद्ध कौवे

या चील्ह, यदि शीघ्र ही उस माँसके टुकड़ेको न छोड़ दें, तो क्या वह उसके कारण मरणको या मरणान्त दुःखको पावेंगे न ?"

"ऐसा ही, भन्ते !"

"ऐसे ही, गृहपति ! आर्य-श्रावक सोचता है—भगवान्‌ने माँसके टुकड़े मांस-पेशीकी भाँति कामोंको बहुत दुःखवाले बहुत परेशानीवाले कहा है; इनमें बहुतसी बुराइयाँ हैं। इस प्रकार इसको अच्छी तरह प्रज्ञासे देखकर, जो यह अनेकताकी, अनेकमें लगी उपेक्षा है, उसे छोड़, जो यह एकान्तताकी एकान्तमें लगी उपेक्षा है; जिसमें लोकामिषके उपादान (= ग्रहण) सर्वथा ही उच्छिन्न हो जाते हैं; उसी उपेक्षाकी भावना करता है।

"जैसे गृहपति ! पुरुष तृणकी उल्का (= मशाल, लुकारी)को ले, हवाके रुख जाये। तो क्या मानते हो, गृहपति ! यदि वह पुरुष शीघ्र ही उस तृण-उल्काको न छोड़ दे तो (क्या) वह तृण-उल्का उसके हथेलीको (न) जला देगी, या बाँहको (न) जला देगी, या दूसरे अंग प्रत्यंगको न जला देगी···?"

"ऐसा ही, भन्ते।"

"ऐसे ही, गृहपति ! आर्य-श्रावक सोचता है—तृण-उल्काकी भाँति बहुत दुःखवाले बहुत परेशानीवाले० हैं ०। ०।

"जैसे कि गृहपति ! धूम-रहित, अर्चि (= लौ)-रहित अंगारका (= भउर, अग्नि-चूर्ण) हो। तब जीवन-इच्छुक, मरण-अनिच्छुक, सुख-इच्छुक, दुःख-अनिच्छुक पुरुष आवे; उसको दो बलवान् पुरुष अनेक बाहुओंसे पकड़कर अङ्गारकामें डाल दें। तो क्या मानते हो गृहपति ! क्या वह पुरुष इस प्रकार चिताहीमें शरीरको (नहीं) डालेगा ?"

"हाँ भन्ते !"

"सो किस हेतु ?"

"भन्ते ! उस पुरुषको मालूम है, यदि मैं इन अङ्गारकाओंमें गिरूँगा, तो उसके कारण मरूँगा या मरणांत दुःखको पाऊँगा।"

"ऐसेही गृहपति ! आर्य-श्रावक यह सोचता है—अङ्गारकाकी भाँति दुःखद ०। इसमें बहुत बुराइयाँ हैं। ०।

"जैसे गृह-पति ! पुरुष आरामकी रमणीयता-युक्त, वन-रमणीयता-युक्त, भूमि-रमणीयता-युक्त, पुष्करिणी-रमणीयता-युक्त स्वप्नको देखे। सो जागनेपर कुछ न देखे। ऐसेही गृहपति ! आर्य-श्रावक यह सोचता है—भगवान्‌ने स्वप्न-समान (= स्वप्नोपम) बहुत दुःखद ० कहा है। ०।

"जैसे कि गृह-पति ! (किसी) पुरुष (के पास) मँगनीके भोग, यान या पुरुषके उत्तम मणि-कुंडल हों। वह ० उन मंगनीके भोगोंके साथ···बाजारमें जाये। उसको देखकर आदमी कहें—कैसा भोग-संपन्न पुरुष है ! भोगी लोग ऐसे ही भोगका उपभोग करते हैं !! सो उसके मालिक (= स्वामी) ० जहाँ देखें वहाँ कनात लगादें। तो क्या मानते हो, गृहपति ! क्या उस पुरुषको दूसरा (भाव समझना) युक्त है ?"

"हाँ, भन्ते !"

"सो किस हेतु ?"

"(क्योंकि जेवरोंके) मालिक कनात घेर देते हैं।"

"ऐसेही गृहपति ! आर्य-श्रावक ऐसा सोचता है—मँगनीकी चीज़के समान (= याचित-कूपम) ० कहा है। ०।

"जैसे गृहपति ! ग्राम या निगमसे अ-दूर, भारी वन-खण्ड हो। वहाँ फल-सम्पन्न = उत्पन्न-फल वृक्ष हो; कोई फल भूमिपर न गिरा हो। तब फल-इच्छुक, फल-गवेषक = फल-खोजी पुरुष घूमते हुये आवे। वह उस वनके भीतर जाकर, उस फल-संपन्न ० वृक्षको देखे। उसको यह हो—यह वृक्ष फल-सम्पन्न ० है, कोई फल भूमिपर नहीं गिरा है; मैं वृक्षपर चढ़ना जानता हूँ। क्यों न मैं चढ़कर इच्छा-भर खाऊँ, और फाँड (= उच्छङ्ग, उत्सङ्ग) भर ले चलूँ। तब दूसरा फल-इच्छुक, फल-गवेषी = फलखोजी, पुरुष घूमता हुआ तेज़ कुल्हाड़ा लिये उस वन-खण्डके भीतर जाकर, उस वृक्षको देखे। उसको ऐसा हो—यह वृक्ष फल-सम्पन्न ० है, मैं वृक्षपर चढ़ना नहीं जानता; क्यों न इस वृक्षको जड़से काटकर इच्छा भर खाऊँ, और फाँड़ भर ले चलूँ। वह उस वृक्षको जड़से काटे। तो क्या मानते हो, गृहपति ! वह जो पुरुष पेड़पर पहिले चढ़ा था, यदि जल्दी ही न उतर आये, तो (क्या) वह गिरता हुआ वृक्ष उसके हाथको (न) तोड़ देगा, पैरको (न) तोड़ देगा, या दूसरे अङ्ग-प्रत्यङ्गको (न) तोड़ देगा ? वह उसके कारण क्या मरणको (न) प्राप्त होगा, या मरणान्त दुःखको (न) प्राप्त होगा ?"

"हाँ, भन्ते !"

"ऐसे ही गृह-पति ! आर्य-श्रावक सोचता है—वृक्ष-फल-समान कामोंको ० कहा है; इनमें बहुत सी बुराइयाँ (= आदि-नव) हैं। इस प्रकार इसको यथार्थतः, अच्छी प्रकार, प्रज्ञासे देखकर, जो यह अनेकता-वाली अनेकमें लगी उपेक्षा है, उसे छोड़; जो यह एकांतकी एकांतमें लगी उपेक्षा है, जिसमें लोक-आमिषका उपादान (= ग्रहण) सर्वथा ही उच्छिन्न हो जाता है, उसी उपेक्षाकी भावना करता है।

"सो वह गृहपति ! आर्य-श्रावक इसी अनुपम (= अनुसार) उपेक्षा, स्मृतिकी पारिशुद्धि (= स्मरणको शुद्धि करनेवाली उपेक्षा) को पाकर, अनेक प्रकारके पूर्व-निवासों (= पूर्व जन्मों)को स्मरण करता है;—जैसे कि एक जन्म भी, दो जन्म भी, तीन जन्म भी ०[1] इस प्रकार आकार-सहित उद्देश (= नाम)-सहित, अनेक प्रकारके पूर्व-निवासोंको स्मरण करता है।

"सो वह गृह-पति ! आर्य-श्रावक इसी अनुपम उपेक्षा स्मृति-पारिशुद्धिको पाकर, वि-शुद्ध अ-मानुष दिव्य-चक्षुसे, मरते उत्पन्न होते, नीच-ऊँच, सुवर्ण-दुर्वर्ण, सुगत-दुर्गत ०[1] कर्मानुसार (फलको) प्राप्त, प्राणियोंको जानता है।

"सो वह गृह-पति ! आर्य-श्रावक इसी अनुपम उपेक्षा स्मृति-पारिशुद्धिको पाकर, इसी जन्ममें आस्रवों (= चित्त-दोषों)के क्षयसे, अन्-आस्रव चित्त-विमुक्तिको जानकर, प्राप्तकर, विहरता है। गृहपति ! आर्य-विनयमें इस प्रकार···सर्वथा सभी कुछ सब व्यवहारका उच्छेद होता है। तो क्या मानता है, गृह-पति ! जिस प्रकार आर्य-विनयमें···सर्वथा सभी कुछ व्यवहार-उच्छेद होता है, क्या तू वैसा व्यवहार-समुच्छेद अपनेमें देखता है ?"

"भन्ते ! कहाँ मैं और कहाँ आर्य-विनयमें···व्यवहार-समुच्छेद !! भन्ते ! पहिले अन्-आजानीय अन्य-तैर्थिक (= पंथाई) परिव्राजकोंको, हम आजानीय (= परिशुद्ध, शुद्धजातिके) समझते थे, अनाजानीय होतोंको आजानीयका भोजन कराते थे, अन्-आजानीय होतोंको आजानीय-स्थानपर स्थापित करते थे। आजानीय भिक्षुओंको अन्-आजानीय समझते थे, आजानीय होतोंको अन्-आजानीय भोजन कराते थे, अजानीय होतोंको अन्-आजानीय स्थानपर रखते थे। भन्ते !

---

[1] देखो पृष्ठ १५।

अब हम अन्-आजानीय होते अन्य-तैर्थिक परिव्राजकोंको अन्-आजानीय जानेंगे, ० अन्-आजानीय भोजन करायेंगे, ० अन् आजानीय स्थानपर स्थापित करेंगे। भन्ते ! अब हम आजानीय होते भिक्षुओंको आजानीय समझेंगे, ० आजानीय भोजन करायेंगे, ० आजानीय स्थानपर रक्खेंगे। अहो ! भन्ते ! भगवान्‌ने मुझे श्रमणोंमें श्रमण-प्रेम पैदा कर दिया, श्रमणों (= साधुओं)में श्रमण-प्रसाद (= श्रमणोंके प्रति प्रसन्नता), ० श्रमण-गौरव०। आश्चर्य ! भन्ते ! आश्चर्य ! भन्ते ! ०[1] आजसे भगवान् मुझे अञ्जलि-बद्ध शरणागत उपासक धारण करें।"

५५–जीवक-सुत्तन्त (२।१।५)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् राजगृहमें जीवक कौमारभृत्यके आम्रवनमें विहार करते थे।

तब जीवक कौमारभृत्य जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया; जाकर भगवान्‌को अभिवादन कर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे जीवकने भगवान्‌से यह कहा—

"भन्ते! मैंने सुना है—'श्रमण गौतमके उद्देश्यसे (लोग) जीव मारते हैं, श्रमण गौतम जानते हुये (अपने) उद्देश्यसे बनाये (अपने) उद्देश्यसे किये कर्मवाले मांसको खाता है'। भन्ते! जो यह कहते हैं—'श्रमण गौतम ० खाता है' क्या भन्ते! वह भगवान्‌के विषयमें यथार्थ-वादी हैं? वह भगवान्‌पर झूठा इलज़ाम तो नहीं लगाते? सत्यके अनुसार कहते हैं? (उनके इस कथनसे) किसी धर्मानुसार वचन-अनुवचनकी निन्दा तो नहीं हो जाती?"

"जीवक! जो यह कहते हैं—'श्रमण गौतम ० खाता है'; वह मेरे विषयमें यथार्थवादी नहीं हैं; वह मुझपर झूठा इलज़ाम (= अभ्याख्यान) लगाते हैं।...जीवक! मैं तीन प्रकारके मांसको अ-भोज्य कहता हूँ—[1]दृष्ट, श्रुत और परिशंकित।...जीवक! तीन प्रकारके मांसको मैं भोज्य कहता हूँ—अ-दृष्ट, अ-श्रुत, अ-परिशंकित।...

"जीवक! कोई भिक्षु किसी गाँव, या निगम (= कस्बे)के पास विहार करता है। वह मैत्री-पूर्ण चित्तसे ०[2] सारे लोकको पूर्णकर विहरता है। उसके पास आकर कोई गृहपति या गृहपति-पुत्र दूसरे दिनके भोजनके लिये निमंत्रण देता है। इच्छा होनेपर जीवक! भिक्षु (उस निमंत्रण)को स्वीकार करता है। वह उस रातके बीतने पर पूर्वाह्ण समय पहिन कर पात्र-चीवर ले, जहाँ उस गृहपति या गृहपति-पुत्रका घर होता है, वहाँ जाता है। जाकर बिछे आसन पर बैठता है। उसे वह गृहपति या गृहपति-पुत्र उत्तम पिंडपात (भिक्षान्न) परोसता है। उस (भिक्षु)को यह नहीं होता—'अहो! यह गृहपति या गृहपति-पुत्र मुझे उत्तम पिंडपात परोसे। अहो! यह ० आगे भी इसी प्रकारका पिंडपात परोसे।...वह उस पिंडपातको अ-लोलुप = अ-मूर्छित हो, अना-सक्त हो अवगुणका ख्याल रखते, निस्तारकी बुद्धिसे खाता है। तो क्या मानते हो, जीवक! क्या वह भिक्षु उस समय आत्म-पीड़ा (की बात)को सोचता है, पर-पीड़ाको सोचता है, (आत्म-पर-) उभय-पीड़ाको सोचता है?"

"नहीं, भन्ते!"

"क्यों जीवक! उस समय वह निर्दोष (= अनवद्य) आहारहीका ग्रहण कर रहा है न?"

"हाँ, भन्ते! मैंने सुना है भन्ते! कि ब्रह्मा मैत्री-विहारी (= सदा सबको मित्र भावसे

---

[1] जीवका अपने लिये मारा जाना देखना, सुनना, या शंका होना। [2] देखो पृष्ठ २५।

देखनेवाला) है; सो मैंने भन्ते ! भगवान्‌को साक्षात् देख लिया। भन्ते ! भगवान् मैत्री विहारी हैं।"

जीवक ! जिस रागसे, जिस द्वेषसे, जिस मोहसे (आदमी) व्यापादवान् (=द्वेषी, उत्पीड़क) होता है, वह राग-द्वेष-मोह तथागतका नष्ट होगया, उच्छिन्न-मूल, कटे सिरवाले-ताड़-जैसा, अ-भाव-प्राप्त, भविष्यमें उत्पन्न-होनेके-अयोग्य होगया। यदि जीवक ! तूने यह ख्याल करके कहा, तो मैं सहमत हूँ।"

"यही ख्याल कर भन्ते ! मैंने कहा।"

"यहाँ जीवक ! कोई भिक्षु किसी गाँव या निगमके पास विहार करता है। वह करुणा-पूर्ण चित्तसे ०[1]। मुदिता-पूर्ण चित्तसे ०[1]। उपेक्षा-पूर्ण चित्तसे ०[1] सारे लोकको पूर्ण कर विहरता है। उसके पास आकर कोई गृहपति या गृहपति-पुत्र दूसरे दिनके लिये भोजनका निमंत्रण देता है। ०[2]"

"यही ख्याल कर भन्ते ! मैंने कहा।"

"जो कोई जीवक ! तथागत या तथागतके श्रावकके उद्देश्यसे जीव मारता है, वह पाँच स्थानोंसे अ-पुण्य (= पाप) कमाता है (१) जो वह यह कहता है—'जाओ, अमुक जीवको लाओ'; इस पहिले स्थान (= बातसे) वह बहुत अ-पुण्य कमाता है। (२) जो वह गलेमें (रस्सी) बाँधकर खींच कर लाते (पशु)को (देख) दुःख=दौर्मनस्य अनुभव करता है, यह दूसरे स्थान ०। (३) जो वह यह कहता है—'जाओ; इस जीवको मारो' इस तीसरे स्थान ०। (४) जो वह जीवोंको मारते समय दुःख = दौर्मनस्य (= संताप) अनुभव करता है; इस चौथे स्थान ०। जो वह तथागत या तथागतके श्रावकको अ-कल्प्य (= अनुचित, अ-विहित)को खिलाता है; इस पाँचवें स्थान ०। जो कोई जीवक ! तथागत या तथागतके श्रावकके उद्देश्यसे जीव मारता है, वह इन पाँच स्थानोंसे अ-पुण्य कमाता है।"

यह कहनेपर जीवक कौमारभृत्यने भगवान्‌से यह कहा—"आश्चर्य ! भन्ते ! अद्भुत !! भन्ते ! कल्प्य (= उचित, विहित) आहारको भन्ते ! भिक्षु ग्रहण करते हैं। अहो ! निर्दोष आहार को भन्ते ! भिक्षु ग्रहण करते हैं। आश्चर्य ! भन्ते ! अद्भुत !! भन्ते ! जैसे औंधेको सीधा करदे ०[3]। यह मैं भन्ते ! भगवान्‌की शरण जाता हूँ, धर्म और भिक्षु-संघकी भी ! भगवान् आजसे मुझे अंजलिबद्ध शरणागत उपासक स्वीकार करें।"

---

[1] देखो पृष्ठ २५। [2] पहिलेकी आवृत्ति। [3] देखो पृष्ठ १६।

५६–उपालि-सुत्तन्त (२।१।६)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् नालन्दामें प्रावारिकके आम्रवनमें विहार करते थे।

उस समय निगंठ नात-पुत्त निगंठों (= जैन-साधुओं)की बड़ी परिषद् (= जमात) के साथ नालन्दामें विहार करते थे। तब दीर्घ-तपस्वी निर्ग्रंथ (= जैन साधु) नालन्दामें भिक्षाचार कर, पिंडपात खतम कर, भोजनके पश्चात्, जहाँ प्रावारिक-आम्र-वनमें भगवान् थे, वहाँ गया। जाकर भगवान्के साथ संमोदन (कुशलप्रश्न पूछ) कर, एक ओर खड़ा हो गया। एक ओर खड़े हुए दीर्घ-तपस्वी निर्ग्रंथको भगवान्ने कहा—

"तपस्वी! आसन मौजूद हैं, यदि इच्छा हो तो बैठ जाओ!"

ऐसा कहनेपर दीर्घ-तपस्वी निर्ग्रंथ एक नीचा आसन ले एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे दीर्घ-तपस्वी निर्ग्रंथसे भगवान् बोले—

"तपस्वी! पापकर्मके करनेकेलिये, पाप-कर्मकी प्रवृत्तिकेलिये निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र कितने कर्मोंका विधान करते हैं?"

"आवुस! गौतम! 'कर्म' 'कर्म' विधान करना निर्ग्रंथ ज्ञातृपुत्रका कायदा (= आचिण्ण) नहीं है। आवुस! गौतम! 'दंड' 'दंड' विधान करना निगंठ नातपुत्तका कायदा है।"

"तपस्वी! तो फिर पाप-कर्मके करनेकेलिये = पाप-कर्मकी प्रवृत्तिकेलिये निगंठ नातपुत्त कितने 'दंड' विधान करते हैं?"

"आवुस! गौतम! पापकर्मके हटानेकेलिये ० निगंठ नात-पुत्त तीन दंडोंका विधान करते हैं। जैसे—काय-दंड, वचन-दंड, मन-दंड।"

"तपस्वी! तो क्या काय-दंड दूसरा है, वचन-दंड दूसरा है, मन-दंड दूसरा है?"

"आवुस! गौतम! (हाँ)! काय-दंड दूसरा ही है, वचन-दंड दूसरा ही, मन-दंड दूसरा ही है।"

"तपस्वी! इस प्रकार भेद किये, इस प्रकार विभक्त, इन तीनों दंडोंमें निगंठ नातपुत्त, पाप कर्मके करनेकेलिये, पापकर्मकी प्रवृत्तिकेलिये, किस दंडको महादोष-युक्त विधान करते हैं, काय-दंडको, या वचन-दंडको, या मन-दंडको?"

"आवुस गौतम! इस प्रकार भेद किये, इस प्रकार विभक्त, इन तीनों दंडोंमें निगंठ नात-पुत्त, पाप कर्मके करनेकेलिये ० काय-दंडको महादोष-युक्त विधान करते हैं; वैसा वचन-दंडको नहीं, वैसा मन-दंडको नहीं।"

"तपस्वी! काय-दंड कहते हो?"

"आवुस! गौतम! काय-दंड कहता हूँ।"

"तपस्वी ! काय-दंड कहते हो ?"

"आवुस ! गौतम ! काय-दंड कहता हूँ।"

"तपस्वी ! काय-दंड कहते हो ?"

"आवुस ! गौतम ! काय-दंड कहता हूँ।"

इस प्रकार भगवान्‌ने दीर्घ-तपस्वी निगंठको इस कथा-वस्तु(= बात)में तीनवार प्रतिष्ठापित किया।

ऐसा कहनेपर दीर्घ-तपस्वी निगंठने भगवान्‌से कहा—

"तुम आवुस ! गौतम ! पाप-कर्मके करनेके लिये ० कितने दंड-विधान करते हो ?"

"तस्वी ! 'दंड' 'दंड' कहना तथागतका कायदा नहीं है, 'कर्म' 'कर्म' कहना तथागतका कायदा है।"

"आवुस ! गौतम ! तुम ० कितने कर्म विधान करते हो ?"

"तपस्वी ! मैं ० तीन कर्म बतलाता हूँ—जैसे काय-कर्म, वचन-कर्म, मन-कर्म।"

"आवुस ! गौतम ! काय-कर्म दूसरा ही है, वचन-कर्म दूसरा ही है, मन-कर्म दूसरा ही है।"

"तपस्वी ! काय-कर्म दूसरा ही है, वचन-कर्म दूसरा ही है, मन-कर्म दूसरा ही है।"

"आवुस ! गौतम ! ० इस प्रकार विभक्त ० इन तीन कर्मोंमें, पाप-कर्म करनेके लिये ० किसको महादोषी ठहराते हो—काय-कर्मको, या वचन-कर्मको, या मन-कर्मको ?"

"तपस्वी ! ० इस प्रकार विभक्त ० इन तीनों कर्मोंमें मन-कर्मको मैं ० महादोषी बतलाता हूँ।"

"आवुस ! गौतम ! मन-कर्म बतलाते हो ?"

"तपस्वी ! मन-कर्म बतलाता हूँ।"

"आवुस ! गौतम ! मन-कर्म बतलाते हो ?"

"तपस्वी ! मन-कर्म बतलाता हूँ।"

"आवुस ! गौतम ! मन-कर्म बतलाते हो ?"

"तपस्वी ! मन-कर्म बतलाता हूँ।"

इस प्रकार दीर्घ-तपस्वी निगंठ भगवान्‌को इस कथा-वस्तु (= विवाद-विषय) में तीन बार प्रतिष्ठापित करा, आसनसे उठ जहाँ निगंठ नात-पुत्त थे, वहाँ चला गया।

उस समय निगंठ नात-पुत्त, बालक (-लोणकार)-निवासी उपाली आदिकी बड़ी गृहस्थ-परिषद्‌के साथ बैठे थे। तब निगंठ नात-पुत्तने दूरसे ही दीर्घ-तपस्वी निगंठको आते देख, पूछा—

"हैं ! तपस्वी ! मध्याह्नमें तू कहाँसे (आ रहा है) ?

"भन्ते ! श्रमण गौतमके पाससे आ रहा हूँ।"

"तपस्वी ! क्या तेरा श्रमण गौतमके साथ कुछ कथा-संलाप-हुआ ?"

"भन्ते ! हाँ ! मेरा श्रमण गौतमके साथ कथा-संलाप हुआ।"

"तपस्वी ! श्रमण गौतमके साथ तेरा क्या कथा-संलाप हुआ।"

तब दीर्घ-तपस्वी निगंठने भगवान्‌के साथ जो कुछ कथा-संलाप हुआ था, वह सब निगंठ नात-पुत्तसे कह दिया।

"साधु ! साधु !! तपस्वी ! (यही ठीक है) जैसा कि शास्ता (= गुरु)के शासन (= उप-

देश)को अच्छी प्रकार जाननेवाले, वहुश्रुत श्रावक दीर्घ-तपस्वी निगंठने श्रमण गौतमको वतलाया। वह मुवा मन-दंड, इस महान् काय-दंडके सामने क्या शोभता है ? पाप-कर्मके करने = पाप कर्मकी प्रवृत्तिके लिये काय-दंड ही महादोषी है, वचन दंड, मन-दंड वैसे नहीं।"

ऐसा कहनेपर उपाली गृहपतिने निगंठ नात-पुत्तसे यह कहा—

"साधु ! साधु !! भन्ते तपस्वी ! जैसा कि शास्ताके शासनके मर्मज्ञ, वहुश्रुत श्रावक भदन्त दीर्घ-तपस्वी निगंठने श्रमण गौतमको वतलाया। यह मुवा ०। तो भन्ते ! मैं जाऊँ, इसी कथा-वस्तुमें श्रमण गौतमके साथ विवाद रोपूँ ? यदि मेरे (सामने) श्रमण गौतम वैसे (ही) ठहरा रहा, जैसा कि भदन्त दीर्घ-तपस्वीने (उसे) ठहराया। तो जैसे वलवान् पुरुष लम्बे वाल वाली भेड़को वालोंसे पकड़कर निकाले, घुमावे, डुलावे; उसी प्रकार मैं श्रमण गौतमके वादको··· निकालूँगा, घुमाऊँगा, डुलाऊँगा। (अथवा) जैसे कि गहरे वलवान् शौंडिक-कर्मकर (= शराव-वनानेवाला) भट्टीके छन्ने (= सोंडिका-किलंज)को पानी (वाले) तालावमें फेंककर; कानोंको पकड़ निकाले, घुमावे, डुलावे, ऐसे ही मैं ०। (अथवा) जैसे वलवान् शरावी, वालकको कानसे पकड़कर हिलावे, ० डुलावे···, ऐसे ही मैं ०। (अथवा) जैसे कि साठ वर्षका पट्ठा हाथी गहरी पुष्करिणीमें घुसकर सन-धोवन नामक खेलको खेले, ऐसे ही मैं श्रमण गौतमको सन-धोवन ०। हाँ ! तो भन्ते ! मैं जाता हूँ। इस कथा-वस्तुमें श्रमण गौतमके साथ वाद रोपूँगा।"

"जा गृहपति ! जा, श्रमण गौतमके साथ इस कथा-वस्तुमें वाद रोप। गृहपति ! श्रमण गौतमके साथ मैं वाद रोपूँ, या दीर्घ-तपस्वी निगंठ रोपे, या तू।"

ऐसा कहनेपर दीर्घ-तपस्वी निगण्ठने निगण्ठ नात-पुत्तको कहा—

"भन्ते ! (आपको) यह मत रुचे, कि उपालि गृहपति श्रमण गौतमके पास जाकर वाद रोपे। भन्ते ! श्रमण गौतम मायावी है, (मति) फेरनेवाली माया जानता है, जिससे दूसरे तैर्थिकों (= पंथाइयों)के श्रावकों (को अपनी ओर) फेर लेता है।"

"तपस्वी ! यह संभव नहीं, कि उपाली गृहपति श्रमण गौतमका श्रावक होजाय। संभव है कि श्रमण गौतम (ही) उपाली गृहपतिका श्रावक होजाय। जा गृहपति ! श्रमण गौतमके साथ इस कथा-वस्तुमें वाद रोप। गृहपति ! श्रमण गौतमके साथ मैं वाद रोपूँ, या दीर्घ-तपस्वी निगंठ रोपे, या तू।"

दूसरीवार भी दीर्घ-तपस्वी निगंठने ०। तीसरीवार भी ०।

"अच्छा भन्ते !" कह, उपालि गृहपति निगंठ नात-पुत्तको अभिवादन कर प्रदक्षिणा कर, जहाँ प्रावारिक आम्रवन था, जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया। जाकर भगवान्‌को अभिवादन कर एक ओर वैठ गया। एक ओर वैठे हुये उपालि गृहपतिने भगवान्‌से कहा—

"भन्ते ! क्या दीर्घ-तपस्वी निगंठ यहाँ आये थे ?"

"गृहपति ! दीर्घ-तपस्वी निगंठ यहाँ आया था।"

"भन्ते ! दीर्घ-तपस्वी निगंठके साथ आपका कुछ कथा-संलाप हुआ ?"

"गृहपति ! दीर्घ-तपस्वी निगंठके साथ मेरा कुछ कथा-संलाप हुआ।"

"तो भन्ते ! दीर्घ-तपस्वी निगंठके साथ क्या कुछ कथा-संलाप हुआ ?"

तव भगवान्‌ने दीर्घ-तपस्वी निगंठके साथ जो कुछ कथा-संलाप हुआ था, उस सवको उपाली गृहपतिसे कह दिया। ऐसा कहने पर उपाली गृहपतिने भगवान्‌से कहा—

"साधु ! साधु ! भन्ते तपस्वी ! जैसाकि शास्ताके शासनके मर्मज्ञ, वहु-श्रुत, श्रावक

दीर्घ-तपस्वी निगंठने भगवान्‌को बतलाया !! यह मुर्दा मन-दंड इस महान् काया-दंडके सामने क्या शोभता है ? पाप-कर्मकी प्रवृत्तिके लिये काय-दंडही महा-दोषी है; वैसा वचन-दंड नहीं है, वैसा मन-दंड नहीं है।"

"गृहपति ! यदि तू सत्यमें स्थिर हो मंत्रणा (= विचार) करे, तो हम दोनोंका संलाप हो।"

"भन्ते ! मैं सत्यमें स्थिर हो मंत्रणा करूँगा। हम दोनोंका संलाप हो।"

"क्या मानते हो गृहपति ! (यदि) यहाँ एक बीमार = दुःखित भयंकर रोग-ग्रस्त शीत-जल-त्यागी उष्ण-जल-सेवी निगंठ······शीत-जल न पानेके कारण मर जाये, तो निगंठ नात-पुत्त उसकी (पुनः) उत्पत्ति कहाँ बतलायेंगे ?"

"भन्ते ! (जहाँ) मनः-सत्त्व नामक देवता हैं; वह वहाँ उत्पन्न होगा।"

"सो किस कारण ?"

"भन्ते ! वह मनसे बँधा हुआ मरा है।"

"गृहपति ! गृहपति ! मनमें (सोच) करके कहो। तुम्हारा पूर्व (पक्ष)से पश्चिम (पक्ष) नहीं मिलता, तथा पश्चिमसे पूर्व नहीं ठीक खाता। और गृहपति ! तुमने यह बात (भी) कही है—भन्ते ! मै सत्यमें स्थिर हो मंत्रणा करूँगा, हम दोनोंका संलाप हो।"

"और भन्ते ! भगवान्‌ने भी ऐसा कहा है—पापकर्म करनेके लिये ० काय-दंडही महादोषी है, वैसा वचन-दंड······(और) मन-दंड नहीं ?"

"तो क्या मानते हो गृह-पति ! यहाँ एक [1]चातुर्याम-संवरसे संवृत (= गोपित, रक्षित), सब [2]वारिसे निवारित, सब वारि(= वारितों)को निवारण करनेमें तत्पर, सब (पाप-) वारिसे धुला हुआ, सब (पाप) वारिसे छूटा हुआ, निर्ग्रंथ (= जैन-साधु) है। वह आते जाते बहुतसे छोटे-छोटे प्राणि-समुदायको मारता है। गृहपति ! निगंठ नात-पुत्त इसका क्या विपाक (= फल) बतलाते हैं ?"

"भन्ते ! अनूजानको निगंठ नात-पुत्त महादोष नहीं कहते।"

"गृहपति ! यदि जानता हो।"—"(तब) भन्ते ! महादोष होगा।"

"गृहपति ! जाननेको निगंठ नात-पुत्त किसमें कहते हैं ?"—"भन्ते ! मन-दंडमें।"

"गृहपति ! गृहपति ! मनमें (सोच) करके कहो। ०।"

"और भन्ते ! भगवान्‌ने भी ०।"

"तो गृहपति ! क्या यह नालन्दा सुख-संपत्ति-युक्त, बहुत जनोंवाली, (बहुत) मनुष्योंसे भरी है ?"—"हाँ भन्ते !"

"तो···गृहपति ! (यदि) यहाँ एक पुरुष (नंगी) तलवार उठाये आये, और कहे— इस नालन्दामें जितने प्राणी हैं, मैं एक क्षणमें एक मुहूर्तमें, उन (सब)का एक माँस का खलियान, एक माँसका ढेर कर दूँगा। तो क्या गृहपति ! वह पुरुष···एक माँसका ढेर कर सकता है ?"

"भन्ते ! दश भी पुरुष, बीस भी पुरुष, तीस०, चालीस०, पचास भी पुरुष, एक माँसका ढेर नहीं कर सकते, वह एक मुवा क्या···है।"

---

[1] (१) प्राण-हिंसा न करना, न कराना, न अनुमोदन करना, (२) चोरी न०। (३) झूठ न०। (४) भावित (= विषय-भोग) न चाहना ०। यह चातुर्याम है। [2] निषिद्ध शीतल जल या पापरूपी जल।

"तो···गृहपति ! यहाँ एक ऋद्धिमान्, चित्तको वशमें किया हुआ, श्रमण या ब्राह्मण आवे, वह ऐसा बोले—मैं इस नालंदाको एक ही मनके क्रोधसे भस्म कर दूँगा। तो क्या···गृहपति ! वह श्रमण या ब्राह्मण ० इस नालंदाको (अपने) एक मनके क्रोधसे भस्म कर सकता है ?"

"भन्ते ! दश नालन्दाओंको भी ० पचास नालन्दाओंको भी ० वह श्रमण या ब्राह्मण (अपने) एकके क्रोधसे भस्मकर सकता है। एक मुई नालन्दा क्या है।"

"गृहपति ! गृहपति ! मनमें (सोच) कर···कहो ०।"

"और भगवान्ने भी ०।"

"तो···गृहपति ! क्या तुमने दंडकारण्य, कलिंगारण्य, मेध्यारण्य (= मेज्झारञ्ञ), मातङ्गारण्यका अरण्य होना सुना है ?"—"हाँ, भन्ते ! ०।"

"तो···गृहपति ! तुमने सुना है, कैसे दण्डकारण्य ० हुआ ?"

"भन्ते ? मैंने सुना है—ऋषियोंके मनके-कोपसे दंडकारण्य ० हुआ।"

"गृहपति ! गृहपति ! मनमें (सोच) कर···कहो ०। तुम्हारा पूर्वसे पश्चिम नहीं मिलता, पश्चिमसे पूर्व नहीं मिलता। और तुमने गृहपति ! यह बात कही है—'सत्यमें स्थिर हो मैं भन्ते ! मंत्रणा (= वाद) करूँगा, हमारा संलाप हो।"

"भन्ते ! भगवान्की पहिली उपमासे ही मैं सन्तुष्ट = अभिरत होगया था। विचित्र प्रश्नोंके व्याख्यान (= पटिभान)को और भी सुननेकी इच्छासेही मैंने भगवान्को प्रतिवादी बनाना पसन्द किया। आश्चर्य ! भन्ते !! आश्चर्य ! भन्ते !! जैसे औंधेको सीधा करदे ०[1] आजसे भगवान् मुझे सांजलि शरणागत उपासक धारण करें।"

"गृहपति ! सोच-समझकर (काम) करो। तुम्हारे जैसे मनुष्योंका सोच-समझकर ही करना अच्छा होता है।"

"भन्ते ! भगवान्के इस कथनसे मैं और भी प्रसन्न-मन, सन्तुष्ट और अभिरत हुआ; जोकि भगवान्ने मुझे कहा—'गृहपति ! सोच-समझकर करो ०।' भन्ते ! दूसरे तैर्थिक (= पंथाई) मुझे श्रावक पाकर, सारे नालन्दामें पताका उड़ाते—'उपालि गृहपति हमारा श्रावक होगया'। और भगवान् मुझे कहते हैं—'गृहपति ! सोच-समझकर करो ०'। भन्ते ! यह दूसरी बार मैं भगवान्की शरण जाता हूँ, धर्म और भिक्षु संघकी भी ०[1]।"

"गृहपति ! दीर्घ-कालसे तुम्हारा कुल (= कुल) निगण्ठोंके लिये प्याउकी तरह रहा है, उनके जानेपर 'पिंड नहीं देना चाहिये'—यह मत समझना।"

"भन्ते ! इससे और भी प्रसन्न-मन, सन्तुष्ट और अभिरत हुआ, जो मुझे भगवान्ने कहा—दीर्घकालसे तेरा घर ०। भन्ते ! मैंने सुना था कि श्रमण गौतम ऐसा कहता है—मुझेही दान देना चाहिये, दूसरोंको दान न देना चाहिये। मेरेही श्रावकोंको दान देना चाहिये, दूसरोंको दान न देना चाहिये। मुझेही देनेका महा-फल होता है, दूसरोंको देनेका महा-फल नहीं होता। मेरेही श्रावकोंको देनेका महाफल होता है, दूसरोंके श्रावकोंको देनेका महाफल नहीं होता। और भगवान्तो मुझे निगण्ठोंको भी दान देनेको कहते हैं। भन्ते ! हम भी इसे युक्त समझेंगे। भन्ते ! यह मैं तीसरी बार भगवान्की शरण जाता हूँ ०[1]।"

तब भगवान्ने उपालि गृहपतिको आनुपूर्वी-कथा कही ०[2]। जैसे कालिमा-रहित शुद्ध-

---

[1] देखो पृष्ठ १६। [2] देखो बुद्धचर्या, पृष्ठ २५।

वस्त्र अच्छी प्रकार रंगको पकड़ता है, इसी प्रकार उपालि गृहपतिको उसी आसनपर विरज = विमल धर्म-चक्षु उत्पन्न हुआ—'जो कुछ समुदय-धर्म है, वह सब निरोध-धर्म है'। तब उपालि गृहपतिने दृष्ट-धर्म [1] हो भगवान्‌से कहा—

"भन्ते ! अब हम जाते हैं, हम बहुकृत्य = बहुकरणीय हैं।"

"गृह-पति ! जिसका तुम काल समझो (वैसा करो)।"

तब उपालि गृह-पति भगवान्‌के भाषणको अभिनन्दन कर, अनु-मोदनकर, आसनसे उठ, भगवान्‌को अभिवादनकर, प्रदक्षिणाकर, जहाँ उसका घर था, वहाँ गया। जाकर द्वारपालसे बोला—

"सौम्य ! दौवारिक ! आजसे मैं निगण्ठों और निगण्ठियोंके लिये द्वार बन्द करता हूँ, भगवान्‌के भिक्षु भिक्षुनी, उपासक और उपासिकाओंके लिये द्वार खोलता हूँ। यदि निगण्ठ आये, तो कहना—'ठहरें भन्ते ! आजसे उपालि गृह-पति श्रमण गौतमका श्रावक हुआ। निगंठों, निगंठियोंके लिये द्वार बन्द है; भगवान्‌के भिक्षु, भिक्षुनी, उपासक, उपासिकाओंके लिये द्वार खुला है। यदि भन्ते ! तुम्हें पिंड (= भिक्षा) चाहिये, यहीं ठहरें, (हम) यहीं ला देंगे।"

"अच्छा भन्ते !" (कह) दौवारिकने उपालि गृह-पतिको उत्तर दिया।

दीर्घ-तपस्वी निगंठने सुना—'उपालि गृह-पति श्रमण गौतमका श्रावक होगया'। तब दीर्घ-तपस्वी निगंठ, जहाँ निगंठ नात-पुत्त थे, वहाँ गया। जाकर निगंठ नात-पुत्तसे बोला :—

"भन्ते ! मैंने सुना है, कि उपालि गृह-पति श्रमण गौतमका श्रावक हो गया।"

"यह स्थान नहीं, यह अवकाश नहीं (= यह असम्भव) है, कि उपालि गृह-पति श्रमण गौतमका श्रावक हो जाये, और यह स्थान (= संभव) है, कि श्रमण गौतम (ही) उपालि गृहपतिका श्रावक (= शिष्य) हो।"

दूसरी बार भी दीर्घ तपस्वी निगंठने कहा— ०।

तीसरी बार भी दीर्घ तपस्वी निगंठने ०।

"तो भन्ते ! मैं जाता हूँ, और देखता हूँ, कि उपालि गृह-पति श्रमण गौतमका श्रावक हो गया, या नहीं।"

"जा तपस्वी ! देख कि उपालि गृहपति श्रमण गौतमका श्रावक होगया, या नहीं।"

तब दीर्घ-तपस्वी निगंठ जहाँ उपालि गृहपतिका घर था, वहाँ गया। द्वार-पालने दूरसे ही दीर्घ-तपस्वी निगंठको आते देखा। देखकर दीर्घ-तपस्वी निगंठसे कहा—

"भन्ते ! ठहरो, मत प्रवेश करो। आजसे उपालि गृहपति श्रमण गौतमका श्रावक होगया ०। यहीं ठहरो, यहीं तुम्हें पिंड ले आ देंगे।"

"आवुस ! मुझे पिंडका काम नहीं है।"

—यह कह दीर्घ-तपस्वी निगंठ जहाँ निगंठ नात-पुत्त थे, वहाँ गया। जाकर निगंठ नात-पुत्तसे बोला—

"भन्ते ! सच ही है। उपालि गृहपति श्रमण गौतमका श्रावक होगया। भन्ते ! मैंने तुम से पहिले ही न कहा था, कि मुझे यह पसन्द नहीं कि उपालि गृहपति श्रमण गौतमके साथ वाद करे। श्रमण गौतम भन्ते ! मायावी है, आवर्तनी माया जानता है, जिससे दूसरे तैर्थिकोंके श्रावकों को फेर लेता है। भन्ते ! उपालि गृहपतिको श्रमण गौतमने आवर्तनी-मायासे फेर लिया।"

---

[1] देखो बुद्धचर्या, पृष्ठ २५।

"तपस्वी ! यह···(संभव नहीं)···कि उपालि गृहपति श्रमण गौतमका श्रावक होजाय ०।"

दूसरी वार भी दीर्घ-तपस्वी निगंठने निगंठ नात-पुत्तसे यह कहा— ०। तीसरी वार भी दीर्घ-तपस्वी ०।

"तपस्वी ! यह···(संभव नहीं)··· ०। अच्छा तो तपस्वी ! मैं जाता हूँ। स्वयं जानता हूँ, कि उपालि गृह-पति श्रमण गौतमका श्रावक हुआ या नहीं।"

तव निगंठ नात-पुत्त वड़ी भारी निगंठोंकी परिषद्‌के साथ, जहाँ उपालि गृहपतिका घर था, वहाँ गया। द्वार-पालने दूरसे आते हुये निगंठ नात-पुत्तको देखा। (और) कहा—

"ठहरें भन्ते ! मत प्रवेश करें। आजसे उपालि गृहपति श्रमण गौतमका उपासक हुआ ०। यहीं ठहरें, यहीं तुम्हें (पिंड) ले आ देंगे।"

"तो सौम्य दौवारिक ! जहाँ उपालि गृहपति है, वहाँ जाओ। जाकर उपालि गृहपतिको कहो—भन्ते ! वड़ी भारी निगंठ-परिषद्‌के साथ निगंठ नात-पुत्त फाटकके वाहर खड़े हैं, (और) तुम्हें देखना चाहते हैं।"

"अच्छा भन्ते।"—निगंठ नात-पुत्तको कह (द्वारपाल) जहाँ उपालि गृहपति था, वहाँ गया। जाकर उपालि गृहपतिसे वोला—

"भन्ते ! ० निगंठ नात-पुत्त। ०"

"तो सौम्य ! दौवारिक ! विचली द्वार-शाला(= दालान)में आसन विछाओ।"

"अच्छा भन्ते !"—उपालि गृहपतिसे कह, विचली द्वार-शालामें आसन विछा—

"भन्ते ! विचली द्वार-शालामें आसन विछा दिये। अव (आप) जिसका काल समझें।"

तव उपालि गृह-पति जहाँ विचली द्वार-शाला थी, वहाँ गया। जाकर जो वहाँ अग्र = श्रेष्ठ, उत्तम = प्रणीत आसन था, उसपर वैठकर दौवारिकसे वोला—

"तो सौम्य दौवारिक ! जहाँ निगंठ नात-पुत्त हैं, वहाँ जाओ, जाकर निगंठ नात-पुत्तसे यह कहो—'भन्ते ! उपालि गृहपति कहता है—यदि चाहें तो भन्ते ! प्रवेश करें।"

"अच्छा भन्ते !"—(कह)···दौवारिकने······निगंठ नात-पुत्तसे कहा—

"भन्ते ! उपालि गृहपति कहते हैं—यदि चाहें तो, प्रवेश करें।"

निगंठ नात-पुत्त वड़ी भारी निगंठ-परिषद्‌के साथ जहाँ विचली द्वारशाला थी, वहाँ गये। पहिले जहाँ उपालि गृहपति, दूरसेही निगंठ नात-पुत्तको आते देखता; देखकर अगवानी कर वहाँ जो अग्र = श्रेष्ठ, उत्तम = प्रणीत आसन होता, उसे (अपनी) चादरसे पोंछकर, उसपर वैठाता था। सो आज जो वहाँ ० उत्तम ० आसन था, उसपर स्वयं वैठकर निगंठ नात-पुत्तसे वोला—

"भन्ते ! आसन मौजूद हैं, यदि चाहें तो वैठें।"

ऐसा कहनेपर निगंठ नात-पुत्तने उपालि-गृहपतिसे कहा—

"उन्मत्त होगया है गृहपति ! जड़ होगया है गृहपति ! तू—'भन्ते ! जाता हूँ श्रमण-गौतमके साथ वाद रोपूँगा'—(कहकर) जानेके वाद वड़े भारी वादके संघाट(= जाल)में वँधकर लौटा है। जैसे कि अंड (= अंडकोश)-हारक निकाले अंडोंके साथ आये; जैसे कि··· अक्षि (= आँख)-हारक पुरुष निकाली आँखोंके साथ आये, वैसेही गृहपति ! तू—'भन्ते ! जाता हूँ, श्रमण गौतमके साथ वाद रोपूँगा' (कहकर) जा, वड़े भारी वाद-संघाटमें वँधकर लौटा है। गृहपति ! श्रमण गौतमने आवर्तनी-मायासे तेरी (मत) फेरली है।"

"सुन्दर है, भन्ते ! आवर्तनी माया। कल्याणी है भन्ते ! आवर्तनी माया। (यदि) मेरे

प्रिय जातिभाई भी इस आवर्तनी-माया द्वारा फेर लिये जाँये, (तो) मेरे प्रिय जाति-भाइयोंका दीर्घ-कालतक हित-सुख होगा। यदि भन्ते ! सभी क्षत्रिय इस आवर्तनी-मायासे फेर लिये जावें, तो सभी क्षत्रियोंका दीर्घ-कालतक हित-सुख होगा। यदि सभी ब्राह्मण ०। यदि सभी वैश्य ०। यदि सभी शूद्र ०। यदि देव-मार-ब्रह्मा-सहित सारा लोक, श्रमण-ब्राह्मण-देव-मनुष्य-सहित सारी प्रजा (= जनता) इस आवर्तनी मायासे फेर लीजाय, तो…(उसका) दीर्घकालतक हित-सुख होगा। भन्ते ! आपको उपमा कहता हूँ, उपमासे भी कोई कोई विज्ञ पुरुष भाषणका अर्थ समझ जाते हैं—

"पूर्वकालमें भन्ते ! किसी जीर्ण = वृद्ध = महल्लक ब्राह्मणकी एक नव-वयस्का (= दहर) माणविका (= तरुण ब्राह्मणी) भार्या गर्भिणी आसन्न-प्रसवा हुई। तब भन्ते ! उस माणविकाने ब्राह्मणसे कहा—ब्राह्मण ! जा बाजारसे एक वानरका बच्चा (खिलौना) खरीद ला, वह मेरे कुमार (= बच्चे)का खेल होगा।"

"ऐसा बोलनेपर, भन्ते ! उस ब्राह्मणने उस माणविकासे कहा—भवती (= आप) ! ठहरिये, यदि आप कुमार जनेंगी, तो उसके लिये मैं बाजारसे मर्कट-शावक (खिलौना) खरीद कर लाऊँगा, जो आपके कुमारका खेल होगा। दूसरी बार भी भन्ते ! उस माणविकाने ०। तीसरी बार भी ०। तब भन्ते ! उस माणविकामें अति-अनुरक्त = प्रतिबद्ध-चित्त उस ब्राह्मणने बाजारसे मर्कट-शावक खरीदकर, लाकर, उस माणविकासे कहा—'भवती ! बाजारसे यह तुम्हारा मर्कट-शावक खरीदकर लाया हूँ, यह तुम्हारे कुमारका खिलौना होगा।' ऐसा कहनेपर भन्ते ! उस माणविकाने उस ब्राह्मणसे कहा—'ब्राह्मण ! इस मर्कट, शावकको लेकर, वहाँ जाओ जहाँ रक्त-पाणि रजक-पुत्र (= रंगरेजका बेटा) है। जाकर रक्त-पाणि रजक-पुत्रसे कहो—सौम्य ! रक्तपाणि ! मैं इस मर्कट-शावकको पीतावलेपन रंगसे रंगा मला, दोनों ओर पालिश किया हुआ चाहता हूँ।' तब भन्ते ! उस माणविकामें अति-अनुरक्त = प्रतिबद्ध-चित्त वह ब्राह्मण उस मर्कट-शावकको लेकर जहाँ रक्त-पाणि रजक-पुत्र था, वहाँ गया, जाकर रक्त-पाणि रजक-पुत्रसे बोला—'सौम्य ! रक्तपाणि ! इस ०'। ऐसा कहनेपर रक्त-पाणि रजक-पुत्रने उस ब्राह्मणसे कहा—'भन्ते ! यह तुम्हारा मर्कट-शावक न रंगने योग्य है, न मलने योग्य है, न माँजने योग्य है।' इसी प्रकार भन्ते ! बाल (= अज्ञ) निगंठोंका वाद (सिद्धान्त), बालों (= अज्ञों)को रंजन करने लायक है, पंडितको नहीं। (यह) न परीक्षा (= अनुयोग)के योग्य है, न मीमांसाके योग्य है। तब भन्ते ! वह ब्राह्मण दूसरे समय नया धुस्सेका जोड़ा ले, जहाँ रक्त-पाणि रजकपुत्र था, वहाँ गया। जाकर रक्त-पाणि रजक-पुत्रसे बोला—'सौम्य ! रक्त-पाणि ! धुस्सेका जोड़ा पीतावलेपन (= पीले) रंगसे रंगा, मला, दोनों ओरसे माँजा (= पालिश किया) हुआ चाहता हूँ'। ऐसा कहनेपर भन्ते ! रक्त-पाणि रजक-पुत्रने उस ब्राह्मणसे कहा—'भन्ते ! यह तुम्हारा धुस्सा-जोड़ा रँगने योग्य है, मलने योग्य भी है, माँजने योग्य भी है।' इसी तरह भन्ते ! उस भगवान् अर्हत् सम्यक् संबुद्धका वाद, पंडितोंको रंजन करने योग्य है, बालों (= अज्ञों)को नहीं। (यह) परीक्षा और मीमांसाके योग्य है।"

"गृहपति ! राजा-सहित सारी परिषद् जानती है, कि उपालि गृह-पति निगंठ नातपुत्तका श्रावक है। (अब) गृहपति ! तुझे किसका श्रावक समझें। ऐसा कहनेपर उपालि गृहपति आसनसे उठकर, (दाहिने कन्धेको नंगाकर) उत्तरासंग (= चद्दर)को, एक कंधेपर कर, जिधर भगवान् थे उधर हाथ जोड़, निगंठ नात-पुत्तसे बोला—"भन्ते ! सुनो मैं किसका श्रावक हूँ ?—

धीर विगत-मोह खंडित-कील विजित-विजय,
निर्दु:ख सु-सम-चित्त वृद्ध-शील सुन्दर-प्रज्ञ,
विश्वके तारक, वि-मल—उस भगवान्‌का मैं श्रावक हूँ ॥ १ ॥
अकथं-कथी, संतुष्ट, लोक-भोगको वमन करनेवाले, मुदित,
श्रमण-हुये-मनुज अंतिम-शरीर-नर,
अनुपम, वि-रज—उस भगवान्‌का मैं श्रावक हूँ ॥ २ ॥
संशय-रहित, कुशल, विनय-युक्त-बनानेवाले, श्रेष्ठ-सारथी,
अनुत्तर (= सर्वोत्तम), रुचिर-धर्म-वान्, निराकांक्षी, प्रभाकर,
मान-छेदक, वीर—उस भगवान्‌का मैं श्रावक हूँ ॥ ३ ॥
उत्तम (= निसभ) अ-प्रमेय, गम्भीर, मुनित्व-प्राप्त,
क्षेमंकर, ज्ञानी, धर्मार्थ-वान्, संयत-आत्मा,
संग-रहित, मुक्त—उस भगवान्‌का मैं श्रावक हूँ ॥ ४ ॥
नाग, एकांत-आसन-वान्, संयोजन(= बन्धन)-रहित, मुक्त,
प्रति-मंत्रक (= वाद-दक्ष), धौत, प्राप्त-ध्वज, वीत-राग,
दान्त, निष्प्रपंच, उस भगवान्‌का मैं श्रावक हूँ ॥ ५ ॥
ऋषि-सत्तम, अ-पाखंडी, त्रि-विद्या-युक्त, ब्रह्म(= निर्वाण)-प्राप्त,
स्नातक, पदक (= कवि), प्रश्रब्ध, विदित-वेद,
पुरन्दर, शक्र—उस भगवान्‌का मैं श्रावक हूँ ॥ ६ ॥
आर्य, भावितात्मा, प्राप्तव्य-प्राप्त वैयाकरण,
स्मृतिमान्, विपश्यी, अन-अभिमानी, अन्-अवनत,
अ-चंचल, वशी—उस भगवान्‌का मैं श्रावक हूँ ॥ ७ ॥
सम्यग्-गत, ध्यानी, अ-लग्न-चित्त (= अन्-अनुगत-अन्तर), शुद्ध।
अ-सित (= शुद्ध), अ-प्रहीण, प्रविवेक-प्राप्त, अग्र-प्राप्त,
तीर्ण, तारक—उस भगवान्‌का मैं श्रावक हूँ ॥ ८ ॥
शांत, भूरि (= बहु)-प्रज्ञ, महा-प्रज्ञ विगत-लोभ,
तथागत, सुगत, अ-प्रति-पुद्गल (= अ-तुलनीय) = अ-सम,
विशारद, निपुण—उस भगवान्‌का मैं श्रावक हूँ ॥ ९ ॥
तृष्णा-रहित, बुद्ध, धूम-रहित, अ-लिप्त,
पूजनीय = यक्ष, उत्तम-पुद्गल, अ-तुल,
महान् उत्तम-यश-प्राप्त—उस भगवान्‌का मैं श्रावक हूँ ॥१०॥"

"गृहपति ! श्रमण गौतमके (यह) गुण तुझे कब (से) सूझे ?"

"भन्ते ! जैसे नाना पुष्पोंकी एक पुष्प-राशि (ले) एक चतुर माली या मालीका अन्ते-वासी विचित्र माला गूँथे; उसी प्रकार, भन्ते ! वह भगवान् अनेक वर्ण (= गुण)वाले अनेक शत वर्णवाले हैं। भन्ते ! प्रशंसनीयकी प्रशंसा कौन न करेगा ?"

निगंठ नात-पुत्तने भगवान्‌के सत्कारको न सहनकर, वहीं मुँहसे गर्म लोहू फेंक दिया।

५७—कुक्कुर-वतिक-सुत्तन्त (२।१।७)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् कोलि (देश)में कोलियोंके हलिद्दवसन (= हरिद्रवसन) नामक निगममें विहार (= निवास) करते थे।

तब गोव्रतिक (= गायकी भाँति खाने पीनेका व्रत रखने वाला) कोलिय-पुत्त पूर्ण और कुक्कुर-व्रतिक अचेल (= नंगा) सेनिय (= श्रेणिक) जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये; जाकर गोव्रतिक कोलियपुत्त पूर्ण, भगवान्को अभिवादनकर एक ओर बैठ गया। कुक्कुर-व्रतिक अचेल सेनिय भगवान्के साथ···सम्मोदन (= कुशल-मंगल पूछ)कर कुकुरकी भाँति गेंडुरी मार, एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे ० पूर्णने भगवान्से यह कहा—

"भन्ते! यह कुकुर-व्रतिक अचेल सेनिय बड़ा मुश्किल करनेवाला (= दुष्कर-कारक) है, भूमिमें रक्खे (भोजन)को खाता है। इसने इस कुक्कुर-व्रतको दीर्घकालसे निरन्तर ले रक्खा है। उसकी क्या गति = क्या अभिसम्पराय (= जन्मांतर फल) (होगा)?"

"बस, रहने दे, पूर्ण! मत मुझसे यह पूछ।"

दूसरी बारभी ० पूर्णने भगवान्से यह कहा—"भन्ते! ०"।

तीसरी बारभी ० पूर्णने भगवान्से यह कहा—"भन्ते! ०"।

"पूर्ण! मैं तुझे नहीं (स्वीकार करा) पाता—'बस, रहने दे, पूर्ण! मत मुझसे यह पूछ'। अच्छा, तो मैं तुझसे कहता हूँ। (जब) कोई पूर्ण! परिपूर्ण अ-खंड कुकुर-व्रतकी भावना (= अभ्यास) करता है, परिपूर्ण अ-खंड कुकुर-शीलकी भावना करता है, ० कुकुर-चित्तकी भावना करता है, ० कुकुर-आकल्प (= ० तौर-तरीका)की भावना करता है; वह परिपूर्ण अखंड कुकुर-व्रत की भावना करके, ० कुकुर-शील ०, ० कुकुर-चित्त ०, ० कुकुर-आकल्पकी भावना करके काया छोड़ मरनेके बाद कुकुरोंकी योनिमें उत्पन्न होता है। यदि पूर्ण! उसकी ऐसी दृष्टि हो—'मैं इस (कुकुरके) शील, व्रत, तप, ब्रह्मचर्यसे देवोंमेंसे कोई देवता होऊँगा; तो यह उसकी मिथ्या-दृष्टि (= झूठी धारणा) है। पूर्ण! मिथ्या-दृष्टि (पुरुष)की मैं दो गतियोंमेंसे एक ही गति कहता हूँ—नरक या तिर्यक्-(= पशु)-योनि। इस प्रकार पूर्ण! कुकुर-व्रतका करना कुकुरकी योनिमें ले जाता है, (या) विद्यमान नरकको।"

ऐसा कहनेपर कुकुरव्रतिक अचेल सेनिय रो पड़ा, आँसू बहाने लगा।

तब भगवान्ने ० पूर्णसे यह कहा—"पूर्ण! मैं तुझसे नहीं (स्वीकार) करा पाया—'बस, रहने दे ०'।"

(सेनिय बोला—) "भन्ते! भगवान्के मुझे ऐसा कहनेके ख्यालसे मैं नहीं रो रहा हूँ। लेकिन भन्ते! मैंने इस कुकुरव्रतको दीर्घकालसे···ले रक्खा है। यह भन्ते! ० पूर्णने भी गोव्रत

दीर्घकालसे···ले रक्खा है। उसकी क्या गति है = क्या अभिसम्पराय है ?"

"बस, रहने दे सेनिय ! मत मुझसे यह पूछ।"

दूसरी बार भी ०। तीसरी बार भी ०।

"सेनिय ! मैं तुझसे नहीं (स्वीकार) करा पाया—'बस ०'। अच्छा तो मैं तुझसे कहता हूँ। (जो) कोई सेनिय ! परिपूर्ण अ-खंड गोव्रतकी भावना करता है, ० गो-शील ०, ० गो-चित्त ०, ० गो-आकल्प ० ; ०, (वह) काया छोड़ मरनेके बाद गौकी योनिमें उत्पन्न होता है। यदि सेनिय ! उसकी ऐसी दृष्टि हो— ० विद्यमान नरकको।"

ऐसा कहने पर गोव्रतिक कोलियपुत्त पूर्ण रो पड़ा, आँसू बहाने लगा।

तब भगवान्‌ने ०सेनियसे यह कहा—"सेनिय ! मैं तुझसे नहीं (स्वीकार) करा पाया—'बस रहने दे ०'।"

(पूर्ण बोला—) "भन्ते ! भगवान्‌के मुझे ऐसा कहनेके ख्यालसे मैं नहीं रो रहा हूँ। लेकिन भन्ते ! मैंने इस व्रतको दीर्घकालसे···ले रक्खा है। भन्ते ! भगवान् पर मैं इतना श्रद्धावान् (= प्रसन्न) हूँ; भगवान् ऐसा धर्म-उपदेश करें, जिसमें मैं इस गोव्रतको छोड़ दूँ, और यह . सेनिय कुक्कुर-व्रतको छोड़ दे।"

"तो पूर्ण ! सुनो ! अच्छी तरह मनमें करो, कहता हूँ।"

"अच्छा, भन्ते !"—(कह) ० पूर्णने भगवान्‌को उत्तर दिया।

भगवान्‌ने यह कहा—"पूर्ण ! मैंने इन चार कर्मोंको स्वयं जानकर, साक्षात्कारकर अनुभव किया है। कौनसे चार ?—(१) पूर्ण ! कोई कर्म होता है कृष्ण (= बुरा) और कृष्ण-विपाक (= बुरे परिणामवाला); (२) पूर्ण ! कोई कर्म होता है, शुक्ल (= अच्छा), और शुक्ल-विपाक; (३) ० कृष्ण-शुक्ल ०; (४) ० अकृष्ण-अशुक्ल, अकृष्ण-अशुक्ल-विपाक (जो कि) कर्मके क्षयके लिये (उपयोगी) होता है।

"क्या है। पूर्ण ! कृष्ण, कृष्ण-विपाक कर्म ?—यहाँ, पूर्ण ! कोई (पुरुष) व्यापाद (= पीड़ा)-युक्त काय-संस्कार (= कायिक क्रिया) करता, व्यापाद-युक्त वचन-संस्कार ०, व्यापाद-युक्त मनः-संस्कार करता है; वह व्यापाद-युक्त काय-संस्कारको करके, ० वचन-संस्कार ०, ० मनः-संस्कारको करके, व्यापाद-युक्त लोकमें उत्पन्न होता है। व्यापाद-युक्त लोकमें उत्पन्न हुये उसे व्यापाद-युक्त स्पर्श (= कर्म-विपाक) आ लगते हैं। वह व्यापाद-युक्त स्पर्शोंके लगनेसे व्यापाद (= पीड़ा)-युक्त केवल दुःखमय वेदनाको अनुभव करता है, जैसे कि नरकके प्राणी। इस प्रकार पूर्ण ! भूत (= यथाभूत=जैसे)से भूत (= तथाभूत=जैसे)की उत्पत्ति होती है; जैसा करता है, उसके साथ उत्पन्न होता है। उत्पन्न हुयेको स्पर्श आ लगते हैं। इसलियेभी पूर्ण मैं कहता हूँ—'प्राणी (अपने) कर्मोंके दायाद (= वारिस) हैं।' पूर्ण ! यह कृष्ण कृष्ण-विपाक कर्म कहा जाता है।

"क्या है पूर्ण ! शुक्ल, शुक्ल-विपाक कर्म ?—यहाँ, पूर्ण ! कोई (पुरुष) व्यापाद-रहित काय-संस्कार ०[1] व्यापाद-रहित लोकमें उत्पन्न हुये उसे व्यापाद-रहित स्पर्श छूते हैं। वह व्यापाद-रहित स्पर्शोंके लगनेसे व्यापाद-रहित केवल सुखमय वेदनाको अनुभव करता है, जैसे कि शुभकृत्स्न देवता। इस प्रकार पूर्ण ! भूतसे भूतकी उत्पत्ति होती है। (प्राणी) जैसा करता है, उसके साथ उत्पन्न होता है। उत्पन्न हुयेको स्पर्श (=भोग) आ लगते हैं। इसीलिये पूर्ण ! मैं कहता हूँ—'प्राणी कर्मोंके दायाद हैं'। पूर्ण ! यह शुक्ल, शुक्ल-विपाक कर्म कहा जाता है।

---

[1] ऊपर जैसा, किन्तु निषेधके साथ।

"क्या है पूर्ण, कृष्ण-शुक्ल कृष्ण-शुक्ल-विपाक कर्म ?—यहाँ पूर्ण ! कोई (पुरुष) व्यापाद-युक्त भी, अव्यापाद-युक्त भी काय-संस्कार ०[१] वह व्यापाद-सहितसे और व्यापाद-रहित स्पर्शोंके लगनेसे व्यापाद-सहित, व्यापाद-रहित सुख-दुःख-मिश्रित वेदनाको अनुभव करता है; जैसे कि मनुष्य, कोई कोई देवता, और कोई कोई विनिपातिक (= नीच योनिके प्राणी)। इस प्रकार पूर्ण ! भूतसे भूत ०। पूर्ण ! यह कृष्ण-शुक्ल ०।

"क्या है, पूर्ण ! अकृष्ण-अशुक्ल अकृष्ण-अशुक्ल-विपाक कर्म (जो कि) कर्म-क्षयके लिये उपयोगी होता है ?—वहाँ पूर्ण ! कृष्ण-विपाक कृष्ण कर्मके क्षयके लिये (उपयोगी) जो चेतना (= मानस कर्म) है, ० शुक्ल कर्म ०के क्षयके लिये जो चेतना है, ० कृष्ण-शुक्ल कर्म ० के क्षयके लिये जो चेतना है। पूर्ण यह ० अकृष्ण-अशुक्ल कर्म कहा जाता है। पूर्ण ! मैंने इन चार कर्मोंको स्वयं जानकर, साक्षात्कार कर अनुभव किया है।"

ऐसा कहनेपर ० पूर्णने भगवान्‌से यह कहा—"आश्चर्य ! भन्ते ! अद्भुत !! भन्ते ! जैसे औंधेको सीधा करदे। ०[२] यह मैं भगवान्‌की शरण जाता हूँ, धर्म और भिक्षु-संघकी भी। आजसे भगवान् मुझे अंजलिबद्ध शरणागत उपासक स्वीकार करें।"

और कुकुर-व्रतिक अचेल सेनियने भगवान्‌से यह कहा—"आश्चर्य ! भन्ते ! अद्भुत !! भन्ते ! जैसे औंधेको सीधाकर दे ०[२] यह मैं भगवान्‌को शरण जाता हूँ, धर्म और भिक्षु-संघकी भी। भन्ते ! मैं भगवान्‌के पास प्रव्रज्या (=संन्यास) पाऊँ, उपसंपदा (= भिक्षु दीक्षा) पाऊँ।"

"सेनिय ! जो कोई भूत-पूर्व अन्यतीर्थिक (= दूसरे पंथका व्यक्ति) इस (= बुद्धके) धर्म-विनय (= धर्म)में प्रव्रज्या उपसंपदा चाहता है; वह चार मासतक परिवास (= परीक्षार्थ वास) करता है; फिर पसन्द होनेपर उसे भिक्षु, प्रव्रजित करते हैं, भिक्षु-भावके लिये उपसम्पादित करते हैं; किन्तु यहाँ मुझे व्यक्ति व्यक्तिमें भिन्न मत भी विदित है।"

"यदि, भन्ते ! भूतपूर्व अन्य-तीर्थिक, इस धर्म-विनयमें प्रव्रज्या उपसंपदाकी इच्छा करने पर चार मास परिवास करते हैं, फिर पसंद होनेपर ०; तो मैं चार वर्ष परिवास करूँगा। चार वर्षोंके बाद पसन्द होनेपर भिक्षु मुझे प्रव्रजित करें, ० उपसम्पादित करें।"

० सेनियने भगवान्‌के पास प्रव्रज्या पाई, उपसम्पदा पाई। आयुष्मान् सेनिय उपसम्पदा पानेके थोड़े ही समय बाद; एकाकी, एकान्तवासी, प्रमाद-रहित, उद्योगी (और) आत्म-संयमी हो, विहरते; जल्दी ही, जिसके लिये कुल-पुत्र अच्छी तरह घरसे बेघर हो प्रव्रजित होते हैं, उस अनुपम ब्रह्मचर्य-फलको इसी जन्ममें जान कर = साक्षात्कार कर, प्राप्त कर विहरने लगे—'जन्म क्षीण होगया, ब्रह्मचर्य-वास (पूरा) होगया, करना था सो कर लिया, और कुछ यहाँ करनेको नहीं रहा—यह जान गये। आयुष्मान् सेनिय अर्हतोंमेंसे एक हुये।

---

[१] ऊपर जैसा, व्यापाद अव्यापाद दोनों, तथा कृष्ण, शुक्ल दोनों लगाकर। [२] देखो पृष्ठ १६।

५८—अभयराजकुमार-सुत्तन्त (२।१।८)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् राजगृहमें वेणुवन कलन्दक-निवापमें विहार करते थे।

तब अभय-राजकुमार जहाँ निगंठ नात-पुत्त थे, वहाँ गया। जाकर निगंठ नात-पुत्तको अभिवादनकर एक ओर बैठा। एक ओर बैठे अभय-राजकुमारसे निगंठ नात-पुत्तने कहा—

"आ, राजकुमार! श्रमण गौतमके साथ वाद (= शास्त्रार्थ) कर। इससे तेरा सुयश (= कल्याणकीर्तिशब्द) फैलेगा—'अभय राजकुमारने इतने महर्द्धिक = इतने महानुभाव श्रमण गौतमके साथ वाद रोपा'।"

"किस प्रकारसे भन्ते! मैं इतने महानुभाव श्रमण गौतमके साथ वाद रोपूँगा?"

"आ तू राजकुमार! जहाँ श्रमण गौतम है, वहाँ जा। जाकर श्रमण गौतमसे ऐसा कह—'क्यों भन्ते! तथागत ऐसा वचन बोल सकते हैं, जो दूसरोंको अ-प्रिय = अ-मनाप हो'। यदि ऐसा पूछनेपर श्रमण गौतम तुझे कहे—'राजकुमार! बोल सकते हैं ०।' तब उसे तुम यह बोलना—'तो फिर भन्ते! पृथग्जन (= अज्ञ संसारी जीव)से (तथागतका) क्या भेद हुआ, पृथग्जन भी वैसा वचन बोल सकता है ०'? यदि ऐसा पूछनेपर तुझे श्रमण गौतम कहे—'राजकुमार! ० नहीं बोल सकते हैं।' तब तुम उसे बोलना—'तो भन्ते! आपने देवदत्तके लिये भविष्यद्वाणी क्यों की है—'देवदत्त अपायिक (= दुर्गतिमें जानेवाला) है, देवदत्त नैरयिक (= नरकगामी) है, देवदत्त कल्पस्थ (= कल्पभर नरकमें रहनेवाला) है, देवदत्त अचिकित्स्य (= लाइलाज) है'। आपके इस वचनसे देवदत्त कुपित = असंतुष्ट हुआ।' राजकुमार! (इस प्रकार) दोनों ओरके प्रश्न पूछनेपर श्रमण गौतम न उगिल सकेगा, न निगल सकेगा। जैसेकि पुरुषके कंठमें लोहेकी बंसी (= शृंगाटक) लगी हो, वह न निगल सके न उगल सके; ऐसे ही ०।"

"अच्छा भन्ते!" कह···अभय राजकुमार···आसनसे उठ, निगंठ नात-पुत्तको अभिवादन कर, दक्षिणाकर, जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया। जाकर भगवान्‌को अभिवादनकर, एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे हुये अभय राजकुमारने सूर्य (= समय) देखकर सोचा—'आज भगवान्‌से वाद रोपनेका समय नहीं है। कल अपने घरपर भगवान्‌के साथ वाद करूँगा।' (और) भगवान्‌से कहा—

"भन्ते! भगवान् अपने सहित चार आदमियोंका कलको मेरा भोजन स्वीकार करें।"

भगवान्‌ने मौनसे स्वीकार किया। तब अभय राजकुमार भगवान्‌की स्वीकृति जान, भगवान्‌को अभिवादनकर, प्रदक्षिणाकर चला गया।

उस रातके बीतनेपर भगवान् पूर्वाह्न समय पहिनकर पात्रचीवर ले, जहाँ अभय राजकुमार का घर था, वहाँ गये। जाकर बिछे आसनपर बैठे। अभय राजकुमारने भगवान्‌को उत्तम खाद्य

भोज्यसे अपने हाथसे तृप्त किया, पूर्ण किया। तब अभय राजकुमार, भगवान्‌के भोजनकर, पात्रसे हाथ हटा लेनेपर, एक नीचा आसन ले, एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे हुये, अभय राजकुमार ने भगवान्‌से कहा—

"क्या भन्ते ! तथागत ऐसा वचन बोल सकते हैं, जो दूसरेको अ-प्रिय = अ-मनाप हो।"

"राजकुमार ! यह एकांशसे (= सर्वथा = विना अपवादके) नहीं (कहा जा सकता)।"

"भन्ते ! नाश होगये निगंठ।"

"राजकुमार ! क्या तू ऐसे बोल रहा है—'भन्ते ! नाश हो गये निगंठ ?"

"भन्ते ! मैं जहाँ निगंठ नात-पुत्त हैं, वहाँ गया था। जाकर निगंठ नात-पुत्तको अभिवादनकर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे मुझे निगंठ नात-पुत्तने कहा—'आ राजकुमार ! ०' ०। इसी प्रकार राजकुमार ! दुधारा प्रश्न पूछनेपर श्रमण गौतम न उगल सकेगा, न निगल सकेगा।"

उस समय अभय राजकुमारकी गोदमें, एक छोटा मन्द, उत्तान सोने लायक (= बहुतही छोटा) बच्चा, बैठा था। तब भगवान्‌ने अभय राजकुमारसे कहा—

"तो क्या मानता है राजकुमार ! क्या तेरे या दाईके प्रमाद (= गफलत)से यदि यह कुमार मुखमें काठ या ढेला डाल ले, तो तू इसको क्या करेगा ?"

"निकाल लूँगा, भन्ते ! यदि भन्ते ! मैं पहिलेही न निकाल सका, तो बायें हाथसे सीस पकड़कर, दाहिने हाथसे अँगुली टेढ़ीकर, खून-सहित भी निकाल लूँगा।"

"सो किस लिये ?"

"भन्ते ! मुझे कुमार (= बच्चे) पर दया है।"

"ऐसेही, राजकुमार ! (१) तथागत जिस वचनको अभूत = अ-तथ्य, अन्-अर्थ-युक्त (= व्यर्थ) जानते हैं, और वह दूसरोंको अ-प्रिय, अ-मनाप है, उस वचनको तथागत नहीं बोलते। (२) तथागत जिस वचनको भूत = तथ्य अनर्थक जानते हैं, और वह दूसरोंको अ-प्रिय = अ-मनाप है; उस वचनको तथागत नहीं बोलते। (३) तथागत जिस वचनको भूत = तथ्य सार्थक जानते हैं। कालज्ञ (= काल जाननेपर) तथागत उस वचनको बोलते हैं। (४) तथागत जिस वचनको अभूत = अतथ्य तथा अनर्थक जानते हैं, और वह दूसरोंको प्रिय और मनाप है, उस वचनको भी तथागत नहीं बोलते। (५) जिस वचनको तथागत भूत = तथ्य (= सच) = सार्थक जानते हैं, और वह यदि दूसरोंको प्रिय = मनाप होती है, कालज्ञ तथागत उस वचनको बोलते हैं। सो किसलिये ?—राजकुमार ! तथागतको प्राणियोंपर दया है।"

"भन्ते ! जो यह क्षत्रिय-पंडित, ब्राह्मण-पंडित, गृहपति-पंडित, श्रमण-पंडित, प्रश्न तैयारकर तथागतके पास आकर पूछते हैं। भन्ते ! क्या भगवान् पहिलेहीसे चित्तमें सोचे रहते हैं—'जो मुझे ऐसा आकर पूछेंगे, उनके ऐसा पूछनेपर, मैं ऐसा उत्तर दूँगा ?"

"तो राजकुमार ! तुझेही यहाँ पूछता हूँ, जैसे तुझे जँचे, वैसे इसका उत्तर देना। तो··· राजकुमार ! क्या तू रथके अङ्ग-प्रत्यंगमें चतुर है ?"

"हाँ, भन्ते ! मैं रथके अङ्ग-प्रत्यंगमें चतुर हूँ।"

"तो राजकुमार ! जो तेरे पास आकर यह पूछें—'यह रथका कौनसा अङ्ग-प्रत्यंग है ?' तो क्या तू पहिलेही से यह सोचे रहता है—जो मुझे आकर ऐसा पूछेंगे, उनके ऐसा पूछनेपर, मैं

ऐसा उत्तर दूँगा। अथवा मुकामहीपर यह तुझे भासित होता है ?"

"भन्ते ! मैं रथिक हूँ, रथके अंग-प्रत्यंगका मैं प्रसिद्ध (जानकार), चतुर हूँ । रथके सभी अङ्ग-प्रत्यंग मुझे सुविदित हैं। (अतः) उसी क्षण (= स्थानशः) मुझे यह भासित होगा।"

"ऐसे ही राजकुमार ! जो वह क्षत्रिय-पंडित, ० श्रमण-पंडित प्रश्न तय्यार कर, तथागतके पास आकर पूछते हैं। उसी क्षण वह तथागतको भासित होता है। सो किस हेतु ?—राजकुमार ! तथागतकी धर्मधातु (= मनका विषय) अच्छी तरह सध गई है; जिस धर्म-धातुके अच्छी तरह सधी होनेसे, उसी क्षण (वह) तथागतको भासित होता है।"

ऐसा कहनेपर अभय राजकुमारने भगवान्‌से कहा—

"आश्चर्य ! भन्ते !! अद्भुत ! भन्ते !! ०[1] आजसे भगवान् मुझे अंजलि-बद्ध शरणागत उपासक धारण करें।"

५९—बहु-वेदनीय-सुत्तन्त (२।१।९)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथ-पिंडिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे।

तब पंचकांग (= पंचकांग) स्थपति (= थपति = थवई) जहाँ आयुष्मान् उदायी थे, वहाँ गया; जाकर आयुष्मान् उदायीको अभिवादन कर एक ओर बैठ गया! एक ओर बैठे पंचकांग स्थपतिने आयुष्मान् उदायीसे यह कहा—

"भन्ते उदायी! भगवान्ने कितनी वेदनायें (= अनुभव), कही हैं?"

"स्थपति! भगवान्ने तीन वेदनायें कही हैं—(१) सुखा वेदना (२) दुःखा वेदना, (३) अदुःख-असुखा वेदना।…"

"भन्ते उदायी! भगवान्ने तीन वेदनायें नहीं कहीं, दो वेदनायें भगवान्ने कही हैं—सुखा वेदना और दुःखा वेदना। भन्ते! जो यह अदुःख-असुखा वेदना है उसे भगवान्ने शान्त उत्तम सुखके विषयमें कहा है।"

दूसरी बार भी आयुष्मान् उदायीने पंचकांग स्थपतिसे यह कहा—"स्थपति! भगवान्ने दो वेदनायें नहीं कही हैं। भगवान्ने तीन वेदनायें कही हैं—०।"

दूसरी बार भी पंचकांग स्थपतिने आयुष्मान् उदायीसे यह कहा—"नहीं' भन्ते उदायी! ० शान्त उत्तम सुखके विषयमें कहा है।"

तीसरी बार भी आयुष्मान् उदायीने ०।

तीसरी बार भी पंचकांग स्थपतिने ०।

न आयुष्मान् उदायी पंचकांग स्थपतिको समझा सके, न पंचकांग स्थपति आयुष्मान् उदायीको समझा सका।

आयुष्मान् आनंदने आयुष्मान् उदायीके पंचकांग स्थपतिके साथ (होते) इस कथा संलापको सुन लिया। तब आयुष्मान् आनन्द जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये; जाकर भगवान्को अभिवादन कर एक ओर बैठ गये। एक ओर बैठ आयुष्मान् आनन्दने जो कुछ आयुष्मान् उदायीका पंचकांग स्थपतिके साथ कथा-संलाप हुआ था, सब भगवान्से कह दिया। ऐसा कहने पर भगवान्ने आयुष्मान् आनंदसे यह कहा—

"आनन्द! पंचकांग स्थपतिने उदायीका कथन (= पर्याय) ठीक होते (उसे) अनुमोदित नहीं किया। आनन्द! उदायीने पंचकांग स्थपतिका कथन ठीक होते (उसे) अनुमोदित नहीं किया। आनन्द! पर्याय (= मतलब)से मैंने दो वेदनायें भी कही हैं, पर्यायसे मैंने तीन वेदनायें भी कही हैं, ० पाँच वेदनायें ०, ० अठारह वेदनायें ०, ० एक सौ, आठ वेदनायें भी ०। इस प्रकार आनन्द! पर्यायसे मैंने धर्मको उपदेशा है। इस प्रकार पर्यायसे उपदेशे धर्ममें जो एक दूसरेके

सुभाषित = सु-लपितको नहीं स्वीकार करते, नहीं मानते, नहीं अनुमोदन करते, उनके लिये यही आशा करनी होगी, कि वह भंडन = कलह, विवाद करनेवाले हो एक दूसरेको मुख (रूपी) शक्ति (= हथियार) से बेधते फिरेंगे। आनन्द ! इस प्रकार पर्यायसे उपदेशे धर्ममें जो एक दूसरेके सुभाषित = सु-लपितको स्वीकारते, मानते, अनुमोदन करते हैं, उनके लिये यही आशा करनी होगी, कि वह एक हो सम्मोदन (= खुशी) करते, विवाद-रहित हो, दूध-जल हो, एक दूसरेको प्रिय नेत्रोंसे देखते विहरेंगे।

"आनन्द ! यह पाँच काम-गुण (= भोग) हैं। कौनसे पाँच ?—इष्ट=कांत मनाप=प्रिय स्वरूप, भोग-युक्त रंजनीय चक्षुसे विज्ञेय (= ज्ञेय) रूप; ० श्रोत्रसे विज्ञेय शब्द; ० घ्राण-विज्ञेय गंध; ० जिह्वा-विज्ञेय रस; ० काय-विज्ञेय स्प्रष्टव्य। आनन्द ! यह पाँच काम-गुण हैं। आनन्द ! इन पाँच कामगुणोंके आश्रयसे जो सुख=सौमनस्य उत्पन्न होता है, उसे काम-सुख कहा जाता है।

"आनन्द ! यदि कोई यह कहे—प्राणी इतना तक ही सुख=सौमनस्यका अनुभव करते हैं; तो उसके इस कथनको मैं अनुमोदित नहीं करता। सो किस हेतु ?—आनन्द ! इस सुखसे अधिक अच्छा=प्रणीततर दूसरा सुख है। आनन्द ! कौन सुख इस सुखसे अधिक अच्छा=प्रणीततर है ?—यहाँ आनन्द ! भिक्षु ०[1] प्रथम-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। यह आनन्द ! उस सुखसे ० प्रणीततर दूसरा सुख है।

"आनन्द ! यदि कोई यह कहे ० मैं अनुमोदित नहीं करता। ०। ०[1] द्वितीय-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। ०

"आनन्द ! यदि कोई यह कहे ०, मैं अनुमोदित नहीं करता। ०। ०[1] तृतीय-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। ०

"आनन्द ! यदि कोई यह कहे ०, मैं अनुमोदित नहीं करता। ०। ०[1] चतुर्थ-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। ०

" ०। ०। ०[2] आकाशानन्त्यायतनको प्राप्त हो विहरता है। ०

" ०। ०। ०[2] विज्ञानानन्त्यायतनको प्राप्त हो विहरता है। ०

" ०। ०। ०[2] आकिंचन्यायतनको प्राप्त हो विहरता है। ०

" ०। ०। ०[2] नैव-संज्ञा-नासंज्ञायतनको प्राप्त हो विहरता है। ०

" ०। ०। यहाँ आनन्द ! भिक्षु नैव-संज्ञा-नासंज्ञायतनको सर्वथा अतिक्रमण कर संज्ञा-वेदित-निरोधको प्राप्त हो विहरता है। यह आनन्द ! उस सुखसे ० प्रणीततर दूसरा सुख है।

"हो सकता है आनन्द ! अन्य-तीर्थिक (= पंथाई) परिव्राजक यह कहें—श्रमण गौतम संज्ञा-वेदित-निरोधको कहता, और उसे सुखमय बतलाता है। सो वह क्या है, सो वह कैसा है ?' ऐसा कहनेवाले अन्य-तीर्थिक परिव्राजकोंसे ऐसा कहना चाहिये—'आवुसो ! भगवान् सुखा वेदनाहीका ख्याल करके (उसे) सुखमें नहीं बतलाते; बल्कि जहाँ जहाँ सुख उपलब्ध होता है, उस उसको ही तथागत सुखमें बतलाते हैं।"

भगवान्‌ने यह कहा, सन्तुष्ट हो आयुष्मान् आनन्दने भगवान्‌के भाषणको अभिनंदित किया।

---

[1] देखो पृष्ठ १५। [2] देखो पृष्ठ २७,२८।

६०—अपएणक-सुत्तन्त (२।१।१०)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् महान् भिक्षु-संघके साथ कोसल (देश)में चारिका (= विचरण) करते, जहाँ शाला (= साला) नामके कोसलोंका ब्राह्मण-ग्राम था, वहाँ पहुँचे।

शालाके ब्राह्मण-गृहपतियोंने सुना—शाक्य कुलसे प्रब्रजित ०[1] एक ओर बैठे शालाके ब्राह्मण-गृहपतियोंसे भगवान्‌ने यह कहा—

"गृहपतियो! क्या कोई तुम्हारा (ऐसा) मनाप (= मनको तुष्ट करनेवाला) शास्ता (= उपदेशक) है जिसमें तुम्हें सहेतुक श्रद्धा हुई हो?"

"नहीं, भन्ते! कोई हमारा ऐसा मनाप शास्ता (नहीं) जिसमें हमारी सहेतुक श्रद्धा हुई हो।"

"गृहपतियो! मनाप शास्ता न मिलने पर तुम्हें इस अपर्णक (= अपण्णक) धर्मको ग्रहण कर रहना चाहिये। गृहपतियो! (वह) अपर्णक (= द्विविधा-रहित) धर्म क्या है?—गृहपतियो! (१) कोई कोई श्रमण-ब्राह्मण इस वादवाले = इस दृष्टिवाले होते हैं[2]—'नहीं है दान(का फल), नहीं है यज्ञ(का फल), नहीं है हवन(का फल), नहीं हैं सुकृत दुष्कृत कर्मोंका फल=विपाक; यह लोक नहीं है, परलोक नहीं है; माता नहीं पिता नहीं; औपपातिक (= अयोनिज देव आदि) प्राणी नहीं हैं। लोकमें (ऐसे) सत्यको प्राप्त, सत्यारूढ़ श्रमण ब्राह्मण नहीं हैं, जो कि इस लोक परलोकको स्वयं जानकर साक्षात्कार कर, (दूसरोंको) जतलावेंगे।' (२) गृहपतियो! उन्हीं श्रमण ब्राह्मणोंके विरुद्ध (= ऋजु-प्रत्यनीक) वादवाले दूसरे यह कहते हैं—है दान, है यज्ञ, है हवन, है सुकृत दुष्कृत कर्मोंका फल=विपाक; है यह लोक, है परलोक, है माता, है पिता, हैं औपपातिक प्राणी; हैं लोक में सत्यको प्राप्त कर, सत्यारूढ़ श्रमण ब्राह्मण, जो कि इस-लोक परलोकको स्वयं जानकर साक्षात्कार कर जतलाते हैं।' तो क्या मानते हो, गृहपतियो! यह श्रमण ब्राह्मण एक दूसरेके विरोधी वाद वाले हैं न?"

"हाँ, भन्ते!"

(१) "वहाँ, गृहपतियो! जो श्रमण ब्राह्मण इस वादवाले ० हैं—'नहीं है दान ० साक्षात्कार कर जतलावेंगे'; उनसे यह आशा रखनी चाहिये—कि वह काय-सुचरित (= कायिक सुकर्म), वाचिक सुचरित, मनः-सुचरित इन तीनों कुशल-धर्मों (= सुकर्मों)को त्याग कर, काय-दुश्चरित (= कायिक दुष्कर्म), वचन-दुश्चरित, मनो-दुश्चरित इन तीनों अकुशल-धर्मोंको ग्रहण करेंगे। सो किस हेतु?—क्योंकि वह आप श्रमण ब्राह्मण अकुशल धर्मोंमें दोष (= आदिनव),

---

[1] देखो पृष्ठ १६८। [2] अजित केश-कम्बलीका मत (देखो बुद्धचर्या २६१, ४६३ भी)।

अपकार, संक्लेश (= पाप, मल) नहीं देखते, और कुशल धर्मोंमें, निष्कामतामें, गुण (= आनृशंस्य) शुद्धता (= व्यवदानपक्ष) नहीं देखते। परलोकके होते भी—'परलोक नहीं है' यह उनकी दृष्टि (= सिद्धांत) होती है, यह उनकी **मिथ्या-दृष्टि** है। परलोकके होते हुये—'परलोक नहीं है' यह वह संकल्प (= कल्पना) करते हैं, यह उनके **मिथ्या-संकल्प** हैं। ० 'परलोक नहीं है'—यह वह वचन बोलते हैं, यह उनका **मिथ्या-वाक्** है। परलोकके होते हुये,—'परलोक नहीं है', और यह परलोकवेदी अर्हतोंके (कथनके) विरुद्ध है। ०—'परलोक नहीं है'—यह दूसरों को समझाते हैं, यह उनका **अ-सद्धर्म-संज्ञापन** है। इस अ-सद्धर्म-संज्ञापनसे वह अपना उत्कर्ष चाहते हैं, और दूसरोंको निन्दते हैं इस प्रकार पहिले उनकी सुशीलता नष्ट हो गई रहती है, और दुःशीलता उपस्थित रहती है, मिथ्या-दृष्टि, मिथ्या-संकल्प, मिथ्या-वाक्, आर्योंका विरोध, असद्धर्म-संज्ञापन, आत्मोत्कर्ष, पर-वम्भण (= दूसरेको निन्दना) यह अनेक पाप = अकुशल धर्म (= बुराइयाँ) होते हैं, मिथ्या दृष्टिके कारण।

"गृहपतियो! यहाँ विज्ञ पुरुष सोचता है—यदि 'परलोक नहीं है', तो इस प्रकार यह आप पुरुष =पुद्गल काया छोड़ मरनेके बाद अपनी स्वस्ति (= कल्याण, सुरक्षा) करेगा; यदि परलोक है, तो यह पुरुष=पुद्गल काया छोड़ मरनेके बाद अपाय = दुर्गति, विनिपात (= पतन), नरकमें उत्पन्न होगा। चाहे परलोक न भी हो, चाहे इन आप श्रमण ब्राह्मणोंका वचन सत्य भी हो, तो भी तो यह पुरुष = पुद्गल इसी जन्ममें विज्ञों द्वारा निन्दित है—'यह पुरुष=पुद्गल दुःशील, मिथ्या-दृष्टि, नास्तिकवादी है'। यदि परलोक है, तब तो इस आप पुरुष=पुद्गलकी दोनों ओरसे कलिग्रह है—इस जन्ममें भी विज्ञों द्वारा निन्दा, और काया छोड़ मरनेके बाद अपाय = दुर्गति, विनिपात, नरकमें उत्पन्न होना। इस प्रकार इनके इस अपर्णक धर्मके दुराग्रहसे, ग्रहणसे एक ओर पूर्ण होना कुशल स्थानसे वंचित होना है।

(२) "वहाँ गृहपतियो! जो श्रमण ब्राह्मण इस वाद वाले = इस दृष्टिवाले हैं—'है दान ०।' उनके संबन्धमें यह आशा करनी चाहिये, कि वह ० काय-दुश्चरित, वचन-दुश्चरित, मनो-दुश्चरित इन तीनों अकुशल-धर्मोंको छोड़कर, ० काय-सुचरित, वचन-सुचरित, मनः-सुचरित इन तीनों कुशल धर्मोंको ग्रहण करेंगे। सो किस हेतु?—क्योंकि वह आप श्रमण ब्राह्मण अकुशल धर्मोंमें दोष ० को देखते हैं; और कुशल धर्मोंमें निष्कामतामें गुण, शुद्धता देखते हैं। परलोकके सद्भाव में—'परलोक है' यह उनकी दृष्टि होती है, यह उनकी **सम्यग्-दृष्टि** है। परलोकके सद्भावमें 'परलोक है', यह उनका संकल्प होता है, (और) यह उनका **सम्यक्-संकल्प** है। ० 'परलोक है' यह वह वचन कहते हैं, (और) यह उनका **सम्यग्-वाक्** है। ० 'परलोक है'—यह परलोक-विद् अर्हतोंके (कथनका) विरोधी (=प्रत्यनीक) नहीं है। ० 'परलोक है', यह दूसरेको संज्ञापन (= समझाना) करते हैं, यह उनका **सद्धर्म-संज्ञापन** है; इस सद्धर्म-संज्ञापन द्वारा न वह अपना उत्कर्ष (= आत्मोत्कर्ष) चाहते हैं, न दूसरेको निन्दते (= परवम्भन) हैं। इस प्रकार पहिले ही उनकी दुःशीलता नष्ट हो गई रहती है, और सुशीलता उपस्थित रहती है, और वह **सम्यग्-दृष्टि, सम्यक्-संकल्प, सम्यग्-वाक्, आर्य-अप्रत्यनीकता, सद्धर्म-संज्ञापन,** न-आत्मोत्कर्षण, **न-पर-वम्भनसे** युक्त होता है। यह अनेक कुशल-धर्म होते हैं, सम्यग्-दृष्टिके कारण।

"गृहपतियो! वहाँ विज्ञ पुरुष यह सोचता है—यदि परलोक है, तो यह आप पुरुष—पुद्गल काया छोड़ मरनेके बाद ० स्वर्गलोकमें उत्पन्न होंगे। चाहे परलोक मत हो, और इन श्रमण-ब्राह्मणों का वचन सच हो; तो भी तो यह आप पुरुष=पुद्गल इसी जन्ममें विज्ञों द्वारा प्रशंसित हैं—यह पुरुष=पुद्गल शीलवान्, सम्यग्-दृष्टि, आस्तिकवादी हैं। यदि परलोक है, तब तो इस आप

पुरुष=पुद्गलको दोनों ओर लाभ है—इस जन्ममें विज्ञों द्वारा प्रशंसा, और काया छोड़ मरनेके बाद सुगति, स्वर्गलोकमें उत्पन्न होना। इस प्रकार इनके इस अपर्णक (= द्विविधा-रहित)धर्म के सुग्रहण=समादानसे दोनों ओर पूर्ण होना है, अकुशल स्थानसे ही वंचित होना है।

(३) "गृहपतियो! कोई कोई श्रमण ब्राह्मण इस वादवाले = इस दृष्टिवाले होते हैं[1]—'(पाप) करते-करवाते, काटते-कटवाते, पकाते-पकवाते, शोक कराते, परेशानी कराते, मथते-मथाते, प्राण मारते, चोरी करते, सेंध लगाते, गाँव लूटते, घर लूटते, रहजनी करते, पर-स्त्री गमन करते, झूठ बोलते भी पाप नहीं किया जाता। छुरेसे (या) तेज़ चक्र-द्वारा यदि कोई इस पृथिवीके प्राणियों (को मार कर) माँसका एक खलियान, मांसका एक पुंज बना दे; तो इसके कारण उसे पाप नहीं होगा, पापका आगम नहीं होगा। यदि घात करते-कराते, काटते-कटवाते, पकाते-पकवाते, (इधरसे) गंगाके दाहिने तीर पर भी जाये; तो भी इसके कारण उसको पाप नहीं, पापका आगम नहीं होगा। दान देते-दिलाते, यज्ञ करते-कराते, (दक्षिणसे) गंगाके उत्तर तीर भी जाये, तो (भी) इसके कारण उसको पुण्य नहीं, पुण्यका आगम नहीं होगा। दान, दम (= इन्द्रिय-निग्रह) संयम, सत्य भाषणसे पुण्य नहीं, पुण्यका आगम नहीं (होता)।'

(४) "गृहपतियो! इन्हीं श्रमण-ब्राह्मणोंके विरुद्ध वादवाले दूसरे यह कहते हैं—'(पाप) करते करवाते ० झूठ बोलते पाप होता है। ० मांसका एक पुंज बना दे, तो इसके कारण उसे पाप होगा, पापका आगम होगा। ० गंगाके दाहिने तीर पर जाये, तो इसके कारण उसको पाप होगा ०। दान देते-दिलाते ० उसको पुण्य होगा ०। दान, दम, संयम, सत्यभाषणसे पुण्य होता है, पुण्यका आगम होता है'। तो क्या मानते हो, गृहपतियो! यह श्रमण-ब्राह्मण एक दूसरेके विरोधी वादवाले हैं न?"

"हाँ, भन्ते!"

(५) "गृहपतियो! वहाँ जो श्रमण-ब्राह्मण इस वाद वाले हैं—'(पाप) करते करवाते ० सत्यभाषणसे पुण्य नहीं, पुण्यका आगम नहीं'; उनसे यह आशा रखनी चाहिये—कि वह कायिक सुचरित ०[2]को त्याग कर, ०[2] अकुशल-धर्मोंको ग्रहण करेंगे। सो किस हेतु?—क्योंकि वह आप श्रमण ब्राह्मण ०[2] नहीं देखते। क्रिया (= कर्म)के होते भी—'क्रिया नहीं है' यह उनकी दृष्टि होती है; यह उनकी मिथ्या-दृष्टि है ०[3] यह अनेक पाप = अकुशल धर्म होते हैं मिथ्या दृष्टिके कारण।

"गृहपतियो! वहाँ विज्ञ पुरुष यह सोचता है—'यदि क्रिया नहीं है ०[2] कुशल स्थान (= भले काम)से वंचित होता है।'

(६) "गृहपतियो! वहाँ जो श्रमण ब्राह्मण इस वादवाले=इस दृष्टि वाले हैं—'करते करवाते ०[4] पुण्यका आगम होता है', उनके सम्बंधमें यह आशा करनी चाहिये—'०[5] कुशल-धर्मोंको ग्रहण करेंगे। सो किस हेतु? ०[5] 'क्रिया है'—यह उनकी दृष्टि होती हैं, यह उनकी सम्यग्-दृष्टि है ०[6] यह अनेक कुशल-धर्म होते हैं, सम्यग्-दृष्टिके कारण।

"गृहपतियो! वहाँ विज्ञ पुरुष यह सोचता है—'यदि क्रिया है' ०[7] अकुशल स्थानसे ही वंचित होता है।

---

[1] पूर्ण काश्यपका मत (देखो बुद्धचर्या, पृष्ठ ४६२, २६२)। [2] देखो पृष्ठ २४०। [3] देखो पृष्ठ २४० ('परलोक नहीं हैं' के स्थान पर 'क्रिया नहीं है' पढ़ना चाहिये)। [4] देखो ऊपर। [5] देखो पृष्ठ २४०। [6] देखो पृष्ठ २४० ('पर-लोक है' के स्थान पर 'क्रिया है' पढ़ना चाहिये)। [7] देखो पृष्ठ २४०।

(७) "गृहपतियो ! कोई कोई श्रमण-ब्राह्मण इस वाद्वाले=इस दृष्टिवाले होते हैं[1]—'सत्त्वों (= प्राणियों)के संक्लेश (= चित्तकी मलिनता)का कोई हेतु नहीं=कोई प्रत्यय नहीं; विना हेतु, विना प्रत्ययके प्राणी संक्लेशको प्राप्त होते हैं। प्राणियोंकी (चित्त-)विशुद्धिका कोई हेतु=प्रत्यय नहीं; विना हेतु=प्रत्यय प्राणी विशुद्धिको प्राप्त होते हैं। बल नहीं (चाहिये), वीर्य नहीं, पुरुपका स्थाम (= दृढ़ता) नहीं, पुरुप-पराक्रम नहीं (चाहिये), सभी सत्त्व=प्राणी=भूत=जीव, अ-वश=अ-बल=अ-वीर्य (हो) नियति (= भवितव्यता)के वशमें हो, छःओं अभि-जातियों (= जन्मों)में सुख दुःख अनुभव करते हैं।'

(८) इन्हीं श्रमण-ब्राह्मणोंके विरुद्ध वाद वाले दूसरे यह कहते हैं—'है हेतु सत्त्वोंके संक्लेश-का, है प्रत्यय; हेतुसे, प्रत्ययसे प्राणी संक्लेशको प्राप्त होते हैं। है हेतु, है प्रत्यय प्राणियोंकी विशुद्धिका; हेतुसे=प्रत्ययसे प्राणी विशुद्धिको प्राप्त होते हैं; हैं (उपयोगी) बल, वीर्य, पुरुपका स्थाम, पुरुप-पराक्रम; और नहीं सभी सत्त्व ० अवश, अ-बल, अ-वीर्य नियतिके वशमें हो छःओं अभिजातियोंमें सुख दुःख अनुभव करते हैं।' तो क्या मानते हो, गृहपतियो ! यह श्रमण ब्राह्मण एक दूसरेके विरोधी वाद्वाले हैं न ?"

"हाँ, भन्ते !"

(९) "वहाँ, गृहपतियो ! जो श्रमण ब्राह्मण इस वादवाले हैं—'सत्त्वोंके संक्लेशका कोई हेतु नहीं ० छःओं अभिजातियोंमें सुख-दुःख अनुभव करते हैं' उनसे यही आशा करनी चाहिये, कि वह ०[2] अकुशल धर्मोंको ग्रहण करेंगे। सो किस हेतु ?—०[2] 'हेतु नहीं है', यह उनकी दृष्टि होती है; यह उनकी मिथ्या-दृष्टि है ०[3]। यह अनेक पाप=अकुशल धर्म होते हैं, मिथ्या-दृष्टिके कारण।

"गृहपतियो ! यहाँ विज्ञ पुरुप यह सोचता है—'यदि हेतु नहीं है ०[4] कुशल स्थानसे वंचित होता है।

(१०) "वहाँ गृहपतियो ! जो श्रमण ब्राह्मण इस वादवाले हैं—'है हेतु सत्त्वोंके संक्लेश का ० नहीं छःओं अभिजातियोंमें सुख दुःख अनुभव करते'; उनसे यह आशा करनी चाहिये, कि वह ०[5] कुशल-धर्मोंको ग्रहण करेंगे। सो किस हेतु ?—०[5] 'है हेतु' यह उनकी दृष्टि होती है; (और) यह उनकी सम्यग्-दृष्टि है ०[6] यह अनेक कुशल धर्म होते हैं, सम्यग्-दृष्टिके कारण।

"गृहपतियो ! यहाँ विज्ञ पुरुप यह सोचता है—'यदि हेतु है ०[7] अकुशल स्थानसे ही वंचित होता है।

(११) "गृहपतियो ! कोई कोई श्रमण ब्राह्मण इस वाद्वाले=इस दृष्टिवाले होते हैं—'आरूप्य (= रूप-रहित देवताओंके लोक) सर्वथा नहीं हैं'।

(१२) गृहपतियो ! उन्हीं श्रमण-ब्राह्मणोंके विरुद्ध वाद्वाले दूसरे कहते हैं—'आरूप्य सर्वथा हैं'। तो क्या मानते हो, गृहपतियो ! यह श्रमण ब्राह्मण एक दूसरेके विरोधी वादवाले हैं न?"

"हाँ, भन्ते !"

---

[1] मक्खलि गोसालका मत। देखो बुद्धचर्या, पृष्ठ ४६२,२६२। [2] देखो पृष्ठ २४०।
[3] देखो पृष्ठ २४०,२४१ ('परलोक नहीं है' के स्थान पर 'हेतु नहीं है' पढ़ना चाहिये)।
[4] देखो पृष्ठ २४०। [5] देखो पृष्ठ २४१। [6] देखो पृष्ठ २४० ('परलोक है' के स्थान पर 'हेतु है' पढ़ना चाहिये)। [7] देखो पृष्ठ २४०,२४१।

"वहाँ गृहपतियो ! विज्ञ पुरुष यह सोचता है—जो श्रमण-ब्राह्मण इस वादवाले ० हैं—'आरूप्य सर्वथा नहीं हैं', यह मेरा देखा नहीं है। और जो वह श्रमण ब्राह्मण इस वादवाले ० हैं—'आरूप्य सर्वथा हैं', यह मुझे ज्ञात नहीं। यदि मैं बिना जानते, बिना देखते, एकतरफा कहने लगूँ—'यही सच है, और झूठ है' तो यह मेरे योग्य नहीं। जो आप श्रमण ब्राह्मण इस वादवाले ० हैं—'आरूप्य सर्वथा नहीं हैं', यदि उन···का यह वचन सच है, तो हो सकता है, कि जो वह देवता रूपमान् मनोमय हैं, उनमें मेरी अपर्णक (= द्विविधारहित) उत्पत्ति हो। और जो आप श्रमण-ब्राह्मण इस वादवाले ० हैं—'आरूप्य सर्वथा हैं', यदि उन···का यह वचन सच है, तो हो सकता है, कि जो वह देवता रूप-रहित संज्ञामय हैं, उनमें मेरी अपर्णक उत्पत्ति हो। भो! रूपके कारण (लड़नेके लिये) दंड-ग्रहण, शस्त्र-ग्रहण, कलह, विग्रह, विवाद, तूँ तूँ (मैं मैं), चुगली, मृषावाद देखा जाता है, किन्तु आरूप्य (लोक)में यह नहीं है; यह सोच वह रूपोंसे निर्वेद=वैराग्य, निरोधके लिये तत्पर होगा।

(१३) "गृहपतियो ! कोई कोई श्रमण-ब्राह्मण इस वादवाले ० होते हैं—'भव-निरोध (= जन्म मरणका अन्त) सर्वथा नहीं होता'।

(१४) गृहपतियो ! उन्हीं श्रमण-ब्राह्मणोंके विरुद्ध वादवाले दूसरे कहते हैं—'भव-निरोध सर्वथा (= अवश्य) होता है'। तो क्या मानते हो, गृहपतियो ! यह श्रमण ब्राह्मण एक दूसरेके विरोधी वादवाले हैं न ?"

"हाँ, भन्ते !"

"वहाँ, गृहपतियो ! विज्ञ पुरुष यह सोचता है—०—'भव-निरोध सर्वथा नहीं होता'—यह मेरा देखा नहीं है। ०—'भव-निरोध सर्वथा होता है'—यह मुझे ज्ञात नहीं ०। ०—'भव-निरोध सर्वथा नहीं होता'—यदि यह···वचन सच है, तो हो सकता है, कि जो वह देवता रूप-रहित संज्ञा-मय (संज्ञा=होश ही जिनका शरीर है) हैं उनमें मेरी अपर्णक उत्पत्ति होवे। ०—'भव-निरोध सर्वथा होता है'—यदि यह···वचन सच है, तो हो सकता है, कि मैं इसी जन्ममें परिनिर्वाणको प्राप्त हो जाऊँ। जो वह श्रमण ब्राह्मण इस वादवाले ० हैं—'भव-निरोध सर्वथा नहीं होता', उनकी यह दृष्टि सरागताके पास (ले जानेवाली है), संयोग, अभि-नंदन (= लिप्सा), अध्यवसान=उपादान (= ग्रहण)के पास (ले जानेवाली है)। किन्तु जो आप श्रमण ब्राह्मण इस वादवाले ० हैं—'भव-निरोध सर्वथा होता है', उनकी यह दृष्टि अ-सरागता (= वैराग्य), अ-संयोग, अन्-अभिनंदन, अन्-अध्यवसान, अन्-उपादानके पास (ले जानेवाली है)। वह यह सोच भवों (= जन्ममरणों)के ही निर्वेद=वैराग्य, निरोधके लिये तत्पर होता है।

"गृहपतियो ! लोकमें यह चार (प्रकारके) पुरुष (= पुद्गल) होते हैं। कौनसे चार ? ०[1] ब्रह्मभूत आत्मासे विहरता है।

"गृहपतियो ! कौनसा पुद्गल आत्मंतप=अपनेको संताप देनेवाले कामोंमें लग्न है ?—०[2]। ० परंतप ०[2]। ० आत्मंतप-परंतप ०[2]। ० अन्-आत्मंतप-अ-परंतप ०[3]।

"सो वह इस प्रकार चित्तके एकाग्र, परिशुद्ध ०[4] अब यहाँ करनेके लिये कुछ नहीं है—

---

[1] देखो पृष्ठ २०६। [2] देखो पृष्ठ २०६। [3] पृष्ठ २०६।

[4] पृष्ठ २०७ और १५-१६ (वाक्यमें उत्तम पुरुषके स्थानपर प्रथम पुरुष करके)।

यह जान लेता है। गृहपतियो ! यह कहा जाता है अन्-आत्मंतप-अ-परंतप, ० पुद्गल ०। ब्रह्म-भूत आत्मासे विहरता है।"

ऐसा कहने पर शाला-निवासी ब्राह्मण गृहस्थोंने भगवान्‌से यह कहा—

"आश्चर्य भो गौतम ! अद्भुत भो गौतम ! जैसे औंधेको सीधा कर ० [1] ! आजसे आप हमें अंजलिबद्ध शरणागत उपासक स्वीकार करें।"

६—इति गहपति वग्ग २ । १ ।

६१—अम्ब-लट्ठिक-राहुलोवाद-सुत्तन्त (२।२।१)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् राजगृहके वेणुवन कलन्दकनिवापमें विहार करते थे। उस समय आयुष्मान् राहुल [1]अम्बलट्ठिकामें विहार करते थे। तब भगवान् सायंकालको ध्यानसे उठ, जहाँ अम्बलट्ठिका वनमें आयुष्मान् राहुल (थे) वहाँ गये। आयुष्मान् राहुलने दूरसेही भगवान्को आते देखा; देखकर आसन बिछाया, पैर धोनेके लिये पानी रक्खा। भगवान्ने बिछाये आसनपर बैठ पैर धोये। आयुष्मान् राहुलभी भगवान्को अभिवादनकर एक ओर बैठ गये।

तब भगवान्ने थोड़ा सा बचा पानी लोटेमें छोड़, आयुष्मान् राहुलको सम्बोधित किया—

"राहुल ! लोटाके इस थोड़ेसे बचे पानीको देखता है ?"

"हाँ भन्ते !"

"राहुल ! ऐसाही थोड़ा उनका श्रमण-भाव (= साधुता) है, जिनको जानबूझकर झूठ बोलनेमें लज्जा नहीं।"

तब भगवान्ने उस थोड़ेसे बचे जलको फेंककर आयुष्मान् राहुलको संबोधित किया—

"राहुल ! देखा मैंने उस थोड़ेसे जलको फेंक दिया ?"

"हाँ भन्ते !"

"ऐसाही 'फेंका' उनका श्रमण-भावभी है, जिनको जानबूझकर झूठ बोलनेमें लज्जा नहीं।"

तब भगवान्ने उस लोटेको औंधा कर, आयुष्मान् राहुलको संबोधित किया—

"राहुल ! तू इस लोटेको औंधा देखता है ?"

"हाँ, भन्ते !"

"ऐसाही 'औंधा' उनका श्रमण-भाव है, जिनको जान बूझकर झूठ बोलते लज्जा नहीं।"

तब भगवान्ने उस लोटेको सीधाकर आयुष्मान् राहुलको संबोधित किया—

"राहुल ! इस लोटेको तू सीधा किया देख रहा है ? खाली देख रहा है ?"

"हाँ भन्ते !"

"ऐसाही खाली तुच्छ उनका श्रमण-भाव है, जिनको जान बूझकर झूठ बोलनेमें लज्जा नहीं। जैसे राहुल ! हरिस-समान लम्बे दाँतों वाला, महाकाय, सुन्दर जातिका, संग्राममें जाने वाला, राजाका हाथी, संग्राममें जानेपर, अगले पैरोंसे भी (लड़ाईका) काम करता है। पिछले पैरोंसे भी काम करता है। शरीरके अगले भागसे भी काम करता है। शरीरके पिछले भागसे

---

[1] "वेणुवनके किनारे··· एकान्त-प्रियोंके लिये बनाया गया वास-स्थान।··· यह आयुष्मान् (=राहुल) सात वर्षके श्रामणेर होनेके समयसे ही, एकान्त (-चित्तता) बढ़ाते वहाँ विहार करते थे" (अ. क.)।

भी काम करता है। शिरसे भी काम करता है। कायसे भी काम करता है। दाँतसे भी काम करता है। पूँछसे भी काम लेता है। लेकिन सूँडको (बेकाम) रखता है। तो हाथीवान्‌को ऐसा (विचार) होता है—'यह राजाका हाथी हरिस जैसे दाँतों वाला० पूँछसे भी काम लेता है, (लेकिन) सूँडको (बेकाम)रखता है। राजाके ऐसे नागका जीवन अविश्वसनीय है'।

"लेकिन यदि राहुल ! राजाका हाथी हरिस जैसे दाँतवाला ०, पूँछसे भी काम करता है, सूँडसे भी काम लेता है, तो राजाके हाथीका जीवन विश्वसनीय है; अब राजाके हाथीको और कुछ करना नहीं है। ऐसे ही राहुल ! 'जिसे जानबूझकर झूठ बोलनेमें लज्जा नहीं; उसके लिये कोई भी पाप-कर्म अकरणीय नहीं'—ऐसा मैं मानता हूँ। इसलिये राहुल ! 'हँसीमें भी नहीं झूठ बोलूँगा', —यह सीख लेनी चाहिये।

"तो क्या जानते हो, राहुल ! दर्पण किस कामके लिये है ?"

"भन्ते ! देखनेके लिये।"

"ऐसे ही राहुल ! देख देखकर कायासे काम करना चाहिये। देख देखकर वचनसे काम करना चाहिये। देख देखकर मनसे काम करना चाहिये।

"जब राहुल ! तू कायासे (कोई) काम करना चाहे, तो तुझे कायाके कामपर विचार करना चाहिये—जो मैं यह काम करना चाहता हूँ, क्या यह मेरा काय-कर्म अपने लिये पीड़ा-दायक तो नहीं हो सकता ? दूसरेके लिये पीड़ा-दायक तो नहीं हो सकता ? (अपने और पराये) दोनोंके लिये पीड़ा-दायक तो नहीं हो सकता ? यह अ-कुशल (=बुरा) काय-कर्म है, दुःखका हेतु =दुःख विपाक (= ० भोग) देनेवाला है ? यदि तू राहुल ! प्रत्यवेक्षा (= देखभाल=विचार) कर ऐसा जाने—'जो मैं यह कायासे काम करना चाहता हूँ०। यह बुरा काय-कर्म है।' ऐसा राहुल ! काय-कर्म सर्वथा न करना चाहिये। यदि तू राहुल ! प्रत्यवेक्षाकर ऐसा समझे,—'जो मैं यह कायासे काम करना चाहता हूँ, वह काय-कर्म न अपने लिये पीड़ा-दायक हो सकता है, न परके लिये ०। यह कुशल (अच्छा) काय-कर्म है, सुखका हेतु=सुख-विपाक है'। इस प्रकारका कर्म राहुल ! तुझे कायासे करना चाहिये।

"राहुल ! कायासे काम करते हुये भी, काय-कर्मका प्रत्यवेक्षण (= परीक्षा) करना चाहिये —'क्या जो मैं यह कायासे काम कर रहा हूँ, यह मेरा काय-कर्म अपने लिये पीड़ा-दायक है ०।' यदि तू राहुल ० जाने। ० यह काय-कर्म अकुशल है ०। तो राहुल ! इस प्रकारके काय- कर्मको छोड़ देना। ० यदि ० जाने। ० यह काय-कर्म कुशल है, तो इस प्रकारके काय-कर्मको राहुल ! बारबार करना।

"काय-कर्म करके भी राहुल ! तुझे काय-कर्मका फिर प्रत्यवेक्षण करना चाहिये—'क्या जो मैंने यह काय-कर्म किया है, वह मेरा काय-कर्म अपने लिये पीड़ादायक है ०। यह कायकर्म अकुशल है ०।' ० जाने। ० अकुशल है। तो राहुल इस प्रकारके काय-कर्मको शास्ताके पास, या विज्ञ गुरु-भाई (= सब्रह्मचारी)के पास कहना चाहिये, खोलना चाहिये = उतान करना चाहिये। कह कर, खोलकर = उतानकर, आगेको संयम करना चाहिये। यदि राहुल ! तू प्रत्य-वेक्षण कर जाने। ० कुशल है। तो दिनरात कुशल (= उत्तम) धर्मों (= बातों)में शिक्षा ग्रहण करनेवाला बन। राहुल ! इससे तू प्रीति = प्रमोदसे विहार करेगा।

"यदि राहुल ! तू वचनसे काम करना चाहे ०। ० कुशल वचन-कर्म ० करना। ० बारबार करना। ० उससे तू ० प्रीति = प्रमोदसे विहार करेगा।

"यदि राहुल ! तू मनसे काम करना चाहे ०। ० कुशल मन-कर्म ० करना। ० बारबार

करना। मन-कर्म करके ० यह मनकर्म अकुशल है ०। तो इस प्रकारके मन-कर्ममें खिन्न होना चाहिये, शोक करना चाहिये, घृणा करनी चाहिये। खिन्न हो, शोक कर, घृणा कर आगेको संयम करना चाहिये। ० यह मन-कर्म कुशल है ०। उससे तू ० प्रमोदसे विहार करेगा।

"राहुल! जिन किन्हीं श्रमणों (= भिक्षुओं) या ब्राह्मणों (= सन्तों)ने अतीत-कालमें काय-कर्म ०, वचन-कर्म ०, मन-कर्म ० परिशोधित किये। उन सबोंने इसी प्रकार प्रत्यवेक्षण कर काय ., वचन ., मन-कर्म परिशोधित किये। जो कोई राहुल! श्रमण या ब्राह्मण भविष्यकालमें भी काय ., वचन ., मन-कर्म परिशोधित करेंगे; वह सब इसी प्रकार ०। जो कोई राहुल! श्रमण या ब्राह्मण आजकल भी काय ., वचन ., मन-कर्म परिशोधित करते हैं; वह सब भी इसी प्रकार ०।

"इसलिये राहुल! तुझे सीखना चाहिये कि मैं प्रत्यवेक्षण कर काय-कर्म ०, ० वचन-कर्म, ० मन-कर्मका परिशोधन करूँगा।"

६२—महा-राहुलोवाद-सुत्तन्त (२।२।२)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथ-पिंडिकके आराम, जेतवनमें विहार करते थे।

तव पूर्वाह्न समय भगवान् पहिन कर, पात्र-चीवरले श्रावस्तीमें पिंड(-चार)के लिये प्रविष्ट हुये। आयुष्मान् राहुल भी पूर्वाह्न समय पहिनकर पात्र-चीवर ले भगवान्‌के पीछे पीछे हो लिये। भगवान्‌ने देखकर, आयुष्मान् राहुलको संवोधित किया—

"राहुल! जो कुछ रूप है—भूत-भविष्य-वर्तमान-का शरीरके भीतर (= अध्यात्म)का, या बाहरका, महान् या सूक्ष्म, अच्छा या बुरा, दूर या समीप-का—सभी रूप 'न यह मेरा है', 'न मैं यह हूँ', 'न यह मेरा आत्मा है', इस प्रकार यथार्थ जानकर देखना (= समझना) चाहिये।"

"रूपहीको भगवान्! रूपहीको सुगत!"

"रूपको भी राहुल! वेदनाको भी, संज्ञाको भी, संस्कारको भी, विज्ञानको भी।"

तव आयुष्मान् राहुल—'कौन आज भगवान्‌का उपदेश सुनकर, गाँवमें पिंड-चारके लिये जाये?'—(सोच) वहाँसे लौटकर एक वृक्षके नीचे, आसन मार, शरीरको सीधा रख, स्मृतिको सन्मुख ठहरा बैठ गये। भगवान्‌ने आयुष्मान् राहुलको वृक्षके नीचे ० बैठा देखा। देखकर संवोधित किया—

"राहुल! आणापान-सति (= प्राणायाम) भावनाकी भावना (= ध्यान) कर। राहुल! आणापान सति (= आनापान महा-स्मृति) भावना किये जानेपर महाफलदायक, वड़े माहात्म्यवाली होती है।"

तव आयुष्मान् राहुल सायंकालको ध्यानसे उठ, जहाँ भगवान् थे वहाँ गये। जाकर भगवान्‌को अभिवादनकर एक ओर बैठ गये। एक ओर बैठे हुये आयुष्मान् राहुलने भगवान्‌से यह कहा—

"भन्ते! किस प्रकार भावना की गई, किस प्रकार वढ़ाई गई, आणापान-सति महा-फल-दायक, वड़े माहात्म्यवाली होती है?"

"राहुल! जो कुछ भी शरीरमें (= अध्यात्म), प्रतिशरीरमें (= प्रत्यात्म) कर्कश, खर्खरा है, जैसे—केश, लोम, नख, दाँत, चमड़ा, मांस, स्नायु, अस्थि, अस्थि-मज्जा, वुक्क, हृदय, यकृत्, क्लोमक, प्लीहा, फुप्फुस, आँत, पतली आँत (= अंत-गुण = आँतकी रस्सी), पेटका मल और जो कुछ और भी शरीरमें, प्रतिशरीरमें कर्कश ० है। राहुल! यह सव! अध्यात्म पृथ्वी-धातु कहलाती है। जो कुछ कि अध्यात्म पृथ्वी धातु है, और जो कुछ वाह्य; यह (सव) पृथिवी-धातु, पृथिवी-धातु ही है। उसको 'यह मेरी नहीं', 'यह मैं नहीं हूँ', 'यह मेरा आत्मा नहीं है'

—इस प्रकार यथार्थत: जानकर देखना चाहिये। इस प्रकार इसे यथार्थत: अच्छी प्रकार जानकर देखनेसे (भिक्षु) पृथिवी-धातुसे उदास होता है, पृथिवी-धातुसे चित्तको विरक्त करता है।

"क्या है राहुल ! आपधातु ? आप (= जल) धातु (दो) हैं—आध्यात्मिक (= शरीर-में की) और बाह्य। क्या है आध्यात्मिक आप-धातु ०। ० तेज-धातु ०। ० वायु-धातु ०।

"क्या है राहुल ! आकाश-धातु ?—आकाश-धातु आध्यात्मिक भी है, और बाह्य भी। "राहुल ! आध्यात्मिक आकाश-धातु क्या है ?—जो कुछ शरीरमें, प्रतिशरीरमें आकाश या आकाश-विषयक है, जैसे कि—कर्ण-छिद्र, नासिका-छिद्र, मुख-द्वार जिससे अन्न-पान खादन-आस्वादन किया जाता है; और जहाँ खाना-पीना···ठहरता है, और जिससे कि अधोभागसे खाया-पिया··· बाहर निकलता है। और जो कुछ और भी शरीरमें प्रति-शरीरमें आकाश या आकाश-विषयक है। यह सब राहुल ! आध्यात्मिक आकाश-धातु कही जाती है। जो कुछ आध्यात्मिक आकाश-धातु है, और जो कुछ बाह्य आकाश-धातु है, वह सब आकाश-धातु ही है। 'वह न मेरी है' ०, । ०।

"राहुल ! पृथिवी-समान भावनाकी भावना (= ध्यान) कर। पृथिवी-समान भावनाकी भावना करते हुये, राहुल ! तेरे चित्तको, दिलको अच्छे लगनेवाले स्पर्श—चित्तको चारों ओरसे पकड़कर न चिमटेंगे। जैसे राहुल ! 'पृथिवीमें शुचि (= पवित्र वस्तु) भी फेंकते हैं', अशुचि भी फेंकते हैं। पाखाना भी ०, पेशाब ०, कफ ०, पीब ०, लोहू ०। उससे पृथिवी दुःखी नहीं होती, ···ग्लानि नहीं करती, घृणा नहीं करती; इसी प्रकार; तू राहुल ! पृथिवी-समान भावनाकी भावना कर। पृथिवी-समान भावना करते राहुल ! तेरे चित्तको अच्छे लगनेवाले स्पर्श ० न चिमटेंगे।

"आप (= जल)-समान ०। जैसे राहुल ! जलमें शुचि भी धोते हैं ०।

"तेज (= अग्नि)-समान ०। जैसे राहुल ! तेज शुचिको भी जलाता है ०।

"वायु-समान ० जैसे राहुल ! वायु शुचिके पास भी बहता है ०।

"आकाश-समान ०। जैसे राहुल ! आकाश किसीपर प्रतिष्ठित नहीं। इसी प्रकार तू राहुल ! आकाश-समान भावनाकी भावना कर। राहुल ! आकाश-समान भावनाकी भावना करने पर, उत्पन्न हुये मनको अच्छे लगनेवाले स्पर्श, चारों ओरसे पकड़कर चित्तको न चिमटेंगे।

"राहुल ! मैत्री (= सबको मित्र समझना)-भावनाकी भावना कर। मैत्री-भावनाकी भावना करनेसे राहुल ! जो व्यापाद (= द्वेष) है, उससे छूट जायेगा।

"राहुल ! करुणा-(= सारे प्राणियोंपर दया करना) भावनाकी भावना कर। करुणा भावना-की भावना करनेसे राहुल ! जो तेरी विहिंसा (= पर-पीड़ा-करण-इच्छा) है, वह छूट जायगी।

"राहुल ! मुदिता (= सुखी देख प्रसन्न होना)-भावनाकी भावनाकर। ० राहुल ! जो तेरी अ-रति (= मन न लगना) है वह हट जायेगी।

"राहुल ! उपेक्षा (= शत्रुकी शत्रुताकी उपेक्षा)-भावनाकी भावना कर। ० जो तेरा प्रतिघ (= प्रतिहिंसा) है, वह हट जायेगा।

"राहुल ! अ-शुभ (= सभी भोग बुरे हैं)-भावनाकी भावना कर। ० जो तेरा राग है, वह चला जायगा।

"राहुल ! अ-नित्य-संज्ञा (= सभी पदार्थ अ-नित्य हैं)-भावनाकी भावना कर। ० जो तेरा अस्मिमान (= अहंकार) है, वह छूट जायेगा।

"राहुल ! आणापान-सति (= प्राणायाम)-भावनाकी भावना कर। आणा-पान-सति भावना करना-बढ़ाना, राहुल ! महा-फल-प्रद बड़े माहात्म्यवाला है। राहुल ! आणा-पान-सति-भावना भावित होनेपर, बढ़ाई जानेपर, कैसे महा-फल-प्रद० होती है ?—राहुल ! भिक्षु अरण्यमें

वृक्षके नीचे, या शून्य-गृहमें आसन मारकर, शरीरको सीधा धारण कर, स्मृतिको सन्मुख रख, बैठता है। वह स्मरण रखते साँस छोड़ता है, स्मरण रखते साँस लेता है, लम्बी साँस छोड़ते 'लम्बी साँस छोड़ रहा हूँ'—जानता है। लम्बी साँस लेते 'लम्बी साँस ले रहा हूँ'—जानता है। छोटी साँस छोड़ते ०। छोटी साँस लेते ०। 'सारे कायको अनुभव (= प्रतिसंवेदन) करते साँस छोड़ूँ'—सीखता है। 'सारे कायको अनुभव करते 'साँस लूँ'—सीखता है। कायाके संस्कारों खाज आदिको दबाते हुये साँस छोड़ूँ, ० ० साँस लूं'—सीखता है। 'प्रीतिको अनुभव करते साँस छोड़ूँ' ०। '० साँस लूँ' सीखता है। 'सुख अनुभव करते ०'। 'चित्तके संस्कारको अनुभव करते ०। 'चित्तके संस्कारको दबाते हुये ०। 'चित्तको अनुभव करते ०'। 'चित्तको प्रमोदित करते ०। 'चित्तको समाधान करते ०। 'चित्तको (राग आदिसे) विमुक्त करते ०। '(सब पदार्थोंको) अनित्य देखने-वाला हो ०। '(सब पदार्थोंमें) विरागकी दृष्टिसे ०। '(सब पदार्थोंमें) निरोध (= विनाश)की दृष्टिसे ०। '(सब पदार्थोंमें) परित्यागकी दृष्टिसे साँस छोड़ूँ'—सीखता है। 'परित्यागकी दृष्टिसे साँस लूँ'—सीखता है। राहुल! इस प्रकार भावना की गई, बढ़ाई गई आणा-पान-सति महा-फल-दायक, और बड़े माहात्म्य-वाली होती है। राहुल! इस प्रकार भावनाकी गई, बढ़ाई गई आणा-पान-सतिसे जो वह अन्तिम आश्वास (= साँस छोड़ना) प्रश्वास (= साँस लेना) हैं, वह भी विदित होकर, लय (= निरुद्ध) होते हैं, अ-विदित होकर नहीं।"

भगवान्‌ने यह कहा, आयुष्मान् राहुलने संतुष्ट हो, भगवान्‌के भाषणका अभिनन्दन किया।

६३—चूल-मालुंक्य-सुत्तन्त (२।२।३)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथपिंडिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे।

तब एकान्तमें स्थित विचार-मग्न आयुष्मान् मालुंक्य-पुत्तके चित्तमें यह वितर्क उत्पन्न हुआ—"भगवान्ने जिन इन दृष्टियोंको अ-व्याकृत (= अ-कथनीय), स्थापित (= जिनका उत्तर रोक दिया गया), प्रतिक्षिप्त (= जिनका उत्तर देना अस्वीकृत होगया) कर दिया है—(१) 'लोक शाश्वत (= नित्य) है', (२) 'लोक अ-शाश्वत है', (३) 'लोक अन्तवान् है', (४) 'लोक अनन्त है', (५) 'जीव शरीर एक है', (६) 'जीव दूसरा है, शरीर दूसरा है', (७) 'मरनेके बाद तथागत होते हैं', (८) 'मरनेके बाद तथागत नहीं होते', (९) 'मरनेके बाद तथागत होते भी हैं, नहीं भी होते हैं', (१०) 'मरनेके बाद तथागत न-होते हैं, न-नहीं-होते हैं'। इन (दृष्टियों)को भगवान् मुझे नहीं बतलाते। जो (कि) भगवान् मुझे (इन्हें) नहीं बतलाते, यह मुझे नहीं रुचता = मुझे नहीं खमता। सो मैं भगवान्के पास जाकर इस बातको पूछूँ; यदि मुझे भगवान् कहेंगे—(१) 'लोक शाश्वत है' या ० (१०) 'मरनेके बाद तथागत न-होते हैं, न-नहीं-होते हैं'; तो मैं भगवान्के पास ब्रह्मचर्य-वास (= शिष्यता) करूँगा। यदि मुझे भगवान् न बतलायेंगे—(१) 'लोक शाश्वत है' या ० (१०) 'मरनेके बाद तथागत न-होते हैं, न-नहीं-होते हैं'; तो मैं (भिक्षु-)शिक्षाका प्रत्याख्यान कर हीन (= गृहस्थ-आश्रम) में लौट जाऊँगा।"

तब आयुष्मान् मालुंक्यपुत्त सायंकालको प्रतिसँल्लयन (= एकान्तचिन्तन, विचार-मग्न होना)से उठकर जहाँ भगवान् थे, वहाँ...जाकर भगवान्को अभिवादन कर एक ओर बैठ गये। एक ओर बैठे आयुष्मान् मालुंक्यपुत्तने भगवान्से यह कहा—

"भन्ते! ० यहाँ मेरे चित्तमें यह वितर्क उत्पन्न हुआ—'भगवान्ने जिन इन दृष्टियोंको अ-व्याकृत ० तो मैं शिक्षाका प्रत्याख्यान कर हीन (आश्रम)में लौट जाऊँगा।' यदि भगवान् जानते हैं—(१) 'लोक शाश्वत है', तो भगवान् मुझे बतलायें—'लोक शाश्वत है'। (२) यदि भगवान् जानते हैं—'लोक अशाश्वत है', तो भगवान् मुझे बतलायें—'लोक अशाश्वत है'। यदि भगवान् नहीं जानते, कि 'लोक शाश्वत है, या लोक अशाश्वत है'; तो न जानने समझनेवालेके लिये यही सीधी (बात) है, कि वह (साफ कहदे)—'मैं नहीं जानता, मुझे नहीं मालूम'। ० यदि भगवान् जानते हैं—(९) 'मरनेके बाद तथागत होते भी हैं, नहीं भी होते हैं'; तो भगवान् मुझे बतलायें—'मरनेके बाद ०'। यदि भगवान् जानते हैं—(१०) 'मरनेके बाद तथागत न-होते हैं, न-नहीं-होते हैं', तो भगवान् मुझे बतलायें—'० न-नहीं होते हैं'। यदि भगवान् नहीं जानते—'० होते भी हैं, नहीं भी होते' या '० न-होते हैं, न-नहीं-होते'; तो न जानने समझने-

वालेके लिये यही सीधी (बात) है, कि वह (साफ कहदे)—'मैं नहीं जानता, मुझे नहीं मालूम'।"

"क्या मालुंक्यपुत्त ! मैंने तुझसे यह कहा था—'आ, मालुंक्य-पुत्त ! मेरे पास ब्रह्मचर्य-वास कर, मैं तुझे बतलाऊँगा—(१) 'लोक शाश्वत है', ० (१०) 'मरनेके बाद तथागत न-होते हैं, न-नहीं-होते हैं' ?"

"नहीं, भन्ते !"

"क्या तूने मुझसे यह कहा था—मैं भन्ते ! भगवान्‌के पास ब्रह्मचर्यवास करूँगा, भगवान् मुझे बतलायें—(१) 'लोक शाश्वत है', ० (१०) 'मरनेके बाद तथागत न-होते हैं, न-नहीं-होते हैं' ?"

"नहीं, भन्ते !"

"इस प्रकार मालुंक्यपुत्त ! न मैंने तुझसे कहा था—'आ ०, ०'; न तूने मुझसे कहा था—मैं भन्ते ! ०, ०। ऐसा होनेपर मोघ-पुरुष ! (= फजूलके आदमी) ! तू क्या होकर किस-का प्रत्याख्यान करेगा ?"

"मालुंक्य-पुत्त ! जो ऐसा कहे—मैं तब तक भगवान्‌के पास ब्रह्मचर्यवास न करूँगा, जब तक भगवान् मुझे यह न बतलावें—(१) 'लोक शाश्वत है' ०, या (१०) ० न-होते हैं, न-नहीं-होते'; (फिर) तथागतने तो उन्हें अव्याकृत किया है और वह (बीचमें ही) मर जायेगा। जैसे मालुंक्यपुत्त ! कोई पुरुष गाढ़े लेपवाले विषयसे युक्त शल्य (= बाणके फल)से बिंधा हो; उसके हित-मित्र भाई-बंद शल्यचिकित्सक भिषक् (= वैद्य)को ले आवें। (और) वह (घायल) यह कहे—'मैं तब तक इस शल्यको नहीं निकालने दूँगा, जब तक कि अपने बेधनेवाले उस पुरुषको न जान लूँ कि वह क्षत्रिय है या ब्राह्मण, वैश्य है (= वेस्स) या शूद्र (= सुद्द)।'''मैं तब तक इस शल्यको नहीं निकालने दूँगा, ० कि वह पुरुष अमुक नामका अमुक गोत्रका है'। ०, ० कि वह पुरुष (कदमें) लम्बा है, नाटा है, या मझोला है'। ०, ० कि वह पुरुष काला है, श्याम है, या मंगुर (-मछली)के रंगका है'। ०, ० कि वह अमुक ग्राम या निगम (= कस्बे) या नगरमें (रहता) है'।'''मैं तब तक इस शल्यको नहीं निकालने दूँगा, जब तक कि उस बेधने-वाले धनुषको न जान लूँ, कि वह चाप है या कोदण्ड। ० ज्याको न जान लूँ, कि वह अर्क (= मदार)की, या संठेकी, या नहारू (= ताँत)की, या मरुव(= मरुवा)की या क्षीरपर्णी (= दुधिया जड़ी)की है'। ० काण्ड (= शर, बाण)को न जान लूँ, कि वह कच्छ (= जलाशयके तटपर स्वयं उगे सर्पत)का है, या रोपे (सर्पत)का है'। ० तीरके परको न जान लूँ, कि वह बाजका, या गिद्ध; कौओं, या बगले (= कुलल), या मोर, या शिथिलहनु (पक्षी)का है। ० तीरके गिर्दकी ताँत (= नहारू)को न जान लूँ, कि वह गायकी, या भैंसकी, या गोरुव (= लकड़े ?)की, या बंदरकी है'। ० शल्य (= फर)को न जान लूँ, कि वह शल्य है, या क्षुरप्र (= खुरपे जैसा फर), या वेकण्ड, या नाराच, या वत्सदन्त (= बछड़ेके दाँतकी तरह), या करवीर-पत्र (= करेरूके पत्रकी भाँति एक नोकवाला)। (ऐसा होनेपर) मालुंक्य-पुत्त ! वह तो अ-ज्ञातही रह जायेंगे, और यह पुरुष मर जायेगा। ऐसे ही मालुंक्य-पुत्त ! जो ऐसा कहे—'मैं तब तक ० (फिर) तथागतने तो इसे अ-व्याकृत (= कथनका अविषय) किया है, और वह मर जायेगा।

"मालुंक्यपुत्त ! (१,२) 'लोक शाश्वत है'—इस दृष्टिके होनेपर ही क्या ब्रह्मचर्यवास होगा ?—ऐसा नहीं। 'लोक अशाश्वत है' इस दृष्टिके होनेपर ही क्या ब्रह्मचर्यवास होगा ?—ऐसा

भी नहीं। । मालुंक्यपुत्त ! चाहे 'लोक शाश्वत है'—यह दृष्टि रहे, चाहे 'लोक अ-शाश्वत है' यह दृष्टि रहे; जन्म है ही, जरा है ही, मरण है ही, शोक रोना-काँदना दुःख दौर्मनस्य परेशानी हैं ही, जिनके इसी जन्ममें विघात(के उपाय)को मैं बतलाता हूँ। ०।

"मालुंक्यपुत्त ! (९,१०) 'मरनेके बाद तथागत (= मुक्त पुरुष) होते भी हैं, नहीं भी होते हैं'—यह दृष्टि रहे, चाहे '० न-होते हैं, न-नहीं-होते हैं'—यह दृष्टि रहे; जन्म है ही ०, जिनके कि इसी जन्ममें विघात (के उपाय)को मैं बतलाता हूँ।

"इसलिये मालुंक्यपुत्त ! मेरे अ-व्याकृत (= वचनके अ-विषय)को अव्याकृतके तौरपर धारण कर, और मेरे व्याकृतको व्याकृतके तौरपर धारण कर।

"मालुंक्यपुत्त ! क्या मेरे अ-व्याकृत हैं ?—(१) 'लोक शाश्वत है'—यह मेरा अ-व्याकृत है, ० (१०) '० न-होते हैं, न-नहीं-होते हैं' यह···मेरा अ-व्याकृत है। मालुंक्यपुत्त ! किसलिये इन्हें मैंने अ-व्याकृत (कहा) है ?—मालुंक्यपुत्त ! यह (= इनका व्याकरण, कथन) सार्थक नहीं, आदि-ब्रह्मचर्य-उपयोगी नहीं हैं; (और) न यह निर्वेद = वैराग्य, निरोध = उपशम (= शांति), अभिज्ञा (= लोकोत्तर ज्ञान), संबोध (= परम ज्ञान), निर्वाणके लिये (आवश्यक) हैं; इसलिये मैंने उन्हें अ-व्याकृत किया।

"मालुंक्य-पुत्त ! क्या मेरे व्याकृत (= कथित, कथनके विषय) हैं ?—(१) 'यह दुःख है'—इसे मैंने व्याकृत किया, (२) 'यह दुःख-समुदय (= ० हेतु, ० उत्पत्ति) है—इसे मैंने व्याकृत किया, (३) 'यह दुःख-निरोध है ०, (४) 'यह दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपद् है'—इसे मैंने व्याकृत किया। मालुंक्यपुत्त ! किसलिये इन्हें मैंने व्याकृत किया है ?—मालुंक्य-पुत्त ! यह सार्थक हैं, आदि-ब्रह्मचर्य-उपयोगी हैं, (और) यह निर्वेद ० निर्वाणके लिये (आवश्यक) हैं; इसलिये मैंने इन्हें व्याकृत किया।

"इसलिये मालुंक्यपुत्त ! मेरे अ-व्याकृतको अ-व्याकृतके तौरपर धारण कर, और मेरे व्याकृतको व्याकृतके तौरपर धारण कर।"

भगवान्‌ने यह कहा; सन्तुष्ट हो आयुष्मान् मालुंक्यपुत्तने भगवान्‌के भाषणको अभिनंदित किया।

६४—महा-मालुंक्य-सुत्तन्त (२।२।४)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथपिंडकके आराम जेतवनमें विहार करते थे।

वहाँ भगवान्‌ने भिक्षुओंको संबोधित किया—"भिक्षुओ !"

"भदन्त !"—(कह) उन भिक्षुओंने भगवान्‌को उत्तर दिया।

भगवान्‌ने यह कहा—"याद है न भिक्षुओ ! तुम्हें, मेरे उपदेशे पाँच अवर-भागीय संयोजन ?"

ऐसा पूछनेपर आयुष्मान् मालुंक्यपुत्तने भगवान्‌से यह कहा—"भन्ते ! याद हैं, मुझे भगवान्‌के उपदेशे पाँच अवर-भागीय संयोजन।"

"मालुंक्यपुत्त ! तो मेरे उपदेश तुझे कैसे याद हैं ० ?"

"भन्ते ! (१) सत्काय-दृष्टि (= नित्य-आत्मवाद)को मैंने भगवान्‌का उपदेशा अवर-भागीय (= ओरंभागीय)-संयोजन धारण किया है। (२) विचिकित्सा (= संशय)को ०। (३) शीलव्रत परामर्श (= शील और व्रतको ही सब कुछ मानना)को ०। (४) काम-च्छन्द (= भोगमें अनुराग)को ०। (५) व्यापादको ०।

"मालुंक्यपुत्त ! इस प्रकार पाँच अवरभागीय- संयोजनोंको किसे उपदेश देते तूने मुझे सुना ? मालुंक्यपुत्त ! अन्य दूसरे तीर्थ (= मत)के परिव्राजक ऐसे वच्चोंके वहलावेसे वहलाते हैं।...उतान (ही) सो सकनेवाले अबोध छोटे वच्चेको सत्काय (= आत्म-वाद) भी नहीं होता, फिर कहाँसे उसे सत्काय-दृष्टि उत्पन्न होगी ? (हाँ) सत्काय-दृष्टिका अनुशय (= संस्कार) तो रहता है, उसके साथ चिमटा। ० छोटे वच्चेको धर्म (=मानसिक विचार) भी नहीं होते, कहाँसे उसे विचिकित्सा उत्पन्न होगी ? (हाँ) विचिकित्साका अनुशय तो रहता है, उसके (मनके) साथ चिमटा। ० छोटे वच्चेको शील (= सदाचार) भी नहीं होता, कहाँसे उसे शीलोंमें शीलव्रत-परामर्श उत्पन्न होगा, शील-व्रत-परामर्श-अनुशय तो रहता है ०। ० छोटे वच्चेको काम भी नहीं होते, कहाँसे उसे कामोंमें कामच्छन्द उत्पन्न होगा ? ० कामच्छन्दानुशय तो रहता है ०। ० छोटे वच्चेको शक्ति भी नहीं होती, कहाँसे उसे व्यापाद (= उत्पीड़नेच्छा) उत्पन्न होगा ? ० व्यापाद-अनुशय तो रहता है उसके साथ चिमटा। मालुंक्यपुत्त ! अन्य दूसरे तीर्थवाले परिव्राजक ऐसे वच्चोंको वहलावेसे वहलाते हैं।"

ऐसा कहनेपर आयुष्मान् आनन्दने भगवान्‌से यह कहा—

"भगवान् ! इसीका काल है, सुगत ! इसीका काल है, कि भगवान् पाँच अवरभागीय-संयोजनोंका उपदेश करें, भगवान्‌से सुनकर भिक्षु धारण करेंगे।"

"तो आनन्द ! सुनो, अच्छी तरह मनमें करो, कहता हूँ।"

"अच्छा, भन्ते!—(कह) आयुष्मान् आनन्दने भगवान्‌को उत्तर दिया।

भगवान्‌ने यह कहा—"यहाँ आनन्द! आर्योंके दर्शनसे वंचित ०[1] अज्ञ, अनाड़ी सत्काय-दृष्टिसे पर्युत्थित = सत्काय-दृष्टिसे परेत (= व्याप्त) चित्तसे विहरता है। वह उत्पन्न सत्कायदृष्टिसे निकलनेके (रास्ते को) ठीकसे नहीं जानता। उसकी वह न हटाई (= अप्रति-विनीत), दृढ़ताप्राप्त सत्काय-दृष्टि अवरभागीय-संयोजन है। वह विचिकित्सासे पर्युत्थित, विचिकित्सासे व्याप्त-चित्त हो विहरता है। वह उत्पन्न विचिकित्सासे निकलनेके (रास्तेको) ठीक से नहीं जानता। उसकी वह न हटाई, दृढ़ता-प्राप्त विचिकित्सा अवरभागीय संयोजन है। वह शील-व्रत-परामर्शसे ०। ० काम-रागसे (= कामच्छन्द) ०। ० व्यापाद ०।

"और आनन्द! आर्योंके दर्शनसे अभिज्ञ, आर्यधर्मसे परिचित, आर्यधर्ममें सुविनीत (= सुशिक्षित), सत्पुरुषोंके दर्शनसे अभिज्ञ, सत्पुरुष-धर्मसे परिचित, सत्पुरुष धर्ममें सुविनीत आर्यश्रावक सत्काय-दृष्टिसे पर्युत्थित = सत्काय-दृष्टिसे व्याप्त चित्त हो नहीं विहरता। वह उत्पन्न हुई सत्काय-दृष्टिसे निकलनेके (रास्तेको) ठीकसे जानता है; (जिसके कारण) उसकी वह सत्काय-दृष्टि अनुशय (= संस्कार)-रहित वन नष्ट हो जायेगी। वह विचिकित्सासे ०। वह शीलव्रत-परामर्शसे ०। वह काम-रागसे ०। वह व्यापादसे ०।

"आनन्द! पाँच अवरभागीय-संयोजनोंके प्रहाण (= नाश)के लिये जो मार्ग है = जो प्रतिपद् है,...उसके विना वह पाँच अवरभागीय-संयोजनोंको जानेगा, देखेगा, या नाशेगा, यह सम्भव नहीं। जैसे, आनन्द! सारवान् खड़े महावृक्षकी छालको विना काटे, गुद्दे (=फेग्गू)को बिना काटे, सारका काटना हो सकेगा, यह संभव नहीं; ऐसे ही आनन्द! पाँच अवरभागीय-संयोजनोंके प्रहाणके लिये ० सम्भव नहीं। आनन्द! ० जो मार्ग है = जो प्रतिपद् है, उसे पाकर वह पाँच अवरभागीय-संयोजनोंको जानेगा ०, यह सम्भव है। जैसे, आनन्द! सारवान् खड़े महावृक्षकी छाल को काटकर, गुद्देको काटकर सारका काटना होगा, यह संभव है; ऐसे ही आनन्द! ०। जैसे, आनन्द! गंगानदी जलसे करारतक भरी काक-पेया (=करारपर बैठे बैठे कौयेके पीने योग्य, लवालब्) हो; तव एक दुर्वल पुरुष (यह कहता) आवे—मैं इस गंगानदीके प्रवाहको वाँहसे तिर्छे काटकर; सकुशल पार चला जाऊँगा। (और) वह गंगानदीके प्रवाहको वाँहसे तिर्छे काटकर सकुशल पार नहीं जा सके। ऐसेही आनन्द! सत्कायके निरोध (= नाश)के लिये धर्म-उपदेश किये जाते समय जिसका चित्त प्रसन्न नहीं होता = प्रस्कंदित नहीं होता, स्थिर नहीं होता, विमुक्त नहीं होता; उसे दुर्वल पुरुषकी भी भाँति जानना चाहिये। जैसे आनन्द! गंगानदी जलसे करारतक भरी, काक-पेया हो; तव एक वलवान् पुरुष (यह कहता) आवे—मैं ० पार कर जाऊँगा। (और) वह ० सकुशल पार जा सके। ऐसे ही आनन्द! सत्काय-निरोधके लिये धर्म-उपदेश किये जाते समय जिसका चित्त प्रसन्न होता है ०, उसे वलवान् पुरुषकी भाँति जानना चाहिये।

"आनन्द! पाँच अवरभागीय-संयोजनोंके नाशके लिये क्या मार्ग है = क्या प्रतिपद् है?—यहाँ आनन्द! भिक्षु उपधि (= विषय)को त्यागकर, अकुशल-धर्मों (= बुराइयों)को हटा-कर कायिक-दौष्ठुल्यों (= चंचलता)को सर्वथा शांत कर, कामोंसे विरहित ०[2] प्रथम-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। वह जो कुछ रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञानसे संवंध रखनेवाले धर्म (= पदार्थ) हैं, उन्हें अनित्य, दुःख, रोग, गंड (= फोड़े), शल्य, घाव, आवाधा (= पीड़ा), पराये, प्रलोक (= नाशमान), शून्य, और अन्-आत्मके तौरपर देखता है। वह उन धर्मोंसे

---

[1] देखो पृष्ठ ३। [2] देखो पृष्ठ १५।

चित्तको निवारण···करके अमृत (= निर्वाण) धातु (= पद)की ओर चित्तको एकाग्र करता है—यह शांत प्रणीत (= उत्तम) है, जो कि यह संस्कारोंका शमन, सारी उपधियों का परित्याग, तृष्णाका क्षय, विराग, निरोध (रूपी) निर्वाण है। वह उस (अमृतपद, तृष्णा-क्षय)में स्थित हो आस्रवों (= चित्त-मलों)के क्षयको प्राप्त होता है। यदि आस्रवोंके क्षयको नहीं प्राप्त होता, तो उसी धर्म-अनुरागसे = उसी धर्म-नन्दीसे पाँचों अवरभागीय संयोजनोंके क्षयसे, औपपातिक (= देवता) हो, वहाँ (देवलोकमें) जा निर्वाणको प्राप्त होनेवाला होता है, (वह) उस लोकसे लौटकर आनेवाला नहीं होता। आनन्द ! यह भी मार्ग = प्रतिपद् है, पाँच अवरभागीय संयोजनोंके नाशके लिये।

"और फिर आनन्द ! भिक्षु वितर्क विचारके शांत होनेपर ०[1] द्वितीय-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। ०[1] तृतीय-ध्यानको ०[2]। ०[2] चतुर्थ-ध्यानको ०। और फिर आनन्द ! भिक्षु रूप-संज्ञाके सर्वथा छोड़ने ०[2] आकाशानन्त्यायतनको प्राप्त हो विहरता है ०। ०[2] विज्ञानानन्त्याय-तन ०। ०[2] आकिंचन्यायतन ०। ०[2] नैवसंज्ञा-नासंज्ञायतनको प्राप्त हो विहरता है। वह जो कुछ वहाँ वेदना, संज्ञा ०[3] उस लोकसे लौटकर आनेवाला नहीं होता। आनन्द ! यह भी मार्ग = प्रतिपद् है।"

"भन्ते ! यदि यही मार्ग = प्रतिपद् है, पाँच अवरभागीय-संयोजनोंके प्रहाण (= नाश)के लिये; तो भन्ते ! क्यों कोई भिक्षु चेतो-विमुक्ति (= छूटे चित्त-मलों)वाले होते हैं, कोई प्रज्ञा-विमुक्ति वाले ?"

"आनन्द ! इसे मैं इन्द्रिय (= मानसिक शक्तिके)-भेदके कारण कहता हूँ।"

भगवान्‌ने यह कहा, सन्तुष्टहो आयुष्मान् आनंदने भगवान्‌के भाषणको अभिनंदित किया !

६५—भद्दालि-सुत्तन्त (२।२।५)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावतीमें अनाथ-पिंडिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे।

वहाँ भगवान्ने भिक्षुओंको संबोधित किया—"भिक्षुओ!"

"भदन्त!"—(कह) उन भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया।

भगवान्ने यह कहा—"भिक्षुओ! मैं एक आसन-भोजनका सेवन करता हूँ।···एक आसन-भोजनको सेवन करनेसे मैं (अपनेमें) निरोगता = निर्व्याधिता, फुर्ती, बल और सुख (-पूर्वक) विहारको देखता हूँ। आओ, भिक्षुओ! तुम भी एक आसन-भोजन सेवन करो, एक आसन-भोजन सेवन करनेसे तुम भी निरोगता ० सुख-विहारको देखोगे।"

ऐसा कहनेपर आयुष्मान् भद्दालिने भगवान्से यह कहा—"मैं भन्ते! एक आसन-भोजन को सेवन नहीं कर सकता। एक आसन-भोजन सेवन करनेपर भन्ते! मुझे कौकृत्य (= चिंता) होगा, उदासी (= विप्रतिसार) होगी।"

"तो भद्दालि! जहाँ तू निमंत्रित हो, वहाँ (भोजनका) एक भाग खा दूसरे भागको ले जाकर (दूसरी बार) खाना; इस प्रकार खा कर भी भद्दालि! तू गुजारा कर सकता है।"

"ऐसे भी भन्ते! मैं भोजन नहीं कर सकता। ऐसे भोजन करनेपर भी भन्ते! मुझे कौकृत्य होगा, विप्रतिसार होगा।"

तब आयुष्मान् भद्दालिने भगवान्के शिक्षापद (= भिक्षु-नियम) बनाते समय, भिक्षु-संघके शिक्षा ग्रहण करते समय उपेक्षा (अन्-उत्साह)की। तब आयुष्मान् भद्दालि उस सारे तिमासे भर भगवान्के सन्मुख नहीं गये; क्योंकि वह शास्ता-के-शासन (= बुद्ध-धर्म)में शिक्षाका पूरी तरह पालन करनेवाले न थे।

उस समय बहुतसे भिक्षु (यह ख्याल करते) भगवान्का चीवर-कर्म (= वस्त्र सीना) कर रहे थे, कि चीवर तैयार हो जाने पर तीन मास बाद भगवान् चारिका (= पर्यटन)के लिये जायेंगे। तब आयुष्मान् भद्दालि, जहाँ वह भिक्षु थे, वहाँ···जाकर उन भिक्षुओंके साथ···सम्मोदन···कर, एक ओर बैठे गये, एक ओर बैठे आयुष्मान् भद्दालिसे उन भिक्षुओंने कहा—

"आवुस भद्दालि! यह भगवान्का चीवर-कर्म किया जा रहा है; चीवर तैयार हो जानेपर तीन मास बाद भगवान् चारिकाको जायेंगे। अच्छा, आवुस भद्दालि! इस बात (= देसना)को अच्छी तरह मनमें करो, मत पीछे (यह) अधिक दुष्कर हो जाये।"

भिक्षुओंको "अच्छा, आवुस!" कह, आयुष्मान् भद्दालि जहाँ भगवान् थे, वहाँ···जाकर भगवान्को अभिवादनकर एक ओर बैठ गये। एक ओर बैठे आयुष्मान्-भद्दालिने भगवान्से यह कहा—

"भन्ते! बाल, मूढ = अ-कुशल जैसे मुझसे अपराध (= अत्यय) हुआ जो कि भगवान्के शिक्षापद बनाते समय, भिक्षु-संघके शिक्षा ग्रहण करते समय मैंने उपेक्षा प्रकट की। भन्ते! भग-

वान् मेरे उस अपराधको क्षमा करें, भविष्यमें संवर (= रक्षा)के लिये ।"

"तो, भद्दालि ! बाल, मूढ = अकुशल जैसे तुझसे अपराध हुआ, जो कि मेरे शिक्षापद बनाते समय, भिक्षु-संघके शिक्षा ग्रहण करते समय तूने उपेक्षा प्रकट की। भद्दालि! तुझे यह भी ख्याल नहीं गुज़रा कि भगवान् श्रावस्तीमें विहर रहे हैं, भगवान् भी मुझे जानेंगे—'भद्दालि नामक भिक्षु शास्ता के शासनमें शिक्षाको पूरा नहीं करनेवाला है'। भद्दालि तुझे यह भी ख्याल (= समय) नहीं गुजरा कि बहुतसे भिक्षु श्रावस्तीमें वर्षा वासके लिये आये हुये हैं, वह भी जानेंगे—'भद्दालि ० शिक्षाको पूरा करनेवाला नहीं है'। भद्दालि ! तुझे यह भी ख्याल नहीं गुज़रा कि बहुत सी भिक्षुणियाँ श्रावस्तीमें वर्षा-वासके लिये आई हुई हैं ०। भद्दालि ! तुझे यह भी ख्याल नहीं गुज़रा कि बहुतसे उपासक श्रावस्तीमें बसते हैं ०। ० बहुतसी उपासिकायें श्रावस्तीमें बसती हैं ०। ० बहुतसे दूसरे तीर्थ (= मत)के श्रमण-ब्राह्मण श्रावस्तीमें वर्षा-वासके लिये आये हुये हैं, वह भी जानेंगे—'श्रमण गौतमका श्रावक, एक स्थविर (= वृद्ध) भद्दालि नामक भिक्षु, शास्ताके शासनमें शिक्षाको पूरा करनेवाला नहीं है, तुझे यह भी ख्याल नहीं गुज़रा ?"

"भन्ते ! बाल ०[1] भन्ते भगवान् मेरे अपराधको क्षमा करें भविष्यमें संवरके लिये ।"

"तो भद्दालि ! ०[1] भिक्षु-संघके शिक्षा ग्रहण करते समय तूने उपेक्षा प्रकट की । तो क्या मानता है, भद्दालि ! यहाँ कोई उभतो-भाग-विमुक्त (= अर्हत्) भिक्षु हो, उसे मैं यह कहूँ—'आ भिक्षु ! तू पंकमें मेरे लिये पार होनेका (रास्ता) बन जा' । तो क्या वह पार होने का (रास्ता) बनेगा, या (अपने) शरीरको दूसरी ओर झुकायेगा, या 'नहीं' कहनेवाला होगा ?"

"ऐसा नहीं, भन्ते !"

"तो क्या मानता है, भद्दालि! यहाँ कोई प्रज्ञा-विमुक्त भिक्षु हो ०। ० काय-साक्षी ०। ० दृष्टि-प्राप्त ०। ० श्रद्धा-विमुक्त ० ० धर्मानुसारी ०। ० श्रद्धानुसारी ० या 'नहीं' कहनेवाला होगा ?"

"ऐसा नहीं भन्ते !"

"तो क्या मानता है, भद्दालि ! क्या तू उस समय उभतो-भाग-विमुक्त था, ० या श्रद्धानुसारी था ?"

"नहीं (था) भन्ते !"

"तो भद्दालि ! उस समय तू रिक्त = तुच्छ अपराधी था ?"

"हाँ, भन्ते ! '०[1] भन्ते ! भगवान् मेरे उस अपराधको क्षमा करें, भविष्यमें संवर के लिये ।"

"तो भद्दालि ! ०[1] तूने उपेक्षा प्रकटकी । चूँकि भद्दालि ! तू अपराधको अपराधके तौरपर देख धर्मानुसार (उसका) प्रतिकार करता है, (इसलिये) उसे हम स्वीकार करते हैं । भद्दालि ! आर्य-विनय (=बुद्धधर्म)में वह वृद्धि है, जो कि यह अपराधको अपराधके तौरपर देख भविष्यमें संवरके लिये धर्मानुसार प्रतिकार करना है ।

"भद्दालि ! यहाँ कोई भिक्षु शास्ताके शासनमें शिक्षाका पूरा करनेवाला न हो ; उसे यह हो—'क्यों न मैं एकान्त शयन-शासन—अरण्य, वृक्ष-मूल, पर्वत, कंदरा, गिरिगुहा, श्मशान, वन-प्रस्थ, अब्भोकास (= खुली जगह), पुआल-पुंजको सेवन करूँ ; शायद मैं उत्तर-मनुष्य-धर्म (= मानव स्वभावसे परे) अलं-आर्य-ज्ञान-दर्शन-विशेष (= लोकोत्तर-ज्ञान, दिव्यशक्ति)

---

[1] देखो ऊपर ।

का साक्षात्कार करूँ। (तब) एकान्त शयन-आसन ० को सेवन करे। वैसे एकान्त विहार करते उसे शास्ता भी उपवाद (= शिक्षा) करते हैं, सोच कर सब्रह्मचारी (= गुरुभाई) भी उपवाद करते हैं, देवता भी उपवदते हैं, अपने आपको भी उपवदता है। इस प्रकार शास्ता द्वारा उपवदित हो, ० अपने आप उपवदित हो, उत्तर-मनुष्य धर्मका, अलं-आर्य-ज्ञान-दर्शन-विशेष का नहीं साक्षात्कार करता। सो क्यों ?—भद्दालि! यही जो कि वह शास्ताके शासनमें शिक्षाको पूरी तरह पालन करनेवाला नहीं होता।

"किन्तु यहाँ भद्दालि! कोई भिक्षु शास्ताके शासनमें शिक्षाका पूरी तरह पालन करनेवाला होता है। उसको ऐसा होता है—क्यों न मैं एकान्त शयनासन (= निवास) ० को सेवन करूँ। वैसा एकान्त विहार करते उसे शास्ता भी नहीं उपवदते, ० अलमार्य-ज्ञान-दर्शन-विशेषको वह साक्षात्कार करता है। सो किस हेतु ?—भद्दालि! यही जो कि वह शास्ताके शासनमें शिक्षा को पूरी तरह पालन करनेवाला होता है।

"और फिर भद्दालि! भिक्षु ०[1] प्रथम-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। सो किस हेतु ?—भद्दालि! यही जो कि वह ०।

"और फिर भद्दालि! भिक्षु ०[1] द्वितीय-ध्यानको प्राप्तहो विहरता है। ०।

"और फिर भद्दालि! भिक्षु ०[1] तृतीय-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। ०

"और फिर भद्दालि! भिक्षु ०[1] चतुर्थ-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। ०।

"और फिर भद्दालि! भिक्षु इस प्रकार चित्तके एकाग्र ०[1] इस प्रकार आकार और उद्देशके सहित अनेक प्रकारके पूर्व-निवासोंको स्मरण करने लगता है। ०[2]।

"और फिर भद्दालि! भिक्षु इस प्रकार चित्तके एकाग्र ०[2] स्वर्गको प्राप्त हुये हैं। इस प्रकार अ-मानुष विशुद्ध दिव्य चक्षुसे ० देखने लगता है। ०

"और फिर भद्दालि! भिक्षु आस्रवोंके क्षयके ज्ञानके लिये चित्तको झुकाता है ०[2] अब यहाँ (करने)के लिये कुछ (शेष) नहीं है—इसे जान लेता है। ०"

ऐसा कहने पर आयुष्मान् भद्दालिने भगवान्‌से यह कहा—"भन्ते! क्या हेतु है = क्या प्रत्यय है, जो कि कोई-कोई भिक्षु फिर-फिर (उसी) कारणको करता है ? भन्ते क्या है हेतु = क्या है प्रत्यय, जो कि कोई-कोई भिक्षु फिर-फिर वैसे कारणको नहीं करता ?"

"भद्दालि! कोई भिक्षु निरंतर आपत्ति (= कसूर) करनेवाला होता है = आपत्ति-बहुल (होता है)। भिक्षुओंके कहने पर दूसरा-दूसरा करने लगता है, बाहरकी बात उठा देता है; कोप द्वेष, अ-प्रत्यय (=असन्तोष) प्रकट करता है; ठीकसे नहीं वर्तता, रोम नहीं गिराता, निस्तार नहीं खोजता (= वत्तति), 'जिससे संघ सन्तुष्ट हो, उसे करूँगा'—यह नहीं कहता। तब भद्दालि! भिक्षुओंको यह होता है—'आवुसो! यह भिक्षु निरन्तर आपत्ति करनेवाला है ० यह नहीं कहता। अच्छा, आवुसो! इस भिक्षुकी वैसे-वैसे उपपरीक्षा (= जाँच) करो, जिसमें इसका यह अधिकरण (= अभियोग, मुकदमा, जो उसके कसूरके सम्बन्धमें भिक्षु-संघमें पेश है) जल्दी न शान्त (= तै) हो जाये।' भद्दालि! भिक्षु उस भिक्षुके अधिकरणको वैसे-वैसे जाँचते हैं, कि उसका वह अधिकरण जल्दी नहीं शान्त होता।

"भद्दालि! कोई भिक्षु निरन्तर आपत्ति करनेवाला, आपत्ति-बहुल होता है—(किन्तु) वह भिक्षुओंके कहने पर दूसरा दूसरा नहीं करने लगता। ० 'जिससे संघ सन्तुष्ट हो, उसे

---

[1] देखो पृष्ठ १५-१६। [2] देखो पृष्ठ १६।

करूँगा'—कहता है। ० भिक्षु उस भिक्षुके अधिकरणको वैसे वैसे जाँचते हैं, कि उसका वह अधिकरण जल्दी ही शान्त हो जाता है।

"भद्दालि ! कोई भिक्षु विरल आपत्ति वाला होता है = आपत्ति-बहुल नहीं होता। वह भिक्षुओंके कहनेपर दूसरा दूसरा करने लगता है ० उसका वह अधिकरण जल्दी नहीं शान्त होता।

"० 'वह भिक्षुओंके कहने पर दूसरा दूसरा नहीं करने लगता ० उसका वह अधिकरण जल्दीही शान्त हो जाता है।

"भद्दालि ! यहाँ कोई भिक्षु श्रद्धामात्र, प्रेममात्रसे रह रहा है। वहाँ भद्दालि ! भिक्षुओंको यह होता है—आवुसो ! यह भिक्षु श्रद्धामात्र प्रेममात्रसे रह रहा है। यदि हम वार-वार इस भिक्षुके कारण (= कसूर-वेकसूरका निर्णय) करेंगे, तो जो कुछ श्रद्धा मात्र प्रेममात्र इसको है, वह भी कहीं इसका छूट न जाये। जैसे भद्दालि ! किसी पुरुषको एक आँख हो, उसके वन्धु मित्र, जाति-भाई उस एक आँखकी रक्षा करें—जो इसकी एक आँख है, वह भी कहीं नष्ट न हो जाये। ऐसे ही भद्दालि ! कोई भिक्षु श्रद्धामात्र = प्रेममात्रसे वर्तता है, ० वह भी कहीं इसका छूट न जाये।

"भद्दालि ! यह हेतु है = यह प्रत्यय है, जिससे कोई कोई भिक्षु वार वार कारण करते हैं। भद्दालि ! यह हेतु = प्रत्यय है, जिससे कि कोई कोई भिक्षु वार वार कारण (= दोष) नहीं करते।"

"भन्ते ! क्या हेतु है, क्या प्रत्यय है, जो कि पूर्वकालमें अल्पतर शिक्षापद (= भिक्षु-नियम) थे, और वहुत भिक्षु आज्ञा (= उत्तम ज्ञान)में अवस्थित थे ? भन्ते ! क्या हेतु है, क्या प्रत्यय है, जो कि आजकल शिक्षापद वहुत हैं, किन्तु अल्पही भिक्षु आज्ञामें अवस्थित होते हैं ?"

"भद्दालि ! शास्ता (= गुरु) तव तक श्रावकों (= शिष्यों)के लिये शिक्षापदका विधान नहीं करते, जब तक कि यहाँ संघमें कुछ आस्रव (= चित्त-मल)-स्थानीय धर्म (= कार्य) हो नहीं जाते। जव भद्दालि ! संघमें कुछ आस्रवस्थानीय धर्म उत्पन्न हो जाते हैं, तो उन्हीं आस्रव-स्थानीय धर्मोंके दूर करनेके लिये शास्ता संघके लिये शिक्षापदका विधान करते हैं। भद्दालि ! संघमें तव तक कोई आस्रव-स्थानीय धर्म उत्पन्न नहीं होते, जव तक कि संघ महान् न हो गया हो। जव भद्दालि ! संघ महान् हो गया होता है, तो यहाँ कोई आस्रव-स्थानीय धर्म उत्पन्न होते हैं; तव ० शास्ता संघके लिये शिक्षापदका विधान करते हैं। भद्दालि ! तव तक संघमें कोई आस्रवस्थानीय धर्म नहीं उत्पन्न होते, जब तक कि संघ वड़े लाभको न प्राप्त हो गया हो ०। ० वड़े यशको न प्राप्त हो गया हो ०। ० बहुश्रुत भावको न प्राप्त हो गया हो ०। रात्रिज्ञ-भाव (= चिरकाल से अवस्थिति) को न प्राप्त हो गया हो ०।

"भद्दालि ! तुम लोग उस समय थोड़े थे, जब कि मैंने तुम्हें आजानीयस्सूपमा (= आजानीयाश्वोपम) धर्म-पर्याय (= सूत्र)को उपदेश किया था। याद है, भद्दालि ?"

"नहीं, भन्ते !"

"वहाँ, भद्दालि ! क्या कारण समझता है ?"

"मैं भन्ते ! चिरकालसे शास्ताके शासनमें शिक्षाको पूरा करनेवाला न था।"

"भद्दालि ! यही हेतु = यही प्रत्यय नहीं है। वल्कि भद्दालि ! दीर्घकालसे मैंने तेरे चित्त के भावको जान लिया है—'यह मोघपुरुष ! मेरे धर्म-उपदेश करते समय, ध्यान करके मन लगा कर, सारे चित्तको एकाग्र कर, सावधान हो धर्म नहीं सुनता'। अच्छा भद्दालि ! तो मैं तुझे

आजानीयस्सूपम धर्म-पर्यायको उपदेशता हूँ, उसे सुन अच्छी तरह मनमें कर, कहता हूँ।"

"अच्छा, भन्ते !"—(कह) आयुष्मान् भद्दालिने भगवान्को उत्तर दिया।

भगवान्ने यह कहा—"जैसे भद्दालि ! चतुर चाबुक-सवार भद्र=आजानीय अश्वको पा कर, (१) पहिले मुखाधान (= लगाम लगाना आदि)का कारण (= शिक्षा) करता है। पहिले न जाना कारण होनेसे मुखाधान कारण करते वक्त कुछ चपलता, भूल, प्रमाद होते ही हैं। क्योंकि वह निरन्तर, क्रमशः उस कारण (= शिक्षा)के देनेसे उसे सीख लेता है। (२) भद्दालि ! निरंतर क्रमशः शिक्षा देनेसे जब वह उसे सीख लेता है, तो चाबुक सवार उसे आगेकी शिक्षा, युगाधान (= जुआ खींचना) सिखलाता है। पहिले न जाना (=किया) कारण होनेसे ०। (३) ० जब वह उसे सीख लेता है, तो ० चाबुक सवार उसे आगेकी शिक्षा (= करण) मंडल (= चक्कर) काटना) ०। ० खुरकाय (= निःशब्दगति) ०। ० धावन (= सर्पट) ०। ० रवार्थ (= हिनहिनानेकी शिक्षा) ०। ० राजगुण (= एक गति) ०। ० राजवंश वण्णिय (= एक गति) ०। ० वलिय (= एक गति) में प्रवेश कराता है। भद्दालि ! इन दस गुणों (= अंगों)से युक्त भद्र = आजानीय अश्व राजार्ह = राज-भोग्य होता है, राजाका अंगही कहा जाता है। ऐसे ही भद्दालि ! दश अंगोंसे युक्त भिक्षु आवाहन-योग्य, अतिथि-सेवा-योग्य, दान-योग्य, हाथ-जोड़ने-योग्य, लोकके पुण्य (बोने)का अनुपम क्षेत्र (= खेत) होता है। किन दश (अंगों) से?— (१) यहाँ, भद्दालि ! भिक्षु अशेष सम्यग्दृष्टिसे युक्त होता है; (२) ० अशेष (= संपूर्ण) सम्यक्-संकल्प ०। (३) ० अशेष सम्यग्-वाक् ०। (४) ० अशेष सम्यक् कर्मान्त ०। (५) ० अशेष सम्यग् आजीव ०। (६) अशेष सम्यग् व्यायाम ०। (७) ० अशेष सम्यक्-स्मृति ०। (८) अशेष सम्यक्-समाधि ०। (९) ० अशेष सम्यग् (= ठीक) ज्ञान ०। (१०) अशेष सम्यग्-विमुक्ति (= ० मुक्ति, रागद्वेष मोहसे चित्तकी मुक्ति) ०। भद्दालि ! इन दस गुणोंसे युक्त भिक्षु ० अनुपम क्षेत्र होता है।"

भगवान्ने यह कहा, सन्तुष्ट हो आयुष्मान् भद्दालिने भगवान्के भाषणको अभिनंदित किया।

६६—लकुटिकोपम-सुत्तन्त (२।२।६)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् अंगुत्तराप[1] (देश)में आपण नामक अंगुत्तराप (वासियों)के कसवेमें विहार करते थे।

तब भगवान् पूर्वाह्णके समय पहिनकर पात्र-चीवर ले पिंड (=भिक्षा)के लिये आपण में प्रविष्ट हुये। आपणमें पिंडचार (=मधूकरी माँगना) करके, पिंडपात (=भिक्षा)से निवृत्त हो दिनके विहारके लिये एक वन-षंडमें गये। उस वन-षंडमें प्रविष्ट हो एक वृक्षके नीचे दिनके विहारके लिये बैठे। आयुष्मान् उदायी भी पूर्वाह्णके समय पहिन कर ० एक वृक्षके नीचे दिनके विहारके लिये बैठे।

तब एकान्तमें ध्यानावस्थ हो बैठे आयुष्मान् उदायीके चित्तमें यह वितर्क उत्पन्न हुआ—

"अहो! भगवान् हमारे बहुतसे दुःखोंके अपहर्ता हैं। अहो! भगवान् हमारे बहुतसे सुखों (=सुख-धर्मों)के उपहर्ता (=लानेवाले) हैं। अहो! भगवान् हमारे बहुतसे अकुशल-धर्मों (=बुराइयों)के अपहर्ता हैं। अहो! भगवान् हमारे बहुतसे कुशल-धर्मों (=भलाइयों)के उपहर्ता हैं।"

तब आयुष्मान् उदायी सायंकाल प्रतिसँल्लयन (=ध्यान)से उठ कर, जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये; जाकर भगवान्‌को अभिवादनकर एक ओर बैठ गये। एक ओर बैठे आयुष्मान् उदायीने भगवान्‌से यह कहा—

"भन्ते! आज एकान्तमें ध्यानावस्थ हो बैठे मेरे चित्तमें यह वितर्क उत्पन्न हुआ—'अहो ० उपहर्ता हैं।' भन्ते! पहिले हम शामको भी खाते थे, सवेरेको भी, दिवा (=मध्याह्न)को भी विकाल (=अपराह्ण)में भी। उस समय जब भगवान्‌ने भिक्षुओंको संबोधित किया—"भिक्षुओ! तुम इस मध्याह्न-बाद दिनके भोजनको छोड़ो।' उस समय भन्ते! मुझे बुरा लगा=दुर्मनता हुई—'जो कि गृहपति श्रद्धासे हमें उत्तम खाद्य-भोज्य मध्याह्न-बाद दिनको देते हैं, उसका भी भगवान् हमें त्याग करना कहते हैं, उसको भी सुगत हमें छोड़ना कहते हैं।' सो हमने भन्ते! भगवान्‌के प्रति प्रेम, गौरव, ह्री (=लज्जा), अपत्रपा (=संकोच)का ख्याल कर उस विकाल भोजनको छोड़ दिया। सो हम भन्ते! शामको खाते, सवेरे खाते थे। फिर वह भी समय आया जब भगवान् ने भिक्षुओंको संबोधित किया—'भिक्षुओ! तुम इस रातके विकाल भोजनको छोड़ो'। उस समय भन्ते! मुझे बुरा लगा; दुर्मनता हुई—'जो कि गृहपति श्रद्धासे हमें उत्तम खाद्य-भोज्य रातको विकालमें देते हैं, उसका भी भगवान् हमें त्याग करना कहते हैं, उसका भी सुगत हमें छोड़ना

---

[1] भागलपुर-मुंगेर जिलोंके गंगाका उत्तरका भाग।

कहते हैं' । पहिले (एक बार) भन्ते ! कोई पुरुष दिनको नींद लेता बोला—'हन्त ! इसे रखदो, शामको सब इकट्ठा होकर खायेंगे' । जो कुछ भन्ते ! संखतियाँ (= सुन्दर पाक) हैं, सभी रातको (अधिक) होती हैं, दिनको कम । सो हमने भन्ते ! भगवान्‌के प्रति प्रेम ० ख्याल कर उस रात्रि के विकाल भोजनको छोड़ दिया । पहिले भन्ते ! भिक्षु रातके अंधकारमें भिक्षाटन (= पिंडचार) करते थे । (उस समय वह) चन्दनिका (= गड्हे)में भी घुस जाते थे, गड्ही (= ओलिगल्ल) में भी गिर जाते थे, काँटेकी रूँधान पर भी चढ़ जाते थे, सोई गायपर चढ़ जाते थे; कृत-कर्म (= अपना काम जिसने कर लिया है) अ-कृत-कर्म चोरोंके साथ भी उनका संगम होजाता था । (दुराचारिणी) स्त्रियाँ भी उन्हें अधर्मके लिये बुलाती थीं । पहिले एक समय भन्ते ! मैं रातके अंधकारमें भिक्षाटन कर रहा था, बिजलीकी चमकमें, भन्ते ! मैंने एक स्त्रीको बर्तन साफ करते देखा । उसने मुझे देख चीत्कार किया—'अरे मरी ! पिशाच !! मुझे (खाने आ रहा है) !!!', ऐसा कहने पर मैंने भन्ते ! उस स्त्रीको कहा—'भगिनी ! मैं पिशाच नहीं हूँ, भिक्षाके लिये भिक्षु खड़ा हूँ ।' 'भिक्षुका बाप मरे, भिक्षुकी मा मरे । भिक्षुको गाय काटनेकी तीक्ष्ण छुरीसे अपना पेट काट लेना अच्छा है, न कि रातके अंधकारमें तुम्हारा भीख माँगना ।' भन्ते! वह (बात) याद करते मुझे ऐसा होता है—'अहो ! भगवान् हमारे बहुतसे दुःखोंके अपहर्ता हैं ० कुशल धर्मोंके उपहर्ता हैं ।"

"ऐसे ही उदायी ! कोई कोई मोघपुरुष मेरे—'यह छोड़ो'—कहने पर ऐसा कहते हैं—'क्या इस छोटी बातके लिये, तुच्छ बातके लिये यह श्रमण ज़िद् कर रहा है' और वह उसे नहीं छोड़ते, और मेरे विषयमें विरक्ति उत्पन्न करते हैं । (किन्तु) जो भिक्षु सीख चाहनेवाले होते हैं, उनको यह होता है—'यह जबर्दस्त बंधन है; दृढ़ बन्धन है, स्थिर बंधन है, मजबूत (=अपूतिक= न-सड़ा) बंधन है, स्थूल कलिंगर (= पशुओंके गलेमें बाँधने का काष्ठ) है ।' जैसे उदायी ! पूति(= पोय) लताके बंधनसे बँधी लटुकिका (= गौरय्या) पक्षी वहीं वध, बंधन या मरणकी प्रतीक्षा करती है । उदायी ! जो (आदमी) यह कहे—'चूँकि वह लटुकिका पक्षी पूति-लताके बंधनसे बँधी है, वह वहीं वध, बंधन या मरणकी प्रतीक्षा कर रही है; किन्तु उसका वह अबल बंधन है, दुर्बल बन्धन है, पूतिक (= सड़ा) बंधन है, असारक बंधन है ।' क्या उदायी ! ऐसा कहते वह ठीक कह रहा है ?"

"नहीं भन्ते ! वह लटुकिका पक्षी जिस पूतिलताके बंधनसे बँधी वहीं वध, बँधन या मरण-की प्रतीक्षा कर रही है, वह उसके लिये बलवान् (= मजबूत) बंधन है ० स्थूल कलिंगर है ।"

"ऐसे ही उदायी ! कोई कोई मोघपुरुष मेरे—'यह छोड़ो'—कहनेपर, ० स्थूल कलिंगर है ।

"किन्तु यहाँ उदायी ! कोई कोई कुलपुत्र मेरे—'यह छोड़ो'—कहने पर, ऐसा कहते हैं—'इस छोटी बात, इस तुच्छ बातका छोड़ना क्या (बड़ी बात) है, जिसे छोड़नेके लिये भगवान् कह रहे हैं, जिसके त्यागके लिये सुगत कह रहे हैं' और उसे छोड़ देते हैं, और मेरे विषयमें विरक्ति उत्पन्न नहीं करते । जो सीख चाहनेवाले भिक्षु हैं, वह उसे छोड़ निश्चिन्त हो, रोम गिराकर, पर-द-वृत्ति (= दूसरेके दियेसे वृत्ति करनेवाले) मृगके समान चित्तके साथ विहरते हैं । उदायी ! उनके लिये वह अबल बंधन है ० असारक बंधन है । जैसे उदायी ! = हरिस-जैसे दाँतोंवाला महाकाय, संग्रामचारी, बड़े मज़बूत रस्सोंसे बँधा उत्तम जातका राजकीय नाग (= हाथीका पट्ठा) थोड़ाही शरीर घुमानेसे उन बंधनोंको तोड़ कर, छिन्न कर, जहाँ चाहे वहाँ चला जाये । उदायी ! जो ऐसा कहे—० जो कि ० हाथीका पट्ठा थोड़ा ही शरीर घुमानेसे जिन बंधनोंको तोड़ कर ० जहाँ चाहे,

वहाँ चला जाये; वह मजबूत बंधन हैं ० स्थूल कलिंगर है। ऐसा कहते हुये उदायी! क्या वह ठीक कह रहा है?"

"नहीं, भन्ते! ० राजाका नाग थोड़ा ही शरीर घुमानेसे जिन बंधनोंको तोड़ कर ० चला जाये, वह उसके लिये अबल बंधन है ० असारक बंधन है।"

"ऐसेही उदायी! कोई कोई कुलपुत्र मेरे—'यह छोड़ो'—कहने पर ० मृगके समान चित्तसे विहरते हैं। उदायी! उनके लिये वह अबल बंधन है ० असारक बंधन है।"

"जैसे, उदायी! कोई दरिद्र धनहीन, अन्-आढ्य पुरुष हो, उसके पास एक कुरूप, कौआ-उड़ावन, टूटा फूटा घर हो, एक कुरूप टूटी फूटी खटोली हो, एक···घड़ेभर भरने लायक अनाज हो, एक कुरूपा मेहरिया (= जायिका) हो। वह (संघ-)आराममें हाथ-पैर धो मनोज्ञ भोजन ग्रहण कर शीतल छायामें बैठे ध्यानरत भिक्षुको देखे। उसको ऐसा हो—'अहो, श्रमण-भाव (= संन्यासी होना) सुखमय है, अहो! श्रमणभाव निरोग है। अहो! कहीं मैं भी केश-दाढ़ी मुँडा काषायवस्त्र पहिन घर छोड़ बेघर (= अनागारिक) हो प्रव्रजित होजाता।' किन्तु वह उस अपने कुरूप, कौआ-उड़ावन, टूटे फूटे घरको ० कुरूपा मेहिरयाको छोड़ कर, केश-दाढ़ी मुंडा काषाय वस्त्र पहिन प्रव्रजित नहीं हो सके। उदायी! यदि कोई यह कहे—जिस बंधनसे बँधा वह, उस अपने ० टूटे फूटे घर को ० एक कुरूपा मेहरियाको छोड़ कर ० प्रव्रजित नहीं हो सकता; वह उसके लिये अबल बंधन है ० असारक बंधन है' ऐसा कहते हुये उदायी! क्या वह ठीक कह रहा है?"

"नहीं, भन्ते! जिस बंधनसे बँधा वह, उस अपने ० टूटे फूटे घर ० को छोड़ कर ० प्रव्रजित नहीं हो सकता, वह उसके लिये बलवान् बंधन है ० स्थूल कलिंगर है।"

"ऐसे ही उदायी! कोई कोई मोघपुरुष—मेरे 'यह छोड़ो'—कहने पर, ०[1] स्थूल कलिंगर है।

"जैसे उदायी! कोई गृहपति या गृहपति-पुत्र आढ्य, महाधनी, महाभोगवान् हो; (उसके पास) बहुत अशर्फियों(= निष्क)के ढेरका संचय हो, बहुत अनाजके ढेरका संचय हो, बहुत खेतोंका संचय हो, बहुत घरोंका संचय हो, बहुत भार्याओंका संचय हो, बहुत दासों ०, ० दासियों ० का संचय हो। वह (संघ-)आराममें हाथ-पैर धो ० भिक्षुको देखे। उसको ऐसा हो—'अहो! श्रमण-भाव ० घरसे बेघर हो जाता है।' और वह उस अपनी बहुत अशर्फियोंके ढेरके संचय को ० बहुत दासियोंके संचयको छोड़ कर, केशदाढ़ी मुँड़ा ० प्रव्रजित हो सके। तो उदायी! यदि ऐसा कहे—जिस बंधनसे बँधा वह; उस अपने ० दासियोंके संचयको छोड़ कर प्रव्रजित हो सकता है, वह उसका मजबूत बंधन है ० स्थूल कलिंगर है। ऐसा कहते हुये उदायी! क्या वह ठीक कह रहा है?"

"नहीं, भन्ते! वह गृहपति ० जिस बंधनसे बँधा, अपने ० दासियोंके संचयको छोड़ कर, प्रव्रजित हो सकता है; वह इसके लिये अबल बंधन है ० असारक बंधन है।"

"उदायी! लोकमें चार प्रकारके पुरुष=पुद्गल विद्यमान हैं। कौनसे चार?—(१) यहाँ उदायी! एक पुद्गल उपधि (= भोग-इच्छा, भोग-संग्रह)के प्रहाणके लिये = उपधिके त्यागके लिये संलग्न होता है; तब उपधि-प्रहाणके लिये ० संलग्न उसे उपधि-संबंधी स्वर-संकल्प (= संकल्प) उत्पन्न होते हैं, वह उनको स्वीकार करता है, उनको छोड़ता नहीं, अलग नहीं करता, अन्त नहीं करता, नाश नहीं करता। उदायी! इस पुद्गलको मैं संयोगी कहता हूँ, विसंयोगी नहीं। सो

---

[1] देखो ऊपर।

किस हेतु ?—उदायी ! 'इस पुद्‌गलकी इन्द्रिय (= मनका झुकाव) भिन्न है'—यह मुझे ज्ञात है। (२) यहाँ उदायी ! एक पुद्‌गल उपधि प्रहाणके लिये ० संलग्न होता है; तब ० स्वर-संकल्प उत्पन्न होते हैं, वह उन्हें न स्वीकार (= स्वागत) करता है, न उनको छोड़ता है ०। उदायी ! इस पुद्‌गलको भी मैं संयोगी कहता हूँ, विसंयोगी नहीं। ० यह मुझे ज्ञात है। (३) यहाँ उदायी ! ० स्वर-संकल्प उत्पन्न होते हैं। उदायी ! (उसको) स्मृति (=होश) धीरे-धीरे (= दंधा) उत्पन्न होती है; फिर वह शीघ्र ही उन्हें छोड़ता है ०। जैसे उदायी ! (कोई) पुरुष दिनकी धूप में सन्तप्त लोहेके कडाहमें दो या तीन पानीके छींटे डाले, उदायी ! पानीकी छींटोंका गिरना धीरे धीरे होता है; (किन्तु) फिर वह शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। ऐसे ही यहाँ उदायी ! कोई ० स्वर-संकल्प उत्पन्न होते हैं। ० शीघ्रही उन्हें छोड़ता है ०। उदायी ! इस पुद्‌गलको भी मैं संयोगी कहता हूँ, विसंयोगी नहीं। ० यह मुझे ज्ञात है। (४) यहाँ उदायी ! एक पुद्‌गल—'उपधि दुःखोंका मूल है'—यह जानकर, उपधि-रहित होता है, उपधिके क्षयके कारण विमुक्त होता है। उदायी ! इस पुद्‌गलको मैं वि-संयोगी कहता हूँ, संयोगी नहीं। सो किस हेतु ?—उदायी ! इस पुद्‌गलकी इंद्रिय भिन्न है'—यह मुझे ज्ञात है।

"उदायी ! पाँच काम-गुण[1] (= भोग) हैं। कौनसे पाँच ?—(१) चक्षु द्वारा ज्ञेय (= चक्षुर्विज्ञेय) इष्ट, कान्त, मनाप = प्रिय, कमनीय = रंजनीय रूप; श्रोत्र-विज्ञेय ० शब्द; घ्राण-विज्ञेय ० गंध; जिह्वा-विज्ञेय ० रस; काय-विज्ञेय ० स्प्रष्टव्य। उदायी ! यह पाँच काम-गुण हैं। इन पाँच काम-गुणोंको लेकर उदायी ! जो सुख=सौमनस्य उत्पन्न होता है, वह काम-सुख = मीढ-सुख, पृथग्जन(= अज्ञ)-सुख, अनार्य-सुख कहा जाता है, (जो कि) असेवनीय = अभावनीय न-बहुली-करणीय (= न बढ़ाने योग्य) है। 'इस सुखसे डरना चाहिये'—मैं कहता हूँ। यहाँ उदायी ! भिक्षु कामोंसे विरहित ० [2] प्रथम-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है ० [2] द्वितीय-ध्यान ०। ० [2] तृतीय-ध्यान ०। ० [2] चतुर्थ-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। उदायी ! यह निष्कामता (= काम-रहित) सुख है, प्रविवेक-सुख, उपशम-सुख, सम्बोध-सुख कहा जाता है; (जो कि) सेवनीय, भावनीय, बहुलीकरणीय है। 'इस सुखसे भय नहीं करना चाहिये'—मैं कहता हूँ।

"यहाँ उदायी ! भिक्षु कामोंसे विरहित ०[2] प्रथम-ध्यानको प्राप्तहो विहरता है। उदायी ! इसे मैं इंगित (= चंचल) कहता हूँ। वहाँ क्या इंगित है ?—(यही) जो कि (इस ध्यानमें) वितर्क, विचार नष्ट नहीं हुये रहते…। यहाँ उदायी ! भिक्षु ० [2] द्वितीय-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। उदायी ! इसे मैं इंगितमें कहता हूँ। (वहाँ क्या) इंगित है ?—(यही) जो कि (इस ध्यानमें) प्रीति-सुख निरुद्ध नहीं हुआ रहता…। ० [2] तृतीय-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। ० जो कि (इस ध्यानमें) उपेक्षा-सुख निरुद्ध नहीं हुआ रहता…। ० [3] चतुर्थ-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। उदायी ! मैं इसे अन्-इंगित (= चंचलता रहित) कहता हूँ।

"यहाँ उदायी ! भिक्षु कामोंसे विरहित ० [1] प्रथम-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। उदायी ! इसे मैं अन्-अलं (=अपर्याप्त)—कहता हूँ, 'छोड़ दो'—कहता हूँ, 'अतिक्रमण कर जाओ'—कहता हूँ। इसके अतिक्रमणका उपाय क्या है ?—यहाँ उदायी ! ० [2] द्वितीय-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। यह उसका समतिक्रम (= अतिक्रमण करनेका उपाय) है। उदायी ! इसे भी मैं ० 'अति-क्रमण कर जाओ' कहता हूँ। इसका समतिक्रम क्या है ?—० [2] तृतीय-ध्यानको प्राप्तहो विहरता

---

[1] देखो पृष्ठ ९३।　[2] देखो पृष्ठ १५।　[3] देखो पृष्ठ २७-२८।

है। यह उसका समतिक्रम है। इसे भी ० ० 'अतिक्रमण कर जाओ'—कहता हूँ। इसका समतिक्रम क्या है ?—०[1] चतुर्थ-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। यह उसका समतिक्रम है। इसेभी ० ०। ०—[1] आकाशानन्त्यायतन ०। ० ०[1] विज्ञानानन्त्यायतन ०। ० ०[1] आकिंचन्यायतन ०। ० ०[1] नैवसंज्ञा-नासंज्ञायतनको प्राप्त हो विहरता है। यह उसका समतिक्रम है। इसे भी उदायी ! मैं अपर्याप्त ० कहता हूँ। क्या है, इसका समतिक्रम ?—यहाँ उदायी ! भिक्षु नैवसंज्ञा-नासंज्ञायतनको सर्वथा अतिक्रमणकर संज्ञा-वेदित-निरोध[2]को प्राप्त हो विहरता है। यह उसका समतिक्रम है। इस प्रकार उदायी ! मैं नैवसंज्ञा-नासंज्ञायतनके भी प्रहाण (= परित्याग)को कहता हूँ। उदायी ! क्या ऐसा कोई छोटा-बड़ा (= अणु-स्थूल) संयोजन (= बंधन) देखते हो, जिसके प्रहाणको मैं नहीं कहता ?"

"नहीं, भन्ते !"

भगवान्‌ने यह कहा, सन्तुष्ट हो आयुष्मान् उदायीने भगवान्‌के भाषणको अभिनंदित किया।

६७—चातुम-सुत्तन्त (२।२।७)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् चातुमाके आमलकीवन (= आँवलेके बाग)में विहरते थे।

उस समय भगवान्‌के दर्शनार्थ सारिपुत्त, मोग्गलान आदि पाँचसौ भिक्षु चातुमामें आये-हुये थे। (उस समय) वह आगंतुक भिक्षु (उस स्थानके) निवासी भिक्षुओंके साथ संमोदन (= कुशल-प्रश्न पूछना) करते, शयनासन बतलाते, पात्र-चीवर सँभालते ऊँचे-शब्द = महाशब्द करने लगे। तब भगवान्‌ने आयुष्मान् आनंदसे कहा—

"आनन्द ! यह कौन ऊँचे-शब्द=महाशब्द करनेवाले हैं, मानो केवट मछली मार रहे हैं ?"

"भन्ते ! यह सारिपुत्त, मोग्गलान आदि पाँचसौ भिक्षु ० महाशब्द कर रहे हैं।"

"तो, आनन्द ! मेरे वचनसे उन भिक्षुओंसे कह—'शास्ता आयुष्मानोंको बुला रहे हैं'।"

"अच्छा, भन्ते !"—(कह) भगवान्‌को उत्तर दे, आयुष्मान् आनन्दने जहाँ वह भिक्षु थे, वहाँ···जाकर उन भिक्षुओंसे यह कहा—

"शास्ता, आयुष्मानोंको बुला रहे हैं।"

"अच्छा, आवुस !" (कह) आयुष्मान् आनन्दको उत्तर दे वह भिक्षु जहाँ भगवान् थे वहाँ···जाकर भगवान्‌को अभिवादन कर एक ओर बैठ गये।

एक ओर बैठे उन भिक्षुओंसे भगवान्‌ने यह कहा—

"भिक्षुओ ! क्यों तुम ऊँचे शब्द = महाशब्द कर रहे थे, मानो केवट मछली मार रहे हों ?"

"भन्ते ! यह सारिपुत्त, मौद्गल्यायन आदि (हम) पाँच सौ भिक्षु ० पात्रचीवर सँभालते ० महाशब्द कर रहे थे।"

"जाओ, भिक्षुओ ! तुम्हें चले जाने (= पणामना)के लिये कहता हूँ; मेरे साथ तुम न रहना।"

"अच्छा, भन्ते !"—(कह) वह भिक्षु भगवान्‌को उत्तर दे, आसनसे उठ, भगवान्‌को अभिवादनकर प्रदक्षिणा कर शयनासन संभाल, पात्र-चीवर ले चले गये।

उस समय चातुमाके शाक्य किसी कामसे संस्थागार (= प्रजातंत्रभवन)में जमा थे। चातुमाके शाक्योंने दूरसे उन भिक्षुओंको जाते देखा। देखकर जहाँ वह भिक्षु थे, वहाँ··· जाकर उन भिक्षुओंसे यह कहा—

"हन्त ! आप आयुष्मान् कहाँ जा रहे हैं ?"

"आवुसो ! भगवान्‌ने भिक्षु-संघको चले जानेके लिये कहा।"

"तो आयुष्मानो ! मुहूर्त भर (आप सब यहीं) ठहरें; शायद हम भगवान्‌को प्रसन्न (= राजी) कर सकें।"

"अच्छा, आवुसो !" (कह) उन भिक्षुओंने चातुमाके शाक्योंको उत्तर दिया।

तब चातुमावाले शाक्य जहाँ भगवान् थे, वहाँ···जाकर भगवान्को अभिवादन कर···एक ओर बैठ···भगवान्से यह बोले—

"भन्ते ! भगवान् भिक्षुसंघको अभिनन्दन = अभिवदन (= स्वीकार) करें। भन्ते ! जैसे भगवान्ने पहिले भिक्षुसंघको अनुगृहीत किया था, वैसेही अब भी अनुगृहीत करें। भन्ते ! यहाँ (= भिक्षुसंघ)में नये अचिर-प्रव्रजित, इस धर्ममें अभी हालके आये भिक्षु हैं। भगवान्का दर्शन न मिलनेपर उनके (मनमें) विकार = अन्यथात्व होगा। जैसे, भन्ते ! छोटे अंकुरों तरुण-बीजों को जल न मिलनेपर विकार = अन्यथात्व होता है; इसी प्रकार ० भगवान्का दर्शन न मिलनेपर उनको विकार = अन्यथात्व होगा। जैसे, भन्ते ! माताको न देखने पर छोटे बछड़े (= तरुण वत्स)को विकार = अन्यथात्व होता है; इसी प्रकार ०। भन्ते ! भगवान् भिक्षुसंघको अभिनन्दन कर अनुगृहीत करें।"

तब सहम्पति (= सहा ब्रह्मांडके स्वामी) ब्रह्मा भगवान्के चित्तके वितर्कको जान कर, जैसे बलवान् पुरुष (अप्रयास) समेटी बाँहको फैला दे, फैलाई बाँहको समेट ले, ऐसे ही ब्रह्मलोकमें अन्तर्धान हो भगवान्के सामने प्रकट हुआ। तब सहम्पति ब्रह्माने उत्तरासंग (= ऊपरकी चद्दर)को एक (= दाहिने) कंधे पर कर, भगवान्की ओर अंजलि जोड़ भगवान्से यह कहा—

"भन्ते ! भगवान् भिक्षु-संघको अभिनन्दन = अभिवदन करें ०[1] छोटे अंकुरोंका ० छोटे बछड़ेको ० अनुगृहीत करें।"

चातुमावाले शाक्य और सहम्पति ब्रह्मा बीज, और तरुणकी उपमासे भगवान्को प्रसन्न करनेमें सफल हुये। तब आयुष्मान् महामौद्गल्यायनने भिक्षुओंको आमंत्रित किया—

"उठो, आवुसो ! पात्र-चीवर उठाओ। चातुमावाले शाक्यों और सहम्पति ब्रह्माने बीज और तरुणकी उपमासे भगवान्को प्रसन्न कर (= मना) लिया।"

"अच्छा, आवुस"—(कह) आयुष्मान् महामौद्गल्यायनको उत्तर दे, वह भिक्षु आसनसे उठ, पात्र चीवर ले जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये; जाकर भगवान्को अभिवादनकर एक ओर बैठ गये। एक ओर बैठे आयुष्मान् सारिपुत्रसे भगवान्ने यह कहा—

"सारिपुत्र ! मेरे भिक्षुसंघके निकाल (= पणामना) देने पर तुझे कैसा हुआ था ?"

"भन्ते ! मुझे ऐसा हुआ था—भगवान्ने भिक्षु-संघको निकाल दिया, अब भगवान् निश्चिन्त हो दृष्ट-धर्म(= इसी जन्म)के सुखसे युक्त हो विहरेंगे। हम भी अब दृष्ट-धर्म सुखसे युक्त हो विहरेंगे।"

"ठहर सारिपुत्र ! ठहर सारिपुत्र ! मत (फिर) ऐसा विचार चित्तमें उत्पन्न करना।"

तब भगवान्ने आयुष्मान् महामौद्गल्यायनको संबोधित किया—

"मोग्गलान ! मेरे भिक्षुसंघके निकाल देनेपर तुझे कैसा हुआ था ?"

"भन्ते ! मुझे ऐसा हुआ था—भगवान्ने भिक्षुसंघको निकाल दिया, अब भगवान् निश्चिन्त हो दृष्ट-धर्म-सुखसे युक्त हो विहरेंगे। मैं और आयुष्मान् सारिपुत्र भिक्षु-संघको परिधारण (= देख-रेख) करेंगे।"

"साधु, साधु, मोग्गलान ! चाहे भिक्षु-संघको मैं परिधारण करूँ, या सारिपुत्त-मोग्गलान।"

तब भगवान्ने भिक्षुओंको आमंत्रित किया—

"भिक्षुओ ! पानीमें घुसनेवालेके लिये यह चार भय (= खतरे)के होनेकी संभावना रखनी

चाहिये। कौनसे चार?—(१) ऊर्मि (= लहर)-भय (२) कुम्भीर(= मगरका)-भय, (३) आवर्त (= भँवर)-भय, और (४) सुसुका (= नरभक्षी मत्स्य)-भय।...इसी प्रकार भिक्षुओ! इस धर्ममें घरसे बेघर हो प्रव्रजित किसी पुद्गलको भी इन चार भयोंके होनेकी संभावना है। कौनसे चार?—(१) ऊर्मि-भय, (२) कुम्भीर-भय (३) आवर्त-भय, और (४) सुसुका-भय।

(१) "क्या है भिक्षुओ! ऊर्मि-भय?—यहाँ भिक्षुओ! एक कुलपुत्र श्रद्धापूर्वक घरसे बेघर प्रव्रजित हो (सोचता है)—'जन्म (= जाति), जरा, मरण, शोक, रोदन-क्रंदन, दुःख-दौर्मनस्य, उपायास (= परेशानियों)में पड़ा हूँ, दुःखमें गिरा दुःखमें डूबा हूँ। क्या कोई इस केवल दुःख-पुंजके अन्त करनेका उपाय मालूम होगा।' (तब) उस प्रकार प्रव्रजित हुये, उसे सब्रह्मचारी उपदेशते हैं = अनुशासते हैं—'इस प्रकार तुम्हें गमन करना चाहिये, इस प्रकार आगमन करना चाहिये, इस प्रकार आलोकन-विलोकन करना चाहिये, इस प्रकार समेटना चाहिये, इस प्रकार फैलाना चाहिये, इस प्रकार संघाटी (-वस्त्र), पात्र, चीवर धारण करना चाहिये।' उसको ऐसा होता है—'हम पहिले गृहस्थ होते समय दूसरोंको उपदेश = अनुशासन देते थे; यह (भिक्षु) हमारे पुत्र, नाती जैसे होते भी हमें उपदेश = अनुशासन देना चाहते हैं, (यह सोच) वह (भिक्षु-) शिक्षाका प्रत्याख्यान कर हीन (= गृहस्थ-भाव)को लौट जाते हैं। भिक्षुओ! यह कहा जाता है, कि (भिक्षु) ऊर्मि-भयसे भीत हो शिक्षाका प्रत्याख्यान कर हीनको लौट गया। भिक्षुओ! ऊर्मि-भय यह क्रोधकी परेशानीका नाम है।

(२) "क्या है भिक्षुओ! कुम्भीर-भय?—यहाँ, भिक्षुओ! एक कुलपुत्र ० प्रव्रजित हो ० क्या कोई इस केवल दुःखपुंजके अन्त करनेका उपाय मालूम होगा'। ० उसे सब्रह्मचारी उपदेश = अनुशासन करते हैं—'यह तुम्हें खाना चाहिये, यह तुम्हें नहीं खाना चाहिये; यह तुम्हें भोजन करना चाहिये, यह तुम्हें नहीं भोजन करना चाहिये; ० आस्वादन ०, ० न आस्वादन ० ; ० पान-करना ०, ० न पान करना ० ; तुम्हें कल्प्य (= विहित) खाना चाहिये, तुम्हें अ-कल्प्य न खाना चाहिये; ० कल्प्य भोजन करना ०, ० अकल्प्य भोजन न करना ०, ० कल्प्य आस्वादन करना ०, ० अ-कल्प्य आस्वादन न करना ० ; ० कल्प्य पान करना ० , ० अकल्प्य पान न करना ०; तुम्हें कालसे खाना चाहिये, तुम्हें विकालसे न खाना चाहिए; ० ०; तुम्हें कालसे पान करना चाहिये, तुम्हें विकालसे पान न करना चाहिये।' उसको ऐसा होता है—पहिले गृहस्थ होते समय हम जो चाहते सो खाते, जो नहीं चाहते सो नहीं खाते; ०, जो चाहते सो पीते, जो नहीं चाहते सो न पीते। कल्प्य भी खाते, अकल्प्य भी खाते; ० कल्प्य भी पीते, अकल्प्य भी पीते। कालसे भी खाते, विकालसे भी खाते; ० कालसे भी पीते, विकालसे भी पीते। जो भी गृहस्थ लोग श्रद्धापूर्वक उत्तम खाद्य-भोज्य दोपहर बाद विकालमें देते हैं, उसके लिये मुँहमें जाब जैसा लगा रहे हैं'—(यह सोच) वह शिक्षाका प्रत्याख्यान ०। भिक्षुओ! यह कहा जाता है, कि कुम्भीर-भयसे भीत हो शिक्षाका प्रत्याख्यान कर, हीन (आश्रम)को लौट गया। भिक्षुओ! कुम्भीर-भय यह पेटूपनका नाम है।

"क्या है, भिक्षुओ! आवर्त-भय?—० उपाय मालूम होगा। वह इस प्रकार प्रव्रजित हो पूर्वाह्ण समय पहिन कर पात्र-चीवर ले, कायासे अरक्षित (= संयम-रहित), चित्तसे अरक्षित, वचनसे अ-रक्षित, स्मृति (= होश)से वंचित, इन्द्रियोंसे असंवृत (= संयम-रहित) हो ग्राम या निगममें भिक्षाके लिये प्रविष्ट होता है। वह वहाँ गृहपति या गृहपति-पुत्रको पाँच काम-गुणों (= भोगों)[१] से समर्पित = संयुक्त हो मौज करते देखता है। उसको ऐसा होता है—'पहिले

[१] देखो पृष्ठ ९३।

गृहस्थ होते समय हम इसी प्रकार पाँच कामगुणोंसे समर्पित = संयुक्त हो मौज करते थे; (हमारे) घरमें भोग भी हैं, भोगोंको भोगते हुये भी पुण्य किये जा सकते हैं'—(यह सोच) वह शिक्षाका प्रत्याख्यान ०। भिक्षुओ। यह कहा जाता है, कि आवर्त-भयसे भीत हो ० हीन (आश्रम)को लौट गया। भिक्षुओ! आवर्त-भय यह पाँच काम-गुणों (= काम-भोगों) का नाम है।"

"क्या है, भिक्षुओ! सुसुका-भय ?—० उपाय मालूम होगा। वह ० ग्राम या निगममें भिक्षाके लिये प्रविष्ट होता है। वह वहाँ ठीकसे अनाच्छादित, ठीकसे वस्त्र न पहिने (किसी) स्त्रीको देखता है। (तब) उस दुराच्छादित, दुष्प्रावृत स्त्रीको देख, राग उसके चित्तको पीड़ित करता है। वह रागसे पीड़ित चित्त हो, शिक्षाका प्रत्याख्यान कर, हीन (आश्रम)को लौट जाता है। भिक्षुओ! यह कहा जाता है, सुसुका-भयसे भीत हो शिक्षाका प्रत्याख्यान कर, हीन (आश्रम) को लौट गया। भिक्षुओ! सुसुका-भय यह स्त्रियों(= मातृग्राम)का नाम है।

"भिक्षुओ! इस धर्ममें घरसे बेघर हो प्रव्रजित हुये किसी पुद्गलको इन चार भयोंके होनेकी संभावना है।"

भगवान्‌ने यह कहा, सन्तुष्ट हो उन भिक्षुओंने भगवान्‌के भाषणको अभिनंदित किया।

६८—नलकपान-सुत्तन्त (२।२।८)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् कोसल (देश)में नलकपानके पलास-वनमें विहार करते थे। उस समय बहुतसे कुलीन कुलीन कुल-पुत्र भगवान्‌के पास घरसे बे-घरहो प्रव्रजित हुये थे, (जैसे)—आयुष्मान् अनुरुद्ध, आयुष्मान् नन्दिय, आ. किम्बिल, आ. भृगु, आ. कुण्डधान, आ. रेवत, आ. आनन्द, तथा दूसरे भी कुलीन कुलीन कुल-पुत्र। उस समय भिक्षु-संघके सहित भगवान् खुले-आँगनमें बैठे थे। तब भगवान्‌ने उन कुलपुत्रोंके संबंधमें भिक्षुओंको संबोधित किया—

"भिक्षुओ! जो वह कुल-पुत्र मेरे पास श्रद्धा-पूर्वक ० प्रव्रजित हुये हैं; वह मनसे ब्रह्मचर्यमें प्रसन्न तो हैं?"

ऐसा कहनेपर भिक्षु चुप हो गये। दूसरी बार भी भगवान्‌ने उन कुलपुत्रोंके संबंधमें भिक्षुओंको संबोधित किया—"भिक्षुओ! ०?"

दूसरी बार भी वह भिक्षु चुप हो गये।

तीसरी बार भी ० "भिक्षुओ! ०" तीसरी बार भी वह भिक्षु चुप हो गये।

तब भगवान्‌के (मनमें) हुआ, "क्यों न मैं उन्हीं कुलपुत्रोंसे पूछूँ?" तब भगवान्‌ने आयुष्मान् अनुरुद्धको संबोधित किया—

"अनुरुद्धो! तुम (लोग) ब्रह्मचर्यमें प्रसन्न तो हो न?"

"हाँ, भन्ते! हम (लोग) ब्रह्मचर्यमें बहुत प्रसन्न हैं।"

"साधु, साधु, अनुरुद्धो! तुम जैसे···श्रद्धासे ० प्रव्रजित कुल-पुत्रोंके यह योग्य ही है, कि तुम ब्रह्मचर्यमें प्रसन्न हो। जो तुम अनुरुद्धो! उत्तम यौवन-सहित प्रथम वयस, बहुत ही काले केश वाले, कामोपभोग कर रहे थे; सो तुम अनुरुद्धो! उत्तम यौवन ० वाले, घरसे बे-घर हो प्रव्रजित हुये। सो तुम अनुरुद्धो! राजाकी जबर्दस्तीसे नहीं ० प्रव्रजित हुये। चोरके डरसे नहीं ०। ऋणसे पीड़ित होकर नहीं ०। भयसे पीड़ित होकर नहीं ०। बे-राजीके होनेसे नहीं ०। बल्कि, (यही सोच—) 'जन्म, जरा, मरण, शोक, रोना-पीटना, दुःख, दुर्मनता, हैरानीमें फँसा हूँ, दुखमें गिरा दुःखमें लिपटा (हूँ), जो कहीं इस केवल दुःख-स्कंध (दुःखकी ढेरी)का विनाश मालूम होता)'। अनुरुद्धो! तुम तो इस प्रकार श्रद्धायुक्त ० प्रव्रजित हुये हो न?"

"हाँ, भन्ते!"

"ऐसे प्रव्रजित हुये कुल-पुत्रको क्या करना चाहिये?—अनुरुद्धो! कामभोगोंसे, बुरे (=अकुशल) धर्मोंसे, अलग होना चाहिये। (मनुष्य तब तक) विवेक = प्रीतिसुख या उससे भी अधिक शान्त (= सुख)को नहीं पाता, (जब तक कि) अभिध्या (= लोभ) उसके चित्तको पकड़े रहती है। व्यापाद (= द्वेष) उसके चित्तको पकड़े रहता है। औद्धत्य-कौकृत्य (= उच्छृंखलता) ०। विचिकित्सा (= संदेह) ०। अरति (= असंतोष) ०। तन्द्री (= आलस्य)

उसके चित्तको पकड़े रहती है।···अनुरुद्धो! कामनाओंसे, बुरे धर्मोंसे विवेक प्रीति-सुख या उससे भी अधिक शान्त (= सुख)को पाता है; (यदि), अभिध्या उसके चित्तको न पकड़े रहे, व्यापाद ०, औद्धत्य-कौकृत्य ०, विचिकित्सा ०, अरति ०, तन्दी उसके चित्तको न पकड़े रहे।···

"क्यों अनुरुद्धो! मेरे विषयमें तुम्हारा क्या (विचार) होता है, कि जो आस्रव (= चित्त-मल) क्लेश (= मल)-देनेवाले, आवागमन-देनेवाले, सभय (= सदर), भविष्यमें दुःख-फलोत्पादक, जन्म-जरा-मरण-देनेवाले हैं; वह तथागतके नहीं छूटे, इसीलिये तथागत जान कर एकका सेवन करते हैं, ० एकको स्वीकार करते हैं, जान कर एकका त्याग करते हैं, जान कर एकको हटाते हैं?"

"नहीं भन्ते! हमको ऐसा नहीं होता कि, जो आस्रव क्लेश देनेवाले आवागमन देने वाले ० हैं, वह तथागतके नहीं छूटे ०। भन्ते! भगवान्‌के विषयमें हम (लोगों)को ऐसा होता है, कि जो आस्रव जन्म-जरा-मरण देनेवाले हैं, वह तथागतके छूट गये हैं। इसलिये तथागत जान कर एकको सेवन करते हैं, जान कर एकको करते हैं, जान कर एकका त्याग करते हैं, जान कर एकको हटाते हैं।"

"साधु, साधु, अनुरुद्धो! जो आस्रव ० क्लेश देनेवाले हैं, वह तथागतके छूट गये हैं, नष्ट-मूल हो गये, ठूंठे-ताड़से हो गये हैं, भविष्यमें न उत्पन्न वाले हो गये हैं। जैसे अनुरुद्धो! शिरसे कटे ताड़ (का वृक्ष) फिर नहीं पनप सकता, ऐसेही अनुरुद्धो! जो आस्रव ० क्लेश देनेवाले हैं, वह तथागतके छूट गये ०। इसलिये तथागत जान कर एकको सेवन करते हैं ०।"

६९—गुलिस्सानि-सुत्तन्त (२।२।९)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् राजगृहमें वेणुवन कलन्दक-निवापमें विहार करते थे।

उस समय दुर्वल-आचारवान् गुलिस्सानि नामक आरण्यक भिक्षु किसी कार्यसे संघके मध्यमें उपस्थित था। तव आयुष्मान् सारिपुत्रने गुलिस्सानि भिक्षुको लेकर भिक्षुओंको सम्बोधित किया—

"आवुसो! संघमें आये, संघमें रहते आरण्यक (= जंगलमें रहनेवाले) भिक्षुको सब्रह्मचारियों (= गुरु भाइयों)में गौरव युक्त रहना चाहिये; सन्मान-भाव-युक्त होना चाहिये। यदि आवुसो! संघमें आया, संघमें रहता आरण्यक भिक्षु सब्रह्मचारियोंमें गौरवयुक्त = सन्मान-भावयुक्त नहीं होता; तो उसके लिये वात मारनेवाले होते हैं—'इन आरण्यक आयुष्मान्‌के अकेले अरण्यमें स्वैरी (= स्वेच्छाचारी)-विहारका क्या (फल); जब यह आयुष्मान् सब्रह्मचारियोंमें गौरवयुक्त = सन्मान-भावयुक्त नहीं हैं।'''इसलिये संघमें ० सन्मान-भाव-युक्त होना चाहिये।

"आवुसो! संघमें ० आरण्यक भिक्षुको वैठनेमें चतुर (= आसन-कुशल) होना चाहिये—स्थविर (= वृद्ध) भिक्षुओंके विना वैठे (या उन्हें रगड़ते) न वैठना चाहिये, नये भिक्षुओंको आसनसे हटाना न चाहिये। यदि आवुसो! संघमें आरण्यक भिक्षु आसन-कुशल नहीं होता, तो उसके लिये वात मारनेवाले होते हैं—'इन आरण्यक आयुष्मान्‌के अकेले स्वैरी-विहारका क्या (फल); जव कि यह आयुष्मान् स्थविर भिक्षुओंके विना वैठे वैठते हैं, नये भिक्षुओंको आसनसे हटाते हैं।'''इसलिये संघमें ०।

"आवुसो! ० आरण्यक भिक्षुको अतिकाल (= अतिप्रातः)को ग्राममें प्रविष्ट नहीं होना चाहिये, न अति दिवा (= वहुत पहिले ही) निकलना चाहिये। यदि आवुसो! ०।

"० ० आरण्यक भिक्षुको भोजनके पूर्व या पश्चात् (गृहस्थ-) कुलोंमें फेरा नहीं देते रहना चाहिये। यदि आवुसो! ०।

"० ० आरण्यक भिक्षुको अन्-उद्धत = अ-चपल होना चाहिये। यदि आवुसो! ०।

"० ० अ-मुखर = अ-वकवादी होना चाहिये। यदि आवुसो! ०।

"० ० सु-वचनी, कल्याण-मित्र होना चाहिये। यदि आवुसो! ०।

"० ० इन्द्रियोंमें गुप्त-द्वार (= संयमी) ०। ०।

"० ० भोजनमें मात्रा (= परिमाण)-ज्ञ ०। ०।

"० ० जागरणमें तत्पर ०। ०।

"० ० आरब्ध-वीर्य (= उद्योगी) ०। ०।

"० ० उपस्थित-स्मृति (= होश रखनेवाला) ०। ०।

"० ० समाहित (= एकाग्र-चित्त) ०। ०।

"० ० प्रज्ञावान् ०।०।

"० ० अभिधर्म (= धर्ममें, बुद्धोपदेशमें), अभि-विनय (= विनयमें, भिक्षु-नियमों) में (मनो -)योग देना चाहिये। आवुसो ! धर्म और विनयके विषयमें आरण्यक भिक्षुसे प्रश्न पूछनेवाले (लोग) भी हैं। यदि आवुसो ०।

"० ० रूपोंको अतिक्रमण कर जो आरूप्य (= रूप-रहित-लोक-सम्बन्धी) शान्त-विमोक्ष (= ध्यान) हैं, उनमें (मनो-) योग देना चाहिये। आवुसो ! ० शान्त विमोक्षोंके विषयमें आरण्यक भिक्षुसे प्रश्न पूछनेवाले भी हैं। यदि आवुसो ! ०।

"० ० उत्तर-मनुष्य-धर्म (=लोकोत्तर शक्ति)में (मनो -) योग देना चाहिये। आवुसो ! उत्तर-मनुष्य-धर्मके विषयमें आरण्यक भिक्षुसे प्रश्न करनेवाले भी हैं। यदि आवुसो ! आरण्यक भिक्षु उत्तर-मनुष्य-धर्मके विषयमें प्रश्न पूछने पर (प्रश्न-कर्ताको) सन्तुष्ट नहीं कर सकता; तो उसको बात मारनेवाले होते हैं—'इन आरण्यक आयुष्मान्‌के जंगलमें अकेले स्वैरी विहारसे क्या (फल); जब कि यह आयुष्मान्, जिसके अर्थ प्रव्रजित हुये, उसी अर्थ (= वस्तु)को नहीं जानते।'''इस-लिये, आरण्यक भिक्षुको उत्तर-मनुष्य-धर्ममें (मनो -)योग देना चाहिये।"

ऐसा कहने पर आयुष्मान् महामौद्गल्यायनने आयुष्मान् सारिपुत्रसे यह कहा—

"आवुस सारिपुत्र ! आरण्यक भिक्षुको ही इन धर्मोंको ग्रहण कर वर्तना चाहिये, या ग्राम-समीप-वासी (भिक्षु)को भी ?"

"आवुस मौद्गल्यायन ! आरण्यक भिक्षुको भी इन धर्मोंको ग्रहण कर वर्तना चाहिये, ग्राम-समीप-वासी (भिक्षुओं)के लिये तो कहना ही क्या ?"

७०—कीटागिरि-सुत्तन्त (२।२।१०)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय बड़े भारी भिक्षु-संघके साथ भगवान् [1]काशी-देशमें चारिका करते थे। वहाँ भगवान्‌ने भिक्षुओंको आमंत्रित किया—

"भिक्षुओ! मैं रात्रि-भोजनसे विरत हो भोजन करता हूँ।···रात्रि-भोजन छोड़कर भोजन करनेसे···आरोग्य, उत्साह, बल, सुख-पूर्वक विहार अनुभव करता हूँ। आओ, भिक्षुओ! तुम भी रात्रि-भोजन-विरत हो भोजन करो,···रात्रिभोजन छोड़कर भोजन करनेसे तुमभी···अनुभव करोगे।

"अच्छा भन्ते!" उन भिक्षुओंने भगवान्‌से कहा।

तब भगवान् काशी (देश)में क्रमशः चारिका करते, जहाँ काशियोंका निगम (=कस्बा) [2]कीटागिरि था, वहाँ पहुँचे। वहाँ काशियोंके निगम कीटागिरिमें भगवान् विहार करते थे।

उस समय अश्वजित्, और पुनर्वसु नामक (दो) आवासिक भिक्षु कीटागिरिमें रहते थे। तब बहुतसे भिक्षु जहाँ अश्वजित् पुनर्वसु थे, वहाँ गये। जाकर···बोले—

"आवुसो! भगवान् रात्रि-भोजन-विरत हो भोजन करते हैं, और भिक्षु-संघ भी। रात्रि-भोजन-विरत हो भोजन करनेसे आरोग्य ०। आओ, तुमभी आवुसो! रात्रि-भोजन-विरत हो भोजन करो···।"

ऐसा कहनेपर अश्वजित्-पुनर्वसुओंने उन भिक्षुओंसे कहा—

"हम आवुसो! शामको भी खाते हैं, प्रातः, दिन (=मध्याह्न) और विकालको (=दोपहर बाद) भी। सो हम सायं, प्रातः, मध्याह्न विकालको भोजन करते भी आरोग्य० हो विहरते हैं। सो हम क्यों प्रत्यक्ष (=सांदृष्टिक)को छोड़कर, कालान्तरके (=कालिक) लिये दौड़ें। हम सायं भी खायेंगे, प्रातः भी, दिनमें भी, विकालमें भी।"

जब वह भिक्षु अश्वजित्-पुनर्वसु···को न समझा सके, तो जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये। जाकर भगवान्‌को अभिवादन कर एक ओर बैठ गये। एक ओर बैठ कर उन भिक्षुओंने भगवान्‌से कहा—

"भन्ते! हमने···अश्वजित्-पुनर्वसु···के पास···जा···यह कहा—'भगवान् रात्रि-भोजन-विरत०'। ऐसा कहने पर, भन्ते! अश्वजित्, पुनर्वसु भिक्षुओंने कहा—'हम आवुसो! शामको भी खाते हैं०।' जब हम भन्ते! अश्वजित्-पुनर्वसु भिक्षुओंको न समझा सके, तब हम यह बात भगवान्‌से कह रहे हैं।"

---

[1] प्रायः वर्तमान बनारस कमिश्नरीका गंगासे उत्तरका भाग, और आजमगढ़ जिला।

[2] केराकत, जिला जौनपुर।

जब वह भिक्षु अश्वजित् पुनर्वसु···को न समझा सके, तो जहाँ भगवान् थे वहाँ गये। जाकर भगवान्‌को अभिवादन कर एक ओर बैठ गये। एक ओर बैठ कर उन भिक्षुओंने भगवान्‌से कहा—

"भन्ते! हमने···अश्वजित् पुनर्वसु···के पास···जा···यह कहा—'भगवान् रात्रि-भोजन-विरत०'। ऐसा कहने पर भन्ते! अश्वजित् पुनर्वसु भिक्षुओंने कहा—'हम आवुसो! शामको भी खाते हैं०।' जब हम भन्ते! अश्वजित् पुनर्वसु भिक्षुओंको न समझा सके, तब हम यह बात भगवान्‌से कह रहे हैं।"

तब भगवान्‌ने एक भिक्षुको आमंत्रित किया—

"आ भिक्षु! तू मेरी बातसे अश्वजित् पुनर्वसु भिक्षुओंको कह—'शास्ता आयुष्मानोंको बुलाते हैं'।"

"अच्छा भन्ते!"—कह···उस भिक्षुने अश्वजित् पुनर्वसु भिक्षुओंके पास···जाकर कहा—शास्ता आयुष्मानोंको बुलाते हैं।"

"अच्छा आवुस!"—कह···अश्वजित् पुनर्वसु भिक्षु···जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये। जाकर भगवान्‌को अभिवादन कर एक ओर बैठ गये। एक ओर बैठे अश्वजित्, पुनर्वसु भिक्षुओंसे भगवान्‌ने कहा—

"सचमुच भिक्षुओ! बहुतसे भिक्षु तुम्हारे पास जाकर बोले (थे)—आवुसो! भगवान् रात्रि-भोजन-विरत हो ०। ऐसा कहने पर भिक्षुओ! तुमने···कहा० ?"

"हाँ भन्ते!"

"क्या भिक्षुओ! तुम मुझे ऐसा धर्म उपदेश करते जानते हो—जो कुछ यह पुरुष=पुद्गल सुख, दुःख, या असुख-अदुःख अनुभव करता है, (उससे) उसके अकुशल (=बुरे) धर्म नष्ट हो जाते हैं, और कुशल धर्म बढ़ते हैं ?"

"नहीं भन्ते!"

"क्या भिक्षुओ! तुम मुझे ऐसा धर्म उपदेश करते जानते हो—एकके इस प्रकारकी सुख वेदना (=अनुभव) अनुभव करते अकुशल-धर्म बढ़ते हैं, कुशल-धर्म नष्ट होते हैं। किन्तु एकके इस प्रकारकी सुख-वेदनाको अनुभव करते अ-कुशल-धर्म नष्ट होते हैं, कुशल-धर्म बढ़ते हैं। ० दुःख वेदनाको अनुभव करते अ-कुशल धर्म बढ़ते हैं, कुशल-धर्म नष्ट होते हैं। अकुशल-धर्म नष्ट होते हैं ०। एकको इस प्रकारकी असुख-अदुःख वेदनाको अनुभव करते ० ? ० ?

"हाँ, भन्ते!"

"साधु, भिक्षुओ! यदि मैं अ-ज्ञात, अ-दृष्ट, अ-विदित=अ-साक्षात्कृत=अ-स्पर्शितको (कहता)—यहाँ किसीको इस प्रकारकी सुख-वेदनाको अनुभव करते अकुशल धर्म बढ़ते हैं, और कुशल-धर्म नष्ट होते हैं ०। ऐसा न जानते, यदि मैं 'इस प्रकारकी सुख-वेदनाको छोड़ो' बोलता। तो क्या भिक्षुओ! यह मेरे लिये उचित होता ?"

"नहीं, भन्ते!"

"चूँकि भिक्षुओ! मैंने इसको देखा, जाना, साक्षात् किया, स्पर्श किया, ० जानकर इसलिये मैं कहता हूँ—'इस प्रकारकी सुख-वेदनाको छोड़ो'। और यदि मुझे यह अज्ञात, अदृष्ट० होता, ऐसा न जाने यदि मैं कहता—'इस प्रकारकी सुख-वेदनाको प्राप्तकर विहार करो, तो क्या भिक्षुओ! यह मेरे लिये उचित होता ?"

"नहीं, भन्ते!"

"चूँकि भिक्षुओ ! यह मुझे ज्ञात, दृष्ट, विदित, साक्षात्कृत, प्रज्ञासे स्पर्शित (है)—'यहाँ एकके० अकुशल-धर्म नष्ट होते हैं, कुशल-धर्म बढ़ते हैं'। इसलिये मैं कहता हूँ—'इस प्रकारकी सुख-वेदनाको प्राप्त कर विहार करो'।…

"भिक्षुओ ! मैं सभी भिक्षुओंको नहीं कहता कि—'प्रमादरहित हो करो'। और न मैं सभी भिक्षुओंको—'अप्रमाद रहित हो न करो' कहता हूँ। भिक्षुओ ! जो भिक्षु अर्हत्=क्षीण-आस्रव (ब्रह्मचर्य-) पूरा-कर-चुके, कृत-कृत्य, भार-मुक्त, सच्चे-अर्थको-प्राप्त, भव-संयोजन (= बंधन)-रहित, अच्छी तरह जान कर मुक्त (= सम्यक्-आज्ञा-विमुक्त) हैं। भिक्षुओ ! वैसोंको मैं 'प्रमाद रहितहो करो' नहीं कहता। सो किस हेतु ?—उन्होंने प्रमाद-रहित हो (करणीय) कर लिया, वह प्रमाद (= आलस्य, भूल) कर नहीं सकते। भिक्षुओ ! जो शैक्ष्य=न-प्राप्त-चित्त हैं, अनुपम योग-क्षेम (= निर्वाण)के इच्छुक हो विहरते हैं। भिक्षुओ ! वैसेही भिक्षुओंको मैं 'प्रमाद रहितहो करो' कहता हूँ। सो किस हेतु ?—शायद वह आयुष्मान् अनुकूल शयन-आसनको सेवन करते, कल्याण-मित्रों (= सुमित्रों)को सेवन करते, इन्द्रियोंका संयम करते; जिसके लिये कुल-पुत्र अच्छी तरह घरसे बेघर हो प्रव्रजित होते हैं, उस अनुत्तर (= सर्वोत्तम) ब्रह्मचर्य-फलको इसी जन्ममें स्वयं जान कर, साक्षात् कर, प्राप्त कर विहरें। भिक्षुओ ! उन भिक्षुओंको अप्रमादका यह फल देखते हुये मैं 'प्रमाद-रहित हो करो' कहता हूँ।

"भिक्षुओ ! सात पुद्गल (= पुरुष) लोकमें…विद्यमान हैं। कौनसे सात ? (१) उभय-तो-भाग-विमुक्त (२) प्रज्ञाविमुक्त, (३) काय-साक्षी, (४) दृष्टि-प्राप्त, (५) श्रद्धा-विमुक्त, (६) धर्म-अनुसारी, (७) श्रद्धा-अनुसारी।

"भिक्षुओ ! कौन पुद्गल (= पुरुष) उभयतो-भाग-विमुक्त हैं ?—भिक्षुओ ! जो प्राणी कि विमोक्षको अतिक्रमण कर रूप(-धातु)में आरूप्य(धातु)को प्राप्त हैं, उन्हें कोई पुद्गल कायासे स्पर्श कर विहार करता है। (उन्हें) प्रज्ञासे देख कर उसके आस्रव (= चित्तमल) नष्ट होजाते हैं। भिक्षुओ ! यह पुद्गल उभयतो-भाग-विमुक्त कहा जाता है। भिक्षुओ ! इस भिक्षुको 'अप्रमादसे करो' मैं नहीं कहता। किस हेतु ?—क्योंकि वह प्रमाद-रहितहो (करणीय) कर चुका। वह प्रमाद नहीं कर सकता।

"भिक्षुओ ! कौन पुद्गल प्रज्ञा-विमुक्त हैं ?—भिक्षुओ ! जो प्राणी कि विमोक्षको पार कर, रूप (-धातु)में आरूप्यको प्राप्त हैं, उन्हें कोई पुद्गल कायासे छूकर नहीं विहरते, (किंतु) प्रज्ञासे देख कर उनके आस्रव नाश होजाते हैं। ० यह पुद्गल प्रज्ञा-विमुक्त कहे जाते हैं। ० ऐसे भिक्षुको भी 'अप्रमादसे करो' मैं नहीं कहता। ०।

"भिक्षुओ ! कौन पुद्गल काय-साक्षी हैं ?—भिक्षुओ ! जो एक पुद्गल उन्हें कायासे छूकर नहीं विहरता, प्रज्ञासे देख कर उसके कोई कोई आस्रव नष्ट होजाते हैं। ० यह ० काय-साक्षी है। इस भिक्षुको भिक्षुओ ! 'अप्रमादसे करो', मैं कहता हूँ। सो किस हेतु ?—शायद यह आयुष्मान् ० प्राप्त कर विहार करें ०।

"भिक्षुओ ! कौन पुद्गल दृष्टि-प्राप्त है ?—भिक्षुओ ! ० कायासे छूकर नहीं विहरता, ० कोई कोई आस्रव नष्ट होगये हैं। प्रज्ञा द्वारा तथागतके बतलाये धर्म उसके जाने…होते हैं। ० यह दृष्टि-प्राप्त ० है। ०। ०।

"भिक्षुओ ! कौन पुद्गल श्रद्धाविमुक्त है ?—०, ० प्रज्ञासे कोई कोई आस्रव उसके नष्ट होगये हैं, तथागतमें उसकी श्रद्धा प्रतिष्ठित=जड़-पकड़ी=निविष्ट होती है। ० यह श्रद्धा-विमुक्त ०। ०। ०।

"भिक्षुओ ! कौन पुद्‌गल धर्मानुसारी है ?—०, ०, प्रज्ञाद्वारा तथागतके बतलाये धर्म उसके लिये मात्रशः (= कुछ मात्रामें) निध्यायन (= निदिध्यासन)के योग्य होगये हैं। और उसको यह धर्म (= बातें)प्राप्त हैं, जैसे कि—श्रद्धा-इन्द्रिय, वीर्य-इन्द्रिय, स्मृति-इन्द्रिय, समाधि, इन्द्रिय प्रज्ञा-इन्द्रिय । ० यह धर्मानुसारी ० है । ० । ० ।

"भिक्षुओ! कौन पुद्‌गल श्रद्धानुसारी है ?—०, ०, तथागतमें उसकी श्रद्धा-मात्र=प्रेम-मात्र होता है । और उसको यह धर्म (प्राप्त) होते हैं, जैसे कि—श्रद्धा-इन्द्रिय० प्रज्ञा-इन्द्रिय । ० यह श्रद्धानुसारी ० । ० । ० ।

"भिक्षुओ ! मैं आदिसे ही 'आज्ञा' (= अञ्ञा)की आराधना नहीं कहता, बल्कि भिक्षुओ ! क्रमशः शिक्षासे, क्रमशः क्रियासे, क्रमशः प्रतिपद्‌से आज्ञाकी आराधना होती है । भिक्षुओ ! ० क्रमशः प्रतिपद्‌से कैसे आज्ञाकी आराधना होती है ?—भिक्षुओ ! श्रद्धावान् हो (वैसे ज्ञानीके) समीप जाता है, समीप जानेसे, परि-उपासना करता है । परि-उपासना करनेसे कान लगाता है । कान लगानेसे धर्म सुनता है । धर्म सुनकर धारण करता है । धारण किये धर्मों की परीक्षा करता है । अर्थकी उप-परीक्षा करनेपर धर्म निध्यायन (= निदिध्यासन)के योग्य होते हैं । धर्मके निध्यायन के योग्य होनेपर, छन्द (= रुचि) उत्पन्न होता है । छंद होनेपर उत्साह करता है । उत्साह करनेपर उत्थान करता है (= तुलेति) । उत्थान कर प्रधान (= समाधि) करता है । प्रधानात्म (= समाहित-चित्त) हो, (इस) कायासेही परम-सत्यका साक्षात्कार करता है । प्रज्ञासे उसे बेधता है । भिक्षुओ ! वह श्रद्धा भी यदि न हुई । ० वह पास जानाभी (= उप-संक्रमण) न हुआ ० । ० । ० वह प्रधानभी न हुआ । (तो) विप्रतिपन्न (=अमार्गा-रूढ़) हो भिक्षुओ ! मिथ्या-प्रतिपन्न०, भिक्षुओ ! यह मोघपुरुष (= नालायक) इस धर्म-विनयसे बहुत दूर चले गये हैं ।

"भिक्षुओ ! चतुष्पद व्याकरण होता है, जिसके अर्थको करने पर विज्ञपुरुष जल्द ही (उसे) प्रज्ञासे जानता है ।……भिक्षुओ ! तुम इसे समझते हो ?"

"भन्ते ! कहाँ हम और कहाँ धर्मका जानना ?"

"भिक्षुओ ! जो वह शास्ता (= गुरु) आमिष-गुरु (= धन, भोगमें बड़ा), आमिष-दायाद (= भोगोंका लेनेवाला), आमिषोंसे लिप्तहो विहरता है; वह भी इस प्रकारकी बाजी (= पण) नहीं लगाता—'यदि हमें ऐसा हो, तो इसे करेंगे, यदि हमें ऐसा न हो, तो नहीं करेंगे ।' फिर भिक्षुओ ! तथागतका तो क्या (कहना है), (जो कि) सर्वथा आमिष (= धन, भोग)से अ-लिप्तहो विहार करते हैं । भिक्षुओ ! श्रद्धालु श्रावकको शास्ताके शासन (= धर्म)में परियोग (= योग)के लिये वर्ताव करते हुये यह अनु-धर्म होता है—'भगवान् शास्ता (= गुरु) हैं, मैं श्रावक (= शिष्य) हूँ', 'भगवान् जानते हैं, मैं नहीं जानता' । भिक्षुओ ! श्रद्धालु श्रावक के लिये शास्ताके शासनमें परियोगके लिये वर्तते समय, शास्ताका शासन…ओज-वान् होता है ।, श्रद्धालु श्रावकको ० यह दृढ़ता होती है—'चाहे चमड़ा, नस, और हड्डी ही बच रहे, शरीरका रक्त-मांस सूख (क्यों न) जाये, (किंतु), पुरुषके स्थाम=पुरुष-वीर्य=पुरुष-पराक्रम से जो (कुछ) प्राप्य है, उसे बिना पाये (मेरा) उद्योग न रुकेगा ।' भिक्षुओ ! श्रद्धालु श्रावक को शास्ताके शासनमें परियोगके लिये वर्तते समय, दो फलोंमेंसे एक फलकी उमेद (अवश्य) रखनी चाहिये—इसी जन्ममें (परम-ज्ञान) जानूँगा, या उपाधि (= मल) रखनेपर अनागामि-पन (पाऊँगा) ।"

भगवान्‌ने यह कहा । संतुष्ट हो, उन भिक्षुओंने भगवान्‌के भाषणका अनुमोदन किया ।

७१—तेविज्ज-वच्छगोत्त-सुत्तन्त (२।३।१)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् वैशालीमें महावनकी कूटागार-शालामें विहार करते थे।

उस समय वच्छ-गोत्त (= वत्सगोत्र) परिव्राजक एक-पुण्डरीक परिव्राजकाराममें वास करता था। भगवान् पूर्वाह्न-समय पहिनकर, पात्रचीवर ले, वैशालीमें पिंड-चारके लिये प्रविष्ट हुये। तब भगवान्‌को ऐसा हुआ—अभी वैशालीमें पिंडचार करनेके लिये बहुत सवेरा है। क्यों न मैं जहाँ एक-पुण्डरीक परिव्राजकाराम है, जहाँ वच्छ-गोत्त परिव्राजक है, वहाँ चलूँ। तब भगवान् ० वहाँ गये।

वच्छ-गोत्त परिव्राजकने दूरसे ही भगवान्‌को आते देखा। देख कर भगवान्‌से बोला—

"आइये भन्ते! भगवान्! स्वागत भन्ते! भगवान्! बहुत दिन होगया भन्ते! भगवान्‌को यहाँ आये। बैठिये भन्ते! भगवान्! यह आसन बिछा है।"

भगवान् बिछे आसनपर बैठ गये। वत्स गोत्र परिव्राजक भी एक नीचा आसन लेकर, एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे वत्स-गोत्र परिव्राजकने भगवान्‌से कहा—

"सुना है भन्ते!—'श्रमण गौतम सर्वज्ञ = सर्वदर्शी हैं, निखिल ज्ञान-दर्शन (= ज्ञानके साक्षात्कार करने)का दावा करते हैं। चलते, खड़े, सोते, जागते (भी उनको) निरंतर सदा ज्ञान-दर्शन उपस्थित रहता है'। क्या भन्ते! (ऐसा कहनेवाले) भगवान्‌के प्रति यथार्थ कहनेवाले हैं, और भगवान्‌को असत्य = अभूतसे निन्दा (= अभ्याख्यान) तो नहीं करते? धर्मके अनुकूल (तो) वर्णन करते हैं? कोई सह-धार्मिक (= धर्मानुकूल) वादका अ-ग्रहण, गर्हा (= निंदा) तो नहीं होती।"

"वत्स! जो कोई मुझे ऐसा कहते हैं—'श्रमण गौतम सर्वज्ञ है ०।' वह मेरे बारेमें यथार्थ कहनेवाले नहीं हैं। अ-सत्य (= अभूत)से मेरी निंदा करते हैं।"

"कैसे कहते हुये भन्ते! हम भगवान्‌के यथार्थवादी होंगे, भगवान्‌को अभूत (= असत्य) से नहीं निन्देंगे ०?"

"वत्स!—'श्रमण गौतम त्रैविद्य (= तीन विद्याओंका जाननेवाला) है'—ऐसा कहते हुये, मेरे बारेमें यथार्थवादी होगा ०। (१) वत्स! मैं जब चाहता हूँ, अनेक किये पूर्वनिवासों (= पूर्वजन्मों)को स्मरण कर सकता हूँ, जैसे कि—एक जाति (= जन्म) ०[1]। इस प्रकार आकार (= शरीर आकृति आदि), नाम (= उद्देश)के सहित अनेक पूर्वजन्मोंको स्मरण करता हूँ। (२) वत्स! मैं जब चाहता हूँ, अ-मानुष विशुद्ध दिव्य-चक्षुसे मरते, उत्पन्न होते, नीच-ऊँच,

---

[1] देखो पृष्ठ १५।

सुवर्ण-दुर्वर्ण, सुगत-दुर्गत ० कर्मानुसार (गतिको) प्राप्त सत्त्वोंको जानता हूँ । (३) वत्स ! मैं आस्रवों (= राग-द्वेष आदि)के क्षयसे आस्रव-रहित चित्तकी विमुक्ति (= मुक्ति) प्रज्ञाद्वारा विमुक्तिको इसी जन्ममें स्वयं साक्षात् कर = प्राप्त कर विहरता हूँ ।"

ऐसा कहनेपर वत्स गोत्र परिव्राजकने भगवान्से कहा—

"भो गौतम ! क्या कोई गृहस्थ है, जो गृहस्थके संयोजनों (= बंधनों)को विना छोड़े, कायाको छोड़ दुःखका अन्त करनेवाला (= निर्वाण प्राप्त करनेवाला) हो ?"

"नहीं वत्स ! ऐसा कोई गृहस्थ नहीं ० ।

"भो गौतम ! है कोई गृहस्थ, जो गृहस्थके संयोजनोंको विना छोड़े, काया छोड़ने (= मरने) पर, स्वर्गको प्राप्त होनेवाला हो ?"

"वत्स ! एक ही नहीं सौ, सौ नहीं दोसौ, ० तीनसौ, ० चारसौ, ० पाँचसौ, और भी बहुतसे गृहस्थ हैं, (जो) गृहस्थके संयोजनोंको विना छोड़े, मरनेपर स्वर्गगामी होते हैं ।"

"भो गौतम ! है कोई आजीवक, जो मरनेपर दुःखका अन्त करनेवाला हो ?"

"नहीं, वत्स ! ० ।"

"भो गौतम ! है कोई आजीवक जो मरनेपर स्वर्गगामी हो ?"

"वत्स ! यहाँसे एकानवे कल्प तक मैं स्मरण करता हूँ, किसीको भी स्वर्ग जानेवाला नहीं जानता, सिवाय एकके; और वह भी कर्म-वादी = क्रियावादी था ।"

"भो गौतम ! यदि ऐसा है तो यह तीर्थायतन (= 'पंथ') शून्य ही है, यहाँ तक कि स्वर्ग-गामियोंसे भी ।"

"वत्स ! ऐसा होते यह 'पंथ' शून्य ही है ० ।"

भगवान्ने यह कहा ! वत्स-गोत्र परिव्राजकने सन्तुष्ट हो, भगवान्के भाषणका अनुमोदन किया ।

७२—अग्गि-वच्छगोत्त-सुत्तन्त (२।३।२)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथपिंडिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे—

तब वच्छ-गोत्त (= वत्सगोत्र) परिव्राजक जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया। जाकर भगवान्के साथ···सम्मोदन (= कुशल प्रश्न पूछ) कर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे वत्सगोत्र परिव्राजकने भगवान्से यह कहा—

(१) "भो गौतम ! 'लोक शाश्वत (= नित्य) है'—यही सत्य है, और (सब वाद) झूठ (= मोघ) है; क्या आप गौतम इस दृष्टि (= मत)वाले हैं ?"

"वत्स ! मैं इस दृष्टिवाला नहीं हूँ—'लोक शाश्वत है'—यही सत्य है, और सब झूठ।"

(२) "भो गौतम ! "लोक अशाश्वत (= अनित्य) है'—यही सत्य है, और झूठ; क्या आप गौतम इसी दृष्टिवाले हैं ?"

"वत्स ! मैं इस दृष्टिवाला नहीं हूँ—'लोक अशाश्वत है', यही सत्य है, और झूठ।"

(३) " ० 'अन्तवान् लोक है' ० ?"—" ० नहीं ०।"

(४) " ० 'अन्-अन्तवान् लोक है' ० ?"—" ० नहीं ०।"

(५) " ० 'जीव शरीर एक है' ० ?"—" ० नहीं ०।"

(६) " ० 'जीव दूसरा है शरीर दूसरा है' ० ?"—" ० नहीं ०।"

(७) " ० 'तथागत मरनेके बाद होते हैं' ० ?"—" ० नहीं ०।"

(८) " ० 'तथागत मरनेके बाद नहीं होते' ० ?"—" ० नहीं ०।"

(९) " ० 'तथागत मरनेके बाद होते भी हैं, नहीं भी होते' ० ?"—" ० नहीं ०।"

(१०) " ० 'तथागत मरनेके बाद न-होते हैं, न-नहीं-होते हैं' ० ?"—" ० नहीं ०।"

"क्या है, भो गौतम ! जो—'लोक शाश्वत है' यही सत्य है, और सब झूठ, क्या आप गौतम इस दृष्टिवाले हैं ?—पूछने पर; 'वत्स ! मैं इस दृष्टिवाला नहीं हूँ—'लोक शाश्वत है' यही सत्य है और झूठ—कहते हैं ? ०। 'तथागत मरनेके बाद न-होते हैं, न-नहीं-होते' यही सत्य है, और झूठ—क्या आप गौतम इस दृष्टिवाले हैं ?—पूछने पर भी,—'वत्स ! मैं इस दृष्टि-वाला नहीं हूँ—०—कहते हैं ? क्या बुराई देखकर आप गौतम ! इस प्रकार इन सभी दृष्टियोंको नहीं ग्रहण करते ?"

"वत्स ! 'लोक शाश्वत है'—यह दृष्टि-गत (= दृष्टि) दृष्टि-गहन, दृष्टि-कान्तार (= मत का रेगिस्तान), दृष्टि-विशूक (= ० काँटा), दृष्टि-विस्पन्दित (= ० की चंचलता), दृष्टि-संयोजन (= ० बंधन) है, (यह) दुःखमय, विघात(= पीड़ा)मय, उपायास (= परेशानी)-मय, परिदाह (= जलन)-मय है; (यह) न निर्वेदके लिये=न वैराग्यके लिये, न निरोधके लिये, न उपशम (= शांति)के लिये, न अभिज्ञाके लिये, न संबोध (= परमज्ञान)के लिये न निर्वाण

के लिये है। ०। 'तथागत मरनेके बाद न-होते हैं, न-नहीं-होते'—दृष्टि-गत (= दृष्टि) दृष्टि गहन ० न निर्वाणके लिये है। वत्स ! इस बुराई (= आदिनव)को देख कर मैं इन सभी दृष्टियों को नहीं ग्रहण करता।

"भो गौतम ! आप गौतमका कोई दृष्टि-गत (= दृष्टि) है ?"

" वत्स ! तथागतका दृष्टि-गत दूर हो गया है। वत्स ! तथागतका यह दृष्ट (= साक्षात्कृत) है—'ऐसा रूप है, ऐसा रूपका समुदय (= उत्पत्ति) है, ऐसा रूपका निरोध (= नाश) है। ऐसी वेदना है ०। ऐसी संज्ञा है ०। ऐसा संस्कार है ०। ऐसा विज्ञान है ०'। सारी मान्यताओं = सारे मथितों = सारे अहंकार-ममंकार-मान (रूपी) अनुशयों (= चित्त दोषों)के क्षय, विराग, निरोध, त्याग और अनुत्पत्तिसे (भिक्षु) विमुक्त होता है—यह कहता हूँ।"

"भो गौतम ! ऐसा विमुक्त-चित्त भिक्षु कहाँ उत्पन्न होता है ?"

"वत्स ! 'उत्पन्न होता है'—यह नहीं (संभव) पाता।"

"तो फिर भो गौतम ! 'नहीं उत्पन्न होता' ?"

"वत्स ! 'नहीं उत्पन्न होता'—यह नहीं पाता।"

"तो भो गौतम ! 'उत्पन्न होता है, नहीं भी उत्पन्न होता है' ?"

"वत्स ! 'उत्पन्न होता है, नहीं भी उत्पन्न होता है'—यह नहीं पाता।"

"तो भो गौतम ! 'न-उत्पन्न होता है, न-नहीं-उत्पन्न होता है' ?"

"वत्स ! 'न-उत्पन्न होता है, न-नहीं-उत्पन्न होता है'—यह नहीं पाता।"

"भो गौतम ! 'ऐसा विमुक्त-चित्त भिक्षु कहाँ उत्पन्न होता है ?—पूछने पर, आप 'वत्स ! 'उत्पन्न होता है'—यह नहीं पाता—कहते हैं। ०। भो गौतम ! 'न-उत्पन्न होता है, न-नहीं-उत्पन्न होता है ?'—पूछनेपर, 'वत्स ! न-उत्पन्न होता है, न-नहीं-उत्पन्न होता है'—यह नहीं पाता—कहते हैं। भो गौतम ! यहाँ मुझे अज्ञान हो गया, मुझे संमोह (= भ्रम) हो गया। पिछले वार्तालापसे जो कुछ प्रसाद (= श्रद्धा) आपके संबंधमें मुझे था, वह भी अन्तर्धान (= लुप्त) हो गया।"

"वत्स ! तुझे अज्ञानकी ज़रूरत नहीं, सम्मोहकी ज़रूरत नहीं। वत्स ! यह धर्म गंभीर, दुर्दृश्य, दुर्-अनु-बोध (=दुर्ज्ञेय), शांत, प्रणीत (=उत्तम), तर्कका-अविषय, निपुण (= सूक्ष्म) पंडित-वेदनीय (= पंडितों द्वारा जानने लायक) है। वत्स ! यह (धर्म) अन्य-दृष्टिक (= दूसरे मतका आग्रह रखने वाले),=अन्य-क्षान्तिक, अन्य-रुचिक, अन्यत्र-योग(= संबंध)वाले अन्यत्र-आचार्यक (= दूसरी जगहके ज्ञानवाले) तेरे लिये दुर्ज्ञेय है। तो वत्स ! तुझे ही पूछता हूँ, जैसा तुझे जँचे, वैसा उत्तर देना। यदि वत्स ! तेरे सन्मुख आग जले, तो तू जानेगा—यह मेरे सन्मुख आग जल रही है ?"

"भो गौतम ! यदि मेरे सन्मुख आग जले, तो मैं जानूँगा, यह मेरे सन्मुख आग जल रही है।"

"यदि वत्स ! तुझसे यह पूछें—यह जो तेरे सन्मुख आग जल रही है, वह किसको लेकर जल रही है ?"

"ऐसा पूछने पर भो गौतम ! मैं कहूँगा—यह जो मेरे सन्मुख आग जल रही है, यह तृण-काष्ठ (रूपी) उपादानको लेकर जल रही है।"

"यदि वत्स ! वह आग तेरे सन्मुख बुझ जाये, तो जानेगा तू—यह आग मेरे सन्मुख बुझ गई ?"

"भो गौतम ! यदि मेरे सन्मुख वह आग बुझ जाये, तो मैं जानूँगा—'यह मेरे सन्मुख आग बुझ गई' ।"

"यदि वत्स ! तुझसे यह पूछें—'यह जो आग तेरे सन्मुख बुझ गई, वह आग किस दिशा को गई—पूर्वको, पश्चिमको उत्तरको या दक्षिणको' ?—ऐसा पूछने पर वत्स ! तू क्या उत्तर देगा ?"

"नहीं (पता) मिलता, भो गौतम ! जो वह आग तृण-काष्ठके उपादानको लेकर जली, उसके पर्यादान (= खतम कर लेने)से, और अन्य (तृण-काष्ठ)के अनुपहार (= न मिलने)से, आहार विना 'बुझ गई' (= निर्वृत = निर्वाण-प्राप्त) यही नाम होता है ।"

"ऐसे ही वत्स ! तथागतको जतलाते वक्त जिस रूपसे (उन्हें) जतलाया जाता, वह रूप (ही) तथागतका प्रहीण (= नष्ट) हो गया, उच्छिन्न-मूल, शिर-कटे-ताड़-जैसा, अभाव-प्राप्त, भविष्य-में-उत्पन्न-न-होने-लायक हो गया । वत्स ! तथागत रूप-संज्ञा (= रूपके नामसे) मुक्त, महासमुद्रकी तरह गंभीर, अ-प्रमेय, दुरवगाह्य (हैं) । (इसी लिये वहाँ) 'उत्पन्न होता है'—नहीं पाया जाता, ० ; 'न-उत्पन्न-होता है, न-नहीं-उत्पन्न होता'—नहीं पाया जाता । तथागतको जतलाते वक्त जिस वेदना द्वारा (उन्हें) जतलाया जाता, वह वेदना ही तथागतकी प्रहीण हो गई ० 'न-उत्पन्न होता है, न-नहीं-उत्पन्न होता'—नहीं पाया जाता । ० संज्ञा ० ० । ० संस्कार ० ० । तथागतको जतलाते वक्त जिस विज्ञान द्वारा जतलाया जाता, वह विज्ञान ही तथागतका प्रहीण होगया, उच्छिन्नमूल, शिर-कटे-ताड़-जैसा, अभाव-प्राप्त, भविष्य-में-उत्पन्न-न-होने-लायक हो गया । वत्स ! तथागत विज्ञान-संज्ञासे मुक्त हो, महासमुद्र की तरह गंभीर, अ-प्रमेय, दुरवगाह्य (हैं), (इसीलिये वहाँ) 'उत्पन्न होता है'—नहीं पाया जाता; ० 'न-उत्पन्न होता है, न-नहीं-उत्पन्न होता'—नहीं पाया जाता ।"

ऐसा कहने पर वत्स-गोत्र परिव्राजकने भगवान्‌से यह कहा—

"जैसे, भो गौतम ! ग्राम या निगमके समीप (= अ-विदूर) महान् शाल (= साखू)-वृक्ष हो । अनित्य होनेसे उसके शाखा-पत्ते नष्ट हो जायें; छाल-पपड़ी नष्ट हो जायें; गुद्दा नष्ट हो जाये । बादमें वह शाखा-पत्र रहित, छाल-पपड़ी-रहित, गुद्दारहित, शुद्ध, सार मात्रमें अवस्थित रह जाये; ऐसे ही आप गौतमका यह प्रवचन (= उपदेश) शाखा-पत्र-रहित, छाल-पपड़ी-रहित, गुद्दा-रहित शुद्ध सारमात्रमें अवस्थित है । आश्चर्य ! भो गौतम ! आश्चर्य !! भो गौतम ! जैसे औंधेको सीधा कर दे ० [1] आप गौतम आजसे मुझे अंजलिबद्ध शरणागत, उपासक स्वीकार करें ।"

७३—महा-वच्छगोत्त-सुत्तन्त (२।३।३)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् राजगृहमें वेणुवन कलंदक-निवापमें विहार करते थे।

तब वच्छगोत्त (= वत्सगोत्र) परिव्राजक जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया, जाकर भगवान् को···सम्मोदन कर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे वत्सगोत्र परिव्राजकने भगवान्से यह कहा—

"भो गौतम! देर हो गई, आप गौतमके साथ मुझे कथा-संलाप किये। साधु, (= अच्छा हो) आप गौतम संक्षेपसे मुझे कुशल-अकुशल (= भलाई-बुराई)का उपदेश करें।"

"वत्स! मैं संक्षेपसे तुझे कुशल-अकुशलका उपदेश करता हूँ, विस्तारसे भी तुझे कुशल-अकुशलका उपदेश करता हूँ। किन्तु (पहिले) वत्स! मैं संक्षेपसे तुझे कुशल-अकुशलका उपदेश करता हूँ, उसे सुन, अच्छी तरह मनमें कर कहता हूँ।"

"अच्छा, भो!" —(कह) वत्सगोत्र परिव्राजकने भगवान्को उत्तर दिया।

भगवान्ने यह कहा—'वत्स! लोभ अकुशल (= बुराई, पाप) है, और अलोभ कुशल (= भलाई, पुण्य) है। वत्स! द्वेष अकुशल है, अ-द्वेष कुशल है। वत्स! मोह अकुशल है, अ-मोह कुशल है। इस प्रकार वत्स! यह तीन धर्म (= पदार्थ) अकुशल हैं, और तीन धर्म कुशल।

"वत्स! प्राणातिपात (= हिंसा) अकुशल है, और प्राणातिपातसे विरत होना, कुशल है। वत्स! अदत्तादान (= चोरी) अकुशल है, और अदत्तादानसे विरति कुशल। कामों (= स्त्री-प्रसंग)में मिथ्याचार (= दुराचार) अ-कुशल है, काम-मिथ्याचारसे विरति कुशल। वत्स! मृषावाद (= झूठ) अकुशल है, मृषावाद-विरति कुशल। वत्स! पिशुन-वचन (= चुगली) अकुशल है, पिशुन-वचन-विरति कुशल। वत्स! परुष-वचन अकुशल है, परुषवचन-विरति कुशल। वत्स! संप्रलाप (= बकवाद) अकुशल है, संप्रलाप-विरति कुशल। वत्स! अभिध्या (= लोभ) अकुशल है, अन्-अभिध्या कुशल। वत्स! व्यापाद (= पीड़ा देना) अकुशल है, अ-व्यापाद कुशल। वत्स! मिथ्या-दृष्टि (= झूठी धारणा) अकुशल है, सम्यग्-दृष्टि कुशल। वत्स! यह दश धर्म अकुशल हैं, दश धर्म कुशल हैं।

"वत्स! जब भिक्षुकी तृष्णा प्रहीण (= नष्ट) होगई होती है, उच्छिन्नमूल, कटे-शिर-वाले-ताड़ जैसी अभाव-प्राप्त (= लुप्त), भविष्यमें-न-उत्पन्न-होने लायक होती है; (तो) वह भिक्षु अर्हत्=क्षीण-आस्रव (= जिसके चित्तमल नष्ट हो गये हैं), (ब्रह्मचर्य-) वस-चुका, कृतकृत्य, भार-वह-चुका, सत्पदार्थको-प्राप्त, भव-बंधन-तोड़-चुका, आज्ञा (= परमज्ञान) द्वारा-सम्यक्-मुक्त होता है।"

"रहें आप गौतम। क्या आप गौतमका एक भी श्रावक (= शिष्य) भिक्षु है, जो कि आस्रवों (= चित्तमलों)के क्षयसे आश्रव-रहित, चित्त-विमुक्ति (= ० मुक्ति) प्रज्ञा-विमुक्तिको

इसी जन्ममें स्वयं जानकर साक्षात्कार कर, प्राप्त कर विहरता हो ?"

"वत्स ! एक ही नहीं सौ, सौ ही नहीं तीन सौ, (तीन सौ ही) नहीं चार सौ, (चार सौ ही) नहीं पाँच सौ; बल्कि अधिक ही मेरे श्रावक भिक्षु आस्रवोंके क्षयसे आस्रव-रहित, चित्त-विमुक्ति, प्रज्ञाविमुक्तिको इसी जन्ममें स्वयं जान कर, साक्षात्कार कर, प्राप्त कर विहरते हैं।"

"रहें आप गौतम, रहने दें भिक्षुओंको। क्या आप गौतमकी एक भी श्राविका (=शिष्या) भिक्षुणी है, जो कि आस्रवोंके क्षयसे ० प्राप्त कर विहरती हो ?"

"वत्स ! एक ही नहीं ० बल्कि अधिक ० प्राप्त कर विहरती हैं।"

"रहें आप गौतम, रहने दें भिक्षु, रहें भिक्षुणियाँ। क्या आप गौतमका एक भी गृहस्थ, श्वेत-वस्त्रधारी, ब्रह्मचारी श्रावक उपासक (=गृहस्थ शिष्य, भक्त) है, जो कि पाँच अवर-भागीय-संयोजनोंके क्षयसे औपपातिक (=अयोनिज, देव) हो उस (देवलोक)में निर्वाण प्राप्त करनेवाला, उस लोकसे लौटकर न आनेवाला हो ?"

"वत्स ! एक ही नहीं ० पाँच सौ, बल्कि अधिक ही मेरे गृहस्थ ० उस लोकसे लौटकर न आनेवाले हैं।"

"रहें आप गौतम, रहें भिक्षु, रहें भिक्षुणियाँ, रहें श्वेत-वस्त्रधारी, ब्रह्मचारी उपासक गृहस्थ श्रावक; क्या आप गौतमका एक भी गृहस्थ अवदातवसन (=श्वेतवस्त्रधारी), काम-भोगी (=उचित विषय-भोगी), शासन-कर (=धर्मानुसार चलनेवाला) = अववाद्-प्रतिकर संशय-पारंगत, वाद-विवादसे-विगत, वैशारद्य(= निपुणता)-प्राप्त, गृहस्थ श्रावक उपासक है, जो कि शास्ताके शासन (=गुरुके उपदेश)में अतिश्रद्धावान् होकर विहरता हो ?"

"वत्स ! एक ही नहीं ० पाँच सौ, बल्कि अधिक ही मेरे गृहस्थ ० शास्ताके शासनमें अतिश्रद्धावान् होकर विहरते हैं।"

"रहें आप ० रहें गृही अवदातवसन कामभोगी उपासक; क्या ० एक भी गृहस्थ अवदात-वसना ब्रह्मचारिणी श्राविका उपासिका है, जो कि पाँच अवर-भागीय संयोजनोंके क्षयसे ० उस लोकसे लौट कर न आनेवाली हो ?"

"वत्स ! एक ही नहीं ० पाँच सौ बल्कि अधिक ही मेरी ० उस लोकसे लौट कर न आनेवाली हैं।"

"रहें आप ० रहें गृहस्थ अवदातवसना ब्रह्मचारिणी श्राविका उपासिकायें, क्या आप गौतम-की एक भी, अवदातवसना, कामभोगिनी, शासनकरी = अववाद-प्रतिकरी, संशय-पारंगता, वाद-विवादसे परे, वैशारद्य-प्राप्ता गृहस्थ श्राविका उपासिका है, जो कि शास्ताके शासनमें अतिश्रद्धावान् होकर विहरती हो ?"

"वत्स ! एक ही नहीं, ० पाँच सौ बल्कि अधिक ही मेरी ० अतिश्रद्धावान् होकर विहरती हैं।"

"भो गौतम ! यदि इस (आपके) धर्मके आप गौतम ही आराधन (=सेवन) करनेवाले (=आराधक) होते, और भिक्षु सेवन करनेवाले न होते, तो इस प्रकार यह ब्रह्मचर्य इस अंशमें अपूर्ण रहता। चूँकि इस धर्मके आप गौतम भी सेवन करनेवाले हैं, और भिक्षु भी सेवन करनेवाले हैं, इसलिये यह ब्रह्मचर्य इस अंशमें पूर्ण है। भो गौतम ! यदि इस धर्मके आप गौतम ही आराधक होते, और भिक्षु ही आराधक होते, और भिक्षुणियाँ आराधक न होतीं; तो इस प्रकार यह ब्रह्मचर्य इस अंशमें अपूर्ण रहता। चूँकि इस धर्मके आप गौतम भी आराधक हैं, भिक्षु भी ०, और भिक्षुणियाँ भी ०, इसलिये यह ब्रह्मचर्य इस अंशमें पूर्ण है। भो गौतम ! यदि आप ० भिक्षु ०,

और भिक्षुणियाँ ही आराधक होतीं, किन्तु ० ब्रह्मचारी उपासक ० आराधक न होते; तो ० अपूर्ण रहता। चूँकि ० ब्रह्मचारी उपासक भी आराधक हैं, इसलिये ० पूर्ण है। ० यदि इस धर्मके आप ० ब्रह्मचारी उपासक ० ही आराधक होते, और ० काम-भोगी ० उपासक ० आराधक न होते, तो ० अपूर्ण रहता। चूँकि ० काम-भोगी ० भी आराधक हैं, इसलिये ० पूर्ण है। ० यदि इस धर्मके आप ० कामभोगी उपासक ० आराधक होते, ० ब्रह्मचारिणी ० उपासिकायें आराधक न होतीं, तो ० अपूर्ण रहता; चूँकि ० ब्रह्मचारिणी ० उपासिकायें भी आराधक हैं, इसलिये ० पूर्ण है। ० यदि इस धर्मके आप ० ब्रह्मचारिणी ० उपासिकायें ही आराधक होतीं; तो ० अपूर्ण रहता। चूँकि ० काम-भोगिनी ० उपासिकायें भी आराधक हैं, इसलिये ० पूर्ण है।

"जैसे, भो गौतम ! गंगानदी समुद्र-निम्ना (= समुद्रकी ओर जानेवाली) = समुद्र-प्रवणा=समुद्र-प्राग्भारा समुद्रको ही जाती स्थित है; ऐसे ही यह गृहस्थ, परिव्राजक (सारी) आप गौतमकी परिषद् निर्वाण-निम्ना (= निर्वाणकी ओर जानेवाली) = निर्वाण-प्रवणा=निर्वाण-प्राग्भारा निर्वाणको ही जाती स्थित है। आश्चर्य ! भो गौतम ! आश्चर्य !! भो गौतम ! जैसे औंधेको सीधा कर दे ०[1] यह मैं भगवान् गौतमकी शरण जाता हूँ, धर्म और भिक्षु संघकी भी। भन्ते ! मैं भगवान्के पास प्रव्रज्या पाऊँ, उपसंपदा पाऊँ[2]।"

"वत्स ! जो कोई भूतपूर्व अन्यतीर्थिक इस धर्मविनयमें प्रव्रज्या उपसंपदा चाहता है; वह चार मास तक **परिवास** करता है ०[2]।"

"यदि, भन्ते ! ०[2] चार मास परिवास करते हैं, ०[2], तो मैं चार वर्ष परिवास करूँगा। ०[2]।"

वत्सगोत्र परिव्राजकने भगवान्के पास प्रव्रज्या पाई, उपसंपदा पाई।

उपसम्पन्न (= भिक्षु) होनेके थोड़े ही समय बाद=१५ दिन बाद आयुष्मान् वत्सगोत्र जहाँ भगवान् थे, वहाँ...जाकर भगवान्को अभिवादन कर...एक ओर बैठे भगवान्से यह बोले—

"भन्ते ! शैक्ष्य (= अन्-अर्हत्, किन्तु निर्वाण-मार्गपर दृढ़ आरूढ़)-ज्ञानसे शैक्ष्य-विद्यासे पाया जा सकता है, वह मैंने पा लिया। अब भगवान् मुझे आगेका धर्म बतलायें।"

(१) "तो वत्स ! तू दो आगेके धर्मों—**शमथ** (= समाधि) और **विपश्यना** (= प्रज्ञा, ज्ञान)की भावना (=सेवन) कर। वत्स ! इन आगेके दो धर्मा—शमथ और विपश्यनाकी भावना करनेसे, यह तेरे लिये अनेक धातुओंके प्रतिवेध-(= तह तक पहुँचने)में (सहायक) होंगे।[3] तब (यदि) तू वत्स ! चाहेगा कि—'अनेक प्रकारकी ऋद्धियोंका अनुभव करूँ—एक होकर बहुत हो जाऊँ, बहुत होकर एक हो जाऊँ। आविर्भाव, तिरोभाव (= अन्तर्धान, होना), तिरः-कुड्य (= अन्तर्धान हो भीतके पार चला जाना), तिरः-प्राकार (= अन्तर्धान हो प्राकारके पार हो जाना), तिरः-पर्वत, आकाशमें (चलने जैसे भूमि पर) बिना लिपटे चलूँ, जलकी भाँति पृथिवीमें डूबूँ उतराऊँ, पृथिवीकी तरह जलमें बिना भीगे जाऊँ, पक्षियोंकी भाँति आकाशमें आसन मारकर चलूँ, इतने महाप्रतापी = महर्द्धिक चंद्र-सूर्यको भी हाथसे छूऊँ = मीजूँ; ब्रह्मलोकपर्यन्त (अपनी) कायासे वशमें रक्खूँ'।—तो आयतन (= आश्रय) होनेपर तो वहाँ तू साक्षी-भावको प्राप्त होगा।

"(२) तब (यदि) तू वत्स ! जो चाहेगा—'विशुद्ध अमानुष दिव्य श्रोत्र-धातु (= कान

---

[1] देखो पृष्ठ १६। [2] देखो पृष्ठ २३३। [3] यही = अभिज्ञायें (= दिव्य शक्तियाँ) हैं।

इन्द्रिय)से दूर-नजदीकके दिव्य-मानुष दोनों प्रकारके शब्दोंको सुनूँ'।—तो आयतन होनेपर वहाँ वहाँ तू साक्षी-भावको प्राप्त होगा।

"(३) तब (यदि) तू वत्स ! चाहेगा—'दूसरे सत्वों = दूसरे प्राणियोंके चित्तको (अपने) चित्तद्वारा जानूँ—सराग-चित्त होनेपर सराग-चित्त है—यह जानूँ; वीतराग (= राग-रहित)-चित्त होनेपर, वीत-राग-चित्त है—यह जानूँ। स-द्वेष ०; वीत-द्वेष ०। स-मोह ०। वीत-मोह ०। विक्षिप्त-चित्त ०, सं-क्षिप्त (= एकाग्र)-चित्त ०, महद्गत (= विशाल)-चित्त ०, अ-महद्गत ०, स-उत्तर (= जिससे उत्तम भी है) चित्त ०, अन्-उत्तर-चित्त ०। समाहित (= समाधि-प्राप्त)-चित्त ०, अ-समाहित-चित्त ०। विमुक्त-चित्त होनेपर, विमुक्त-चित्त है—यह जानूँ; अ-विमुक्त-चित्त होनेपर, अ-विमुक्त चित्त है—यह जानूँ।—तो आयतन होनेपर वहाँ वहाँ तू साक्षी भावको प्राप्त होगा।

"(४) तब (यदि) तू वत्स ! चाहेगा—'अनेक प्रकारके पूर्व-निवासों (= पूर्व-जन्मों) को अनु-स्मरण करूँ—जैसे कि एक जन्मको भी, दो जन्मको भी ०[1] इस प्रकार आकार और उद्देश्य सहित अनेक प्रकारके पूर्व निवासोंको स्मरण करूँ।—० तू साक्षीभावको प्राप्त होगा।

"(५) ० चाहेगा—मैं अमानुष विशुद्ध दिव्य-चक्षुसे अच्छे बुरे, सुवर्ण-दुर्वर्ण ०[2] प्राणियोंको मरते उत्पन्न होते देखूँ, कर्मानुसार गतिको प्राप्त होते प्राणियोंको पहिचानूँ—यह आप प्राणधारी ०[2] स्वर्गलोकको प्राप्त हुये हैं, इस प्रकार अमानुष विशुद्ध दिव्य-चक्षुसे ० कर्मानुसार गतिको प्राप्त होते प्राणियोंको पहिचानूँ।'—०तू साक्षी भावको प्राप्त होगा।

"(६) ०[3]चाहेगा—'मैं आस्रवोंके क्षयसे आस्रवरहित चित्त-विमुक्ति, प्रज्ञा-विमुक्तिको इसी जन्ममें स्वयं जानकर, साक्षात्कार कर प्राप्त कर विहरूँ।'—०तू साक्षी (= साक्षात्कार करनेवाला) भावको प्राप्त होगा।"

तब आयुष्मान् वत्स-गोत्र भगवान्‌के भाषणको अभिनन्दित कर, अनुमोदित कर, आसनसे उठ भगवान्‌को अभिवादन कर प्रदक्षिणा कर चले गये।

तब आयुष्मान् वत्स-गोत्र एकाकी, एकान्तवासी ०[4] आत्म-संयमी हो विहरते, जल्दी ही ०[4] अनुपम ब्रह्मचर्य-फलको इसी जन्ममें ०[2] प्राप्त कर विहरने लगे, ०[4]। आयुष्मान् वत्स-गोत्र अर्हतोंमेंसे एक हुये।

उस समय बहुतसे भिक्षु भगवान्‌के दर्शनके लिये जा रहे थे। आयुष्मान् वत्स-गोत्रने दूरसे ही उन भिक्षुओंको जाते देखा। देखकर जहाँ वह भिक्षु थे, वहाँ···जाकर उन भिक्षुओंसे कहा—

"हन्त ! आप आयुष्मानो कहाँ जा रहे हो ?"

"आवुस ! हम भगवान्‌के दर्शनके लिये जा रहे हैं।"

"तो आयुष्मानो ! मेरे वचनसे भगवान्‌के चरणोंमें शिरसे वन्दना करना; (और यह कहना)—'भन्ते ! वत्स-गोत्र भिक्षु भगवान्‌के चरणोंमें शिरसे वन्दना करता है, और यह कहता है—भगवान् ! मैंने (उस अभिज्ञाको) परिचीर्ण कर लिया (= आचरण कर लिया, पा लिया), सुगत ! मैंने परिचीर्ण कर लिया।"

"अच्छा, आवुस !"—(कह) उन भिक्षुओंने आयुष्मान् वत्स-गोत्रको उत्तर दिया।

तब वह भिक्षु जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये; जाकर भगवान्‌को अभिवादन कर एक ओर···बैठ ···बोले—

---

[1] देखो पृष्ठ १५। [2] देखो पृष्ठ १५-१६। [3] देखो ऊपर। [4] देखो पृष्ठ २३३।

"भन्ते ! आयुष्मान् वत्स-गोत्र भगवान्‌के चरणोंमें शिरसे वंदना करते हैं, और यह कहते हैं—'भगवान् ! मैंने परिचीर्ण कर लिया, सुगत ! मैंने परिचीर्ण कर लिया'।"

"भिक्षुओ ! पहिले मैंने चित्तसे चित्तको देखकर वत्सगोत्र भिक्षुके विषयमें जान लिया—'वत्स-गोत्र भिक्षु त्रैविद्य (=तीन विद्याओं[३] का जाननेवाला), महर्द्धिक (=ऋद्धि-प्राप्त) =महानुभाव है'। देवताओंने भी मुझे इस अर्थको कहा—'वत्स-गोत्र भिक्षु, भन्ते ! त्रैविद्य, महर्द्धिक=महानुभाव है'।"

भगवान्‌ने यह कहा, सन्तुष्ट हो उन भिक्षुओंने भगवान्‌के भाषणको अभिनन्दित किया।

७४–दीघनख-सुत्तन्त (२।३।४)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् राजगृहमें, गृध्रकूट पर्वतपर शूकरखातामें विहार करते थे।

तब दीघनख (= दीर्घनख) परिव्राजक जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया। जाकर भगवान्के साथ सम्मोदन...कर एक ओर खड़ा हो गया। एक ओर खड़े हुये दीर्घनख परिव्राजकने भगवान्से यह कहा—

"भो गौतम! मैं इस वाद=इस दृष्टिका माननेवाला हूँ—'सभी (मत) मुझे पसन्द नहीं'।

"अग्निवेश[1]! क्या तुझे 'सभी मुझे पसन्द नहीं'—यह दृष्टिभी पसन्द नहीं है?"

"भो गौतम! यदि यह दृष्टि मुझे पसन्द हो, तो 'यह भी वैसी ही हो, यह भी वैसी ही हो'।"

"इसलिये अग्निवेश! तुझसे बहुत अधिक (पुरुष) लोकमें हैं, जो ऐसा कहते हैं—'यह भी वैसा ही है, यह भी वैसा ही है', (किन्तु) वह उस दृष्टिको नहीं छोड़ते, और दूसरी दृष्टिको ग्रहण करते हैं। और अग्निवेश! ऐसे (पुरुष) लोकमें अत्यन्त कम हैं, जो ऐसा कहते हैं—'यह भी वैसा ही है, यह भी वैसा ही है' और उस दृष्टिको छोड़ देते हैं, और दूसरी दृष्टिको भी नहीं ग्रहण करते।

"अग्निवेश! कोई कोई श्रमण-ब्राह्मण इस वाद = इस दृष्टिको माननेवाले हैं—'मुझे सभी (मत) पसन्द हैं (= खमति)'। ० कोई कोई ० इस दृष्टिके माननेवाले हैं—'मुझे सभी पसन्द नहीं'। अग्निवेश! कोई कोई श्रमण ब्राह्मण इस दृष्टिके माननेवाले हैं—'मुझे कोई कोई (मत) पसन्द हैं, कोई कोई नहीं पसन्द हैं'।"

"अग्निवेश! जो श्रमण-ब्राह्मण इस वाद = इस दृष्टिके माननेवाले हैं—'सभी मुझे पसन्द नहीं', उनकी यह दृष्टि सराग (= रागयुक्त होनेकी अवस्था)के समीप है, संयोगके समीप है, अभिनंदनके समीप है, अध्यवसान (= ग्रहण)के समीप है, उपादान (पानेकी कोशिश)के समीप है। अग्निवेश! जो ० इस दृष्टिके माननेवाले हैं—'मुझे सभी पसंद हैं'; उनकी यह दृष्टि अ-सराग = अ-संयोग, अन्-अभिनंदन, अन्-अध्यवसान, अन्-उपादानके समीप है।"

ऐसा कहनेपर दीर्घनख परिव्राजकने भगवान्से यह कहा—"आप गौतम मेरी दृष्टिका उत्कर्ष (= प्रशंसा) करते हैं, आप गौतम मेरी दृष्टिका सम्-उत्कर्ष करते हैं।"

"अग्निवेश! जो श्रमण-ब्राह्मण ० इस दृष्टिके माननेवाले हैं—'मुझे कोई कोई पसन्द हैं; कोई कोई नहीं पसन्द हैं।' उनको जो दृष्टि पसन्द नहीं है, वह सरागके समीप है ०; उनको जो दृष्टि पसन्द नहीं है, वह अ-सरागके समीप है ०।

---

[1] यह दीर्घनखका गोत्र था।

"अग्निवेश ! जो श्रमण-ब्राह्मण ० इस दृष्टिके माननेवाले हैं—'सभी मुझे पसन्द हैं'; उनके विषयमें विज्ञ पुरुष यह सोचता है—जो यह मेरी दृष्टि है—'सभी मुझे पसन्द हैं'; इस दृष्टिको यदि मैं मजबूतीसे पकड़कर आग्रहकरके कहूँ—'यही सच है, और (सब मत) झूठा है', तो दो (वादियों)के साथ मेरा विग्रह (= विवाद) होगा—(१) वह श्रमण-ब्राह्मण, जो कि ० इस दृष्टिके माननेवाले हैं—'मुझे सभी पसन्द हैं'; और (२) वह ० जो कि ० इस दृष्टिके माननेवाले हैं—'मुझे कोई कोई पसंद है, कोई कोई नहीं पसन्द है'। इन दोनोंके साथ मेरा विग्रह होगा; विग्रह होनेपर विवाद होगा, विवाद होनेपर विघात (= पीड़ा) होगा, विघात होनेपर विहिंसा (= हिंसा) होगी। इस प्रकार अपनेमें विग्रह, विवाद, विघात, और विहिंसाको देखते हुये, उस दृष्टिको छोड़ देता है। इस प्रकार इन दृष्टियोंका प्रतिनिस्सर्ग (= त्याग) होता है।

"अग्निवेश ! जो श्रमण-ब्राह्मण ० इस दृष्टिके माननेवाले हैं—'मुझे सब पसंद नहीं हैं'। इस बारेमें विज्ञ पुरुष यह सोचता है—जो यह मेरी दृष्टि है—'मुझे सब पसंद नहीं है'; इस दृष्टिको यदि मैं ० आग्रहकरके कहूँ—'यही सच है, और झूठ है', तो दोके साथ मेरा विग्रह होगा—(१) वह ० जो कि ० इस दृष्टिको माननेवाले हैं—'मुझे सब पसंद है'; और (२) ०—'मुझे कोई कोई पसंद है, कोई कोई नहीं पसंद है।' इन दोनोंके साथ मेरा विग्रह होगा ०। इस प्रकार इन दृष्टियों का परित्याग होता है।

"अग्निवेश ! जो श्रमण-ब्राह्मण ० इस दृष्टिके माननेवाले हैं—'मुझे कोई कोई पसंद है, कोई कोई नहीं पसंद है'। इस बारेमें विज्ञ पुरुष यह सोचता है—० जो यह मेरी दृष्टि है—'मुझे कोई कोई ० तो दोके साथ विग्रह होगा—(१) ०—'मुझे सब पसन्द है'; और (२) ०—'मुझे सब पसंद नहीं है'। इन दोनोंके साथ मेरा विग्रह होगा ०। इस प्रकार इन दृष्टियोंका परित्याग होता है।

"अग्निवेश ! यह काया रूपी (= रूपसे बनी)=चार महाभूतोंसे बनी, माता-पितासे उत्पन्न, दाल-भात (= ओदन-कुल्माष)से वर्द्धित, अनित्य-उत्सादन (= ० विनाश)-परिमर्दन-भेदन (= टूटना)-विध्वंसन धर्मों (= स्वभावों)वाली है, (इसे मुझे) अनित्यके तौरपर, दुःख-रोग-गंड (= फोड़ा)-शल्य (= फर, काँटा)-अघ-आबाधा (= बीमारी)-परकीय-नाशमान-शून्य-अनात्मा (= आत्मा नहीं)के तौरपर समझना चाहिये। इस कायाको अनित्यके तौरपर ० समझनेसे उसका इस कायामें छन्द (= राग), स्नेह, अन्वयता (= संबंधी भाव) नष्ट हो जाता है।

"अग्निवेश ! यह तीन वेदनायें (अनुभव) हैं ?—(१) सुखा (= सुख रूप मालूम होने वाली) वेदना; (२) दुःखा वेदना; (३) अदुःख-असुखा-वेदना। अग्निवेश ! जिस समय (आदमी) सुखा वेदनाको अनुभव (वेदन) करता है, उस समय न दुःखा वेदनाको अनुभव करता है, नहीं अदुःख-असुखा वेदना को; सुखा वेदनाको ही उस समय अनुभव करता है। अग्निवेश ! जिस समय दुःखा वेदनाको अनुभव करता है ०। अग्निवेश ! जिस समय अदुःख-असुखा वेदनाको अनुभव करता है, उस समय न सुखा वेदनाको अनुभव करता है, नहीं दुःखा वेदनाको, ०।

"अग्निवेश ! सुखा वेदना भी अनित्य, संस्कृत, (= कृत), = प्रतीत्य-समुत्पन्न (कारणसे उत्पन्न), क्षय-धर्मा (= क्षय स्वभाववाली) = व्यय-धर्मा, विराग-धर्मा, निरोध-धर्मा है। अग्निवेश ! दुःखा वेदना भी अनित्य ० निरोध-धर्मा है। अग्निवेश ! अदुःख-असुखा वेदना अनित्य ० निरोध-धर्मा है। अग्निवेश ! ऐसा समझ श्रुतवान् (= बहुश्रुत) आर्य-श्रावक सुखा वेदनासे भी निर्वेद (= उदासीनता)को प्राप्त होता है, दुःखा वेदनासे भी निर्वेदको प्राप्त होता है, अदुःख-असुखा वेदनासे भी निर्वेदको प्राप्त होता है। निर्वेदको प्राप्त हो विरक्त होता है, विरागको प्राप्त

हो विमुक्त होता है, विमुक्त होनेपर—'मैं विमुक्त हूँ' यह ज्ञान होता है; 'जन्म खतम हो गया, ब्रह्मचर्य पूरा हो गया, करना था सो कर लिया, अब यहाँ (करने)के लिये कुछ (शेष) नहीं है—यह जान लेता है। अग्निवेश ! इस प्रकार विमुक्त-चित्त (=मुक्त) भिक्षु न किसीके साथ संवाद करता है, न विवाद करता है; संसारमें जो कुछ कहा गया है, आग्रह-रहित हो उसीसे (कथन-) व्यवहार करता है।"

उस समय आयुष्मान् सारिपुत्र भगवान्‌के पीछे खड़े हो, भगवान्‌को पंखा झल रहे थे। तब आयुष्मान् सारिपुत्रको यह हुआ—'भगवान् हमें जानकर उन उन धर्मोंको छोड़नेको कहते हैं, सुगत हमें जानकर उन उन धर्मोंको त्यागनेको कहते हैं। इस प्रकार सोचते हुये आयुष्मान् सारिपुत्रका चित्त आस्रवों (= चित्त-मलों)से अलग हो मुक्त हो गया। और दीर्घनख परिव्राजकको (यह) विरज=विमल धर्म-चक्षु उत्पन्न हुआ—'जो कुछ उत्पन्न होनेवाला है, वह सब नाशमान (= निरोध-धर्मा) है'।

तब दृष्ट-धर्म (= जिसने धर्मको देख लिया) = प्राप्त-धर्म, विदित-धर्म = पर्यवगाढ़-धर्म, संशय-रहित, वाद विवाद-रहित, वैशारद्य-प्राप्त (= मर्मज्ञ) शास्ताके शासन (= बुद्धधर्म)में परम श्रद्धालु हो दीर्घनख परिव्राजकने भगवान्‌से यह कहा—"आश्चर्य ! भो गौतम ! आश्चर्य !! भो गौतम ! जैसे औंधेको सीधा कर दे, ०[1]। आप गौतम आजसे मुझे अंजलिबद्ध शरणागत उपासक स्वीकार करें।"

———

७५—मागन्दिय-सुत्तन्त (२।३।५)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् कुरु (देश)के, कम्मास-दम्म नामक कुरुओंके निगममें, भारद्वाज-गोत्र ब्राह्मणकी अग्निशालामें तृण-आसनपर विहार करते थे।

तब भगवान् पूर्वाह्णके समय पहिनकर, पात्र-चीवर ले कम्मास-दम्म (= कल्माष दम्य) में भिक्षाके लिए प्रविष्ट हुए। कम्मास दम्म में भिक्षाटन कर, भोजनसे निवृत्त हो, दिनके विहारके लिये एक वन-षण्डमें गये। उस वन-षण्डको अवगाहन कर एक वृक्षके नीचे दिनके विहारके लिये बैठे।

तब मागन्दिय परिव्राजक जंघाविहार (=टहलने)के लिये घूमता-टहलता, जहाँ भारद्वाज-गोत्र ब्राह्मणकी अग्निशाला थी, वहाँ गया। मागन्दिय परिव्राजकने भारद्वाजगोत्र ब्राह्मणकी अग्नि-शालामें तृण-आसन (= तृण संस्तरक) बिछा देखा। देखकर भारद्वाज-गोत्र ब्राह्मणसे कहा—

"आप भारद्वाजकी अग्निशालामें किसका तृण-आसन बिछा हुआ है; श्रमणका जैसा जान पड़ता है?"

"भो मागंदिय! शाक्य-पुत्र, शाक्यकुलसे प्रव्रजित (जो) श्रमण गौतम हैं। उन भग-वान्का ऐसा मंगल कीर्ति-शब्द (= यश) फैला हुआ है[1]—'वह भगवान् अर्हत्, सम्यक्-संबुद्ध, विद्या-चरण-संपन्न, सुगत, लोकविद्, पुरुषोंके-अनुपम, चाबुक-सवार, देवता और मनुष्योंके शास्ता भगवान् बुद्ध हैं। उन्हीं आप गौतमके लिये यह शय्या बिछी हुई है।"

"भो भारद्वाज! यह बुरा देखना हुआ, जो हमने आप गौतमकी भुन-भू शय्याको देखा।"

"रोको इस वचनको मागंदिय! रोको इस वचनको मागंदिय! उन आप गौतममें बहुतसे क्षत्रिय पंडित भी, ब्राह्मण पंडित भी, गृहपति-पंडित भी, श्रमण-पंडित भी अभिप्रसन्न (= श्रद्धा-वान्) हैं, आर्य न्याय कुशल-धर्ममें लाये गये हैं।"

"हे भारद्वाज! यदि मैं आप गौतमको सामने भी देखता, तो सामने भी उन्हें कहता—'श्रमण गौतमकी भुन-भू ०'। सो किस हेतु?—यही हमारे सुत्तो (= सूत्रों, सूक्तों)में आता है।"

"यदि, आप मागन्दियको बुरा न लगे, तो इस (बात)को मैं श्रमण-गौतमसे कहूँ।"

"बेखटके आप भारद्वाज (मेरे) कहेको उनसे कहें।"

भगवान्ने अमानुष विशुद्ध दिव्य-श्रोत्रसे भारद्वाज गोत्र ब्राह्मणके मागंदिय परिव्राजकके साथ होते इस कथा-संलापको सुना। तब भगवान् सायंकाल ध्यानसे उठकर, जहाँ भारद्वाज-गोत्र ब्राह्मणकी अग्निशाला थी, वहाँ गये; और बिछे तृण-आसनपर बैठ गये। तब भारद्वाज-गोत्र ब्राह्मण जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया, जाकर भगवान्के साथ···संमोदनकर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे भार-

---

[1] देखो पृष्ठ २४,२५ भी।

द्वाज-गोत्र ब्राह्मणसे भगवान्‌ने यह कहा—

"भारद्वाज ! इस तृण-आसनको लेकर तेरा मागंदिय-परिव्राजकके साथ क्या कुछ कथा-संलाप हुआ ?"

ऐसा कहनेपर भारद्वाज-गोत्र ब्राह्मण संविग्न = रोमांचित हो भगवान्‌से यह बोला—

"यही हम आप गौतमसे कहनेवाले थे, कि आप गौतमने (उसे) अनू-आख्यात (= अ-कथितव्य) कर दिया।"

यही कथा भारद्वाज-गोत्र ब्राह्मण और भगवान्‌में हो रही थी, कि मागंदिय परिव्राजक जंघा-विहारके लिये टहलता-घूमता, जहाँ भारद्वाज-गोत्र ब्राह्मणकी अग्निशाला थी, जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया। जाकर भगवान्‌के साथ...संमोदन कर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे मागंदिय परिव्राजकसे भगवान्‌ने यह कहा—

"मागन्दिय ! चक्षु रूपाराम (= अच्छा रूप देखकर आनन्दित होनेवाला) = रूपरत रूप-समुदित है; वह (= आँख) तथागतकी दान्त (= संयत) गुप्त = रक्षित = संवृत है। (तथागत) उस (= चक्षु)के संवर (= संयम)के लिये धर्मोपदेश करते हैं। मागन्दिय ! यही सोचकर तूने कहा न—'श्रमण गौतम भुन-भू है' ?"

"भो गौतम ! यही सोचकर मैंने कहा—'श्रमण गौतम भुन-भू है'। सो किस हेतु ?—ऐसा ही हमारे सूत्रोंमें आता है।"

"मागन्दिय ! श्रोत्र शब्दाराम ०। ० घ्राण गंधाराम ०। ० जिह्वा रसाराम ०। ० काया स्प्रष्टव्याराम ०। ० मन धर्माराम ०।

"तो क्या मानता है, मागन्दिय ! यहाँ कोई (पुरुष) पहिले चक्षु द्वारा विज्ञेय इष्ट, कान्त = मनाप = प्रियरूप, काम-युक्त, रंजनीय, रूपोंको भोग रहा हो। वह दूसरे समय रूपोंके समुदय (= उत्पत्ति), अस्त-गमन, आस्वाद, आदिनव (= दोष), निस्सरण (= निकलनेके उपाय)को ठीकसे जानकर, रूप विषयक तृष्णाको छोड़े; रूप-विषयक जलनको हटाकर, (रूपकी) प्याससे रहित हो; (अपने) भीतर उपशांत (= शांत)-चित्त हो विहरे। ऐसे (पुरुष)को मागन्दिय ! तेरे पास कहनेके लिये क्या है ?"

"कुछ नहीं, भो गौतम !"

"तो क्या मानता है, मागन्दिय ! ० श्रोत्र द्वारा विज्ञेय ० शब्दोंको भोग रहा हो ०। ० घ्राण द्वारा विज्ञेय ० गंधोंको भोग रहा हो ०। ० जिह्वा द्वारा विज्ञेय ० रसोंको भोग रहा हो ०। ० काया द्वारा विज्ञेय ० स्प्रष्टव्योंको भोग रहा हो ०।

"मागन्दिय ! पहिले गृहस्थ होते समय मैं चक्षु द्वारा विज्ञेय इष्ट ० रसोंको भोग रहा था। ० शब्दों ०। ० गंधों ०। ० रसों ०। ० स्प्रष्टव्यों ०। मागन्दिय ! उस समय मेरे तीन प्रासाद थे—एक वर्षाकालिक, एक हेमन्तिक, एक ग्रीष्मक। मैं वर्षाके चारों महीने वर्षाकालिक प्रासादमें, अ-पुरुषों (= स्त्रियों)के वाद्योंसे सेवित हो, प्रासादके नीचे न उतरता था। फिर दूसरे समय कामों (= विषय-भोगों)के समुदय, अस्त-गमन ० को अच्छी तरह जान काम-तृष्णाको छोड़ ० उपशांत-चित्त हो। विहरता हूँ। (जब) मैं अन्य प्राणियोंको कामोंमें अ-वीतराग, काम-तृष्णा द्वारा खाये जाते, काम-दाहसे जलते हुये कामोंको सेवन करते देखता हूँ; तो मैं उनकी स्पृहा नहीं करता, (उनमें) अभिरत नहीं होता। सो किस हेतु ?—मागन्दिय ! जो यह रति कामोंसे अलग, अकुशल-धर्मों (= पापों)से अलगमें हैं, (जो रति कि) दिव्य सुखोंको मात करती है, उस रतिमें रमते हीन (-रति)की स्पृहा नहीं करता, उसमें अभिरत नहीं होता।

"जैसे मागन्दिय ! कोई आढ्य, महाधनी; महाभोग (-संपन्न) गृहपति, या गृहपति-पुत्र पाँच काम-गुणों—चक्षु द्वारा ज्ञेय, इष्ट = कान्त, मनाप = प्रिय, कमनीय = रंजनीय रूपों, ० शब्दों, ० गंधों, ० रसों, ० स्प्रष्टव्यों—से समर्पित = समंगीभूत (= संयुक्त) हो विहार करे। वह कायासे सुचरित, (= सुकर्म) करके, वचनसे सुचरित करके, मनसे सुचरित करके काया छोड़ मरनेके बाद सुगति स्वर्गलोकमें, त्रायस्त्रिंश देवोंके बीच उत्पन्न हो। वह वहाँ नन्दनवनमें अप्सरा-समुदायसे परिवारित (= घिरा) पाँच दिव्य कामगुणोंसे समर्पित, समंगीभूत हो वहार करे। वह किसी गृहपति या गृहपति-पुत्रको पाँच काम-गुणोंसे समर्पित, समंगीभूत हो वहार करते देखे। तो क्या मानता है मागन्दिय ! क्या वह नन्दनवनमें अप्सरा समुदायसे परिवारित, पाँच दिव्य काम-गुणोंसे समर्पित ० हो वहार करता, देवपुत्र; इस गृहपति या गृहपतिपुत्रको पाँच मानुष काम-गुणोंसे समर्पित ० हो वहार करते देख; मानुष काम-गुणोंकी ओर लौटना चाहेगा ?"

"नहीं, भो गौतम !"

"सो, किस हेतु ?"

"भो गौतम ! मानुष कामों (=भोगों)से दिव्य काम अभिक्रान्ततर (= उत्तम) = प्रणीततर हैं।"

"ऐसे ही मागन्दिय ! पहिले गृहस्थ होते समय मैं ०[1] (जो रति कि) दिव्य सुखोंको मात करती है, उस रतिमें रमते हीन (–रति)की स्पृहा नहीं करता, उसमें अभिरत नहीं होता।

"जैसे मागन्दिय ! सड़ा-शरीर, पका-शरीर, कीड़ोंसे खाया जाता, नखोंसे-घावके-मुखोंको-कुरेदता कोई कोढ़ी आदमी (आग)पर शरीरको तपाता हो। उसके मित्र-अमात्य, ज्ञाति-सलोहित (= भाई-बंद) शल्यकर्ता भिषक् (= वैद्य)को लायें। वह ० भिषक् उसकी चिकित्सा करे। उस चिकित्सासे वह कुष्टसे मुक्त, निरोग स्वतंत्र, स्ववश, जहाँ-चाहे-तहाँ-जानेवाला हो जाये। (फिर) वह दूसरे सड़े-शरीर ० कोढ़ी आदमीको भौरपर शरीरको तपाता देखे, तो क्या मानता है, मागन्दिय ! क्या वह उस-कोढ़ीके भौरपर तपाने या औषध-सेवनकी स्पृहा (=इच्छा) करेगा ?"

"नहीं, भो गौतम !"

"सो, किस हेतु ?"

"भो गौतम ! रोग होनेपर ही भैषज्य (= चिकित्सा)का काम होता है, रोग न रहनेपर भैषज्यका काम नहीं होता।"

"ऐसे ही मागन्दिय ! पहिले गृहस्थ होते समय मैं ०[1] ० उसमें अभिरत नहीं होता।"

"जैसे मागन्दिय ! सड़ा-शरीर ० कोढ़ी ० चिकित्सासे कुष्टसे मुक्त ० हो जाये। (तब) दो बलवान् पुरुष···बाहोंसे पकड़कर उसे भौर (की आग)पर डालें। तो क्या मानता है, मागन्दिय ! क्या वह पुरुष इधर उधर शरीरको नहीं हटावेगा ?"

"जरूर, भो गौतम !"

"सो किस हेतु ?"

"भो गौतम ! आग दुःख-स्पर्श (= दुःखके साथ छूने लायक), महा-ताप, महा-दाहवाली है।"

---

[1] देखो पृष्ठ २९३।

"तो क्या मानता है, मागन्दिय ! इसी समय वह आग दुःख-स्पर्श-महाताप-महादाहवाली है, या पहिले भी......?"

"भो गौतम ! इस समय भी वह आग दुःख-स्पर्श ० है, और पहिले भी...थी। (किन्तु पहिले) यह सड़ा-शरीर ० उपहत-इन्द्रिय (= अक्लके मारे) कोढ़ी आदमी दुःख-स्पर्श अग्निमें भी 'सुख है'—ऐसी विपरीत धारणा रखता था।"

"ऐसे ही मागन्दिय ! काम (= विषयभोग) अतीतकालमें भी दुःख-स्पर्श—महाताप-महादाहवाले हैं; काम भविष्य-कालमें भी ०, इस समय वर्तमानमें भी दुःख-स्पर्श-महाताप-महादाह-वाले हैं। मागन्दिय ! यह कामोंमें अ-वीतराग, काम-तृष्णासे-खाये जाते, कामदाहसे-जलते उपहत-इन्द्रिय (= हियेकी फूटीवाले) प्राणी दुःख-स्पर्शवाले कामोंमें 'सुख है'—ऐसी विपरीत धारणा (= संज्ञा) रखते हैं।

"जैसे, मागन्दिय ! सड़ा-शरीर ० कोढ़ी भौरपर शरीरको तपाता हो। मागन्दिय ! जितना ही जितना वह ० कोढ़ी भौरपर शरीरको तपावे, उतना ही उतना उसके घावके मुँहमें अधिक मल, अधिक दुर्गन्ध, अधिक पीब आवे। घावके मुँहके खुजलानेसे क्षणभरके लिये रस, आस्वाद मालूम होवे। इसी प्रकार मागन्दिय ! यह कामोंमें अ-वीतराग कामतृष्णासे-खाये-जाते, काम-दाहसे-जलते प्राणी कामोंका सेवन करते हैं। मागन्दिय ! जितना ही जितना कामोंमें अ-वीतराग ० प्राणी कामोंका सेवन करते हैं, उतना ही उतना उन प्राणियोंकी काम-तृष्णा बढ़ती है, काम-दाहसे (वह) जलते हैं; कामगुणों (के सेवन)से क्षणभरके लिये रस, आस्वाद मात्र मालूम होता है।

"तो क्या मानता है, मागन्दिय ! क्या तूने देखा या सुना है, कि काम-गुणों (= विषय-भोगों)से समर्पित, समंगीभूत हो वहार करते, कोई राजा या राज-महामात्य, काम-तृष्णा बिना छोड़े, काम-दाह बिना त्यागे, पिपासा-रहित बन अपने अन्दर उपशांत-चित्त हो विहरता था, विहर रहा है, या विहरेगा ?"

"नहीं, भो गौतम !"

"साधु, मागन्दिय ! मैंने भी यह नहीं देखा, नहीं सुना, कि ० कोई राजा या राजमहामात्य ० विहरेगा। बल्कि मागन्दिय ! जो श्रमण या ब्राह्मण पिपासा-रहित बन, अपने अन्दर उपशांत-चित्त हो विहरे, विहरते हैं, या विहरेंगे, वह सभी कामोंके समुदय, अस्तगमन ०[1]को ठीकसे जानकर, काम-तृष्णाको छोड़, काम-विषयक जलनको हटा, (कामकी) प्याससे रहित हो, अपने अन्दर उपशांत-चित्त हो विहरे थे, विहरते हैं, या विहरेंगे।

तब भगवान्‌ने उसी समय इस उदानको कहा—

"आरोग्य (= निरोग रहना) परम लाभ है, निर्वाण परम सुख है। अमृतकी ओर लेजानेवाले मार्गोंमें अष्टांगिक मार्ग (बहुत)क्षेम (= मंगल)मय है।"

ऐसा कहनेपर मागन्दिय परिव्राजकने भगवान्‌से यह कहा—

"आश्चर्य ! भो गौतम ! अद्भुत !! भो गौतम ! कैसा सु-भाषित (= ठीक कहा) आप गौतमने कहा—'आरोग्य परम लाभ है, निर्वाण परम सुख है।' मैंने भी भो गौतम ! (अपने) पूर्वके परिव्राजक आचार्य-प्राचार्योंको कहते सुना है—'आरोग्य परम लाभ है, निर्वाण परम सुख है'। भो गौतम ! यह उससे मिल जाता है।"

---

[1] देखो पृष्ठ २९२।

"मागन्दिय ! जो तूने पूर्वके परिव्राजक आचार्य-प्राचार्योंको कहते सुना है—'आरोग्य ०'; उसमें क्या है आरोग्य, और क्या है निर्वाण ?"

ऐसा कहनेपर मागन्दिय परिव्राजक अपने शरीरको छूते हुये (बोला)—

"भो गौतम ! यह आरोग्य है, यह निर्वाण है, भो गौतम ! मैं इस समय अ-रोग, सुखी हूँ, मुझे कोई व्याधि नहीं है।"

"जैसे, मागन्दिय ! जन्मान्ध पुरुष न देखे काले ०, ० सफेद रूपको, न देखे नीले रूपको, न देखे पीले रूपको, न देखे लाल रूपको, न देखे मजीठी रंग रूपको, न देखे सम-विषम (भूमि) को, न देखे तारोंके रूपको, न देखे चन्द्र-सूर्यको। वह आँखवालोंको कहते सुने—'श्वेत वस्त्र बढ़िया होता है, सुंदर-निर्मल-शुचि (होता है)'। वह श्वेतकी खोजमें चले। उसे कोई पुरुष तेलकी स्याही लगे काले (ऊनी) कपड़ेसे वंचित करे—'हे पुरुष ! यह बढ़िया, सुन्दर, निर्मल, शुचि श्वेतवस्त्र है'। वह उसे परिग्रहण करे, प्रतिग्रहण करे, पहिने। पहिनकर सन्तुष्ट हो फूलकर वचन निकाले—'अहो ! श्वेतवस्त्र बढ़िया होता है, सुन्दर-निर्मल-शुचि (होता है)'। तो क्या मानता है, मागंदिय ! क्या वह जन्मान्ध पुरुष जान-समझकर उस तेलकी स्याही लगे काले कपड़े-को परिग्रहण करता, प्रतिग्रहण करता, ०। पहिनकर ० वचन निकालता—'अहो! श्वेत वस्त्र ०'; या आँखवालेपर श्रद्धा करता ?"

"भो गौतम ! वह जन्मान्ध पुरुष न जान-समझकर ही उस तेलकी स्याही लगे ० प्रति-ग्रहण करता है ०। ० आँखवालेपर श्रद्धा करता है।"

"ऐसेही, मागन्दिय ! अन्धे नेत्रहीन अन्य-तीर्थिक (= दूसरे मतवाले) परिव्राजक आरोग्यको न जानते, निर्वाणको न देखते भी इस गाथाको कहते हैं—'आरोग्य परम लाभ है, निर्वाण परम सुख है।' मागन्दिय ! पूर्वके अर्हत् सम्यक् संबुद्धोंने इस गाथाको कहा है—'आरो-ग्य परम लाभ है, ० अष्टांगिक-मार्ग क्षेम है'। सो अब धीरे धीरे अनाड़ियों (= पृथग्जनों)में चली गई। मागन्दिय ! यह काया रोगमय, गंड (= फोड़ा)-मय, शल्य, (= काँटा)-मय अघ-मय, व्याधि-मय है। सो तू इस रोगमय ० व्याधिमय कायाको कह रहा है—'भो गौतम ! यह आरोग्य है, यह निर्वाण है। मागन्दिय ! तुझे आर्य-चक्षु नहीं है, जिससे कि तू आरोग्यको जाने, निर्वाणको देखे।"

"मैं आप गौतममें इतनी श्रद्धा रखता हूँ; आप गौतमको अधिकार है, कि मुझे उस प्रकार धर्म-उपदेश करें, जिससे कि मैं आरोग्यको जान सकूँ, निर्वाणको देख सकूँ।"

"जैसे मागन्दिय ! जो जन्मान्ध पुरुष ०[1] न देखे चन्द्र-सूर्यको। (तब) उसके मित्र-अमात्य, ज्ञाति-सलोहित शल्य-कर्ता भिषक्को लावें। वह शल्यकर्ता भिषक् उसकी चिकित्सा करे वह उस चिकित्सासे न आँखोंको उत्पन्न करे, न आँखोंको साफ करे। तो क्या मानता है, मागन्दिय ! क्या वह वैद्य सिर्फ हैरानी, परेशानीका ही भागी है न ?"

"हाँ, भो गौतम !"

"ऐसे ही मागन्दिय ! मैं तो तुझे धर्म-उपदेश करूँ—यह आरोग्य है, यह निर्वाण है; और तू उस आरोग्यको न जाने, उस निर्वाणको न देखे; तो यह मेरी (व्यर्थकी) परेशानी होगी, विहिंसा (= पीड़ा) होगी।"

---

[1] देखो पृष्ठ १९६।

"मैं आप गौतममें इतनी श्रद्धा रखता (= प्रसन्न) हूँ; आप गौतमको अधिकार है, ० निर्वाणको देख सकूँ ।"

"जैसे, मागन्दिय ! जन्मान्ध पुरुष ०[1] को, न देखे चन्द्र-सूर्यको। वह आँखवालोंको कहते सुने ०[1] वह उसे परिग्रहण = प्रतिग्रहण करे, पहिने। (तब) उसके मित्र-अमात्य, ज्ञाति-सलोहित शल्यकर्ता भिषक्को लावें। वह ० चिकित्सा—ऊर्ध्व विरेचन (= उल्टी आनेकी दवा), अधोविरेचन (=जुलाब), अंजन, प्रत्यंजन, नत्थुकम्म (=नाकसे औषध-प्रदान) करे। वह उस भैषज्यसे आँखोंको उत्पन्न करे, आँखोंको साफ करे। आँख उत्पन्न होनेके साथ ही, उस तेल-मसीसे लिपटे काले कपड़े (= साहुल-चीवर = काली भेड़के बालके कपड़ों)में उसका छन्द = राग नष्ट हो जाये। और वह उस (वंचक) पुरुषको अमित्र मानने लगे, प्रत्यर्थि (= शत्रु) मानने लगे, बल्कि प्राणसे भी मारना चाहे—'अरे, चिरकालसे यह पुरुष तेल-मसीकृत साहुल-चीवरसे मुझे वंचित = निकृत = प्रलब्ध करता रहा—'हे पुरुष! यह बढ़िया, सुन्दर, निर्मल, शुचि, श्वेत वस्त्र हैं।' ऐसे ही मागन्दिय ! मैं तुझे धर्मोपदेश करूँ—यह आरोग्य है, यह निर्वाण हैं, और तू आरोग्यको जाने, निर्वाणको देखे; तो आँख उत्पन्न होनेके साथ ही, जो पाँच उपादान-स्कंधों में तेरा छन्द = राग है, वह नष्ट हो जाये। तुझे यह भी होवे—अरे, चिरकालसे यह चित्त मुझे वंचित = विकृत = प्रलब्ध करता रहा। मैं रूपको ही (अपना करके) ग्रहण (= उपादान) करता रहा, वेदना ०, संज्ञा ०, संस्कार ०, विज्ञानको ही (अपना करके) ग्रहण करता रहा। मेरा उस उपादानके कारण भव, (= संसार), भवके कारण जाति (= जन्म) जातिके कारण जरा-मरण शोक-रोदन क्रंदन, दुःख = दौर्मनस्य परेशानी उत्पन्न होती रहीं। इस प्रकार इस केवल दुःख-स्कंध (= दुःख-पुंज)की उत्पत्ति (= समुदय) होती है।"

"मैं आप गौतममें इतनी श्रद्धा रखता हूँ, आप गौतमको अधिकार है, कि मुझे इस प्रकार धर्मोपदेश करें, जिसमें कि मैं इस आसनसे अन्-अन्ध होकर उठूँ।"

"तो मागन्दिय ! तू सत्पुरुषोंका सेवन कर। जब तू सत्पुरुषोंको सेवन करेगा, तो सद्धर्मको सुनेगा। जब तू मागन्दिय ! सद्धर्मको सुनेगा, तो सद्धर्मके अनुसार आचरण करेगा। जब तू मागन्दिय ! सद्धर्मके अनुसार आचरण करेगा, तो स्वयंही जानेगा, स्वयंही देखेगा—'यह रोग, गंड, शल्य हैं; यहाँ सारे रोग, गंड (= फोड़ा), शल्य (= काँटा) निरुद्ध (= नष्ट) होते हैं'। तब तेरे उपादानके निरोधसे भव-निरोध, भव-निरोधसे जाति-निरोध, जाति-निरोधसे जरा-मरण शोक-परिदेव दुःख-दौर्मनस्य-उपायासोंका निरोध होता है। इस प्रकार इस केवल दुःख-स्कंधका निरोध होता है।"

ऐसा कहनेपर मागंदिय परिव्राजकने भगवान्से यह कहा—

"आश्चर्य ! भो गौतम ! आश्चर्य !! भो गौतम ! जैसे औंधेको सीधा कर दे ०[2] यह मैं भगवान् गौतमकी शरण जाता हूँ, धर्म और भिक्षु-संघकी भी। भन्ते ! मैं भगवान्के पास प्रव्रज्या पाऊँ, उपसंपदा पाऊँ।"

"मागन्दिय ! जो कोई भूतपूर्व अन्य-तीर्थिक इस धर्ममें प्रव्रज्या उपसंपदा चाहता है; वह चार मास तक परिवास करता है[3]।"

---

[1] देखो पृष्ठ १९६। [2] देखो पृष्ठ १६। [3] देखो पृष्ठ २३३।

"यदि भन्ते ! ०[1] चार मास परिवास करते हैं ०[1] तो मैं चार वर्ष परिवास करूँगा ।"

मागन्दिय परिव्राजकने भगवान्‌के पास प्रव्रज्या उपसंपदा पाई ।

उपसम्पन्न होनेके बाद जल्दी ही आयुष्मान् मागन्दिय, एकाकी एकान्तवासी ०[1] आत्म-संयमी हो विहरते, जल्दी ही ० अनुपम ब्रह्मचर्य फलको इसी जन्ममें ०[2] प्राप्त कर विहरने लगे, ०[1] आयुष्मान् मागन्दिय अर्हतोंमेंसे एक हुये ।

७६—सन्दक-सुत्तन्त (२।३।६)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् कौशाम्बीके घोषितारामसें विहार करते थे। उस समय पाँचसौ परिव्राजकोंकी महापरिव्राजक-परिषद्के साथ, सन्दक परिव्राजक प्लक्षगुहामें[1] वास करता था।

आयुष्मान् आनन्दने सायंकाल ध्यानसे उठ, भिक्षुओंको संबोधित किया—

"आवुसो! आओ जहाँ देवकट-सोब्भ[2] (= देवकृत-श्वभ्र = स्वाभाविक अगम-कूप) है, वहाँ देखनेके लिये चलें।"

"अच्छा आवुस!" (कह) उन भिक्षुओंने आयुष्मान् आनन्दको उत्तर दिया। तब आयुष्मान् आनन्द बहुतसे भिक्षुओंके साथ, जहाँ देवकट-सोब्भ था, वहाँ गये। उस समय सन्दक परिव्राजक राजकथा राज-कथा, चोर-कथा, माहात्म्य-कथा, सेना-कथा, भय-कथा, युद्ध-कथा, अन्न-कथा, पान-कथा, वस्त्र-कथा, शयन-कथा, गंध-कथा, माला-कथा, ज्ञाति (=कुल)-कथा, यान (= युद्ध-यात्रा)-कथा, ग्राम-कथा, निगम-कथा, नगर-कथा, जनपद-कथा, स्त्री-कथा, शूर-कथा, त्रिशिखा (= चौरस्ता)-कथा, कुम्भ-स्थान (= पनघट)-कथा, पूर्वप्रेत (=पहिले मरोंकी)-कथा, नानात्व-कथा, लोक-आख्यायिका, समुद्र-आख्यायिका, इतिभवाभव (= ऐसा हुआ, ऐसा नहीं हुआ)-कथा आदि निरर्थक कथा कहती, नाद करती, शोर मचाती, बड़ी भारी परिव्राजक-परिषद्के साथ, बैठा था। सन्दक परिव्राजकने दूरहीसे आयुष्मान् आनन्दको आते देखा। देखकर अपनी परिषद्से कहा—'आप सब चुप हों। मत'''शब्द करें। यह श्रमण गौतमका श्रावक श्रमण आनंद आरहा है। श्रमण गौतमके जितने श्रावक कौशाम्बीमें वास करते हैं, उनमें एक, यह श्रमण आनन्द है। यह आयुष्मान् लोग निःशब्द-प्रेमी, अल्प-शब्द-प्रशंसक होते हैं। परिषद्को अल्पशब्द देख, संभव है (इधर) भी आयें।" तब वह परिव्राजक चुप होगये।

तब आयुष्मान् आनंद जहाँ संदक परिव्राजक था, वहाँ गये। संदक परिव्राजकने आयुष्मान् आनन्दसे कहा—

"आइये आप आनन्द! स्वागत है आप आनन्दका। चिरकालबाद आप आनन्द यहाँ आये। बैठिये आप आनन्द, यह आसन बिछा है।"

आयुष्मान् आनन्द बिछे आसनपर बैठ गये। संदक परिव्राजक भी एक नीचा आसन ले, एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे, संदक परिव्राजकसे आयुष्मान् आनन्दने कहा—

"संदक! किस कथामें बैठे थे, बीचमें क्या कथा होरही थी?"

"जाने दीजिये इस कथाको, भो आनन्द! जिस कथामें कि हम इस समय बैठे थे। ऐसी

---

[1] कोसम्के पास पभोसा (जि० इलाहाबाद)। [2] पभोसामें कोई प्राकृतिक जल-कुंड था।

कथा आप आनन्दको पीछे भी सुननेको दुर्लभ न होगी। अच्छा हो, आप आनन्द ही अपने आचार्यक (= धर्म)-विषयक धार्मिक-कथा कहें।"

"तो सन्दक ! सुनो, अच्छी तरह मनमें करो, कहता हूँ।"

"अच्छा भो !" (कह) सन्दक परिव्राजकने आयुष्मान् आनन्दको उत्तर दिया। आयुष्मान् आनन्दने कहा—

"सन्दक ! उन जानकार, देखनहार, सम्यक्-संबुद्ध भगवान्ने चार अ-ब्रह्मचर्य-वास कहे हैं, और चार आश्वासन न देनेवाले ब्रह्मचर्य-वास (= संन्यास) कहे हैं; जिनमें विज्ञ-पुरुष अपनी शक्तिभर ब्रह्मचर्य-वास न करे। वास करनेपर न्याय (= निर्वाण), कुशल (= अच्छे)-धर्मको न पा सकेगा।

"हे आनन्द ! उन० भगवान्ने कौनसे चार अ-ब्रह्मचर्य वास० कहे हैं० ?"

(१) "सन्दक ! यहाँ एक शास्ता (= गुरु, पंथ चलाने वाला) ऐसा वाद (= दृष्टि) रखनेवाला होता है[1]—'नहीं है दान (का फल), नहीं है यज्ञ (का फल), नहीं है हवन (का फल) नहीं है सुकृत-दुष्कृत कर्मोंका फल = विपाक; यह लोक नहीं हैं, पर-लोक नहीं है, माता नहीं, पिता नहीं। औपपातिक (= अयोनिज, देव आदि) प्राणी नहीं हैं। लोकमें (ऐसे) सत्यको प्राप्त (= सम्यग्-गत) सत्यारूढ़ श्रमण ब्राह्मण नहीं हैं, जोकि इस लोक परलोकको स्वयं जान कर, साक्षात् कर, (दूसरोंको) जतलावेंगे। यह पुरुष चातुर्महाभूतिक (= चार भूतोंका बना) है। जब मरता है, पृथिवी पृथिवी-काय (= पृथिवी)में मिल जाती है, चली जाती है। आप (= पानी) आप-कायमें मिल जाता० है। तेज (= अग्नि) तेज-कायमें मिल जाता० है। वायु वायु-कायमें मिल जाता० है। इन्द्रियाँ आकाशमें (चली) जाती हैं। पुरुष मृत (शरीर) को खाटपर ले जाते हैं। जलाने तक पद (= चिह्न) जान पड़ते हैं। (फिर) हड्डियाँ कबूतरके (पंखें) सी (सफेद) हो जाती हैं। (पूर्वकृत) आहुतियाँ राख (हो) रह जाती हैं। यह दान मूर्खोंका प्रज्ञापन (= उपदेश) है। जो कोई आस्तिक-वाद कहते हैं, वह उनका तुच्छ = झूठ है। मूर्ख या पंडित (सभी) शरीर छोड़ने पर उच्छिन्न हो जाते हैं, विनष्ट हो जाते हैं, मरनेके बाद (कोई) नहीं रहता। इस विषयमें विज्ञपुरुष ऐसे विचारता है—'यह आप शास्ता इस वाद (= दृष्टि) वाले हैं—नहीं है दान०'। यदि इन आप शास्ताका वचन सत्य है, तो (पुण्य) विना किये भी, मैंने कर लिया, (ब्रह्मचर्य) विना वास किये भी, वास कर लिया। इस प्रकार नास्तिक गुरु और मैं—हम दोनोंही यहाँ बराबर श्रामण्य (= संन्यास)को प्राप्त हैं। मैं नहीं कहता—(हम) दोनों काया छोड़ उच्छिन्न = विनष्ट होंगे, मरनेके बाद नहीं रह जायेंगे। (फिर) यह आप शास्ता की (यह) नग्नता, मुंडता, उकड़ूँ-तप (= उक्कुटिकप्पधान) केश-श्मश्रु-नोचना फ़जूल है।' और जो मैं पुत्राकीर्णहो, घर(= शयन)में वास करते, काशीके चंदनका मजा लेते, माला सुगंध-लेप धारण करते, सोना-चाँदीका रस लेते, मरने पर इन आप शास्ताके समान गति पाऊँगा। सो मैं क्या समझ कर, क्या देख कर, इन (नास्तिक-वादी) शास्ताके पास ब्रह्मचर्य पालन करूँ। (इस प्रकार) 'यह अ-ब्रह्मचर्य-वास है' समझ, वह, उस ब्रह्मचर्य (= साधुपन)से उदास हो, हट जाता है। यह सन्दक ! उन० भगवान्ने प्रथम अ-ब्रह्म-चर्य-वास कहा है, जिसमें विज्ञ-पुरुष ०।

(२) "और फिर सन्दक ! यहाँ एक शास्ता ऐसे वाद (= मत) वाला होता है—[2]'करते-

---

[1] देखो (अजितकेशकम्बली)। [2] देखो (पूर्ण काश्यप)।

करवाते, काटते-कटवाते, पकाते-पकवाते, शोक कराते, परेशान कराते, मथते-मथाते, प्राण मारते, चोरी करते, सेंध लगाते, गाँव लूटते, घर लूटते, रहजनी करते, पर-स्त्री-गमन-करते, झूठ बोलते भी पाप नहीं किया जाता। छुरेसे तेज चक्र-द्वारा जो इस पृथिवीके प्राणियोंका (कोई) एक माँसका खलियान, एक माँसका पुंज बनादे, तो इसके कारण उसे पाप नहीं होगा; पापका आगमन नहीं होगा। यदि घात करते-कराते, काटते-कटाते, पकाते-पकवाते, गंगाके दाहिने तीर पर भी जाये; तो भी इसके कारण उसको पाप नहीं, पापका आगम नहीं होगा। दान देते दान दिलाते, यज्ञ करते यज्ञ कराते, गंगाके उत्तर तीर भी जाये, तो इसके कारण उसको पुण्य नहीं, पुण्यका आगम नहीं होता'। दान, (इन्द्रिय-) दम, संयम, सत्यवचन (= सच-वचन)से पुण्य नहीं, पुण्यका आगम नहीं होता। सन्दक! विज्ञ-पुरुष ऐसा विचारता है—यह आप शास्ता इस वाद = दृष्टि-वाले हैं—करते-करवाते ०। यदि इन आप शास्ताका वचन सच है ०। तो हम दोनों ही बराबर श्रामण्य(= संन्यास)को प्राप्त हैं,…'दोनोंहीके करते पाप नहीं किया जाता'। यह आप शास्ताकी नग्नता ०। ०। यह सन्दक! उन ० भगवान्‌ने द्वितीय अ-ब्रह्मचर्य-वास कहा है ०।

(३) "और फिर सन्दक! यहाँ एक शास्ता ऐसे वाद (=दृष्टि)वाला होता है—[1]'सत्वोंके संक्लेशका कोई हेतु = कोई प्रत्यय नहीं। बिना हेतु बिना प्रत्ययके प्राणी संक्लेश (= चित्त-मालिन्य)को प्राप्त होते हैं। प्राणियोंकी (चित्त-)विशुद्धिका कोई हेतु = प्रत्यय नहीं है। बिना हेतु = प्रत्ययके प्राणी विशुद्ध होते हैं। बल नहीं, (चाहिये), वीर्य नहीं पुरुषका स्थाम (= दृढ़ता) नहीं = पुरुष-पराक्रम नहीं (चाहिये), सभी सत्त्व = सभी प्राणी = सभी भूत = सभी जीव अ-वश = अ-बल = अ-वीर्य नियत(= भवितव्यता)के वशमें हो, छओं अभिजातियोंमें सुख दुःख अनुभव करते हैं। ० यदि० इन आप शास्ताका वचन सत्य है ०। तो हम दोनों ही हेतु = प्रत्यय बिना ही शुद्ध हो जायेंगे। ०। यह सन्दक! भगवान्‌ने तृतीय अ-ब्रह्मचर्यवास कहा है ०।

(४) "और फिर सन्दक! यहाँ एक शास्ता ऐसी दृष्टि-वाला होता है—[2]'यह सात अकृत = अकृतविध = अ-निर्मित = निर्माता-रहित, अवध्य = कूटस्थ, स्तम्भवत् (अचल) हैं; यह चल नहीं होते, विकारको प्राप्त नहीं होते, न एक दूसरेको हानि पहुँचाते हैं; न एक दूसरेके सुख, दुःख, या सुख-दुःखके लिये पर्याप्त हैं। कौनसे सात ?—पृथिवी-काय, आप-काय, तेज-काय, वायु-काय, सुख, दुःख और जीव—यह सात। यह सात काय अकृत ० सुख-दुःखके योग्य नहीं हैं। यहाँ न हन्ता (= मारनेवाला) है, न घातयिता (= हनन करानेवाला), न सुननेवाला, न सुनानेवाला, न जाननेवाला न जतलानेवाला। जो तीक्ष्ण-शस्त्रसे शीश भी छेदते हैं, (तो भी) कोई किसीको प्राणसे नहीं मारता। सातों कायोंसे अलग, विवर (= खाली जगह)में शस्त्र (= हथियार) गिरता है। यह प्रधान-योनि—चौदह सौ-हजार (दूसरी) साठ-सौ, छियासठ-सौ, और पाँच सौ कर्म, और पाँच कर्म और तीन कर्म, (एक) कर्म, और आधा कर्म, बासठ प्रतिपद्, बासठ अन्तर्-कल्प, छः अभिजाति, आठ पुरुषकी भूमियाँ, उंचास सौ आजीवक, उंचास सौ परिव्राजक, उंचास नागोंके आवास, बीससौ इन्द्रिय, तीससौ नरक, छत्तिस रजो-धातु, सात संज्ञावान् गर्भ, सात असंज्ञी गर्भ, सात निर्ग्रंथी गर्भ, सात देव, सात मनुष्य, सात पिशाच, सात सरोवर, सात गाँठ (= पमुट), सात प्रपात, सातसौ प्रपात, सात स्वप्न, सातसौ स्वप्न—(इनमें) चौरासी हजार महा-

---

[1] देखो (मक्खलिगोसाल)। [2] देखो (प्रकुध कात्यायन)।

कल्पों तक दौड़कर = आवागमनमें पड़कर, मूर्ख और पंडित (सभी) दुःखका अंत (= निर्वाण-प्राप्ति) करेंगे। वहाँ (यह) नहीं है—इस शील या व्रत, या तप, ब्रह्मचर्यसे मैं अपरिपक्व कर्मको पचाऊँगा, परिपक्व कर्मको भोगकर अन्त करूंगा। सुख, दुःख, द्रोण (-नाप)से नपे तुले हुए हैं, संसारमें घटाना बढ़ाना, उत्कर्ष-अपकर्ष नहीं होता। जैसे कि सूतकी गोली फेंकनेपर उघरती हुई गिरती है, ऐसे ही मूर्ख (= बाल) और पण्डित दौड़ कर = आवागमनमें पड़ कर, दुःखका अंत करेंगे।' वहाँ सन्दक! विज्ञ-पुरुष ऐसे विचारता है—यह आप शास्ता ऐसे वाद = दृष्टिवाले हैं ०। जैसे कि सूतकी गोली ०। यदि इन आप शास्ताका वचन सत्य है, तो विना किये भी मैंने कर लिया। ० यह आप शास्ताकी नग्नता ०। यह सन्दक! उन ० भगवान्ने चतुर्थ अ-ब्रह्मचर्य-वास कहा है ०।

"सन्दक! उन ० भगवान्ने यह चार अ-ब्रह्मचर्य-वास कहे हैं ०।"

"आश्चर्य! भो आनन्द!! अद्भुत! भो आनन्द!! जो उन ० भगवान्ने यह चार अ-ब्रह्म-चर्य-वास कहे हैं ०। किन्तु, भो आनन्द! उन ० भगवान्ने कौनसे चार अनाश्वासिक ब्रह्मचर्य कहे हैं ०?"

(१) "सन्दक! यहाँ एक शास्ता सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अशेष-ज्ञान-दर्शनवाला होनेका दावा करता है[1]—'चलते, खड़े होते, सोते, जागते, सदा सर्वदा मुझे ज्ञान-दर्शन मौजूद (= प्रत्युपस्थित रहता है।' (तो भी) वह सूने घर में जाता है, (वहाँ) भिक्षा भी नहीं पाता, कुक्कुर भी काट खाता है, चंड-हाथीसे भी सामना पड़ जाता है, चंड घोड़ेसे भी सामना पड़ जाता है, चंड-बैलसे भी ०। (सर्वज्ञ होनेपर भी) स्त्री-पुरुषोंके नाम-गोत्रको पूछता है। ग्राम-निगमका नाम और रास्ता पूछता है। '(आप सर्वज्ञ होकर) यह क्या (पूछते हैं)'—पूछनेपर कहता है—'सूने घरमें हमारा जाना बदा था, इसलिये गये। भिक्षा न मिलनी बदी थी, इसलिये न मिली। कुक्कुरका काटना बदा था ०। ० हाथीसे मिलना बदा था ०। ० वहाँ सन्दक! विज्ञ-पुरुष यह सोचता है—यह आप शास्ता ० दावा करते हैं ० (तब) वह—'यह ब्रह्मचर्य (= पंथ) अनाश्वासिक (= मनको संतोष न देनेवाला) है'—यह जान, उस ब्रह्मचर्यसे उदास हो हट जाता है। यह सन्दक! उस ० भगवान्ने प्रथम अनाश्वासिक ब्रह्मचर्य कहा है ०।

(२) "और फिर सन्दक! यहाँ एक शास्ता आनुश्रविक = अनुश्रव (श्रुति)को सत्य माननेवाला होता है। '(श्रुतिमें) ऐसा', ('स्मृतिमें) ऐसा', परम्परासे, पिटकसंप्रदाय (= ग्रंथ-प्रमाण)से, धर्मका उपदेश करता है। सन्दक! आनुश्रविक = अनुश्रवको सच मानने-वाले शास्ताका अनुश्रव सुश्रुत (= ठीक सुना) भी हो सकता है, दुःश्रुत भी; वैसा (= यथार्थ) भी हो सकता है, उलटा भी हो सकता है। यहाँ सन्दक! विज्ञ-पुरुष यह सोचता है—यह आप शास्ता आनुश्रविक हैं ०। वह-'यह ब्रह्मचर्य अनाश्वासिक है' ०। ० द्वितीय अनाश्वासिक ब्रह्मचर्य कहा है ०।

(३) "और फिर सन्दक! यहाँ एक शास्ता तार्किक = विमर्शी होता है। वह तर्कसे = विमर्शसे प्राप्त, अपनी प्रतिभासे ज्ञात, धर्मका उपदेश करता है। सन्दक! तार्किक = विमर्शक (= मीमांसक) शास्ताका (विचार) सुतर्कित भी हो सकता है, दुः-तर्कित भी। वैसे (= यथार्थ)भी हो सकता है, उलटा भी हो सकता है ०।०।०। ० तृतीय अनाश्वासिक ब्रह्मचर्य कहा है ०।

---

[1] निगंठ नात-पुत्त।

(४) "और फिर सन्दक ! यहाँ एक शास्ता[1] मन्द = अति-मूढ़ (= मोमुह) होता है। वह मन्द होनेसे, अति-मूढ़ होनेसे वैसे वैसे प्रश्न पूछनेपर, वचनसे विक्षेपको = अमरा-विक्षेपको प्राप्त होता है—'ऐसा भी मेरा (मत) नहीं, वैसा (= तथा) भी मेरा नहीं, अन्यथा भी मेरा (मत) नहीं, नहीं भी मेरा (मत) नहीं, न—नहीं भी मेरा (मत) नहीं।' यहाँ सन्दक ! विज्ञ-पुरुष यह सोचता है ०। ०। ०। ० चतुर्थ अनाश्वासिक ब्रह्मचर्य कहा है ०।

"सन्दक ! उन ० भगवान्‌ने यह चार अनाश्वासिक ब्रह्मचर्य कहे हैं ०।"

"आश्चर्य ! भो आनन्द !! अद्भुत ! भो आनन्द !! जो यह उन ० भगवान्‌ने चार अनाश्वासिक ब्रह्मचर्य कहे हैं ०। किन्तु भो आनन्द ! वह शास्ता किस वाद = किस दृष्टिवाला होना चाहिये, जहाँ विज्ञ-पुरुष स्व-शक्तिभर ब्रह्मचर्य-वास करें, वास कर न्याय = कुशल-धर्मकी आराधना करें ० ?"

"सन्दक ! यहाँ तथागत लोकमें उत्पन्न होते[2] हैं ०। उस धर्मको गृहपति या गृहपति-पुत्र सुनता है ०। वह संशयको छोड़ संशय-रहित होता है। वह इन पाँच नीवरणोंको हटा चित्तके दुर्बल करनेवाले उपक्लेशों (= चित्तमलों)को जान, कामोंसे अलग हो, अकुशल-धर्मोंसे अलग हो, [3]प्रथम-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। सन्दक ! जिस शास्ताके पास श्रावक इस प्रकारके बड़े (= उदार) विशेषको पावे, वहाँ विज्ञ-पुरुष स्वशक्तिभर ब्रह्मचर्य-वास करे ०।

"और फिर सन्दक ! ० द्वितीय-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है ०। ०। ० तृतीय-ध्यान ०। ०। ० चतुर्थ-ध्यान ०। ०। ० [3] पूर्वजन्मोंको स्मरण करता है ०। ०। ० कर्मानुसार जन्मते सत्वोंको जानता है ०। ०। ० 'अब यहाँ दूसरा कुछ करना नहीं रहा'—जानता है ०। ०।"

"भो आनन्द ! वह जो भिक्षु ० अर्हत् (= मुक्त) है, क्या वह कामोंका भोग करेगा ?"

"सन्दक ! जो वह भिक्षु ० अर्हत् है, वह (इन) पाँच बातोंमें असमर्थ है। क्षीण-आस्रव (= अर्हत्, मुक्त) भिक्षु (१) जानकर प्राण नहीं मार सकता। (२) ० चोरी नहीं कर सकता। (३) ० मैथुन··· सेवन नहीं कर सकता। (४) जानकर झूठ नहीं बोल सकता। (५) क्षीणास्रव भिक्षु एकत्रित कर (अन्न पान आदि,) काम-भोगोंको भोगकरनेके अयोग्य है; जैसे कि वह पहिले गृही होते भोगता था। ०।"

"भो आनन्द ! जो वह अर्हत् = क्षीणास्रव भिक्षु है, क्या उसे चलते-बैठते, सोते-जागते निरन्तर··· (यह) ज्ञान दर्शन मौजूद रहता है—'मेरे आस्रव (= चित्तमल) क्षीण होगये।'

"तो सन्दक ! तेरे लिये एक उपमा देता हूँ। उपमासे भी कोई कोई विज्ञ-पुरुष कहनेका मतलब समझ लेते हैं। सन्दक ! जैसे पुरुषके हाथ-पैर कटे हों, उसको चलते-बैठते, सोते-जागते निरंतर (होता है), मेरे हाथ-पैर कटे हैं। इसी प्रकार सन्दक ! जो वह अर्हत् = क्षीणास्रव भिक्षु है, उसके ० निरंतर··· आस्रव क्षीण ही हैं, वह उसकी प्रत्यवेक्षा करके जानता है—'मेरे-आस्रव क्षीण हैं।"

"भो आनन्द ! इस धर्म-विनय (=धर्म)में कितने मार्ग-दर्शक (= निर्याता) हैं ?"

"सन्दक ! एक सौ ही नहीं, दो सौ ही नहीं, तीन सौ ०, चार सौ ०, पाँच सौ ०, बल्कि और भी अधिक निर्याता इस धर्म-विनयमें हैं।"

"आश्चर्य ! भो आनन्द !! अद्भुत ! भो आनन्द !! न अपने धर्मका उत्कर्ष (= तारीफ) करना, न पर-धर्मकी निन्दा करना, (ठीक) जगह (= आयतन)पर धर्म उपदेशना !! इतने अधिक

---

[1] संजय वेलट्ठिपुत्त। [2] देखो पृष्ठ ११३। [3] देखो पृष्ठ १५।

मार्ग-दर्शक जान पड़ते !! यह आजीवक पूत-मरीके पूत तो अपनी बड़ाई करते हैं। तीनको ही मार्ग-दर्शक (= निर्याता) बतलाते हैं, जैसेकि—नन्द वात्स्य, कृश सांकृत्य और मक्खली गोसाल।"

तब सन्दक परिब्राजकने अपनी परिषद्को संबोधित किया—

"आप सब श्रमण गौतमके पास ब्रह्मचर्य-वास करें। हमारे लिये तो लाभ-सत्कार प्रशंसा छोड़ना, इस वक्त सुकर नहीं है।"

ऐसे सन्दक परिब्राजकने अपनी परिषद्को भगवान्‌के पास ब्रह्मचर्य-वास करनेके लिये प्रेरित किया।

७७—महा-सकुलुदायि-सुत्तन्त (२।३।७)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् राजगृहमें वेणुवन कलन्दक-निवापमें विहार करते थे। उस समय बहुतसे प्रसिद्ध-प्रसिद्ध (=अभिज्ञात) परिव्राजक मोर-निवाप परिव्राजकाराममें वास करते थे; जैसे कि—अनुगार-वरचर और सकुल-उदायी परिव्राजक तथा दूसरे अभिज्ञात अभिज्ञात परिव्राजक।

तब भगवान् पूर्वाह्ण-समय पहिनकर पात्र-चीवर ले, राजगृहमें पिंड-चारके लिये प्रविष्ट हुये। भगवान्‌को यह हुआ—'राजगृहमें पिंड-चारके लिये अभी बहुत सबेरा है, क्यों न मैं जहाँ मोर-निवाप परिव्राजकाराम है, जहाँ सकुल-उदायी परिव्राजक है, वहाँ चलूँ'। तब भगवान् जहाँ मोर-निवाप परिव्राजकाराम था, वहाँ गये। उस समय सकुल-उदायी परिव्राजक ०[1] बहुत भारी परिव्राजक-परिषद्‌के साथ बैठा था। सकुल-उदायी परिव्राजकने दूरसे ही भगवान्‌को आते देखा। देखकर अपनी परिषद्‌से कहा—०।

भगवान् जहाँ सकुल-उदायी परिव्राजक था, वहाँ गये। सकुल-उदायी परिव्राजकने भगवान्‌से कहा—

"आइये भन्ते! भगवान्! स्वागत है, भन्ते! भगवान्! चिरकालबाद भगवान् यहाँ आये। भन्ते! भगवान्! बैठिये, यह आसन बिछा है।"

भगवान् बिछे आसनपर बैठे। सकुल-उदायी परिव्राजक भी एक नीचा आसन लेकर, एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे सकुल-उदायी परिव्राजकसे भगवान्‌ने कहा:—

"उदायी! किस कथामें बैठे थे, क्या कथा बीचमें हो रही थी?"

"जाने दीजिये, भन्ते! इस कथाको, जिस कथामें हम इस समय बैठे थे। ऐसी कथा भन्ते! आपको पीछे भी सुननी दुर्लभ न होगी। पिछले दिनों भन्ते! कुतूहल-शालामें बैठे, एकत्रित हुए, नाना तीर्थों (=पन्थों)के श्रमण-ब्राह्मणोंके बीचमें यह कथा उत्पन्न हुई। अङ्ग-मगधोंका लाभ है, अङ्ग-मगधोंको अच्छा लाभ मिला; जहाँपर कि राजगृहमें (ऐसे २) संघपति = गणी = गणाचार्य ज्ञात = यशस्वी बहुतजनोंसे सुसम्मानित, तीर्थंकर (=पंथ-स्थापक) वर्षावासके लिये आये हैं। यह पूर्णकाश्यप संघी, गणी, गणाचार्य, ज्ञात, यशस्वी बहुजन-सुसम्मानित तीर्थंकर हैं, सो भी राजगृहमें वर्षावासके लिये आये हैं। ० यह मक्खली गोसाल ०। ० अजित केश-कम्बली ०। ० प्रकुध कात्यायन ०। ० संजय बेलट्ठि-पुत्त ०। ० निगंठ नातपुत्त ०। यह श्रमण गौतम भी संघी ०। वह भी राजगृहमें वर्षावासके लिये

---

[1] देखो पृष्ठ २९९।

आये हैं। इन संघी ० भगवान् श्रमण ब्राह्मणोंमें कौन श्रावकों (= शिष्यों)से (अधिक) सत्कृत = गुरुकृत = मानित = पूजित हैं? किसको श्रावक सत्कार, गौरव, मान, पूजा कर विहरते हैं?"

"वहाँ किन्हींने ऐसा कहा—यह जो पूर्ण काश्यप संघी ० हैं, ० सो श्रावकोंसे न सत्कृत ० न पूजित हैं। पूर्ण काश्यपको श्रावक सत्कार, गौरव, मान पूजा करके नहीं विहरते। पहिले (एक समय) पूर्ण काश्यप अनेक-सौकी सभाको धर्म उपदेश कर रहे थे। वहाँ पूर्ण काश्यपके एक श्रावकने शब्द किया—'आप लोग इस वातको पूर्ण काश्यपसे मत पूछें। यह इसे नहीं जानते। हम इसे जानते हैं। हमें यह वात पूछें! हम इसे आप लोगोंको वतलायेंगे।' उस वक्त पूर्ण काश्यप बाँह पकड़ कर, चिल्लाते थे—'आप सब चुप रहें, शब्द मत करें। यह लोग आप सवसे नहीं पूछते। हमसे······पूछते हैं। हम इन्हें वतलायेंगे'।—(किन्तु) नहीं (चुप करा) पाते थे। पूर्ण काश्यपके वहुतसे श्रावक विवाद करके निकल गये—'तू इस धर्म-विनयको नहीं जानता, मैं इस धर्म-विनयको जानता हूँ'। 'तू क्या इस धर्मको जानेगा'? 'तू मिथ्या-आरूढ़ है, मैं सत्य-आरूढ़ (= सम्यक्-प्रतिपन्न) हूँ'। 'मेरा (वचन) सहित (= सार्थक) है, तेरा अ-सहित है'। 'पहिले कहनेकी (वात तूने) पीछे कही, पीछे कहनेकी (वात) पहिले कही'। 'न किये (= अविचीर्ण) को तूने उलट दिया'। 'तेरा वाद निग्रहमें आगया'। 'वाद छोड़ानेके लिये (यत्न) कर'। 'यदि सकता है तो खोल ले'। इस प्रकार पूर्ण काश्यप श्रावकोंसे न सत्कृत ० न पूजित हैं ०। वल्कि पूर्ण काश्यप सभाकी धिक्कार (= धम्मक्कोस)से धिक्कारे गये हैं।

"किसी किसीने कहा—यह मक्खली गोसाल संघी ० भी श्रावकोंसे न सत्कृत ० न पूजित हैं ०।०।०।० यह अजित केश-कम्वली ० भी ०।०।० यह प्रकुध कात्यायन ० भी ०।०।० ० यह संजय वेल-ट्ठिपुत्त ० भी ०।०।० यह निगंठ नातपुत्त ० भी ०।०।

"किसी किसीने कहा—यह श्रमण गौतम संघी ० हैं। और यह श्रावकोंसे ० पूजित हैं। श्रमण-गौतमका श्रावक सत्कार=गौरवकर, आलंव ले, विहरते हैं। पहिले एक समय श्रमण गौतम अनेक सौकी सभाको धर्म उपदेश कर रहे थे। वहाँ श्रमण गौतमके एक शिष्यने खाँसा। दूसरे सब्रह्मचारी (= गुरुभाई)ने उसका पैर दवाया—'आयुष्मान्! चुप रहें, आयुष्मान्! शब्द मत करें। शास्ता हमें धर्म-उपदेश कर रहे हैं।' जिस समय श्रमण गौतम अनेकशत परिषद्को धर्म उपदेश देते हैं, उस समय श्रमण गौतम श्रावकोंका थूकने खाँसनेका (भी) शब्द नहीं होता। उनकी जनता प्रशंसा करती, प्रत्युत्थान करती है—'जो हमें भगवान् धर्म उपदेश करेंगे, उसे सुनेंगे।' श्रमण गौतमके जो श्रावक सब्रह्मचारियोंके साथ विवाद करके (भिक्षु-) शिक्षा (= नियम) को छोड़, हीन (गृहस्थ-आश्रम)को लौट जाते हैं, वह भी शास्ताके प्रशंसक होते हैं, धर्मके प्रशंसक होते हैं, संघके प्रशंसक होते हैं। दूसरेकी नहीं, अपनी ही निन्दा करते हैं—'हम ही··· भाग्यहीन हैं, जो कि ऐसे स्वाख्यात धर्ममें प्रव्रजित हो, परिपूर्ण परिशुद्ध ब्रह्मचर्यको जीवन भर पालन नहीं कर सके', (और) वह आराम-सेवक (= आरामिक) हो या गृहस्थ (= उपासक) हो, पाँच शिक्षापदोंको ग्रहण कर रहते हैं। इस प्रकार श्रमण गौतम श्रावकोंसे ० पूजित हैं। श्रमण गौतमको श्रावक सत्कार = गौरव कर, आलम्ब ले विहरते हैं।"

"उदायी! तू किन किन कितने धर्मोंको देखता है, जिनसे मुझे श्रावक ० पूजते हैं ०?"

"भन्ते! भगवान्में मैं पाँच धर्मोंको देखता हूँ, जिनसे भगवान्को श्रावक ० पूजते हैं ०। कौनसे पाँच?—भन्ते! भगवान् (१) अल्पाहारी अल्पाहारके प्रशंसक हैं, जो कि भन्ते! भगवान

अल्पाहारी, अल्पाहार-प्रशंसक हैं; इसको मैं भन्ते ! भगवान्‌में प्रथम धर्म देखता हूँ, जिससे भगवान्‌को श्रावक ०। ० (२) जैसे तैसे चीवर (= वस्त्र)से सन्तुष्ट रहते हैं, जैसे तैसे चीवरसे संतुष्टताके प्रशंसक ०। ० (३) जैसे तैसे पिंडपात (= भिक्षाभोजन)से संतुष्ट ०, ० संतुष्टता-प्रशंसक ०। ० (४) ० शयनासन (= घर, बिस्तरा)से संतुष्ट, ० संतुष्टता-प्रशंसक ०। ० (५) ० एकान्तवासी, ० एकान्त-वास-प्रशंसक ० भन्ते ! भगवान् में इन पाँच धर्मोंको देखता हूँ ०।"

"उदायी ! 'श्रमण गौतम अल्पाहारी, अल्पाहार-प्रशंसक हैं' इससे यदि मुझे श्रावक ० पूजते, ० आलम्ब ले विहरते; तो उदायी ! मेरे श्रावक कोसक (= पुरुवा) भर आहार करनेवाले, अर्द्ध-कोसक आहारी, बाँस (= बाँस काटकर बनाया छोटा बर्तन) भर आहार करनेवाले, आधा-बाँस-आहारी भी हैं। मैं उदायी ! कभी कभी इस पात्रभर खाता हूँ, अधिक भी खाता हूँ। यदि '० अल्पाहारी, अल्पाहार-प्रशंसक हैं' इससे ० पूजते ० तो उदायी ! जो मेरे श्रावक ० आधा-बाँस आहारी हैं, वह मुझे इस धर्मसे न सत्कार करते ०।

"उदायी ! '० जैसे तैसे चीवरसे सन्तुष्ट ० संतुष्टता-प्रशंसक ०' इससे यदि मुझे श्रावक ० पूजते ०; तो उदायी ! मेरे श्रावक पाँसु-कूलिक = रूक्ष चीवर-धारी भी हैं—वह श्मशानसे कूड़ेके ढेरसे लत्ते-चीथड़े बटोरकर संघाटी (= भिक्षुका ऊपरका दोहरा वस्त्र) बना, धारण करते हैं। मैं उदायी ! किसी किसी समय दृढ़ शस्त्र-रूक्ष, लौका जैसे रोमवाले (= मखमली) गृहपतियोंके दिये वस्त्रको भी धारण करता हूँ। ०।

"उदायी ! '० जैसे तैसे पिंड-पातसे सन्तुष्ट, ० सन्तुष्टता-प्रशंसक ०' इससे यदि मुझे श्रावक ० पूजते ०; तो उदायी ! मेरे श्रावक पिंड-पातिक (= मधुकरी-वाले), सपदानचारी (= निरन्तर चलते रह, भिक्षा माँगनेवाले) उंछ-व्रतमें रत भी हैं—वह गाँवमें आसनके लिये निमंत्रित होनेपर भी, (निमन्त्रण) नहीं स्वीकार करते। मैं तो उदायी ! कभी कभी निमन्त्रणोंमें धानका भात, कालिमा-रहित अनेक सूप, अनेक व्यञ्जन (= तर्कारी) भी भोजन करता हूँ। ०।

"उदायी ! '० जैसे तैसे शयनासनसे सन्तुष्ट, ० सन्तुष्टता-प्रशंसक ०' इससे यदि मुझे श्रावक ० पूजते ०; तो उदायी ! मेरे श्रावक वृक्ष-मूलिक (= वृक्षके नीचे सदा रहनेवाले), अब्भोकासिक (= अध्यवकाशिक = सदा चौड़ेमें रहनेवाले) भी हैं, वह आठ मास (वर्षाके चार मास छोड़) छतके नीचे नहीं आते। मैं तो उदायी ! कभी कभी लिपे-पोते वायु-रहित, किवाड़-खिड़की-बन्द कोठों (= कूटागारों)में भी विहरता हूँ। ०।

"उदायी ! '० एकान्तवासी एकान्तवास-प्रशंसक हैं ०' इससे यदि ० पूजते; तो उदायी ! मेरे श्रावक आरण्यक (= सदा अरण्यमें रहनेवाले), प्रान्त-शयनासन (= बस्तीसे दूर कुटीवाले) हैं; (वह) अरण्यमें वनप्रस्थ = प्रान्तके शयनासनोंमें रह कर विहरते हैं। वह प्रत्येक अर्द्धमास प्रातिमोक्ष-उद्देश (= अपराध-स्वीकार)के लिये, सङ्घके मध्यमें आते हैं। मैं तो उदायी ! कभी कभी भिक्षुओं, भिक्षुणियों, उपासकों, उपासिकाओं, राजा, राज-महामात्यों, तैर्थिकों, तैर्थिक-श्रावकोंसे आकीर्ण हो विहरता हूँ। ०। इस प्रकार उदायी ! मुझे श्रावक इन पाँच धर्मोंसे नहीं ० पूजते ०।

"उदायी दूसरे पाँच धर्म हैं, जिनसे श्रावक मुझे ० पूजते हैं ०। कौनसे पाँच ?—यहाँ उदायी ! (१) श्रावक मेरे शील (= आचार)से सम्मान करते हैं—श्रमण गौतम शीलवान् हैं, परम शील-स्कन्ध (= आचार-समुदाय)से संयुक्त हैं। जो कि उदायी ! श्रावक मेरे शीलमें विश्वास करते हैं—०; यह उदायी ! प्रथम धर्म है, जिससे ०।

"और फिर उदायी ! (२) श्रावक मुझे अभिकान्त (= सुन्दर) ज्ञान-दर्शन (= ज्ञान

का मनसे प्रत्यक्ष करने)से सम्मानित करते हैं—जानकर ही श्रमण गौतम कहते हैं—'जानता हूँ'। देखकर ही श्रमण गौतम कहते हैं—'देखता हूँ'। अनुभवकर (= अभिज्ञाय) ही श्रमण गौतम धर्म उपदेश करते हैं, बिना अनुभव किये नहीं। स-निदान (= कारण-सहित) श्रमण गौतम धर्म उपदेश करते हैं, अ-निदान नहीं। स-प्रातिहार्य (= सकारण) ०, अ-प्रतिहार्य नहीं। ०।

"और फिर उदायी ! (३) श्रावक मुझे प्रज्ञासे सम्मानित करते हैं—श्रमण गौतम परम-प्रज्ञा-स्कंध (= उत्तम-ज्ञान-समुदाय)से युक्त हैं। उनके लिये 'अनागत (= भविष्य)के वाद-विवादका मार्ग अन्-देखा है, (वह वर्तमानमें) उत्पन्न दूसरेके प्रवाद (= खंडन)को धर्मके साथ न रोक सकेंगे' यह सम्भव नहीं। तो क्या मानते हो उदायी ! क्या मेरे श्रावक ऐसा जानते हुये ऐसा देखते हुये, बीच बीचमें बात टोकेंगे ?"

"नहीं, भन्ते !"

"उदायी ! मैं श्रावकोंके अनुशासनकी आकांक्षा नहीं रखता, बल्कि श्रावक मेरे ही अनुशासनको दोहराते हैं। ०।

"और फिर उदायी ! (४) दुःखसे उत्तीर्ण, विगत-दुख हो, श्रावक, मुझे आकर, दुःख आर्य-सत्यको पूछते हैं। पूछे जाने पर उनको मैं दुःख आर्य-सत्य व्याख्यान करता हूँ। प्रश्नके उत्तरसे मैं उनके चित्तको सन्तुष्ट करता हूँ। वह आकर मुझे दुःख-समुदय आर्य-सत्य पूछते हैं ०। ० दुःख-निरोध ०। ० दुःख-निरोध-गामिनी-प्रतिपद् आर्य-सत्य पूछते हैं ०। ०।

"और फिर उदायी ! (५) मैंने श्रावकोंको प्रतिपद् (= मार्ग) बतला दी है। जिस पर आरूढ़ हो श्रावक चारों स्मृति-प्रस्थानोंकी भावना करते हैं—भिक्षु कायामें कायानुपश्यी हो विहरते हैं ०[1], ० वेदनानुपश्यी ०[1], ० चित्तानुपश्यी ०, धर्ममें धर्मकी अनुपश्यना(= अनुभव) करते, तत्पर, स्मृति-सम्प्रजन्य युक्त हो, द्रोह = दौर्मनस्यको हटा कर लोकमें विहरते हैं। तिसमें बहुतसे मेरे श्रावक अभिज्ञा-व्यवसान-प्राप्त = अभिज्ञा-पारमिता-प्राप्त (= अर्हत्-पद-प्राप्त) हो विहरते हैं।

"और फिर उदायी ! मैंने श्रावकोंको (वह) प्रतिपद् बतला दी है; जिस पर आरूढ़ हो मेरे श्रावक चारों सम्यक्-प्रधानोंकी भावना करते हैं। उदायी ! भिक्षु, (१) (वर्तमानमें) अन्-उत्पन्न पाप = अ-कुशल (= बुरे) धर्मोको न उत्पन्न होने देनेके लिये, छन्द (= रुचि) उत्पन्न करते हैं, कोशिश करते हैं = वीर्य-आरम्भ करते हैं, चित्तको निग्रह = प्रधान करते हैं। (२) उत्पन्न पाप = अ-कुशल-धर्मोंके विनाशके लिये ०। (३) अनुत्पन्न कुशल-धर्मोंकी उत्पत्तिके लिये ०। (४) उत्पन्न कुशल-धर्मोंकी स्थिति = असम्मोष, वृद्धि = विपुलताके लिये, भावना-पूर्ण कर छन्द उत्पन्न करते हैं ०। यहाँ भी बहुतसे मेरे श्रावक (अर्हत्-पद) प्राप्त हैं।

"और फिर उदायी ! मैंने श्रावकोंको प्रतिपद् बतला दी है, जिस पर आरूढ़ हो मेरे श्रावक चारों ऋद्धि-पादोंकी भावना करते हैं। यहाँ उदायी ! भिक्षु (१) छन्द-समाधि-प्रधान-संस्कार-युक्त ऋद्धि-पादकी भावना करते हैं। (२) वीर्य-समाधि-प्रधान-संस्कार-युक्त ऋद्धि-पादकी भावना करते हैं। (३) चित्त-समाधि ०। (४) विमर्ष-समाधि ०। यहाँ भी ०।

"और फिर उदायी ! ० जिस पर आरूढ़ हो मेरे श्रावक पाँच इन्द्रियोंकी भावना करते हैं। उदायी ! यहाँ भिक्षु (१) उपशम = सम्बोधिकी ओर जानेवाली, श्रद्धा-इन्द्रियकी भावना

---

[1] देखो पृष्ठ ३५।

करते हैं। (२) वीर्य-इन्द्रिय ०, (३) स्मृति-इन्द्रिय ० (४) समाधि-इन्द्रिय ०। ०।

"०। ० पाँच वलोंकी भावना करते हैं।—० श्रद्धावल ०, वीर्य-वल ०, स्मृति-वल ०, समाधि-वल ०, प्रज्ञावल ०।

"०। ० सात वोधि-अंगोंकी भावना करते हैं।—यहाँ उदायी! भिक्षु विवेक-आश्रित, विराग-आश्रित, निरोध-आश्रित व्यवसर्ग-फलवाले (१) स्मृति-सम्वोधि-अंगकी भावना करते हैं, ० (२) धर्म-विचय-सम्वोध्यंगकी भावना करते हैं। ० (३) वीर्य-सम्वोध्यंग ०। (४) प्रीति-सम्वोध्यंग ०। ० (५) प्रश्रब्धि-सम्वोध्यंग ०। ० (६) समाधि-सम्वोध्यंग ०। ० (७) उपेक्षा-सम्वोध्यंग ०। ०।

"और फिर ० आर्य अष्टांगिक मार्गकी भावना करते हैं। उदायी! यहाँ भिक्षु (१) सम्यग्-दृष्टिकी भावना करते हैं। ० (२) सम्यक्-संकल्प ०। ० (३) सम्यग्-वाक् ० (४) ० सम्यक्-कर्मान्त ०। ० (५) सम्यग्-आजीव ०। ० (६) सम्यग्-व्यायाम ०। ० (७) सम्यक्-स्मृति ०। (८) सम्यक्-समाधि ०। ०।

"आठ विमोक्षोंकी भावना करते हैं। (१) रूपी (= रूपवाला) रूपोंको देखते हैं, यह प्रथम विमोक्ष है। (२) शरीरके भीतर (= अध्यात्म) अ-रूप-संज्ञी (= रूप नहीं है)—के ज्ञान वाले), वाहर रूपोंको देखते हैं ०। (३) शुभ ही अधिमुक्त (= मुक्त) होते हैं ०। (४) सर्वथा रूप-संज्ञा (= रूपके ख्याल)को अतिक्रमण कर, प्रतिहिंसाके ख्यालके लुप्त होनेसे, नानापनके ख्यालको मनमें न करनेसे 'आकाश अनन्त है' इस आकाश-आनन्त्यायतनको प्राप्त हो विहरते हैं ०। (५) सर्वथा आकाशानन्त्यायतनको अतिक्रमण कर 'विज्ञान (= चेतना) अनन्त है' इस विज्ञान-आनन्त्य-आयतनको प्राप्त हो विहरते हैं ०। (६) सर्वथा विज्ञानानन्त्यायतनको अतिक्रमण कर 'कुछ नहीं है'—इस आकिंचन्य-आयतनको प्राप्त हो ०। (७) सर्वथा आकिंचन्यायतनको अतिक्रमण कर, नैवसंज्ञा-न-असंज्ञा-आयतन (= जिस समाधिका आभास न चेतना ही कहा जा सकता है, न अचेतना ही)को प्राप्त हो ०। (८) सर्वथा नैव-संज्ञाना-संज्ञायतनको अतिक्रमण कर प्रज्ञा-वेदित-निरोध (पञ्ञावेदयित-निरोध)को प्राप्त हो विहरते हैं, यह आठवाँ विमोक्ष है। इससे और इसमें मेरे वहुतसे श्रावक··· (अर्हत्-पद प्राप्त हैं)।

"और फिर उदायी! ० आठ अभिभू-आयतनोंकी भावना करते हैं। (१) एक (भिक्षु) शरीरके भीतर (= अध्यात्म) रूपका ख्यालवाला (= रूपसंज्ञी), वाहर सु-वर्ण दुर्वर्ण क्षुद्र-रूपोंको देखता है। उन्हें अभिभूत कर विहरता है, यह प्रथम अभिभ्वायतन है। (२) अध्यात्ममें रूप-संज्ञी, वाहर सु-वर्ण, दु-र्वर्ण अ-प्रमाण (= वहुत भारी) रूपोंको देखता है। 'उन्हें अभिभूत-कर जानता हूँ, देखता हूँ'—इस ख्यालवाला होता है। ०। (३) अध्यात्ममें अ-रूप-संज्ञी (= 'रूप नहीं है' इस ख्यालवाला), वाहर सुवर्ण दुर्वर्ण क्षुद्र-रूपोंको देखता है—०। (४) अध्यात्ममें अरूप-संज्ञी, वाहर सुवर्ण दुर्वर्ण अ-प्रमाण रूपोंको देखता है—०। (५) अध्यात्ममें अरूप-संज्ञी वाहर नील — नीलवर्ण = नील-निदर्शन = नील-निभास रूपोंको देखता है। जैसेकि अलसीका फूल नील = नील-वर्ण = नील-निदर्शन = नील-निभास; जैसेकि दोनों ओरसे विमृष्ट (कोमल, चिकना) नील ०[1] वनारसी (वाराणसेयक) वस्त्र; ऐसेही अध्यात्ममें अरूप-संज्ञी एक (भिक्षु) वाहर नील ० रूपोंको देखता है—'उनको अभिभूतकर जानता हूँ देखता हूँ' इसे जानता है ०। (६)

---

[1] अ. क. "वहाँ (बनारसमें) कपास भी कोमल, सूतकातनेवाली तथा जुलाहे भी चतुर, जल भी सुचि-स्निग्ध (है)। वहाँका वस्त्र दोनों ही ओरसे···कोमल और स्निग्ध होता है।

अध्यात्ममें अरूप-संज्ञी एक (भिक्षु) बाहर पीत (= पीला) = पीतवर्ण पीत-निदर्शन = पीत-निभास रूपोंको देखता है। जैसेकि पीत ० कर्णिकारका फूल या जैसे वह ० पीत ० बनारसी वस्त्र ०। ०। (७) अध्यात्ममें अरूप-संज्ञी···(पुरुष) लोहित (= लाल) = लोहितवर्ण = लोहित-निदर्शन = लोहित-निभास रूपोंको देखता है। जैसेकि लोहित ० बंधुजीवक (= अँड़हुल)का फूल, या जैसे लाल ० बनारसी वस्त्र ०। ०। (८) अध्यात्ममें अरूप-संज्ञी···अवदात (= सफेद) ० रूपोंको देखता है। जैसेकि अवदात ० शुक्रतारा (= ओसधी-तारका), या जैसेकि सफेद ० बनारसी वस्त्र ०। ०।

"और फिर उदायी! ० दश कृत्स्न-आयतन (= कसिणायतन)की भावना करते हैं। (१) एक पुरुष ऊपर, नीचे, तिर्छे, अद्वितीय, अप्रमाण पृथ्वी-कृत्स्न (= पृथ्वी-कसिण = सारी पृथिवी ही) जानता है। (२) ० आप-कृत्स्न (= सारा पानी) ०। (३) ० तेजः-कृत्स्न (= सारा तेज) ०। (४) ० ० वायु-कृत्स्न (= सारी हवा ही) ०। (५) ० नील-कृत्स्न (= सारा नीला रंग) ०। (६) ० पीत-कृत्स्न ०। (७) लोहित-कृत्स्न ०। (८) ० अवदात-कृत्स्न (= सारा सफेद) ०। (९) ० आकाश-कृत्स्न ०। (१०) ० विज्ञान-कृत्स्न (= चेतनामय, चिन्मात्र) ०।

"और फिर उदायी! ० चार ध्यानोंकी भावना करते हैं। उदायी! भिक्षु, कामोंसे अलग हो, अकुशल धर्मों (= बुरी बातों) से अलग हो वितर्क-विचार-सहित विवेकसे उत्पन्न प्रीति-सुख-रूप प्रथम-ध्यान[१]को प्राप्त हो विहरता है। वह इसी कायाको, विवेकसे उत्पन्न प्रीति-सुख-द्वारा प्लावित, परिप्लावित करता है, परिपूर्ण = परिस्फरण करता है। (उसकी) इस सारी कायाका कुछ भी (अंश) विवेक-ज प्रीति सुखसे अछूता नहीं होता। जैसे कि उदायी! दक्ष (= चतुर) नहापित (= नहलानेवाला), या नहापितका चेला (= अन्तेवासी) काँसेके थालमें स्नानीय-चूर्णको डालकर, पानी सुखा सुखा हिलावे। सो इसकी नहान-पिंडी शुभ (= स्वच्छता)-अनुगत, शुभ-परिगत शुभसे अन्दर-बाहर लिप्त हो पिघलती है। ऐसे ही उदायी! भिक्षु इसी कायाको विवेकज प्रीति सुखसे प्लावित आप्लावित करता है, परिपूरण = परिस्फरण करता है। ०।

"और फिर उदायी! भिक्षु वितर्क विचारोंके उपशांत होनेसे ०[१] द्वितीय-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। वह इसी कायाको समाधिज प्रीति-सुखसे प्लावित = आप्लावित करता है ०। जैसे उदायी! पाताल फोड़कर निकला पानीका दह हो। उसके न पूर्व-दिशामें पानीके आनेका मार्ग हो, न पश्चिम-दिशामें, न उत्तर-दिशामें, न दक्षिण-दिशामें ०। देव भी समय समयपर अच्छी तरह धार न बरसावे, तो भी उस पानीके दह (= उदक-ह्रद)से शीतल वारिधारा फूटकर उस उदक-ह्रदको शीतल जलसे प्लावित, आप्लावित करे, परिपूरण-परिस्फरण करे; इस सारे उदक-ह्रदका कुछ भी (अंश) शीतल जलसे अछूता न हो। ऐसे उदायी! इसी कायाको समाधिज प्रीति-सुखसे ०।

"और फिर उदायी! भिक्षु ०[१] तृतीय-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। वह इसी कायाको निष्प्रीतिक (= प्रीति-रहित) सुखसे प्लावित ० करता है ०। जैसे उदायी! उत्पलिनी (= उत्पल-समूह), पद्मिनी, पुण्डरीकिनीमें, कोई कोई उत्पल, पद्म, पुण्डरीक, पानीमें उत्पन्न, पानीमें बढ़े, पानीसे (बाहर) न निकले, भीतर डूबेही पोषित, मूलसे शिखा तक शीतल जलसे

---

[१] देखो पृष्ठ १५।

प्लावित ० होते हैं ०। ऐसे ही उदायी ! भिक्षु इसी कायाको निष्प्रीतिक ०।

"और फिर उदायी ! ०[1] चतुर्थ ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। वह इसी कायाको, परिशुद्ध = परि-अवदात चित्तसे प्लावित कर बैठा होता है। ०। जैसे कि उदायी ! पुरुष अवदात (= श्वेत)-वस्त्रसे शिर तक लपेट कर बैठा हो। उसकी सारी कायाका कुछ भी (भाग) श्वेत वस्त्रसे अनाच्छादित न हो। ऐसे ही उदायी ! भिक्षु इसी कायाको ०। वहाँ भी मेरे बहुतसे श्रावक अभिज्ञा-व्यवसान-प्राप्त, अभिज्ञा-पारमि-प्राप्त हैं।

"और फिर उदायी ! मैंने श्रावकोंको वह मार्ग बतला दिया है, जिस (मार्ग-)पर आरूढ हो, मेरे श्रावक ऐसा जानते हैं—यह मेरा शरीर रूपवान्, चातुर्महाभूतिक, माता-पितासे उत्पन्न, भात-दालसे बढ़ा, अनित्य = उच्छेद = परिमर्दन = भेदन = विध्वंसन धर्मवाला है। यह मेरा विज्ञान (= चेतना) यहाँ बँधा = प्रतिबद्ध है। जैसे उदायी ! शुभ्र उत्तम जातिकी, अठकोनी, सुन्दर पालिशकी (= सुपरिकर्मकृत), स्वच्छ = विप्रसन्न, सर्व-आकार-युक्त वैदूर्य-मणि (= हीरा) हो। उसमें नील, पीत, लोहित, अवदात या पांडु सूत पिरोया हो। उसको आँखवाला पुरुष हाथमें लेकर देखे—'यह शुभ्र ० वैदूर्य-मणि है, ० सूत पिरोया है'। ऐसे ही उदायी ! मैंने ० बतला दिया है ०। वहाँ भी मेरे बहुतसे श्रावक ०।

"और फिर उदायी ! ० मार्ग बतला दिया है, जिस मार्गपर आरूढ हो मेरे श्रावक, इस कायासे रूपवान् (= साकार), मनोमय, सर्वांग-प्रत्यंग-युक्त अखंडित-इन्द्रियोंयुक्त दूसरी कायाको निर्माण करते हैं। जैसे उदायी ! पुरुष मूँजमेंसे सींक निकाले। उसको ऐसा हो—'यह मूँज है, यह सींक। मूँज अलग है, सींक अलग है। मूँजसे ही सींक निकली है।' जैसे कि उदायी ! पुरुष म्यानसे तलवार निकाले। उसको ऐसा हो—'यह तलवार है, यह म्यान है। तलवार अलग है, म्यान अलग। म्यानसे ही तलवार निकली है।' जैसे उदायी ! पुरुष साँपको पिटारीसे निकाले ०। ऐसे ही उदायी ! ० मार्ग बतला दिया है ०।

"और फिर उदायी ! ० मार्ग बतला दिया है, जिस मार्गपर आरूढ हो, मेरे श्रावक अनेक प्रकारके ऋद्धि-विध (= योग-चमत्कार)को अनुभव करते हैं। एक होकर बहुत होजाते हैं। बहुत होकर एक होते हैं। आविर्भाव, तिरोभाव (करते हैं)। जैसे भीत-पार प्राकार-पार पर्वत-पार आकाश-जैसे विना लेप (पार) होजाते हैं। पृथिवीमें भी डूबना-उतराना करते हैं, जैसे कि जलमें। पानीमें भी विना भीगे चलते हैं, जैसे कि पृथिवीमें। पक्षि (= शकुनी) की भाँति आसन-बाँधे आकाशमें चलते हैं। इतने महर्द्धिक = महानुभाव (= तेजस्वी) इन चाँद-सूर्यको भी हाथसे छूते हैं। ब्रह्मलोक तक कायासे वशमें रखते हैं। जैसे उदायी ! चतुर कुंभकार, या कुंभकारका चेला, सिझाई मिट्टीसे जो जो विशेष भाजन चाहे, उसी उसीको बनावे = निष्पादन करे। या जैसे उदायी ! चतुर दन्तकार (= हाथीके दाँतका काम करनेवाला) या दंतकारका चेला, सिझाये दाँतसे जो जो दंत-विकृति (= दाँतकी चीज) चाहे, उसे बनावे, = निष्पादन करे। या जैसे उदायी ! चतुर सुवर्णकार या सुवर्णकारका चेला, सोधे सुवर्णसे जिस जिस सुवर्ण-विकृतिको चाहे उसे बनावे ०। ऐसे ही उदायी ! ०।

"और फिर उदायी ! ० जिस मार्गपर आरूढ हो मेरे श्रावक विशुद्ध, अमानुष, दिव्य, श्रोत्र-धातु (= कान)से दिव्य और मानुष, दूरवर्ती और समीपवर्ती, दोनों ही तरहके शब्दोंको सुनते हैं। जैसे कि उदायी ! बलवान् शंख-धमक (= शंख-बजानेवाला) अल्प-प्रयाससे चारों

---

[1] देखो पृष्ठ १५।

दिशाओंको जतला दे। ऐसे ही उदायी ०।

"और फिर उदायी! ० जैसे मार्गपर आरूढ़ हो, मेरे श्रावक दूसरे सत्वों = दूसरे पुद्गलों के चित्तको (अपने) चित्तद्वारा जानते हैं। सराग चित्तको 'राग-सहित (यह) चित्त है' जानते हैं। वीतराग चित्तको 'वीत-राग चित्त है' जानते हैं। सद्वेष चित्तको 'स-द्वेष चित्त है', जानते हैं। वीत-द्वेष चित्तको ०। स-मोह चित्तको ०। वीत-मोह चित्तको ०। संक्षिप्त-चित्तको ०। विक्षिप्त-चित्तको ०। महद्गत (= विशाल)-चित्तको ०। अ-महद्गत-चित्तको ०। स-उत्तर (= जिससे बढ़ कर भी है)-चित्तको ०। अनू-उत्तर-चित्तको ०। समाहित (= एकाग्र)-चित्तको ०। अ-समाहित-चित्तको ०। विमुक्त (= मुक्त)-चित्तको ०। अ-विमुक्त-चित्तको ०। जैसे उदायी! कोई शौकीन स्त्री या पुरुष, बालक या तरुण, परिशुद्ध = परि-अवदात दर्पण (= आदर्श) या स्वच्छ जलभरे पात्रमें अपने मुख-निमित्त (= मुखकी शकल)को देखते हुये, स-कणिक अंग होनेपर स-कणिकांग (= सदोष अंग) जाने, अ-कणिकांग होनेपर अ-कणिकांग जाने। ऐसे ही उदायी ०।०।

"और फिर उदायी! जिस मार्गपर आरूढ़ हो, मेरे श्रावक अनेक प्रकारके पूर्व-निवासों (= पूर्व जन्मों)को जानते हैं। जैसे कि, एक जाति (= जन्म) भी, दो जाति भी ०, तीन जाति भी, चार जाति भी, पाँच जाति भी, बीस जाति भी, तीस जाति भी, चालीस जाति भी, पचास जाति भी, सौ जाति भी, हजार जाति भी, सौ हजार जाति भी, अनेक संवर्त-कल्पों (= महाप्रलयों) को भी, अनेक विवर्त-कल्पों (= सृष्टियों)को भी, अनेक संवर्त-विवर्त-कल्पोंको भी, 'मैं वहाँ इस नाम, इस गोत्र, इस वर्ण, इस आहार-वाला, ऐसे सुख-दुःखको अनुभव करने-वाला इतनी आयु-पर्यन्त था। सो मैं वहाँसे च्युत हो, वहाँ उत्पन्न हुआ। वहाँ भी मैं ० इतनी आयुपर्यन्त रहा। सो वहाँसे च्युत (= मृत) हो, यहाँ उत्पन्न हुआ'। इस प्रकार स-आकार (= आकृति-सहित) स-उद्देश (= नाम-सहित) अनेक प्रकारके पूर्व-निवासोंको अनुस्मरण करते हैं। जैसे उदायी! पुरुष अपने ग्रामसे दूसरे ग्राममें जाये। उस ग्रामसे भी दूसरे ग्रामको जाये। वह उस ग्रामसे अपने ही ग्रामको लौट जाये। उसको ऐसा हो—मैं अपने ग्रामसे उस गाँवको गया, वहाँ ऐसे खड़ा हुआ, ऐसे बैठा, ऐसे बोला, ऐसे चुप रहा। उस ग्रामसे भी उस ग्रामको गया। वहाँ भी ऐसे खड़ा हुआ ०।

"और फिर उदायी! ० जैसे मार्गपर आरूढ़ हो मेरे श्रावक विशुद्ध, अ-मानुष दिव्य, चक्षुसे, हीन, प्रणीत (= उत्पन्न), सुवर्ण दुर्वर्ण, सु-गत दुर्गत सत्वोंको च्युत होते, उत्पन्न होते देखते हैं। कर्मानुसार (गतिको) प्राप्त सत्वोंको जानते हैं—यह आप सत्व काय-दुश्चरितसे युक्त, वाग्-दुश्चरितसे युक्त, मन-दुश्चरितसे युक्त, आर्योंके निन्दक, मिथ्या-दृष्टि, मिथ्या-दृष्टि कर्मको स्वीकार करनेवाले (थे), वह काया छोड़ मरनेके बाद अपाय-दुर्गति = विनिपात = नर्कमें उत्पन्न हुये। और यह आप सत्व काय-सुचरितसे युक्त ० आर्योंके अनू-उपवादक (= अनिन्दक) सम्यग्-दृष्टि, सम्यक्-दृष्टिकर्मको स्वीकार करनेवाले (थे), वह सुगति = स्वर्गलोकमें उत्पन्न हुये हैं'। इस प्रकार ० दिव्य चक्षुसे ० देखते हैं। जैसे उदायी! समान-द्वारवाले दो घर (हों), वहाँ आँखवाला पुरुष बीचमें खड़ा, मनुष्योंको घरमें प्रवेश करते भी, निकलते भी, अनुसंचरण विचरण करते भी देखे। ऐसे ही उदायी! ०।

"और फिर उदायी! ० जिस मार्गपर आरूढ़ हो मेरे श्रावक आस्रवोंके विनाशसे अनू-आस्रव (= निर्मल) चित्तकी विमुक्ति, प्रज्ञा-विमुक्तिको इसी जन्ममें स्वयं जानकर, साक्षात् कर, प्राप्त कर, विहरते हैं। जैसे कि उदायी! पर्वतसे घिरा स्वच्छ = विप्रसन्न = अनू-आविल

उदक-ह्रद (=जलाशय) हो । वहाँ आँखवाला पुरुष तीरपर खड़ा सीपको···कंकड़-पत्थरको भी, चलते खड़े मत्स्य-झुंडको भी देखे । ऐसे ही उदायी ! ० ।

"यह हैं, उदायी ! पाँच धर्म जिनसे मुझे श्रावक ० पूजते हैं । ० ।"

भगवान्‌ने यह कहा, सकुल-उदायी परिव्राजकने भगवान्‌के भाषणका अनुमोदन किया ।

७८—समण-मंडिक-सुत्तन्त (२।३।८)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथ-पिंडिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे।

उस समय समण-मंडिका-पुत्त उग्गहमाण परिव्राजक सातसौ परिव्राजकोंकी बड़ी जमात (= परिषद्)के साथ समय-प्रवादक तिन्दुकाचीर[1] एकसालक (नामक) मल्लिका (देवीके बनवाये) आराममें रहता था।

तब पंचकंग (= पंचकांग) स्थपति (= थवई) मध्याह्नमें भगवान्के दर्शनके लिये श्रावस्तीसे निकला। तब पंचकांग स्थपतिको यह हुआ—'भगवान्के दर्शनका यह समय नहीं है, भगवान् ध्यानमें होंगे; मनो-भावना करनेवाले भिक्षुओंके भी दर्शनका यह समय नहीं,···(वह) भी ध्यानमें होंगे। क्यों न मैं जहाँ समय-प्रवादक ० मल्लिकाराम है, जहाँ ० उग्गहमाण परिव्राजक है वहाँ चलूँ।' तब पंचकांग स्थपति जहाँ समय-प्रवादक ० मल्लिकाराम था, जहाँ ० उग्गहमाण परिव्राजक था, वहाँ गया।

उस समय . उग्गहमाण परिव्राजक[1] ० आदि निरर्थक कथा कहती, नाद करती, शोर मचाती, बड़ी भारी परिव्राजक-परिषद्के साथ बैठा था। उग्गहमाण परिव्राजकने दूरसे ही पंचकांग स्थपतिको आते देखा। देखकर अपनी परिषद्से कहा—

"आप सब चुप हों, आप सब शब्द मत करें। यह श्रमण गौतमका श्रावक पंचकांग स्थपति आरहा है। श्रमण गौतमके जितने श्वेतवस्त्रधारी गृहस्थ श्रावक श्रावस्तीमें बसते हैं, यह पंचकांग स्थपति उनमेंसे एक है। यह आयुष्मान् लोग स्वयं अल्पशब्द (= निःशब्द रहनेवाले), अल्पशब्द के अभ्यासी, अल्प-शब्द-प्रेमी, निःशब्द-प्रशंसक होते हैं। परिषद्को निःशब्द देख संभव है, (इधर) भी आयें।"

तब वह परिव्राजक चुप होगये।

तब पंचकांग स्थपति जहाँ . उग्गहमाण परिव्राजक था, वहाँ गया। जाकर उग्गहमाण परिव्राजकके साथ···सम्मोदन कर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठ पंचकांग स्थपतिसे ० उग्गहमाण परिव्राजकने यह कहा—

"स्थपति! मैं चार अंगों (=बातों)से युक्त पुरुष = पुद्गलको सम्पन्न-कुशल (=सुकर्म-युक्त), परम-कुशल, उत्तम-गतिको-प्राप्त, श्रमण, अ-योध्य (जिससे लड़ा नहीं जा सके) कहता हूँ। कौनसे चार (अंग) ?—यहाँ स्थपति! (१) (पुरुष)कायासे पापकर्म नहीं करता; (२) न पाप(= बुरी)-वाणी बोलता है; (३) न पाप-संकल्प चिन्ता है; (४) न पाप-आजी-

---

[1] देखो सन्दक-सुत्तन्त-मज्झिम ७६ (पृष्ठ २९९)।

विकासे रोजी कमाता है। स्थपति ! मैं इन अंगोंसे युक्त ० को ० अ-योध्य कहता हूँ।"

तब पंचकांग स्थपतिने . उग्गहमाण परिव्राजकके भाषणको न अभिनंदित किया, न खंडित किया। विना अभिनंदित किये, विना खंडन किये—भगवान्‌के पास इस भाषणका अर्थ पूछूँगा—(यह सोच) आसनसे उठकर चला गया। तब पंचकांग स्थपति जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया; जाकर भगवन्‌को अभिवादन कर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे पंचकांग स्थपतिने जो कुछ . उग्गहमाण परिव्राजकके साथ कथासंलाप हुआ था वह सब भगवान्‌से कह सुनाया। ऐसा कहने पर भगवान्‌ने पंचकांग स्थपतिसे यह कहा—

"स्थपति ! ऐसा होनेपर तो . उग्गहमाण परिव्राजकके वचनानुसार उतान (ही) सो सकनेवाला अबोध छोटा बच्चा सम्पन्न-कुशल परमकुशल ० अयोध्य होगा। स्थपति ! ० छोटे बच्चेके अंग (= काया) (पूरी सामर्थ्य-युक्त) भी नहीं होते; (= चलना छोड़) वह कैसे काया से पाप कर्म करेगा ?—स्थपति ! ० छोटे बच्चे (= दहर-कुमार)को वाणी भी नहीं होती; रोना छोड़ वह कैसे वाणीसे पापकर्म करेगा ? स्थपति ! ० छोटे बच्चेको संकल्प ही नहीं होता; हँसना छोड़, वह क्या संकल्प करेगा ! स्थपति ! ० छोटे बच्चेको आजीव (= रोजी कमाना) ही नहीं होता ; माताके दूधके अतिरिक्त वह क्या पाप-आजीव करेगा ? ऐसा होने पर तो ० उग्गहमाण परिव्राजकके वचनानुसार ० छोटा बच्चा ० अ-योध्य होगा।

"स्थपति ! मैं (इन) चार अंगोंसे युक्त पुरुष = पुद्गलको न सम्पन्न कुशल, परमकुशल ० अयोध्य कहता हूँ; बल्कि ० छोटे बच्चेसे विशेष कहता हूँ। कौनसे चार ?—स्थपति ! (१) जो कायासे पाप कर्म नहीं करता; ० (४) न पाप-आजीविकासे रोजी कमाता है।···

"स्थपति ! मै दश अंगोसे युक्त पुरुष = पुद्गलको सम्पन्न-कुशल, परम-कुशल ० अयोध्य कहता हूँ। स्थपति ! (१) यह अकुशल-शील (-दुराचार) कहाँ वेदितव्य (= भोगने योग्य) है—यह कहता हूँ। (२) स्थपति ! यहाँसे उत्पन्न अकुशल-शील कहाँ वेदितव्य हैं—० यह कहता हूँ। (३) स्थपति ! यहाँ सारे (= अशेष) अकुशल-शील विरुद्ध (= नष्ट) होते हैं, कहाँ वेदितव्य हैं—०। (४) स्थपति !

इस प्रकार प्रतिपन्न (= मार्गारूढ़) अकुशल-शीलों (= दुराचारों)के निरोधके लिये प्रतिपन्न होता है, कहाँ वेदितव्य है—०। (५) स्थपति ! यह कुशल शील (= सदाचार, सुकर्म) कहाँ कहाँ वेदितव्य हैं—०। (६) स्थपति ! यहाँसे उत्पन्न कुशलशील कहाँ वेदितव्य हैं—०। (स्थपति) ! यहाँ सारे कुशलशील निरुद्ध होते हैं—०। (८) स्थपति ! इस प्रकार प्रतिपन्न कुशल-शीलोंके निरोधके लिये प्रतिपन्न होता है, कहाँ वेदितव्य है—०।

"स्थपति ! (१) यह अकुशल—संकल्प (= बुरे संकल्प) कहाँ वेदितव्य हैं—यह कहता हूँ। (२) ० यहाँसे उत्पन्न अकुशल-संकल्प कहाँ वेदितव्य है—०। (३) यहाँ सारे अकुशल-संकल्प निरुद्ध होते हैं—०। (४) ० इस प्रकार प्रतिपन्न अकुशल-संकल्पोंके निरोधके लिये प्रतिपन्न होता है—०। (५) यह कुशल-संकल्प कहाँ वेदितव्य हैं—०। (६) ० यहाँसे उत्पन्न कुशल संकल्प कहाँ वेदितव्य हैं—०। (७) यहाँ सारे कुशल-संकल्प निरुद्ध होते हैं—०। (८) ० इस प्रकार प्रतिपन्न कुशल-संकल्पों के निरोधके लिए प्रतिपन्न होता है—०।

"(१) स्थपति ! अकुशल-शील (= दुष्कर्म) क्या हैं ?—अ-अकुशल (= बुरा) कायकर्म, अकुशल वचनकर्म, पाप-आजीविका (= पापोंकी रोज़ी)—स्थपति ! यह अकुशल-शील कहे जाते हैं। स्थपति ! (२) यह अकुशल-शील कहाँसे उत्पन्न होते हैं ?···चित्तसे उत्पन्न कहना चाहिये। चित्त क्या है ?—चित्तभी स्थपति ! बहुत अनेक प्रकार = नाना प्रकारका है—(१) वह चित्त

स-राग, स-द्वेष, स-मोह होता है। इन्हीं (राग-द्वेष-मोह-युक्त चित्तों)से अकुशलशील (=दुराचार) उत्पन्न होते हैं। (३) स्थपति! यह सारे अकुशल-शील कहाँ निरुद्ध होते हैं?—निरोध भी इन का, स्थपति! कह चुके हैं—यहाँ स्थपति! भिक्षु, काय-दुश्चरित (= शरीरसे होनेवाले पाप)को छोड़, काय-सुचरित की भावना (= अभ्यास) करता है; वचन दुश्चरितको छोड़ वचन-सुचरितकी भावना करता है; मनो-दुश्चरित छोड़, मनःसुचरितकी भावना करता है। मिथ्या-आजीव (=पापकी रोज़ी)को छोड़, सम्यग्-आजीव (= धर्मकी रोज़ी)से जीविका चलाता है। यहाँ (=ऐसा करनेपर) सारे अकुशल-शील निरुद्ध होते हैं। (४) स्थपति! कैसे प्रतिपन्न होने पर अकुशल शीलोंके निरोधके लिये प्रतिपन्न होता है—स्थपति! यहाँ भिक्षु अनुत्पन्न पापों = अकुशल धर्मोंके न उत्पन्न होनेके लिये छन्द (= उद्योग) करता है = व्यायाम करता है = वीर्य-आरम्भ करता है, चित्तका निग्रह = रोक थाम, करता है। उत्पन्न पापों ० के प्रहाण (= विनाश)के लिये छन्द ० चित्तका निग्रह ० करता है। अनुत्पन्न कुशल- धर्मोंकी उत्पत्ति के लिये छन्द ०। उत्पन्न कुशल धर्मोंकी स्थिति, अलोप, वृद्धि, विपुलताके लिये, भावनाके लिये, पूर्तिके लिये छन्द ०। स्थपति! इस प्रकार प्रतिपन्न होनेपर अकुशल शीलोंके निरोधके लिये प्रतिपन्न होता है।

"स्थपति! (५) क्या हैं कुशल-शील?—कुशल-(= नेक) कायकर्म, कुशल-वचन कर्म, कुशल मनः=कर्म; स्थपति! इन्हें मैं कुशल शील कहता हूँ।···(६) स्थपति! यह कुशल शील कहाँसे उत्पन्न होते हैं?—···चित्तसे उत्पन्न कहना चाहिये। क्या है चित्त?—चित्त भी स्थपति! बहुत अनेक प्रकार = नाना प्रकारका है—वह चित्त वीत-राग, वीत-द्वेष (= द्वेष-रहित) वीत-मोह होता है। इन्हींसे कुशल-शील उत्पन्न होते हैं। (७) स्थपति! यह सारे कुशल शील कहाँ निरुद्ध होते हैं?—निरोध भी इनका, स्थपति! कह चुके हैं—यहाँ स्थपति! भिक्षु शीलवान् होता है, किन्तु शील-मय (= शीलाभिमानी) नहीं; और उस चेतो-विमुक्ति, प्रज्ञा-विमुक्तिको ठीकसे जानता है, जहाँ इसके सारे कुशल-शील निरुद्ध होते हैं। (८) स्थपति! कैसे प्रतिपन्न (= मार्गारूढ़) होनेपर, कुशल-शीलोंके निरोधके लिये प्रतिपन्न होता है?—स्थपति! यहाँ भिक्षु अनुत्पन्न पापों ० के न उत्पन्न होनेके लिये ० वीर्यारम्भ (= उद्योगारम्भ) करता है, चित्तका निग्रह=रोक-थाम करता है। ० उत्पन्न पापों ० के प्रहाण (= नाश)के लिये ०। ० अनुत्पन्न कुशलोंकी उत्पत्तिके लिये ०। ० उत्पन्न कुशलोंकी स्थिति ० पूर्तिके लिये ०। स्थपति! इस प्रकार प्रतिपन्न होने पर ०।

"स्थपति! (१) क्या हैं अकुशल-संकल्प?—काम-संकल्प, व्यापाद-(= द्वेष)-संकल्प, विहिंसा (= हिंसा)-संकल्प। स्थपति! यह अकुशल-संकल्प कहे जाते हैं। (२) स्थपति! यह अकुशल-संकल्प कहाँसे उत्पन्न होते हैं?—···संज्ञा (= ख्याल)से उत्पन्न कहना चाहिये। क्या है संज्ञा (= ख्याल)?—संज्ञा भी बहुत अनेकविध = नाना प्रकार की है—(जैसे) काम-संज्ञा, व्यापार संज्ञा, विहिंसा संज्ञा यहाँसे अकुशल-संकल्प उत्पन्न होते हैं। (३) स्थपति! यह सारे अकुशल-संकल्प कहाँ निरुद्ध होते हैं?—यहाँ, स्थपति! भिक्षुकामोंसे विरहित ०[1] प्रथम ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। यहाँ यह सारे अकुशल-संकल्प निरुद्ध होते हैं। (४) स्थपति! कैसा प्रतिपन्न अकुशल संकल्पोंके निरोधकेलिये प्रतिपन्न होता है?—यहाँ, स्थपति! भिक्षु अनुत्पन्न पाप = अकुशल धर्मोंके अनुत्पादके लिये ०। ० उत्पन्न ० अकुशल धर्मोंके प्रहाण केलिये ०। ० अनुत्पन्न कुशल-धर्मों (= भलाइयों) को उत्पत्तिकेलिये ०। ० उत्पन्न कुशल-धर्मों

---

[1] देखो पृष्ठ १५।

की स्थिति ० पूर्तिकेलिये ०। स्थपति ! इस प्रकार प्रतिपन्न अकुशल-संकल्पोंके निरोधके लिये प्रतिपन्न होता है।

"स्थपति ! (५) क्या है कुशल-संकल्प (= अच्छा संकल्प) ?—नैष्काम्य (= काम रहित होनेका)-संकल्प, अ-व्यापाद-संकल्प, अ-विहिंसा-संकल्प।···(६) स्थपति ! यह कुशल-संकल्प कहाँसे उत्पन्न होते हैं ?—···संज्ञासे उत्पन्न कहना चाहिये। क्या है, संज्ञा ?—संज्ञा भी बहुत अनेकविध = नाना प्रकारकी है—(जैसे) नैष्काम्य-संज्ञा, अव्यापाद-संज्ञा, अ-विहिंसा (= अहिंसा)-संज्ञा। यहाँसे कुशल संकल्पोंकी उत्पत्ति होती है। (७) स्थपति ! यह सारे कुशल-संकल्प कहाँ निरुद्ध होते हैं ?—···यहाँ स्थपति ! भिक्षु वितर्क और विचारके शान्त होनेपर ०[1] द्वितीय ध्यानको प्राप्तहो विहरता है। यहाँ यह सारे कुशल संकल्प निरुद्ध होते हैं। (८) स्थपति ! कैसा प्रतिपन्न कुशल संकल्पोंके निरोधके लिये प्रतिपन्न होता है ?—यहाँ स्थपति ! भिक्षु अनुत्पन्न पाप = अकुशल धर्मोंके अनुत्पादके लिये ०। ० उत्पन्न ० अकुशल धर्मोंके प्रहाणके लिये ०। ० अनुत्पन्न कुशलधर्मों की उत्पत्तिके लिये ०। उत्पन्न कुशल धर्मोंकी स्थिति ० पूर्तिके लिये ०। स्थपति ! इस प्रकार प्रतिपन्न कुशल-संकल्पोंके निरोधके लिये प्रतिपन्न होता है।

"स्थपति ! किन दश धर्मोंसे युक्त पुरुष = पुद्गल को मैं सम्पन्न कुशल। ० अ-योध्य कहता हूँ ?—यहाँ स्थपति ! भिक्षु (१) अशैक्ष्य (= अर्हत्की) सम्यग्-दृष्टि ०[1] से युक्त होता है; (२) अशैक्ष्य सम्यक्-संकल्प ०; (३) अशैक्ष्य सम्यग्-वचन ०; (४) अशैक्ष्य सम्यक्-कर्मान्त ०; (५) अशैक्ष्य सम्यग्-आजीव ०; (६) अशैक्ष्य सम्यग्-व्यायाम ०; (७) अशैक्ष्य सम्यक्-स्मृति ०; (८) अशैक्ष्य सम्यक्-समाधि ०; (९) अशैक्ष्य सम्यग्-ज्ञान ०; (१०) अशैक्ष्य सम्यग्-विमुक्तिसे युक्त होता है। स्थपति ! इन दश धर्मोंसे युक्त पुरुष=पुद्गलको मैं सम्पन्न-कुशल ० कहता हूँ।"

भगवान्‌ने यह कहा, सन्तुष्ट हो पंचकांग स्थपतिने भगवान्‌के भाषणको अभिनंदित किया।

७९—चूल-सकुलुदायि-सुत्तन्त (२।३।९)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् राजगृहमें वेणुवन कलन्दक-निवापमें विहार करते थे। उस समय सकुल-उदायी परिव्राजक महती परिषद्के साथ परिव्राजकाराममें वास करता था।

भगवान् पूर्वाह्ण समय ०। ०[1] जहाँ सकुल-उदायी परिव्राजक था, वहाँ गये। तव सकुल-उदायी परिव्राजकने भगवान्से कहा—"आइये भन्ते ०।"

"जाने दीजिये भन्ते! इस कथाको ०। जव मैं भन्ते! इस परिषद्के पास नहीं होता, तव यह परिषद् अनेक प्रकारकी व्यर्थ कथायें (= तिरच्छाण-कथा) कहती बैठती है। और जव भन्ते! मैं इस परिषद्के पास होता हूँ, तव यह परिषद् मेरा ही मुख देखती बैठी रहती है—'हमें श्रमण उदायी जो कहेगा, उसे सुनेंगे।' जव भन्ते! भगवान् इस परिषद्के पास होते हैं, तव मैं और यह परिषद् भगवान्का मुख ताकती बैठी रहती है—'भगवान् हमें जो धर्म उपदेश करेंगे, उसे हम सुनेंगे'।"

"उदायी! तुझे ही जो मालूम पड़े, मुझे कह।"

"पिछले दिनों भन्ते! (जो वह) सर्वज्ञ=सर्वदर्शी, निखिल-ज्ञान-दर्शन (= ज्ञाता) होनेका दावा करते हैं—'चलते, खड़े, सोते-जागते भी (मुझे) निरन्तर ज्ञान-दर्शन उपस्थित रहता है।' वह मेरे शुरूसे लेकर प्रश्न पूछनेपर, इधर उधर जाने लगे, वाहरकी कथामें जाने लगे। उन्होंने कोप, द्वेप और अविश्वास प्रकट किया। तव भन्ते! मुझे भगवान्के ही प्रति प्रीति उत्पन्न हुई—'अहो! निश्चय भगवान् (हैं), अहो! निश्चय सुगत (हैं), जो इन धर्मोंमें पंडित (= कुशल) हैं।"

"कौन हैं यह उदायी! सर्वज्ञ=सर्वदर्शी ०, जो कि तेरे शुरूसे लेकर प्रश्न पूछनेपर इधर उधर जाने लगे ० अविश्वास प्रकट किये?"

"भन्ते! निगंठ नाथ-पुत्त।"

"उदायी! जो अनेक प्रकारके पूर्व-जन्मोंको जानता है ०, वह मुझे आरम्भ (= पूर्व-अंत) के विषयमें प्रश्न पूछे, और उसको मैं पूर्वान्तके विषयमें प्रश्न पूछूँ। वह मेरे पूर्वान्त-विषयक प्रश्न का उत्तर देकर, मेरे चित्तको प्रसन्न करे; और मैं उसके पूर्वान्त-विपयक प्रश्नका उत्तर देकर, उसके चित्तको प्रसन्न करूँ। जो उदायी! दिव्य ० चक्षुसे ० सत्त्वोंको च्युत होते, उत्पन्न होते देखता है। वह मुझे दूसरे छोर (= अपर-अन्त) के विपयमें प्रश्न पूछे। मैं उसे दूसरे छोरके विषयमें प्रश्न पूछूँ। वह मेरे ० प्रश्नका उत्तर दे, मेरे चित्तको प्रसन्न करे; और ० मैं उसके चित्तको ०। या उदायी! जाने दो पूर्व-अन्त, जाने दो अपर-अन्त। तुझे धर्म वतलाता हूँ—'ऐसा होने पर, यह

---

[1] देखो सन्दक-सुत्तन्त, पृष्ठ २९९।

होता है, इसके उत्पन्न होनेसे, यह उत्पन्न होता है। इसके न होनेपर यह नहीं होता। इसके निरोध (= विनाश) होनेपर यह निरुद्ध होता है।'

"भन्ते! मैं, जो कुछ कि इसी शरीरमें अनुभव किया है, उसे भी आकार-उद्देश-सहित स्मरण नहीं कर सकता, कहाँसे भन्ते! मैं अनेक-विहित पूर्व-निवासों (= पूर्व-जन्मों)को स्मरण करूँगा—०, जैसे कि भगवान्? भन्ते! मैं इस वक्त पांसु-पिशाचक (=चुड़ैल)को भी नहीं देखता, कहाँसे फिर मैं दिव्य ० चक्षुसे ० सत्त्वोंको च्युत ० उत्पन्न होते ० देखूँगा ०, जैसे कि भगवान्? भन्ते! भगवान्ने जो मुझे कहा—'उदायी! जाने दो पूर्वान्त ० इसके निरोध होने पर यह निरुद्ध होता है।' यह मेरे लिये अधिक पसन्द जान पड़ता है। क्या भन्ते! मैं अपने मत (= आचार्यक) के अनुसार प्रश्नोत्तर दे, भगवान्के चित्तको प्रसन्न करूँ?"

"उदायी! तेरे (अपने) मतमें क्या होता है?"

"हमारे मत (= आचार्यक)में भन्ते! ऐसा होता है—'यह परम-वर्ण (है), यह परम-वर्ण (है)।'

"उदायी! जो यह तेरे आचार्यकमें ऐसा होता है—'यह परम-वर्ण, यह परम-वर्ण' वह कौनसा परम-वर्ण है?"

"भन्ते! जिस वर्णसे उत्तर-तर = या प्रणीततर (= उत्तमतर) दूसरा वर्ण नहीं है, वह परम-वर्ण है।"

"कौन है उदायी! वह वर्ण; जिससे ० प्रणीततर दूसरा वर्ण नहीं है?"

"भन्ते! जिस वर्ण (= रङ्ग)से ० प्रणीततर (= अधिक, उत्तम) दूसरा वर्ण नहीं है; वह परम-वर्ण है।"

"उदायी! यह तेरी (बात) दीर्घ-(कालतक) भी चले—'जिस वर्णसे ० प्रणीततर दूसरा वर्ण नहीं ०' तो भी तू उस वर्णको नहीं बतला सकता। जैसे कि उदायी! (कोई) पुरुष ऐसा कहे—मैं जो इस जनपद (=देश)में जनपद-कल्याणी (= सुन्दरियोंकी रानी) है, उसको चाहता हूँ ० तो क्या मानते हो उदायी! क्या ऐसा होने पर उस पुरुषका कथन अ-प्रामाणिक नहीं होता?"

"अवश्य भन्ते! ऐसा होने पर उस पुरुषका कथन अ-प्रामाणिक होता है।"

"इसी प्रकार तू उदायी!—'जिस वर्णसे ० प्रणीत-तर दूसरा वर्ण नहीं, वह परम-वर्ण है' कहता है, और उस वर्णको नहीं बतलाता।"

"जैसे भन्ते! शुभ्र, उत्तम जातिकी अठकोणी, पालिश की हुई वैदूर्य-मणि (= हीरा), पांडु-कंबल (= लाल-दोशाले)में रखी, भासित होती है, चमकती है, विरोचित होती है; मरने के बाद भी आत्मा इसी प्रकारके वर्णवाला हो, अरोग (= अ-विनाशी) होता है।"

"तो क्या मानते हो, उदायी! शुभ्र०[1] वैदूर्य-मणि ० विरोचित होती है, और जो वह रात के अन्धकारमें जुगनू कीड़ा है, इन दोनों वर्णों (= रङ्गों)में अधिक चमकीला (= अभिक्रांततर) और प्रणीत-तर है?"

"जो यह भन्ते! रातके अन्धकारमें जुगनू कीड़ा है, यही इन दोनों वर्णोंमें अधिक चमकीला ० है।"

"तो क्या मानते हो, उदायी! जो वह रातके अंधकारमें जुगनू कीड़ा है और जो वह

---

[1] देखो पृष्ठ ३१९।

रातके अंधकारमें तेलका प्रदीप (है); इन दोनों वर्णोंमें कौनसा अधिक चमकीला या प्रणीत-तर है ?"

"भन्ते ! यह जो रातके अंधकारमें तेल-प्रदीप है ० ।"

"तो क्या मानते हो उदायी ! जो वह रातके अंधकारमें तेल-प्रदीप है, और जो वह रातके अंधकारमें महान् अग्नि-स्कंध (= आगका ढेर) है। इन दोनों वर्णोंमें कौनसा अधिक चमकीला ० है ?"

"भन्ते जो यह ० अग्नि-स्कंध ० ।"

"तो ० उदायी ! जो वह रातके अंधकारमें महान् अग्निस्कंध है, और जो वह रातके भिनसारमें मेघरहित स्वच्छ आकाशमें ओषधि-तारा (= शुक्र[1]) है, इन दोनों वर्णोंमें कौनसा अधिक चमकीला ० है ?"

"भन्ते जो यह ! ० ओषधि-तारा ० ।"

"तो ० उदायी ! जो वह ० ओषधि-तारा है, जो वह आधीरातको मेघ-रहित स्वच्छ आकाशमें उस दिनके उपवासकी पूर्णिमाका चन्द्र है ; इन दोनों वर्णोंमें कौनसा अधिक चमकीला ० है ?'

"भन्ते ० जो वह चन्द्र ० ।"

"तो ० उदायी ! जो वह ० चन्द्र है, और जो वह वर्षाके पिछले मास, शरद्के समय मेघ-रहित स्वच्छ आकाशमें मध्याह्नके समय सूर्य है; इन दोनों वर्णोंमें कौनसा अधिक चमकीला ० है ?"

"भन्ते ! जो यह सूर्य ० ।"

"उदायी ! मैं ऐसे बहुतसे देवताओंको जानता हूँ, जिनमें इन चन्द्र-सूर्यका प्रकाश नहीं लगता। तब भी मैं नहीं कहता—'जिस वर्णसे प्रणीत-तर ० दूसरा वर्णन हीं ०' । और तू तो उदायी ! जो यह जुगनू कीड़ेसे भी हीन-तर निकृष्ट-तर वर्ण है, वही परम-वर्ण है, उसीका वर्ण (= तारीफ) बखानता है।"

"कैसा यह अच्छा भगवान् ! कैसा यह अच्छा सुगत !"

"उदायी ! क्या तू ऐसे कह रहा है—'कैसा यह अच्छा ० ।"

"भन्ते ! हमारे आचार्यक (= मत)में ऐसा होता हैं,—'यह परम-वर्ण है' 'यह परम-वर्ण है' । सो हम भन्ते ! भगवान्के साथ अपने आचार्यकके विषयमें पूछने = अवगाहन करने = सम्-अनुभाषण करनेपर रिक्त = तुच्छ = अपराधी (से) हैं।"

"क्या उदायी ! लोक एकान्त-सुख (= सुख-मय) है ? एकांत-सुखवाले लोकके साक्षात्कारके लिये क्या (कोई) आकारवती (= सविस्तर) प्रतिपद् (= मार्ग) है ?"

" भन्ते ! हमारे आचार्यकमें ऐसा होता है—एकांत-सुखवाला लोक है, एकांत-सुखवाले लोकके साक्षात्कारके लिये आकार-वती प्रति-पद् भी है।"

" कौन सी है उदायी ! ० आकारवती प्रतिपद् ?"

" यहाँ भन्ते ! कोई (पुरुष) प्राणातिपातको छोड़, प्राण-हिंसासे विरत होता है। अदत्तादान (= बिना दिया लेना = चोरी) छोड़, अदत्तादानसे विरत होता है, ० काम-मिथ्याचार

---

[1] अ. क. "ओसधी-तारका = सुक-तारका (= शुक्रतारा) चूँकि उसके उदय-आरम्भसे ओषध ग्रहण करते भी हैं, इसलिये ओसधीतारा कहा जाता है" ।

(= व्यभिचार)से विरत होता है। ० मृपावाद (= झूठ बोलने)से विरत होता है। किसी एक तपोगुणको लेकर रहता है। यह है भन्ते! ० आकारवती प्रतिपद्।"

"तो ० उदायी! जिस समय प्राणातिपात-विरत होता है, क्या उस समय आत्मा एकांत-सुखी (= केवल सुख अनुभव करने वाला) होता है, या सुख-दुःखी?"

"सुख-दुःखी, भन्ते!"

"तो ० उदायी! जिस समय ० अदत्तादान-विरत होता है, क्या उस समय आत्मा एकांत सुखी होता है, या[1] सुख-दुःखी?"

"सुख-दुःखी, भन्ते!"

"तो ० उदायी! जिस समय ० काम-मिथ्याचार-विरत ०।०। मृपावाद ०।०। ० किसी एक तपो-गुणसे युक्त होता है। क्या उस समय आत्मा एकांत-सुखी होता है, या सुख-दुःखी?"

"सुख-दुःखी भन्ते!"

"तो क्या मानते हो, उदायी! क्या व्यवकीर्ण (= मिश्रित) (पुरुष)को सुख-दुःख (मिश्रित) मार्ग (= प्रतिपद्)को पाकर, एकांत-सुखवाले लोकका साक्षात्कार होता है?"

"कैसा यह अच्छा! भगवान्!! कैसा यह अच्छा! सुगत!!"

"उदायी! क्या तू यह ऐसे कह रहा है—'कैसा यह अच्छा ०'।"

"भन्ते! हमारे आचार्यक (= मत)में ऐसा होता है—एकांत-सुखवाला लोक है, एकांत-सुखवाले लोकके साक्षात्कारके लिये आकारवती प्रतिपद् है। सो भन्ते! हम भगवान्के ० भाषण करने पर तुच्छ ० हैं। क्या भन्ते! एकांत-सुखवाला लोक है? एकांत-सुखवाले लोकके साक्षात्कारके लिये आकारवती प्रतिपद् है?"

"है उदायी! एकांत-सुख लोक, है आकारवती प्रतिपद्।"

"भन्ते! एकांत-सुखवाले लोकके साक्षात्कारके लिये आकारवती प्रतिपद् कौनसी है?"

"यहाँ उदायी! भिक्षु ०[1] प्रथम-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। ० द्वितीय-ध्यानको ०। ० तृतीय-ध्यानको ०। यह है उदायी! ० आकारवती प्रतिपद्।"

"भन्ते! एकांत-सुखवाले लोकके साक्षात्कारके लिये यही आकारवती प्रतिपद् है? इतने हीसे भन्ते! उसको एकांत-सुखलोकका साक्षात्कार हो गया रहता है?"

"नहीं, उदायी! इतनेसे एकांत-सुखवाले लोकका साक्षात्कार (नहीं) हो गया रहता; यह तो एकांत-सुखलोकके साक्षात्कारकी आकारवती प्रतिपद् है।"

ऐसा कहनेपर सकुल-उदायी परिव्राजककी परिषद् उन्नादिनी = उच्चशब्द—महाशब्द (= कोलाहल) करनेवाली हुई—यहाँ हम अपने मतसे नष्ट होंगे, यहाँ हम भ्रष्ट (= प्रणष्ट) होंगे। इससे अधिक उत्तम हम नहीं जानते। तब सकुल-उदायी परिव्राजकने, उन परिव्राजकोंको चुपकरा, भगवान्से कहा—

"भन्ते! कितनेसे इस (पुरुष)को एकान्त-सुखवाले लोकका साक्षात्कार होता है?"

"यहाँ उदायी! भिक्षु सुखको भी छोड़ ०[1] चतुर्थ ध्यानको प्राप्त हो विहरता है, (तब) जितने देवता एकान्त-सुखलोकमें उत्पन्न हैं, उन देवताओंके साथ ठहरता है, संलाप करता है,

---

[1] पृष्ठ १५।

साक्षात्कार करता है। इतनेसे उदायी! इसको एकांत-सुखवाला लोक साक्षात्कृत (= प्रत्यक्ष) होता है।

"उदायी! इसी ० के लिये मेरे पास ब्रह्मचर्य नहीं पालन करते। उदायी! दूसरे उत्तर-तर = प्रणीततर (= इससे भी उत्तम) धर्म हैं, जिनके साक्षात्कारके लिये भिक्षु मेरे पास ब्रह्मचर्य पालन करते हैं।"

"भन्ते! वह धर्म ० कौनसे हैं?"

"उदायी! यहाँ लोकमें तथागत उत्पन्न होते हैं ०[1] बुद्ध भगवान् ०। वह इन पाँच नीवरणोंको छोड़ चित्तके उपक्लेशों (= मलों)को ० प्रथम-ध्यान ०, ० द्वितीय-ध्यान ०, ० तृतीय-ध्यान ०, ० चतुर्थ-ध्यानको प्राप्त हो विहरते हैं। यह भी उदायी! धर्म उत्तर-तर = प्रणीत-तर है, जिसके साक्षात्कारके लिये भिक्षु मेरे पास ब्रह्मचर्य-पालन करते हैं। वह ०[2] अनेक प्रकारके पूर्व निवासको अनुस्मरण करते हैं ०। ०। च्युत और उत्पन्न होते प्राणियोंको जानते हैं ०। ०। ० दुःखनिरोध-गामिनी-प्रतिपद् ० आस्रव-निरोध-गामिनी-प्रतिपद्को यथार्थतः जानते हैं '० यहाँ कुछ नहीं है', जानते हैं, यह उदायी! उत्तरतर ० धर्म है, जिसके ० लिये ० मेरे पास ब्रह्मचर्य-पालन करते हैं।"

ऐसा कहनेपर उदायी परिव्राजकने भगवान्···(से प्रव्रज्या माँगी, तब उसकी परिषद्ने) कहा—

"उदायी! आप श्रमण गौतमके पास मत ब्रह्मचर्यवास करें (= मत शिष्य हों), मत आप उदायी आचार्य होकर अन्तेवासी (= शिष्य)की तरह वास करें, जैसे करका (= मटकी) होकर पुरवा होवे, इसी प्रकारकी यह सम्पत् (= अवस्था) आप उदायीकी होगी। आप उदायी! श्रमण गौतम ०।"

इस प्रकार सकुल-उदायी ० की परिषद्ने सकुल-उदायी ० को भगवान्के पास ब्रह्मचर्यपालन करनेमें विघ्न डाला।

८०—वेखणस-सुत्तन्त (२।३।१०)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथपिंडिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे।

तब वेखणस (= वैखानस) परिव्राजक जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया; जाकर भगवान्के साथ···संमोदनकर एक ओर खड़ा हुआ। एक ओर खड़े वेखणस परिव्राजकने भगवान्के पास यह उदान (= आनंदोल्लासमें निकली वाक्यावली) उदाना—'यह परम (= उत्तम) वर्ण है।'

"क्या है, वह परम वर्ण?"

"भो गौतम! जिस वर्णसे अधिक अच्छा=प्रणीततर दूसरा वर्ण नहीं है, वह परम-वर्ण है।"

"कात्यायन[1]! वह कौनसा वर्ण है, जिस वर्णसे अधिक अच्छा = प्रणीततर दूसरा वर्ण नहीं है।"

"भो गौतम! जिस वर्णसे अधिक अच्छा = प्रणीततर दूसरा वर्ण नहीं है, वह परम-वर्ण है।"

"कात्यायन! इस वचनको काहे लम्बा बढ़ाता बोल रहा है—'भो गौतम! जिस वर्णसे ० वह परमवर्ण है'; किन्तु उस वर्णको नहीं बतलाता। जैसे कात्यायन! कोई पुरुष ऐसा कहे—इस जनपद (= देश)में जो जनपद-कल्याणी (= देशकी सुन्दरतम स्त्री) है, मैं उसको चाहता हूँ, उसकी कामना करता हूँ। उसको यदि (लोग) ऐसा पूछें—'हे पुरुष! जिस जनपद-कल्याणीको तू चाहता है, कामना करता है; जानता है, वह क्षत्रियाणी है, ब्राह्मणी है, वैश्य-स्त्री है, या शूद्री है'?—ऐसा पूछनेपर 'नहीं' कहे। तब उससे पूछें—'हे पुरुष! जिस जनपद-कल्याणीको तू चाहता है, (वह) अमुक नामवाली, अमुक गोत्रवाली है; लम्बी, छोटी या मझोली, है; काली, श्यामा या मंगुर (मछलीके) वर्णकी है; अमुक ग्राम, निगम या नगरमें रहती है?'—ऐसा पूछनेपर 'नहीं' कहे। तब उससे यह पूछें—'हे पुरुष! जिसको तू नहीं जानता, जिसको तूने नहीं देखा; उसको तू चाहता है; उसकी तू कामना करता है?'—ऐसा पूछनेपर 'हाँ' कहे। तो क्या मानता है, कात्यायन! ऐसा कहनेपर क्या उस पुरुषका कथन अर्थहीन नहीं होता?"

"जरूर, भो गौतम! ऐसा कहनेपर उस पुरुषका कथन अर्थहीन हो जाता है।"

"ऐसे ही कात्यायन! तू कहता है—'भो गौतम! जिस वर्णसे ० वह परमवर्ण है', किन्तु उस वर्णको नहीं बतलाता।

"जैसे भो गौतम! शुभ्र उत्तम जातिकी अठकोणी पालिशकी हुई वैदूर्य-मणि (=हीरा) ०[2]।

" ० [2]और तू तो कात्यायन! जो यह जुगनू कीड़ेसे भी हीनतर निकृष्टतर वर्ण है, उसीको

---

[1] यह इस परिव्राजकका गोत्र था।

[2] देखो पृष्ठ ३१९।

परसवर्ण (कहता है), उसीकी प्रशंसा करता है ।

"कात्यायन ! यह पाँच काम-गुण[1] (= विषयभोग) हैं। कौनसे पाँच ?—(१) इष्ट, कान्त ०[1] चक्षुद्वारा विज्ञेय रूप; (२) ०[1] श्रोत्र-विज्ञेय शब्द; (३) ०[1] घ्राण-विज्ञेय गंध; (४) ०[1] जिह्वा-विज्ञेय रस; (५) ०[1] काय-विज्ञेय स्प्रष्टव्य। कात्यायन ! यह पाँच काम-गुण हैं। कात्यायन ! इन पाँच काम-गुणोंको लेकर जो सुख = सौमनस्य उत्पन्न होता है, वह काम-सुख कहा जाता है। इस प्रकार कामोंसे काम-सुख और काम-सुखसे काम-अग्र (= श्रेष्ठ भोग) सुख श्रेष्ठ कहा जाता है।"

ऐसा कहनेपर वेखणस परिव्राजकने भगवान्‌से यह कहा—

"आश्चर्य ! भो गौतम ! अद्भुत !! भो गौतम ! क्या सुभाषित (= ठीक कहा) आप गौतमका है—कामोंसे काम-सुख, और कामसुख से कामाग्र-सुख श्रेष्ठ कहा जाता है।"

"कात्यायन ! अन्य दृष्टिक (= दूसरा मत रखनेवाले) = अन्य-क्षान्तिक = अन्य-रुचिक, अन्यत्र-आयोग (= आसक्ति) वाले, अन्यत्र-आचार्यक (= दूसरा ज्ञान रखनेवाले) तेरे लिये काम, काम-सुख, कामाग्र-सुख—यह जानना दुष्कर है। कात्यायन ! जो वह भिक्षु अर्हत् ब्रह्मचर्य वासकर चुके, कृतकरणीय, भारमुक्त ०[2] क्षीणास्रव हैं, वह इस—काम, काम-सुख, कामाग्रसुखको जान सकते हैं।"

"ऐसा कहने पर वेखणस परिव्राजक कुपित=असंतुष्ट-मना हो भगवान्‌को ही खुंसाते, भगवान् पर ही नाराज होते, भगवान् को—'श्रमण गौतम ही (अज्ञताको) प्राप्त होगा'—(कह) भगवान्‌से यह बोला—

"इसी प्रकार यहाँ कोई कोई श्रमण-ब्राह्मण पूर्वान्त (= आरम्भ के छोर)को बिना जाने, पश्चिम-अन्तको बिना देखे, यह दावा करते हैं—'जन्म क्षीण होगया, ब्रह्मचर्यवास समाप्त होगया, करना था सो कर लिया, अब यहाँ और करनेको नहीं—यह हम जानते हैं।' उनका यह कथन ह्रस्वक (छोटा) लासक रिक्त = तुच्छ ही होता है।"

"कात्यायन ! जो श्रमण ब्राह्मण पूर्वान्त बिना जाने ० यह दावा करते हैं—'जन्म क्षीण होगया ० यह हम जानते हैं' उनका यह धार्मिक निग्रह होता है। कात्यायन ! रहे पूर्वान्त, रहे पश्चिमान्त; कोई सरल, अ-शठ = अ-मायावी विज्ञ पुरुष आवे; मैं उसे अनुशासन करता हूँ, मैं (उसे) धर्मोपदेश करता हूँ। (मेरे) अनुशासनके अनुसार आचरण करते जल्दी ही स्वयं जानेगा, स्वयं देखेगा—'इस प्रकार अविद्या (रूपी) बंधनसे मुक्ति होती है। जैसे, कात्यायन ! उतान सोनेवाला, अबोध छोटे बच्चेके (दो हाथों-दो पैरों) और पाँचवें कंठमें सूतके बंधन बँधे हों; उसके होश सँभालनेपर, इन्द्रियों (= ज्ञान)के परिपक्व होने पर वह बंधन छूट जाते हैं। वह 'मैं मुक्त हूँ' यही जानता है, बंधनको नहीं (जानता); ऐसे ही कात्यायन ! ० कोई ० विज्ञ पुरुष आवे ० स्वयं देखेगा—'इस प्रकार अविद्या-बंधनसे मुक्ति होती है'।"

ऐसा कहने पर वेखणस परिव्राजकने भगवान्‌से यह कहा—

"आश्चर्य ! भो गौतम ! आश्चर्य !! भो गौतम ! जैसे औंधेको सीधा करदे ०[3] यह मैं भगवान् गौतमकी शरण जाता हूँ, धर्म और भिक्षु-संघकी भी। आप गौतम आजसे मुझे अंजलिबद्ध शरणागत उपासक स्वीकार करें।"

(इति परिब्बाजक वग्ग ॥ २।३ ॥)

---

[1] देखो पृष्ठ ९३। [2] देखो पृष्ठ २८४। [3] देखो पृष्ठ १५।

८१—घटिकार-सुत्तन्त (२।४।१)

त्यागमय गृहस्थ-जीवन

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् महान् भिक्षुसंघके साथ कोसल (देश)में चारिका (= रामत, भ्रमण) कर रहे थे।

तब भगवान्‌ने मार्गसे हट कर एक स्थानपर स्मित (= मुस्कुराहट) प्रकाशित किया। तब आयुष्मान् आनंदको यह हुआ—'क्या हेतु = क्या प्रत्यय है, भगवान्‌के स्मित करनेका? तथागत बिना कारणके स्मित प्रकट नहीं किया करते।' तब आयुष्मान् आनंद एक (बायें) कंधे पर उत्तरा संगको करके, जिधर भगवान् थे, उधर अंजलि जोड़कर भगवान्‌से यह बोले—

"भन्ते! क्या हेतु=क्या प्रत्यय है भगवान्‌के स्मित प्रकट करनेका? भन्ते! तथागत बिना कारणके स्मित प्रकट नहीं किया करते।"

"आनन्द! पूर्वकालमें इस प्रदेशमें ऋद्ध (= समृद्ध) = स्फीत, बहुजनाकीर्ण वेहलिंग नामक ग्राम-निगम था। वेहलिंगके समीप भगवान् काश्यप अर्हत् सम्यक्-संबुद्ध विहार किये थे। आनन्द! यहाँ भगवान् काश्यप अर्हत् सम्यक्-संबुद्धने बैठकर भिक्षु संघको उपदेश किया था।"

तब आयुष्मान् आनंदने चौपेती संघाटीको बिछा कर, भगवान्‌से यह कहा—

"तो भन्ते! भगवान् बैठें, इस प्रकार यह स्थान दो अर्हतोंसे सेवित होगा।"

भगवान् बिछे आसन पर...बैठकर आयुष्मान् आनंदसे बोले—

"आनंद! पूर्वकालमें इस प्रदेशमें ऋद्ध = स्फीत, बहुजनाकीर्ण वेहलिंग नामक ग्राम-निगम था। वेहलिंगके समीप भगवान् काश्यप अर्हत् सम्यक्-संबुद्ध विहार किये थे। यहाँ आनंद! भगवान् काश्यप ० का आराम था। यहाँ आनंद! भगवान् काश्यप ० भिक्षु-संघको उपदेश करते थे।

"आनन्द! वेहलिंग ग्राम-निगममें घटिकार नामक कुम्भकार (= कुम्हार) भगवान् काश्यप ०का अग्र-उपस्थाक (= प्रधानसेवक) रहता था। घटिकार कुम्भकारका जोतिपाल नामक माणवक (= ब्राह्मण-तरुण) प्रियमित्र था। तब आनन्द! घटिकार कुम्भकारने जोतिपाल माणवकको सम्बोधित किया—'आओ चलें सौम्य जोतिपाल! भगवान् काश्यप ० के दर्शनको। उन भगवान् अर्हत् सम्यक्-सम्बुद्धका दर्शन साधु-सम्मत है।' ऐसा कहने पर आनन्द! जोतिपाल माणवकने घटिकार कुम्भकारसे यह कहा—'रहने दो सौम्य घटिकार! उस मुंडक श्रमणकके देखनेसे क्या (फल)?' दूसरी बार भी घटिकार ०। तीसरी बार भी घटिकार कुम्भकारने जोतिपाल माणवकको सम्बोधित किया—'आओ चलें सौम्य जोतिपाल! ० दर्शन साधु-सम्मत है'। तीसरी बार भी आनंद! जोतिपाल माणवकने घटिकार कुम्भकारसे यह कहा—'रहने दो सौम्य घटिकार! उस मुंडक श्रमणकके देखनेसे क्या?' 'तो सौम्य जोतिपाल! स्नान-चूर्ण-पिंड (सोत्ति सिनाति) ले

चलो नहानेके लिये नदी चलें।' 'अच्छा, सौम्य'—(कह) जोतिपाल माणवकने घटिकार कुम्भकार को उत्तर दिया। तब आनन्द ! घटिकार कुम्भकार और जोतिपाल माणवक सोत्ति-सिनातिको लेकर स्नानके लिये नदी गये। तब आनन्द घटिकार कुम्भकारने जोतिपाल माणवकसे कहा—'सौम्य जोतिपाल ! यह पास में भगवान् काश्यप ० का आराम है; आओ चलें सौम्य जोतिपाल ! ० उन भगवान् ० का दर्शन साधु-सम्मत है।' ऐसा कहनेपर आनन्द ! जोतिपाल माणवकने घटिकार कुम्भकारसे यह कहा—'रहने दो सौम्य घटिकार ! ०।' दूसरी बार भी ०। तीसरी बार भी ०।

"तब आनन्द ! घटिकार कुम्भकारने जोतिपाल माणवकका कपड़ा पकड़कर कहा—'सौम्य जोतिपाल ! यह पासमें भगवान् काश्यप ० का आराम है; आओ चलें सौम्य जोतिपाल ! ० उन भगवान् ० दर्शन साधु-सम्मत है'। तब आनन्द ! जोतिपाल माणवक कपड़ा समेटकर घटिकार कुम्भकारसे यह बोला—'रहने दो सौम्य घटिकार ! ०।' तब आनन्द ! घटिकार कुम्भकारने शिरसे नहाये जोतिपाल माणवकके केशपर हाथ फेरकर यह कहा—'सौम्य जोतिपाल ! यह पासमें ० दर्शन साधु-सम्मत है।' तब आनन्द ! जोतिपाल माणवकको यह हुआ—आश्चर्य भो ! अद्भुत भो ! जोकि यह घटिकार कुम्भकार इतरजाति (= नीच जाति) का होते भी शिरसे नहाये हमारे केशको छू रहा है। यह छोटी बात न होगी; और घटिकार कुंभकारसे बोला—'अच्छा, सौम्य घटिकार !' 'अच्छा, सौम्य जोतिपाल ! उन भगवान् ० का दर्शन वैसा साधु सम्मत है।' 'तो सौम्य घटिकार ! छोड़ो चलूँगा'।

"तब आनंद ! घटिकार कुंभकार और जोतिपाल माणवक जहाँ भगवान् काश्यप अर्हत् सम्यक्-संबुद्ध थे वहाँ गये। घटिकार कुम्भकार भगवान् काश्यप ० को अभिवादन कर एक ओर बैठ गया। जोतिपाल माणवक भी भगवान् काश्यप ० के साथ···सम्मोदनकर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे आनंद ! घटिकार कुम्भकारने भगवान् काश्यप ० से यह कहा—'भन्ते ! यह जोति-पाल माणवक मेरा प्रियमित्र है, इसे भगवान् धर्मोपदेश करें'। तब आनंद ! भगवान् काश्यप ० ने घटिकार कुम्भकार और जोतिपाल माणवकको धार्मिक कथाद्वारा संदर्शित = समादपित, समुत्ते-जित, संप्रशंसित किया। तब आनंद ! घटिकार कुम्भकार और जोतिपाल माणवक भगवान् काश्यप ० की धार्मिक कथाद्वारा ० समुत्तेजित संप्रशंसित हो, भगवान् काश्यप ० के भाषणको अभिनंदित अनुमोदित कर, आसनसे उठ, भगवान् काश्यपको अभिवादन कर प्रदक्षिणा कर चले गये।

"तब आनंद ! जोतिपाल माणवकने घटिकार कुम्भकारसे यह कहा—'अहो ! सौम्य घटिकार ! धर्म सुनते भी तो घरसे बेघर हो प्रव्रजित नहीं होता।' क्यों सौम्य जोतिपाल ! तुम जानते हो, अंधे माता-पिताको मैं पोसता हूँ ?' 'तो सौम्य घटिकार ! मैं घरसे बेघर हो प्रव्रजित होता हूँ ?'

"तब आनंद ! घटिकार कुम्भकार और जोतिपाल माणवक जहाँ भगवान् काश्यप ० थे, वहाँ गये। ० एक ओर बैठे घटिकार कुम्भकारने भगवान् काश्यप ० से यह कहा—'भन्ते ! यह जोतिपाल माणवक मेरा प्रियमित्र है, इसे भगवान् प्रव्रजित करें।' आनंद ! जोतिपाल माणवकने भगवान् काश्यप ० के पास प्रव्रज्या उपसम्पदा पाई।

"तब आनंद ! जोतिपालके उपसम्पन्न (= भिक्षु) होनेके थोड़े ही समय बाद, पन्द्रह दिन बाद, भगवान् काश्यप ० वेहलिंगमें इच्छापूर्वक विहार कर **वाराणसीकी** ओर चल दिये। क्रमशः चारिका करते जहाँ वाराणसी है, वहाँ पहुँचे। वहाँ आनन्द ! भगवान् काश्यप ० वाराणसीमें **ऋषिपतन मृगदावमें** विहार करते थे। आनन्द ! **काशिराज किकिने** सुना—भगवान् काश्यप ०

वाराणसीमें पहुँच···ऋषिपतन मृगदावमें विहार करते हैं। तब आनन्द! काशिराज काशिराज किकि उत्तमोत्तम यानोंको जुड़वाकर, (एक) उत्तम यान (= रथ) पर (स्वयं) आरूढ़ हो उत्तमोत्तम यानोंके साथ बड़े ० राजसी ठाटबाटके साथ भगवान् काश्यप ० के दर्शनार्थ वाराणसी (= बनारस)से निकला। जितना यानका रास्ता था, उतना यानसे जा (फिर) यानसे उतर पैदल ही जहाँ भगवान् काश्यप ० थे, वहाँ जाकर···भगवान् काश्यप ० को अभिवादन-कर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे काशिराज किकिने भगवान् काश्यप ० ने धार्मिककथासे ० समुत्तेजित संप्रशंसित किया। तब भगवान् काश्यप ० से ० संप्रशंसित हो काशिराज किकि भगवान् काश्यप ० से यह बोला—'भन्ते! भगवान् भिक्षु-संघके साथ कलके लिये मेरा भोजन स्वीकार करें। भगवान् काश्यप ० ने मौनसे स्वीकार किया। तब आनंद! काशिराज किकिने भगवान् काश्यप ० की स्वीकृतिको जान कर, आसनसे उठ भगवान् काश्यप ० को अभिवादन कर प्रदक्षिणा कर चला गया।

"तब आनंद! काशिराज किकिने उस रातके बीतनेपर अपने मकानपर कालिमारहित पंडुमुटिक (लाल धानका भात), अनेक व्यंजनों (= तिमँन)का उत्तम खाद्य-भोज्य तैयार करा, भगवान् काश्यप ० को कालकी सूचना दी—'(भोजनका) काल है भन्ते! भात तैयार है'। तब आनंद! पूर्वाह्णके समय पहिनकर पात्र-चीवर ले भिक्षुसंघके साथ भगवान् काश्यप ० जहाँ काशिराज किकिका घर था, वहाँ गये; जाकर भिक्षुसंघके साथ बिछे आसनपर बैठे। तब आनंद! काशिराज किकिने बुद्धप्रमुख भिक्षुसंघको अपने हाथसे उत्तम खाद्य-भोज्य परोस संतर्पित = संप्रवारित किया।

"तब आनंद! भगवान् काश्यप ० के भोजनकर हाथ हटा लेनेपर, काशिराज किकि एक नीचा आसन ले एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे काशिराज किकि भगवान् काश्यप ० से यह कहा—'भन्ते! भगवान् वाराणसीमें वर्षावास स्वीकार करें, इस प्रकारसे संघकी सेवा होगी।' 'नहीं, महाराज! वर्षावास मेरा हो चुका'। दूसरी बार भी ०। तीसरी बार भी ०। तब आनंद! काशिराज किकिको 'भगवान् ० वाराणसीमें वर्षावास नहीं स्वीकार करते'—(सोच) दुःख हुआ, बिमनता हुई। तब आनंद! काशिराज किकिने भगवान् काश्यप ० से यह कहा—'क्या भन्ते! आपका मुझसे भी अच्छा कोई उपस्थाक (= सेवक) है?' 'महाराज! वेहलिंग नामक ग्राम-निगम है, वहाँ घटिकार नामक कुंभकार है, वह मेरा अग्र उपस्थाक है। तुझे महाराज!—भगवान् वाराणसीमें मेरा वर्षावास (निमंत्रण) स्वीकार नहीं करते—(यह सोचकर) दुःख हुआ, बेमनता हुई; घटिकार कुंभकारको यह नहीं होती, न होवेगी। महाराज! घटिकार कुंभकार बुद्धकी शरण गया है, धर्मकी शरण गया है, संघकी शरण गया है। महाराज! घटिकार कुंभकार प्राणातिपात (= हिंसा)से विरत, अदत्तादान (= चोरी)से विरत, काम-मिथ्याचारसे विरत, मृषावाद (= झूठ)से विरत, सुरा-मेरय-मद्य-प्रमादस्थान (= नशीली चीजों)से विरत है। महाराज! घटिकार कुंभकार बुद्धमें अतीव श्रद्धायुक्त, धर्ममें ०, संघमें अतीव श्रद्धायुक्त है, आर्य-कान्त शीलों (= सुन्दर सदाचारों) युक्त है। महाराज! घटिकार कुंभकार दुःख[१] में (सत्य) में संशय-रहित है, दुःख-समुदयमें संशय-रहित, दुःख-निरोधमें संशय-रहित, दुःखनिरोध गामिनी प्रतिपद् में संशयरहित है। महाराज! घटिकार कुंभकार एकाहारी, ब्रह्मचारी, शीलवान् कल्याणधर्मा (= पुण्यात्मा) है। महाराज! घटिकार कुम्भकार मणिसुवर्ण-त्यागी, सोना-चाँदी-

---

[१] देखो पृष्ठ ३९-४०।

विरत है। महाराज! घटिकार कुम्भकार मूसल (आदि कूटने खोदनेके हथियारों)-त्यागी है, अपने हाथसे पृथिवी को नहीं खोदता। उसके घर पर आनेवाले चूहे कुक्करोंको भी (भोजन) बाँट कर कहता है—यहाँ जो चावल, मूंग, या मटर जिस किसी भोजनको चाहता है, (बाकी को) छोड़ उसे ले जाये। महाराज! घटिकार कुम्भकार अंधे माता-पिताको पोसता है। महाराज! घटिकार कुम्भकार पाँच अवर-भागीय-संयोजनोंके क्षयसे उस (लोक) में औपपातिक (=देवता) हो निर्वाण पानेवाला है, उस लोकसे लौटकर न आनेवाला है।

"महाराज! एक समय मैं वेहलिंग ग्राम-निगममें विहार करता था। तब महाराज! पूर्वाह्ण समय पहिनकर पात्र-चीवर ले मैं जहाँ घटिकार कुम्भकारका घर है, वहाँ गया। जाकर घटिकार कुंभकारके माता पितासे यह कहा—'हन्त! यह भार्गव कहाँ गया है?' 'भन्ते! आपका उपस्थाक बाहर गया हुआ है, इस हँडिया (= कुम्भी[1])से भात लेकर, बर्तन (= परियोग[1])से सूप (= दाल, व्यंजन) लेकर भोजन करें।' तब महाराज! मैंने कुम्भीसे भात और परियोगसे सूप ले भोजन कर, आसनसे उठकर चल दिया। तब महाराज! घटिकार कुंभकार जहाँ (उसके) माता-पिता थे, वहाँ गया; जाकर माता-पितासे यह बोला—'कौन कुम्भीसे भात और परियोग से सूप ले भोजनकर आसनसे उठकर चला गया?' 'तात! भगवान् काश्यप ० कुम्भीसे भात ले ० भोजनकर ० चले गये।' तब महाराज! घटिकार कुंभकारको यह हुआ—'सुलाभ है हो! मेरा; (जो कि) मेरे ऊपर भगवान् काश्यप ० का इतना विश्वास है।' तब महाराज! घटिकार कुंभकार को उस प्रीतसुख (= प्रसन्नताके सुख)ने अर्ध मासतक नहीं छोड़ा, (और) माता-पिताको सप्ताह भर (नहीं छोड़ा)।

"महाराज! एक बार मैं उसी वेहलिंग ग्राम-निगममें विहार करता था। तब महाराज! मैं पूर्वाह्ण समय पहिनकर, पात्र-चीवरले जहाँ घटिकार कुंभकारके माता पिता थे, वहाँ गया। जाकर ० माता-पितासे यह बोला—'हन्त! यह भार्गव कहाँ गया है?" ०[2] तब महाराज मैं कलोपी (= बर्तन)से कुल्माष (= कुलथी), परियोगसे सूप ले, भोजनकर आसनसे उठकर चला गया।' ०[2] माता-पिताको सप्ताह भर।

"महराज! एकबार मैं उसी वेहलिंग ग्राम-निगममें विहार करता था। उस समय (मेरी) गंधकुटी चू रही थी। तब महाराज! मैंने भिक्षुओंसे कहा—'जाओ भिक्षुओ! घटिकार कुम्भकारके घर पर, तृण ढूँढ़ो।' ऐसा कहने पर महाराज! भिक्षुओंने मुझे कहा—'भन्ते! घटिकार कुम्भकारके घरपर तृण नहीं है; (किंतु) नया छाया हुआ है।' 'जाओ भिक्षुओ! घटिकार कुम्भकारके घरको तृण-बिना कर दो।' तब महाराज! उन भिक्षुओंने घटिकार कुम्भकारके घरको तृण-बिना कर दिया। तब महाराज! घटिकार कुम्भकारके माता-पिताने भिक्षुओंसे यह कहा—'कौन घरको उजाड़ रहे हैं? 'भिक्षु, भगिनी! भगवान् काश्यप ० की गंधकुटी चू रही है।' 'ले जाओ, भन्ते! ले जाओ भद्रमुखो! तब महाराज! घटिकार कुम्भकार जहाँ माता-पिता थे वहाँ गया। जाकर माता-पितासे बोला—'किनने घरको उजाड़ दिया (= बेछानका कर दिया)?' 'भिक्षु, तात! भगवान् काश्यप ० की गंधकुटी चू रही थी।' तब महाराजा! घटिकार कुम्भकार-पुत्रको ऐसा हुआ—'सुलाभ है हो! ० माता-पिताको सप्ताह भर। तब महाराज! वह सारा घर तीन मास तक आकाश-छदन (= आकाशही जिसकी छत है) रहा, किन्तु नहीं चुआ। महाराज! इस प्रकार

---

[1] कुंभी भात पकानेके बड़े बर्तनका नाम है, और परियोग दाल आदि सूप पकाने लायक बर्तनका।
[2] ऊपर जैसे ही।

का है घटिकार कुम्भकार।' 'भन्ते! घटिकार कुम्भकारको लाभ है, ० सुलाभ है, ० सु-लब्ध लाभ है, जिसपर भगवान्‌का इतना अधिक विश्वास है।

"तब आनन्द! काशिराज किकिने घटिकार कुम्भकारके पास पाँच सौ गाड़ी पंडु-मुटिक, शालीका चावल, और उसके योग्य सूपकी चीज भेजी। तब आनन्द! उन राज-पुरुषोंने घटिकार कुम्भकारके पास जाकर यह कहा—'भन्ते (= स्वामी)! यह पाँचसौ गाड़ी पंडु-मुटिक, शालीका चावल, और उसके योग्य सूपकी चीजें आपके पास काशिराज किकिने भेजी हैं, इन्हें भन्ते! स्वीकार करें।' 'राजाको बहुत कृत्य है, बहुत करणीय हैं; मेरे लिये जरूरत नहीं, राजाकी ही (यह) हो।'

"शायद, आनन्द! तुझे ऐसा हो, वह जोतिपाल माणवक कोई और होगा। आनन्द! ऐसा नहीं ख्याल करना चाहिये; मैं ही उस समय जोतिपाल माणवक था।"

भगवान्‌ने यह कहा, सन्तुष्ट हो आयुष्मान् आनन्दने भगवान्‌के भाषणको अभिनंदित किया।

८२—रट्ठपाल-सुत्तन्त (२।४।२)

त्यागमय भिक्षु-जीवन। भोगोंकी असारता

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् कुरु (देश)में महाभिक्षु-संघके साथ चारिका करते, जहाँ थुल्लकोट्ठित नामक कुरुओंका निगम (= कस्बा) था, वहाँ पहुँचे।

थुल्लकोट्ठित (= स्थूलकोष्ठित) वासी ब्राह्मण गृहपतियोंने सुना—शाक्यपुत्र ०[1] श्रमण गौतम थुल्लकोट्ठितमें प्राप्त हुये हैं ०। ०[1]इस प्रकारके अर्हतोंका दर्शन अच्छा होता है। तब थुल्लकोट्ठितके ब्राह्मण-गृहपति जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये। जाकर कोई कोई अभिवादनकर एक ओर बैठ गये। ० कोई कोई चुपचाप एक ओर बैठ गये। एक ओर बैठे थुल्लकोट्ठित-वासी ब्राह्मण गृहपतियोंको भगवान्ने धार्मिक कथासे संदर्शित, प्रेरित, समुत्तेजित, संप्रशंसित किया।

उस समय उसी थुल्लकोट्ठितके अग्र-कुलिकका पुत्र राष्ट्र-पाल उस परिषद्में बैठा था। तब राष्ट्र-पालको ऐसा हुआ जैसे भगवान् धर्म उपदेशकर रहे हैं, यह अत्यन्त परिशुद्ध संखसा धुला ब्रह्मचर्य-पालन गृहमें वास करते सुकर नहीं है। क्यों न मैं केश-श्मश्रु मुंडाकर, काषाय वस्त्र पहिनकर, घरसे बेघर हो प्रव्रजित होजाऊँ। तब थुल्लकोट्ठित-वासी ब्राह्मण-गृहपति भगवान्से धार्मिक कथा द्वारा ० समुत्तेजित, संप्रशंसित हो, भगवान्के भाषणको अभिनंदन, अनुमोदनकर, आसनसे उठ, भगवान्को अभिवादनकर, प्रदक्षिणाकर, चले गये। तब राष्ट्र-पाल कुलपुत्र ० ब्राह्मणोंके चले-जानेके थोड़ी ही देर बाद जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया, जाकर भगवान्को अभिवादनकर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे राष्ट्रपाल कुल-पुत्रने भगवान्से कहा—

"भन्ते! जैसे जैसे मैं भगवान्के उपदेश किये धर्मको समझता हूँ, यह ० शंख-लिखित ब्रह्मचर्य-पालन गृहमें वास करते सुकर नहीं है। भन्ते! मैं भगवान्के पास प्रव्रज्या पाऊँ, उपसंपदा पाऊँ।"

"राष्ट्र-पाल! क्या तूने मातापितासे घरसे बेघर हो प्रव्रज्याके लिये आज्ञा पाई है?"

"भन्ते! ० आज्ञा नहीं पाई।"

"राष्ट्रपाल! माता-पितासे बिना आज्ञा पायेको तथागत प्रव्रजित नहीं करते।"

"भन्ते! सो मैं वैसा करूँगा, जिसमें माता-पिता मुझे ० प्रव्रज्याके लिये आज्ञा दें।"

"तब राष्ट्रपाल कुल-पुत्र आसनसे उठकर, भगवान्को अभिवादनकर, प्रदक्षिणाकर जहाँ माता-पिता थे, वहाँ गया। जाकर माता-पितासे कहा—

"अम्मा! तात! जैसे जैसे मैं भगवान्के उपदेश किये धर्मको समझता हूँ, यह ० शंख-लिखित (= छिले शंखकी तरह निर्मल श्वेत) ब्रह्मचर्य-पालन, गृहमें वास करते सुकर नहीं है।

[1] देखो पृष्ठ २४, १५८।

में ० प्रव्रजित होना चाहता हूँ। घरसे बेघर हो प्रव्रजित होनेके लिये मुझे आज्ञा दो।"

ऐसा कहनेपर राष्ट्रपाल कुल-पुत्रके माता-पिताने राष्ट्र-पाल ० से कहा—

"तात राष्ट्रपाल ! तुम हमारे प्रिय = मनाप, सुखमें बढ़े, सुखमें पले एक पुत्रहो। तात राष्ट्रपाल ! तुम दुःख कुछ भी नहीं जानते। आओ तात राष्ट्रपाल ! खाओ, पियो, विचरो। खाते-पीते-विचरते, कामोंका परिभोग करते, पुण्य करते, रमण करो। हम तुम्हें ० प्रव्रज्याके लिये आज्ञा न देंगे। मरनेपर भी हम तुमसे बे-चाह न होंगे, तो फिर कैसे हम तुम्हें जीते जी ० प्रव्रजित होने की आज्ञा देंगे।"

दूसरी बार भी ०। तीसरी बार भी ०।

तब राष्ट्रपाल कुलपुत्र माता-पिताके पास प्रव्रज्या (की आज्ञा)को न पा, वहीं नंगी धरती पर पड़ गया।—'यहीं मेरा मरण होगा, या प्रव्रज्या'। तब ० माता-पिताने राष्ट्रपाल ० से कहा—

"तात राष्ट्रपाल ! तुम हमारे प्रिय ० एक पुत्र हो ०।"

ऐसा कहनेपर राष्ट्रपाल कुल-पुत्र चुप रहा।

० दूसरी बार भी ०। ०। ० तीसरी बार भी राष्ट्र-पाल कुल-पुत्र चुप रहा।

तब राष्ट्रपाल ० के माता-पिता जहाँ राष्ट्रपाल कुल-पुत्रके मित्र थे, वहाँ गये। जाकर···कहा—

"तातो ! यह राष्ट्रपाल कुल-पुत्र नंगी धरतीपर पड़ा है—'यहीं मरण होगा या प्रव्रज्या'। आओ तातो ! जहाँ राष्ट्रपाल है, वहाँ जाओ। जाकर राष्ट्रपाल ० को कहो—सौम्य राष्ट्रपाल ! तुम माता-पिताके प्रिय ० एक पुत्र हो ०।"

तब राष्ट्रपाल ० के मित्र राष्ट्रपाल ० के माता-पिता (की बात)को सुनकर, जहाँ राष्ट्र-पाल ० था, वहाँ गये; जाकर ० कहा—

"सौम्य राष्ट्रपाल ! तुम माता-पिताके प्रिय ० एक पुत्र हो ०।"

ऐसा कहनेपर राष्ट्रपाल ० चुप रहा। दूसरी बार भी ०। ०। तीसरी बार भी ०। ०।

तब राष्ट्रपाल ० के मित्रों (= सहायक)ने ० राष्ट्रपाल ० के माता-पितासे कहा—

"अम्मा ! तात ! यह राष्ट्रपाल ० वहीं नंगी धरतीपर पड़ा है—'यहीं मेरा मरण होगा, या प्रव्रज्या।' यदि तुम राष्ट्रपाल ० को ० अनुज्ञा न दोगे, तो वहीं उसका मरण होगा; यदि तुम ० आज्ञा दोगे, प्रव्रजित हुये भी उसे देखोगे; यदि राष्ट्रपाल ० प्रव्रज्यामें मन न लगा सका, तो, उसकी और दूसरी क्या गति होगी ? यहीं लौट आयेगा। (अतः) राष्ट्रपाल ० को प्रव्रज्याकी अनुज्ञा दो।"

"तातो ! हम राष्ट्रपाल ० को ० प्रव्रज्याकी अनुज्ञा (= स्वीकृति) देते हैं; लेकिन प्रव्रजित हो, माता-पिताको दर्शन देना होगा।"

तब राष्ट्रपाल कुल-पुत्रके सहायक ०, जाकर राष्ट्रपाल ० से बोले—

"सौम्य राष्ट्रपाल ! तू माता-पिताका प्रिय ० एक पुत्र है ०। माता-पितासे ० प्रव्रज्या के लिये तू अनुज्ञात है। लेकिन प्रव्रजित हो माता-पिताको दर्शन देना होगा।"

तब राष्ट्रपाल ० उठकर, बल ग्रहणकर जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया। जाकर ० एक ओर बैठे हुये ० भगवान्से कहा—

"भन्ते ! मैं माता-पितासे ० प्रव्रज्याके लिये अनुज्ञात हूँ। मुझे भगवान् प्रव्रजित करें।"

राष्ट्रपाल ० ने भगवान्के पास प्रव्रज्या और उपसम्पदा प्राप्त की। तब आयुष्मान्

राष्ट्रपालके उपसंपन्न (= भिक्षु होना) होनेके थोड़ी ही देरके बाद, आधा मास उपसम्पन्न होनेपर, भगवान् थुल्लकोट्ठितमें यथेच्छ विहारकर जिधर श्रावस्ती थी, उधर चारिकाके लिये चल पड़े। क्रमशः चारिका करते जहाँ श्रावस्ती थी, वहाँ पहुँचे। वहाँ भगवान् श्रावस्तीमें अनाथ-पिंडिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे। तब आयुष्मान् राष्ट्रपाल···० आत्म-संयमी हो [1]विहरते जल्दी ही, जिसके लिये कुल-पुत्र ठीकसे घरसे बेघर हो प्रव्रजित होते हैं, उस सर्वोत्तम ब्रह्मचर्य-फलको इसी जन्ममें स्वयं अभिज्ञानकर, साक्षात्कारकर, प्राप्तकर विहरने लगे। 'जाति (= जन्म) क्षीण हो गई, ब्रह्मचर्य-पालन हो चुका, करना था सो कर लिया, और यहाँ करनेको नहीं है'—जान लिया। आयुष्मान् राष्ट्रपाल अर्हतोंमें एक हुये।

तब आयुष्मान् राष्ट्रपाल जहाँ भगवान् थे,···जाकर, भगवान्को अभिवादनकर···एक ओर बैठे···भगवान्से बोले—

"भन्ते ! यदि भगवान् अनुज्ञा दें, तो मैं माता-पिताको दर्शन देना चाहता हूँ।"

तब भगवान्ने मनसे राष्ट्रपालके मनके विचारको जाना। जब भगवान्ने जान लिया, राष्ट्रपाल कुल-पुत्र (भिक्षु-) भिक्षाको छोड़, गृहस्थ बननेके अयोग्य है, तब भगवान्ने आयुष्मान् राष्ट्रपालसे कहा—

"राष्ट्रपाल ! जिसका इस वक्त समय समझ, (वैसाकर)।"

तब आयुष्मान् राष्ट्रपाल आसनसे उठकर भगवान्को अभिवादन कर, प्रदक्षिणा कर, शयनासन सँभाल (= जिम्मे लगा), पात्र-चीवर ले, जिधर थुल्लकोट्ठित था, उधर चारिकाके लिये चल पड़े। क्रमशः चारिका करते जहाँ थुल्लकोट्ठित था, वहाँ पहुँचे। वहाँ आयुष्मान् राष्ट्रपाल थुल्लकोट्ठितमें राजा कौरव्यके मिगाचीर (नामक उद्यान)में विहार करते थे।

तब आयुष्मान् राष्ट्रपाल पूर्वाह्ण-समय पहन कर, पात्र चीवर ले, थुल्लकोट्ठितमें पिंडके लिये प्रविष्ट हुये। थुल्लकोट्ठितमें बिना ठहरे पिंडचार करते, जहाँ अपने पिताका घर था, वहाँ पहुँचे। उस समय आयुष्मान् राष्ट्रपालका पिता बिचली द्वारशालामें बाल बनवा रहा था। पिताने दूरसे ही आयुष्मान् राष्ट्रपालको आते देखा। देखकर कहा—'इन मुंडकों श्रमणकोंने मेरे प्रिय = मनाप एकलौते पुत्रको प्रव्रजित कर लिया।' तब आयुष्मान् राष्ट्रपालने अपने पिताके घरमें न दान पाया, न प्रत्याख्यान (= इन्कार), बल्कि फटकार ही पाई। उस समय आयुष्मान् राष्ट्रपालकी ज्ञाति-दासी बासी कुल्माष (= दाल) फेंकना चाहती थी। तब आयुष्मान् राष्ट्रपालने उस ज्ञाति-दासी (= जातिवालोंकी दासी)से कहा—

"भगिनी ! यदि बासी कुल्माषको फेंकना चाहती है, तो यहाँ मेरे पात्रमें डाल दे।"

तब ० ज्ञातिदासीने उस बासी कुल्माषको आयुष्मान् राष्ट्रपालके पात्रमें डालते समय, हाथों, पैरों, और स्वरको पहिचान लिया। तब ० ज्ञाति-दासी जहाँ आयुष्मान् राष्ट्रपालकी माता थी, वहाँ गई; जाकर आयुष्मान् राष्ट्रपालकी मातासे बोली—

"अरे ! अय्या !! जानती हो, आर्यपुत्र राष्ट्रपाल आये हैं ?"

"जे ! यदि सच बोलती है, तो अदासी होगी।"

तब आयुष्मान् राष्ट्रपालकी माता जहाँ आयुष्मान् राष्ट्रपालका पिता था, वहाँ··· जाकर···बोली—

"अरे ! गृहपति !! जानते हो, राष्ट्रपाल कुल-पुत्र आया है ?"

---

[1] अ. क. "बारह वर्ष विहरते।"

उस समय आयुष्मान् राष्ट्रपाल उस वासी कुल्मापको किसी भीतके सहारे (बैठकर) खा रहे थे। आयुष्मान् राष्ट्रपालका पिता जहाँ आयुष्मान् राष्ट्रपाल थे, वहाँ गया, जाकर आयुष्मान् राष्ट्रपालसे बोला—

"तात राष्ट्रपाल ! वासी दाल खाते हो। तो तात राष्ट्रपाल ! घर चलना चाहिये।"

"गृहपति ! घर छोड़ बेघर हुये हम प्रव्रजितोंका घर कहाँ ? गृहपति ! हम बेघरके हैं। तुम्हारे घर गया था, वहाँ न दान पाया, न प्रत्याख्यान, बल्कि फटकार ही पाई।"

"आओ, तात राष्ट्रपाल ! घर चलें।"

"बस गृहपति ! आज मैं भोजन कर चुका।"

"तो तात राष्ट्रपाल ! कलका भोजन स्वीकार करो।"

आयुष्मान् राष्ट्रपालने मौनसे स्वीकार किया।

तब आयुष्मान् राष्ट्रपालका पिता, आयुष्मान् राष्ट्रपालकी स्वीकृतिको जानकर, जहाँ अपना घर था, वहाँ···जाकर, हिरण्य (= अशर्फी), सुवर्णकी बड़ी राशि करवा, चटाईसे ढँकवाकर, आयुष्मान् राष्ट्रपालकी स्त्रियोंको आमंत्रित किया—

"आओ बहुओ ! जिस अलंकारसे अलंकृत हो पहिले राष्ट्रपाल कुल-पुत्रको तुम प्रिय = मनाप होती थीं, उन अलंकारोंसे अलंकृत होओ" तब आयुष्मान् राष्ट्रपालके पिताने उस रातके बीत जाने पर, अपने घरमें उत्तम खाद्य भोज्य तय्यार कर, आयुष्मान् राष्ट्रपालको काल सूचित किया—'काल है तात राष्ट्रपाल ! भोजन तय्यार है'। तब आयुष्मान् राष्ट्रपाल पूर्वाह्ण समय पहिन कर, पात्र चीवर ले जहाँ उनके पिताका घर था, वहाँ गये। जाकर बिछे आसन पर बैठे। तब आयुष्मान् राष्ट्रपाल का पिता हिरण्य, सुवर्णकी राशिको खोल कर आयुष्मान् राष्ट्रपालसे बोला—

"तात राष्ट्रपाल ! यह तेरी माताका (= मातृक) धन है, पिताका, पितामहका अलग है। तात राष्ट्रपाल ! भोग भी भोग सकते हो, पुण्य भी कर सकते हो। आओ तुम तात राष्ट्रपाल ! (भिक्षु-) शिक्षा (= दीक्षा) को छोड़ गृहस्थ बन, भोगोंको भोगो, और पुण्योंको करो।"

"यदि गृहपति ! तू मेरी बात करे, तो इस हिरण्य, सुवर्ण-पुंजको गाड़ियोंपर रखवा, ढुलवाकर गंगा नदीकी बीच धारमें डाल दे। सो किसलिये ? गृहपति ! इसके कारण तुझे शोक =परिदेव, दुःख = दौर्मनस्य = उपायास न उत्पन्न होंगे।"

तब आयुष्मान् राष्ट्रपालकी प्रत्येक भार्यायें पैर पकड़ आयुष्मान् राष्ट्रपालसे बोलीं—

"आर्यपुत्र ! कैसी वह अप्सरायें हैं, जिनके लिये तुम ब्रह्मचर्य्य पालन कर रहे हो ?"

"बहिनो ! हम अप्सराओंके लिये ब्रह्मचर्य नहीं पालन कर रहे हैं।"

भगिनी (= बहिन) कहकर हमें आर्य-पुत्र राष्ट्रपाल पुकारते हैं (सोच), वह वहीं मूर्छित हो गिर पड़ीं। तब आयुष्मान् राष्ट्र-पालने पितासे कहा—

"गृहपति ! यदि भोजन देना है, तो दे। हमें कष्ट मत दे।"

"भोजन करो तात राष्ट्रपाल ! भोजन तय्यार है।"

तब आयुष्मान् राष्ट्रपालके पिताने उत्तम खाद्य भोज्यसे अपने हाथ आयुष्मान् राष्ट्रपालको संतर्पित-संप्रवारित किया। तब आयुष्मान् राष्ट्रपालने भोजनकर, पात्रसे हाथ हटा, खड़े खड़े यह गाथायें कहीं—

"देखो (इस) विचित्र बने बिंब (= आकार) को, (जो) व्रणपूर्ण, सज्जित।

आतुर, वहु-संकल्प (है); जिसकी स्थिति स्थिर (= ध्रुव) नहीं है ।
देखो विचित्र वने रूपको, (जो) मणि और कुंडलके साथ ।
हड्डी चमड़ेसे वँधा, वस्त्रके साथ शोभता है ।
महावर लगे पैर, चूर्णक (= पौडर) पोता मुँह ।
वालक (= मूर्ख) को मोहनेमें समर्थ है, पार-गवेपीको नहीं ।
वल पड़े केश, अंजन-अंजित नेत्र ।
वालकको मोहनेमें समर्थ हैं, पारगवेपीको नहीं ।
नई विचित्र अंजन-नालीकी भाँति अलंकृत (यह) सड़ा शरीर ।
वालकको ० ।
व्याधाने जाल फैलाया, (किन्तु) मृग जालमें नहीं आया ।
चाराको खाकर व्याधोंके रोते (छोड़) जा रहा हूँ ।"

तव आयुष्मान् राष्ट्रपालने खड़े खड़े इन गाथाओंको कहकर, जहाँ कौरव्यका मिगाचीर (उद्यान) था, वहाँ गये । जाकर एक वृक्षके नीचे दिनके विहारके लिये वैठे ।

तव राजा कौरव्यने मिगव (नामक माली) को संवोधित किया—

"सौम्य मिगव (= मृगयु) ! मिगाचीरको साफ करो, उद्यान-भूमि = सुभूमि देखनेके लिये जाऊँगा ।"

मिगवने राजा कौरव्य को "अच्छा देव !" कह कर, मिगाचीरको साफ करते, एक वृक्षके-नीचे दिनके विहारकेलिये वैठे आयुष्मान् राष्ट्रपालको देखा । देखकर जहाँ राजा कौरव्य था, वहाँ गया; जाकर कौरव्यसे वोला—

"देव ! मिगाचीर साफ है, और वहाँ इसी थुल्लकोट्ठितके अग्रकुलिकका राष्ट्रपाल नामक कुल-पुत्र, जिसकी कि आप हमेशा तारीफ करते रहते हैं, एक वृक्षके नीचे दिनके विहारके लिये वैठा है ।"

"तो सौम्य मिगव ! आज अब उद्यान-भूमि जाने दो, आज उन्हीं आप राष्ट्रपालकी उपासना (= सत्संग) करेंगे ।"

तव राजा कौरव्य, जो कुछ खाद्य भोज्य तय्यार था, सवको 'छोड़दो !' कह, अच्छे अच्छे यान जुतवा, (एक) अच्छे यानपर चढ़, अच्छे अच्छे यानोंके साथ वड़े राजसी ठाटसे आयुष्मान् राष्ट्रपालके दर्शनके लिये, थुल्लकोट्ठितसे निकला । जितनी यानकी भूमि थी, उतना यानसे जा, (फिर) यानसे उतर पैदलही छोटी मंडलीके साथ जहाँ आयुष्मान् राष्ट्रपाल थे, वहाँ गया, जाकर आयुष्मान् राष्ट्रपालके साथ···संमोदन किया···(और) एक ओर खड़ा हो गया । एक ओर खड़े हुये राजा कौरव्यने आयुष्यान् राष्ट्रपालसे कहा—

"आप राष्ट्रपाल यहाँ गलीचे (= हत्थत्थर)पर वैठें ।"

"नहीं महाराज ! तुम वैठो, मैं अपने आसनपर वैठा हूँ ।"

राजा कौरव्य विछे आसनपर वैठ गया । वैठकर राजा कौरव्यने आयुष्मान् राष्ट्रपालसे कहा—

"हे राष्ट्रपाल । यह चार हानियाँ (= पारिजुञ्ञ) हैं, जिन हानियोंसे युक्त कोई कोई पुरुप केश-श्मश्रु मुँड़वा, कापाय वस्त्र पहिन, घरसे वेघर हो प्रव्रजित होते हैं । कौनसे चार ? जरा-हानि, व्याधि-हानि, भोग-हानि, ज्ञाति-हानि । कौन है हे राष्ट्रपाल ! जराहानि ? (१) हे राष्ट्र-पाल ! कोई (पुरुष) जीर्ण = वृद्ध = महल्लक = अंगगत = वयःप्राप्त होता है । वह ऐसा सोचता है, मैं इस समय जीर्ण = वृद्ध ० हूँ, अव मेरे लिये अप्राप्त भोगोंका प्राप्त करना या प्राप्त भोगोंको

भोगना सुकर नहीं है। क्यों न मैं केश-श्मश्रु मुँड़ाकर काषाय वस्त्र पहिन ० प्रव्रजित हो जाऊँ। वह उस जरा-हानिसे युक्त हो ० प्रव्रजित होता है। हे राष्ट्रपाल ! यह जराहानि कही जाती है। लेकिन आप राष्ट्रपाल ! तरुण, बहुत काले केशोंवाले, सुन्दर यौवनसे युक्त, प्रथम वयसके हैं। सो आप राष्ट्रपालको जरा-हानि नहीं है। आप राष्ट्रपाल क्या जानकर, देखकर, सुनकर, घरसे बेघर हो प्रव्रजित हुये ? (२) हे राष्ट्रपाल ! व्याधि-हानि क्या है ? हे राष्टपाल ! कोई (पुरुष) रोगी, दुःखी, सख्त बीमार होता है, वह ऐसा सोचता है—'मैं अब रोगी, दुःखी, सख्त बीमार हूँ, अब मेरे लिये अप्राप्त भोगोंका प्राप्त ०। यह व्याधिहानि कही जाती है। लेकिन आप राष्ट्रपाल इस समय, व्याधि-रहित, आतंक-रहित, न-अति-शीत, न-अति-उष्ण, सम-विपाकवाली पाचनशक्ति (=ग्रहणी) से युक्त हैं, सो आप राष्ट्रपालको व्याधि-हानि नहीं है ० ? (३) हे राष्ट्रपाल ! भोग-हानि क्या है ? हे राष्ट्रपाल ! कोई (पुरुष) आढ्य, महाधनी, महाभोग-वान् होता है, उसके वह भोग क्रमशः क्षय हो जाते हैं। वह ऐसा सोचता है—मैं पहिले आढ्य ० था, सो मेरे वह भोग क्रमशः क्षय हो गये; अब मेरे लिये अ-प्राप्त भोगोंका प्राप्त करना ०। आप राष्ट्रपाल तो इसी थुल्लकोट्ठितमें अग्रकुलिकके पुत्र हैं। सो आप राष्ट्रपालको भोग-हानि नहीं है ० ? (४) हे राष्ट्रपाल ! ज्ञाति-हानि क्या है ? हे राष्ट्रपाल ! किसी (पुरुष)के बहुतसे मित्र, अमात्य, ज्ञाति (= जाति), सालोहित (= रक्तसंबंधी) होते हैं, उसके वह जातिवाले क्रमशः क्षयको प्राप्त होते हैं। वह ऐसा सोचता है—पहिले मेरे बहुतसे मित्र-अमात्य, जाति-बिरादरी थी, वह मेरी जातिवाले क्रमशः क्षय हो गये; अब मेरे लिये अप्राप्त भोगोंका प्राप्त करना ०। लेकिन आप राष्ट्रपालके तो इसी थुल्लकोट्ठितमें बहुतसे मित्र-अमात्य, जाति-बिरादरी हैं। सो आप राष्ट्रपालको ज्ञाति-हानि नहीं है। आप राष्ट्रपाल क्या जानकर, देखकर, सुनकर, घरसे बेघर हो प्रव्रजित हुये ? हे राष्ट्रपाल ! यह चार हानियाँ हैं, जिन हानियोंसे युक्त कोई कोई (पुरुष) केश-श्मश्रु मुँडा, काषाय-वस्त्र पहिन, घरसे बेघर हो प्रव्रजित होते हैं, वह आप राष्ट्रपालको नहीं हैं। आप राष्ट्रपाल क्या जानकर, देखकर, सुनकर घरसे बेघर हो प्रव्रजित हुये ?"

"महाराज ! उन भगवान्, जाननहार, देखनहार, अर्हत् सम्यक्-संबुद्धने चार धर्म-उद्देश कहे हैं, जिनको जानकर, देखकर, सुनकर मैं घरसे बेघर हो प्रव्रजित हुआ। कौनसे चार ? (१) (यह) लोक (= संसार) अध्रुव (है), उपनीत हो रहा है, यह उस भगवान् ० ने प्रथम धर्म-उद्देश कहा है, जिसको देखकर ० प्रव्रजित हुआ। (२) लोक त्राण-रहित, आश्वासन-रहित है ०। (३) लोक अपना नहीं है, सब छोड़कर जाना है ०। (४) लोक कमतीवाला तृष्णाका दास है ०। यह महाराज ! उन भगवान् ० ने चार धर्म-उद्देश कहे हैं, जिनको जानकर ० मैं ० प्रव्रजित हुआ।"

"उपनीत हो रहा (= ले जाया जारहा) है, 'लोक अध्रुव है' आप राष्ट्रपालके इस कथनका अर्थ कैसे जानना चाहिये ?"

"तो क्या मानते हो, महाराज ! थे तुम (कभी) बीस-वर्षके, पचीस-वर्षके ? (जब तुम) संग्राममें हाथीकी सवारीमें होशियार, घोड़ेकी सवारीमें होशियार, रथकी सवारीमें होशियार, धनुषमें होशियार, तलवारमें होशियार, उरूसे बलिष्ट, बाहुसे बलिष्ट थे ?"

"बल्कि हे राष्ट्रपाल ! मानों एक समय ऋद्धिमान् हो मैं अपने बलके समान (किसीको) देखता ही न था।"

"तो क्या मानते हो महाराज ! आज भी संग्राममें तुम वैसे ही ० उरु-बली, बाहु-बली, सामर्थ्य-युक्त हो ?"

"नहीं हे राष्ट्रपाल ! इस वक्त मैं जीर्ण-वृद्ध ० हूँ, अस्सी-वर्षकी मेरी उम्र है। बल्कि एक

समय हे राष्ट्रपाल ! मैं 'यहाँ तक पैर (= पाद) रक्खूँ' (विचार) दूसरे (समय) चौथाई ही (दूर तक) रख सकता हूँ ।"

"महाराज ! उन भगवान् ० ने इसीको सोचकर कहा—'उपनीत हो रहा है, लोक अध्रुव है,' जिनको जानकर ० मैं ० प्रब्रजित हुआ ।"

"आश्चर्य ! हे राष्ट्रपाल !! अद्भुत ! हे राष्ट्रपाल !! जो यह उन भगवान् ० का सुभाषित—'उपनीत हो रहा है ० (=ले जाया जा रहा है), लोक अध्रुव है' हे राष्ट्रपाल ! इस राज-कुलमें हस्ति-काय (काय = समुदाय) भी हैं, अश्व-काय भी, रथ-काय भी, पदाति-काय भी, जो हमारी आपत्तियोंमें युद्धके लिये हैं । 'लोक त्राण-रहित, आश्वासन-रहित है' यह (जो) आप राष्ट्रपालने कहा ? हे राष्ट्रपाल ! इस कथनका अर्थ कैसे जानना चाहिये ?"

"तो क्या मानते हो महाराज ! है तुम्हें कोई आनुशायिक (= साथ रहनेवाली) बीमारी ?"

"हे राष्ट्रपाल ! मुझे आनुशयिक वायुरोग है । बल्कि एकबार तो मित्र-अमात्य जाति-बिरादरी घेरकर खड़ी थी,—'अब राजा कौरव्य मरेगा' । 'अब राजा कौरव्य मरेगा' ।

"तो क्या मानते हो महाराज! क्या तुमने मित्र-अमात्यों, जाति-बिरादरीको पाया—'आवें आप मेरे मित्र-अमात्य ०, सभी सत्त्व (= प्राणी), इस पीड़ाको बाँट लें, जिसमें मैं हल्की पीड़ा पाऊँ', या तुमनेही उस वेदनाको सहा ?"

"राष्ट्रपाल ! उन मित्र अमात्यों ० मैंने नहीं पाया ०, बल्कि मैं ही उस वेदनाको सहता था ।"

"महाराज ! इसीको सोचकर उन भगवान् ० ने ० ।"

"आश्चर्य ! हे राष्ट्रपाल !! अद्भुत ! हे राष्ट्रपाल !! ० । हे राष्ट्रपाल ! इस राजकुलमें बहुतसा हिरण्य (= अशर्फी) सुवर्ण भूमि और आकाशमें है । 'लोक अपना नहीं (= अस्वक) है, सब छोड़कर जाना है' यह आप राष्ट्रपालने कहा । हे राष्ट्रपाल ! इस कथनका अर्थ कैसे जानना चाहिये ?"

"तो क्या मानते हो महाराज ! जैसे तुम आज कल पाँच काम गुणोंसे युक्त = समंगीभूत विचरते हो, बाद (जन्मान्तर)में भी तुम (उन्हें) पाओगे—'ऐसेही मैं पाँच काम-गुणोंसे युक्त ० विचरूँ, या दूसरे इस भोगको पायेंगे ; और तुम अपने कर्मानुसार जाओगे ?"

"राष्ट्रपाल ! जैसे मैं इस वक्त पाँच काम-गुणोंसे युक्त ० विचरता हूँ, बाद (=जन्मान्तर) में भी ऐसे ही मैं इन काम-गुणोंसे युक्त ० विचरने न पाऊँगा । बल्कि दूसरे इस भोगको लेंगे, मैं अपने कर्मानुसार जाऊँगा ।"

"महाराज इसीको सोचकर उन भगवान् ० ने ० ।"

"आश्चर्य ! हे राष्ट्रपाल !! अद्भुत ! हे राष्ट्रपाल !! ० । 'लोक कमतीवाला तृष्णाका दास है' यह आप राष्ट्रपालने जो कहा ! हे राष्ट्रपाल ! इस कथनका कैसे अर्थ समझना चाहिये ?"

"तो क्या मानते हो महाराज ! समृद्ध कुरु (देश)का स्वामित्व कर रहे हो ?"

"हाँ, हे राष्ट्रपाल ! समृद्ध कुरुका स्वामित्व कर रहा हूँ ।"

"तो क्या मानते हो महाराज ! तुम्हारा एक श्रद्धेय विश्वास-पात्र पुरुष पूर्व दिशासे आवे, वह तुम्हारे पास आकर ऐसा बोले—हे महाराज ! जानते हो, मैं पूर्व-दिशासे आ रहा हूँ । वहाँ मैंने बहुत समृद्ध = स्फीत, बहुत जनोंवाला, मनुष्योंसे आकीर्ण जनपद (= देश) देखा । वहाँ

बहुत हस्तिकाय, अश्वकाय, रथकाय, पत्ति (= पैदल)-काय हैं। वहाँ बहुत दाँत, मृगचर्म हैं। वहाँ बहुत सा कृत्रिम-अकृत्रिम हिरण्य, सुवर्ण है। बहुत सी स्त्रियाँ प्राप्त होती हैं। वह इतनी ही सेनासे जीता जा सकता है; जीतिये महाराज !' तो क्या करोगे ?"

"हे राष्ट्रपाल ! उसे भी जीतकर मैं स्वामित्व करूँगा।"

"तो क्या मानते हो महाराज ! ० विश्वासपात्र पुरुष पश्चिम-दिशासे आवे ०।" ०।

"० उत्तर दिशासे ०।" ०। "दक्षिण दिशासे ०।" ०।

"महाराज ! इसीको सोचकर उन भगवान् ० ने ० ०।"

आश्चर्य ! राष्ट्रपाल !! अद्भुत ! हे राष्ट्रपाल !!"

आयुष्मान् राष्ट्रपालने यह कहा। यह कहकर फिर यह भी कहा—

"लोकमें धनवान् मनुष्योंको देखता हूँ, (जो) वित्त पाकर मोहसे दान नहीं करते। लोभी हो धनका संचय करते हैं, और भी अधिक कामों (= भोगों) की चाह करते हैं॥ १॥

"राजा बलपूर्वक पृथ्वीको जीत, सागर-पर्यन्त महीपर शासन करते। समुद्रके इस पारसे तृप्त न हो, समुद्रके उस पारको भी चाहता है॥ २॥

"राजाहीकी भाँति दूसरे बहुतसे पुरुष भी तृष्णा-रहित न हो मरण पाते हैं। कमतीवाले होकर ही शरीर छोड़ते हैं, लोकमें (किसी की) कामोंसे तृप्ति नहीं है॥ ३॥

"जाति बाल बिखेरकर क्रन्दन करती है, और कहती है 'हाय हमारा मर गया' वस्त्रसे ढाँककर उसे लेजाकर, चितापर रखकर फिर जला देते हैं॥ ४॥

"वह शूलसे कूँचा जाता, भोगोंको छोड़ एक वस्त्रके साथ जलाया जाता है। मरनेवालेके ज्ञाति-मित्र = सहाय रक्षक नहीं होते॥ ५॥

"दायाद उसके धनको हरते हैं, प्राणी तो जहाँ कर्म है (वहाँ) जाता है। मरते हुयेके पीछे, पुत्र, दारा, धन, और राज्य नहीं जाता॥ ६॥

"धन द्वारा लम्बी आयु नहीं पा सकता है, और न वित्त द्वारा जराको नाशकर सकता है। धीरोंने इस जीवनको स्वल्प, अ-शाश्वत, भंगुर कहा है॥ ७॥

"धनी और दरिद्र (काम)-स्पर्शोंको छूते हैं, बाल और धीर (= पंडित) भी वैसेही हैं। बाल (= मूर्ख) मूर्खतासे विचलित हो पड़ता है, किंतु धीर स्पर्श-स्पृष्ट हो नहीं विचलित होता॥ ८॥

"इसलिये धनसे प्रज्ञाही श्रेष्ठ है, जिससे कि (तत्त्व-) निश्चयको प्राप्त होता है। मुक्त न होनेसे वह मोहवश आवागमनमें (पड़े) पाप कर्मोंको करते हैं॥ ९॥

"(वह) लगातार संसार (= भवसागर)में पड़कर गर्भ और परलोकको पाता है। अल्प-प्रज्ञावान् उसपर विश्वास कर गर्भ और परलोकको पाता रहता है॥ १०॥

"सेंधके ऊपर पकड़ा गया पापी चोर, जैसे अपने कामसे मारा जाता है। इसी प्रकार पापी जनता मरकर दूसरे लोकमें अपने कामसे मारी जाती है॥ ११॥

"विचित्र मधुर मनोरम काम (= भोग) नाना रूपसे चित्तको मथते हैं। इसलिये काम-भोगोंके दुष्परिणामको देखकर हे राजन् ! मैं प्रव्रजित हुआ हूँ॥ १२॥

"वृक्षके फलकी भाँति तरुण और वृद्ध मनुष्य शरीर छोड़कर गिरते हैं। ऐसे भी देखकर प्रव्रजित हुआ; (क्योंकि) न गिरनेवाला भिक्षुपन (= श्रामण्य) ही श्रेष्ठ है॥ १३॥

८३—मखादेव-सुत्तन्त (२।४।३)

कल्याण-मार्ग

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् मिथिलामें मखादेव-आम्रवनमें विहार करते थे।

एक जगह पर भगवान् मुस्कुरा उठे। तब आयुष्मान् आनन्दको यह हुआ—'भगवान्के मुस्कुरानेका क्या कारण है? क्या वजह है? तथागत विना कारणके नहीं मुस्कुराते। तब आयुष्मान् आनन्द चीवरको एक कंधेपर कर, जिधर भगवान् थे, उधर हाथ-जोड़ भगवान्से बोले—

"भन्ते! भगवान्के मुस्कुरानेका क्या कारण है ०?"

"आनन्द! पूर्वकालमें इसी मिथिलामें मखादेव नामक धार्मिक, धर्म-राजा, राजा हुआ था। (वह) धर्ममें स्थित महाराजा, ब्राह्मणोंमें, गृहपतियोंमें निगमोंमें, (= कस्बों, नगरों)में जनपदों (= दीहातों)में धर्मसे वर्तता था। चतुर्दशी (= अमावास्या) पंचदशी पूर्णिमा, और पक्षकी अष्टमियोंको उपोसथ (= उपवासव्रत) रखता था।···

"(उसने अपने शिरमें पके वाल देख) ज्येष्ठ पुत्र कुमारको···बुलवाकर कहा—

"तात! कुमार! मेरे देवदूत प्रकट होगये, शिरमें पके केश दिखाई पड़ रहे हैं। मैंने मानुष-काम (= भोग) भोग लिये अब दिव्य-भोगोंके खोजनेका समय है। आओ तात! कुमार! इस राज्यको तुम लो। मैं केश-श्मश्रु मुँड़ा, काषाय-वस्त्र पहिन, घरसे बेघर हो प्रव्रजित होऊँगा। सो तात! जब तुम भी सिरमें पके वाल देखना, तो हजामको एक गाँव इनाम (= वर) दे, ज्येष्ठ-पुत्र कुमारको अच्छी प्रकार राज्यपर अनुशासन कर, केश-श्मश्रु मुँड़ा, वस्त्र पहिन ० प्रव्रजित होना। जिसमें यह मेरा स्थापित कल्याणवर्त्म (कल्याण-वट्ट) अनुप्रवर्तित रहे; तुम मेरे अन्तिम पुरुष मत होना। तात कुमार! जिस पुरुष युगलके वर्तमान रहते इस प्रकारके कल्याण-वर्त्म (–मार्ग) का उच्छेद होता है, वह उनका अन्तिम पुरुष होता है।"

"तब आनन्द! राजा मखादेव नाईको एक गाँव इनाम दे, जेष्ठ-पुत्र कुमारको अच्छी तरह राज्यानुशासन कर, इसी मखादेव-अम्ववनमें शिर-दाढ़ी मुँड़ा ० प्रव्रजित हुआ।···वह चार [1]ब्रह्म-विहारोंकी भावनाकर शरीर छोड़ मरनेके बाद ब्रह्मलोकको प्राप्त हुआ।···

"आनन्द! राजा मखादेवके पुत्रनेभी·····,राज मखादेवकी··· ···परम्परामें पुत्र पौत्र आदि ······इसी मखादेव-अम्बवनमें केश-श्मश्रु मुँड़ा······प्रव्रजित हुये।······। निमि उन राजाओंका अन्तिम धार्मिक, धर्म-राजा, धर्ममें स्थित महाराजा हुआ।······।

"आनन्द! पूर्वकालमें सुधर्मा नामक सभामें एकत्रित हुये त्रायस्त्रिंश देवोंके बीचमें यह

[1] मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा नामक चार भावनायें।

बात उत्पन्न हुई—'लाभ है अहो ! विदेहोंको, सुन्दर लाभ हुआ है विदेहोंको; जिनका···निमि जैसा धार्मिक, धर्म-राजा, धर्म-स्थित महाराजा है;·········निमि भी आनन्द !···इसी मखादेव-अम्ब-वन-में······प्रव्रजित हुआ······।

"आनन्द ! राजा [1] निमिका कळार-जनक नामक पुत्र हुआ। वह घर छोड़ बेघर हो प्रव्रजित नहीं हुआ। उसने उस कल्याण वर्त्मको उच्छिन्न कर दिया। वह उनका अन्तिम-पुरुष हुआ।······

"आनन्द ! इस समय मैंने भी यह कल्याण-वर्त्म स्थापति किया है; (जो कि) एकांत-निर्वेदके लिये, विरागके लिये, निरोधके लिये=उपशमके लिये, अभिज्ञाके लिये, संबोधि (=बुद्धज्ञान) के लिये, निर्वाणके लिये है—(वह) यही आर्य अष्टांगिक मार्ग है—जैसे कि–सम्यग्-दृष्टि, सम्यक्-संकल्प, सम्यक्-वाक् ० कर्मान्त, ० आजीव, ० व्यायाम, ० स्मृति, सम्यक् समाधि। यह आनन्द ! मैंने कल्याण-वर्त्म स्थापित किया है ०। सो आनन्द ! मैं यह कहता हूँ 'जिसमें तुम इस मेरे स्थापित कल्याण–मार्गको अनुप्रवर्तित करना (= चलाते रहा); तुम मेरे अन्तिम-पुरुष मत होना······।

भगवान्‌ने यह कहा, सन्तुष्ट हो आयुष्मान् आनन्दने भगवान्‌के भाषणका अभिनन्दन किया।

८४—माधुरिय-सुत्तन्त (२।४।४)

वर्ण-व्यवस्था (= जातिवाद)का खंडन

ऐसा मैंने सुना—

एक समय आयुष्मान् महाकात्यायन मधुरा(= मथुरा)में गुन्दवनमें विहार करते थे। माथुर (मथुराके) राजा अवन्तिपुत्र[1] ने सुना, कि श्रमण कात्यायन मधुरामें गुन्दवनमें विहार कर रहे हैं। उन आप कात्यायनका ऐसा कल्याण कीर्तिशब्द (= यश) उठा हुआ है—'वह (श्रमण कात्यायन) पंडित = व्यक्त, मेधावी, बहुश्रुत, चित्तकथी कल्याण-प्रतिभावान वृद्ध हैं और अर्हत् हैं। ऐसे अर्हतोंका दर्शन अच्छा होता है।'

तब माथुर राजा अवन्तिपुत्र उत्तमोत्तम यानोंको जुतवाकर ०[2] आयुष्मान् महाकात्यायनके दर्शनार्थ मधुरासे निकला। जितना यानका रास्ता था, उतना यानसे जा, (फिर) यानसे उतर पैदल ही, जहाँ आयुष्मान् महाकात्यायन थे, वहाँ···जाकर आयुष्मान् महाकात्यायनके साथ···सम्मोदन कर एक ओर बैठा। एक ओर बैठे ० राजा अवन्तिपुत्रने आयुष्मान् महाकात्यायनसे यह कहा—

"भो कात्यायन! ब्राह्मण कहते हैं—ब्राह्मण ही श्रेष्ठवर्ण है, और वर्ण हीन (= नीच) हैं; ब्राह्मण ही शुक्लवर्ण है, और वर्ण कृष्ण हैं; ब्राह्मण ही शुद्ध होते हैं, अब्राह्मण नहीं ०[3] ब्रह्माके दायाद हैं।"

(१) "तो क्या मानते हो, महाराज! यदि क्षत्रिय (अपने) धन-धान्य-चाँदी-सोनासे (करना) चाहे, तो उसका पूर्व-उत्थायी-पश्चात्-निपाती (= मालिकसे पहले उठनेवाला, मालिकके सो जानेके बाद सोनेवाला नौकर), क्या-काम है—पूछनेवाला, मनापचारी (= मनके अनुकूल करनेवाला), प्रियवादी क्षत्रिय भी होगा न? ब्राह्मण भी ०? वैश्य भी ०? शूद्र भी ०?"

"हे कात्यायन! यदि क्षत्रिय ० चाहे, तो क्षत्रिय भी उसका प्रियवादी होगा; ब्राह्मण ०; वैश्य भी ०; शूद्र भी ०।"

"तो क्या मानते हो, महाराज! ब्राह्मण यदि (अपने) धन ० से करना चाहे, तो ब्राह्मण भी उसका ० प्रियवादी होगा न? वैश्य भी ०? शूद्र भी ०? क्षत्रिय भी ०?"

"हे कात्यायन! यदि ब्राह्मण ० चाहे, तो ब्राह्मण भी उसका ० प्रियवादी होगा; वैश्य भी ०; शूद्र भी ०; क्षत्रिय भी ०।"

"० महाराज! वैश्य यदि ० चाहे ०?"

"हे कात्यायन! यदि वैश्य ० चाहे, तो वैश्य भी उसका ० प्रियवादी होगा; शूद्र भी ०;

---

[1] यह अवन्तीश्वर प्रद्योतकी कन्याका पुत्र था (अ. क.)। [2] देखो पृष्ठ ३३४।

[3] देखो पृष्ठ ३८७।

क्षत्रिय भी ०; ब्राह्मण भी ० ।"

"० महाराज ! शूद्र यदि (अपने) धन ० से (करना) चाहे ० ?"

"हे कात्यायन ! यदि शूद्र ० चाहे, तो शूद्र भी उसका ० प्रियवादी होगा; क्षत्रिय भी ०; ब्राह्मण भी; वैश्य भी ० ।"

"तो क्या मानते हो महाराज ! ऐसा होने पर चारों वर्ण सम-सम (= बराबर) होते हैं या नहीं ? यहाँ तुम्हें कैसा होता है ?"

"जरूर हे कात्यायन ! ऐसा होनेपर चारोंवर्ण सम-सम होते हैं, यहाँ कोई भेद मैं नहीं देखता ।"

"इस प्रकारसे भी महाराज ! तुम्हें समझना चाहिये, कि लोकमें यह हल्ला (= घोष) ही भर है—'ब्राह्मण ही श्रेष्ठवर्ण है ० ब्रह्माके दायाद हैं ।"

(२) "तो क्या मानते हो, महाराज ! यहाँ क्षत्रिय प्राणि-हिंसक, चोर, दुराचारी ०[1] मिथ्यादृष्टि हो; (तो क्या) काया छोड़ मरनेके बाद ०[1] नरकमें उत्पन्न होगा या नहीं ? यहाँ तुम्हें कैसा होता है ?"

"हे कात्यायन ! क्षत्रिय भी यदि प्राणिहिंसक ० हो; तो वह ० नरकमें उत्पन्न होगा; ऐसा मुझे होता है; अर्हतोंसे भी मैंने यह सुना है ।"

"साधु, साधु (ठीक), महाराज ! ठीक ही तुम्हें महाराज ! ऐसा हो रहा है; और तुमने ठीक इसे अर्हतोंसे सुना है ।"

"तो क्या मानते हो महाराज ! यहाँ ब्राह्मण प्राणि-हिंसक ० । ० वैश्य प्राणि-हिंसक ०० शूद्र प्राणि-हिंसक ०; हो; तो वह ० नरकमें उत्पन्न होगा या नहीं ? यहाँ तुम्हें कैसा होता है ?"

"हे कात्यायन ! शूद्र भी ० यदि प्राणि-हिंसक ० हो; तो वह ० नरकमें उत्पन्न होगा; ऐसा मुझे होता है; अर्हतोंसे भी मैंने यह सुना है ।"

"साधु, साधु, महाराज ! ठीक ही महाराज ! तुम्हें ऐसा हो रहा है, और तुमने ठीक इसे अर्हतोंसे सुना है ।

"तो क्या मानते हो, महाराज ! ऐसा होने पर यह चारों वर्ण सम-सम होते हैं या नहीं ? यहाँ तुम्हें कैसा होता है ?"

"ज़रूर, हे कात्यायन ! ऐसा होनेपर यह चारों वर्ण सम-सम होते हैं; यहाँ कोई भेद मैं नहीं देखता ।"

"इस प्रकार भी महाराज ! तुम्हें समझना चाहिये, कि लोकमें यह हल्ला ही भर है—'ब्राह्मण ही श्रेष्ठ नर्ण है ० ब्रह्माके दायाद हैं ।'

(३) "तो क्या मानते हो महाराज ! यहाँ कोई क्षत्रिय प्राणातिपातसे विरत हो, काम मिथ्याचार (= दुराचार)से विरत हो, मृषावाद ०, चुगली ०, कटु वचन, बकवादसे विरत हो, अलोभी अ-द्वेषी, सम्यग्-दृष्टि (= सच्ची धारणावाला) हो; तो शरीरको छोड़ मरनेके बाद (वह) सुगति, स्वर्गलोकमें उत्पन्न होगा या नहीं ? यहाँ तुम्हें कैसा होता है ?

"हे कात्यायन ! क्षत्रिय भी यदि प्राणातिपातसे विरतहो, ० सम्यग्-दृष्टि हो; तो ० स्वर्गलोकमें उत्पन्न होगा । ऐसा मुझे होता है । अर्हतोंसे भी मैंने यह सुना है ।"

"साधु, साधु महाराज ! ० तुमने ठीक ही इसे अर्हतोंसे सुना है ।

---

[1] देखो पृष्ठ ३८७ ।

"तो क्या मानते हो महाराज ! यहाँ कोई ब्राह्मण ०। ० यहाँ कोई वैश्य ०। ० यहाँ कोई शूद्र प्राणातिपातसे विरत हो ० सम्यग्-दृष्टि हो; तो ० स्वर्गलोकमें उत्पन्न होगा या नहीं ? ०।

" ० उत्पन्न होगा ०।"

"साधु, साधु, महाराज ! ०।"

" ० महाराज ! ऐसा होने पर यह चारों वर्ण सम-सम होते हैं या नहीं ? ० ?"

"जरूर, भो कात्यायन ! ०।"

"इस प्रकार भी महाराज ! तुम्हें समझना चाहिये, कि लोकमें यह हल्ला ही भर है— 'ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण है ० ब्रह्माके दायाद हैं'।

"तो क्या मानते हो महाराज ! कोई क्षत्रिय सेंध मारे, गाँव लूटे, चोरी करे, बटमारी करे, परस्त्रीगमन करे, उसे (राज-) पुरुष पकड़कर तुझे दिखलावें—'देव ! यह तेरा चोर है अपराधी है, इसको जो इच्छा हो वह दंड दे'; तो तू उसे क्या करेगा ?"

"हे कात्यायन ! मैं उसे प्राणदंड या कारावंधन या देश-निर्वासका दंड दूँगा, या जैसा कारण होगा वैसा करूँगा। सो किस हेतु ?—हे कात्यायन ! जो उसकी पहिले क्षत्रिय संज्ञा थी, वह अब अन्तर्धान हो गई; (अब) चोर ही उसकी संज्ञा है।"

"तो क्या मानते हो महाराज ! कोई ब्राह्मण ०। ० वैश्य ०। ० शूद्र सेंध मारे ० तो तू उसे क्या करेगा ?"

"हे कात्यायन ! मैं उसे ० दंड दूँगा, ० (अब) चोर ही उसका नाम है।"

"तो क्या मानते हो, महाराज ! ऐसा होने पर, यह चारों वर्ण सम-सम होते हैं या नहीं ? ० ?"

"जरूर; हे कात्यायन ! ०।"

"इस प्रकार भी महाराज ! तुम्हें समझना चाहिये, कि लोकमें यह हल्ला ही भर है— 'ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण है ० ब्रह्माके दायाद हैं'। (४) "तो क्या मानते हो, महाराज ! यहाँ कोई क्षत्रिय केश-दाढ़ी मुँड़ा कर काषाय वस्त्र पहिन घरसे बेघर (= अनागारिक)हो प्रव्रजित (= संन्यासी)हो; (वह) प्राणातिपातसे विरत, अदत्तादान ०, मृषावादसे विरत हो, एकाहारी ब्रह्मचारी, शीलवान् (= सदाचारी) कल्याणधर्मा हो; तो उसके साथ तू क्या करेगा ?"

"हे कात्यायन ! अभिवादन, प्रत्युत्थान करेंगे, आसन देंगे, चीवर-पिंडपात (= भिक्षा) शयन-आसन-ग्लान-प्रत्यय (= पथ्य)-भैषज्य (= दवा) प्रदान करेंगे, उसकी धार्मिक रक्षा=वरण = गुप्ति सम्पादित करेंगे। सो किस हेतु ?—हे कात्यायन ! जो उसकी पहिले क्षत्रिय संज्ञा थी, वह अब अन्तर्धान हो गई; (अब) श्रमणही उसकी संज्ञा है।"

" ० महाराज ! कोई ब्राह्मण ०। ० वैश्य ०। ० शूद्र केशदाढ़ी मुँड़ा कर ० प्रव्रजित हो; ० कल्याण-धर्मा (= पुण्यात्मा)हो; तो उसके साथ तू क्या करेगा ?"

"हे कात्यायन ! अभिवादन ० करेंगे ० उसकी धार्मिक रक्षा ० संपादित करेंगे। सो किस हेतु ?—हे कात्यायन ! जो उसकी शूद्र संज्ञा थी, वह अब अन्तर्धान हो गई; अब श्रमण ही उसकी संज्ञा है।"

"तो क्या मानते हो, महाराज ! ऐसा होने पर चारों वर्ण सम-सम होते हैं, या नहीं ? ० ?"

"जरूर, हे कात्यायन ! ०।"

"इस प्रकार भी महाराज ! तुम्हें समझना चाहिये, कि लोकमें यह हल्ला ही भर है— 'ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण है ० ब्रह्माके दायाद हैं।'

ऐसा कहनेपर ० राजा अवंतिपुत्रने आयुष्मान् महाकात्यायनसे यह कहा—

"आश्चर्य ! हे कात्यायन ! आश्चर्य !! हे कात्यायन ! जैसे औंधेको सीधा करदे ०[1] ऐसे ही आप कात्यायनने अनेक प्रकारसे धर्मको प्रकाशित किया; यह मैं आप कात्यायन की शरण जाता हूँ, धर्म और भिक्षु-संघकी भी। आप कात्यायन आजसे मुझे अंजलिबद्ध शरणागत उपासक स्वीकार करें।"

"मत तुम, महाराज ! मेरी शरण जाओ। उसी भगवान्‌की तुम भी शरण जाओ, जिसकी शरण मैं गया हूँ।"

"हे कात्यायन ! वह भगवान् अर्हत्, सम्यक्-संबुद्ध इस समय कहाँ विहार कर रहे हैं ?"

"महाराज ! वह भगवान् अर्हत् सम्यक्-संबुद्ध अब निर्वाणको प्राप्त हो गये।"

"हे कात्यायन ! यदि उन भगवान्‌को दस योजन पर सुन पाते, तो हम दस योजन भी उन भगवान् ० के सम्बुद्धके दर्शनके लिये जाते ! ० बीस योजन ०। ० तीस योजन ०। ० चालीस योजन ०। ० पचास योजन ०। ० सौ योजन ०। चूँकि हे कात्यायन ! वह भगवान् निर्वाणको प्राप्त हो गये, तो निर्वाण-प्राप्त भी उन भगवान्‌की हम शरण जाते हैं, धर्म और भिक्षु-संघकी भी। आजसे आप कात्यायन मुझे अंजलिबद्ध शरणागत उपासक धारण करें।

८५—बोधि-राजकुमार-सुत्तन्त (२।४।५)

बुद्ध-जीवनी (गृहत्यागसे बुद्धत्व-प्राप्ति तक)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् भर्ग (देश)में [1]सुंसुमारगिरिके भेस-कला-वन, मृगदावमें विहार करते थे। उस समय बोधि-राजकुमारने श्रमण या ब्राह्मण या किसी भी मनुष्यसे न भोगे कोकनद् नामक प्रासादको हालहीमें बनवाया था। तब बोधि-राजकुमारने संजिका-पुत्र [2]माणवकको संबोधित किया—

"आओ तुम सौम्य ! संजिका-पुत्र ! जहाँ भगवान् हैं, वहाँ जाओ। जाकर मेरे वचनसे, भगवान्के चरणोंमें शिरसे वन्दनाकर, आरोग्य, अन्-आतंक, लघु-उत्थान (= शरीरकी कार्य-क्षमता) बल, अनुकूल विहार, पूछो—'भन्ते ! बोधि-राजकुमार भगवान्के चरणोंमें शिरसे वन्दना कर आरोग्य ० पूछता है'। और यह भी कहो—'भन्ते ! भिक्षु-संघसहित भगवान्, बोधि-राजकुमारका कलका भोजन स्वीकार करें।"

" 'अच्छा हो (= भो)' कह संजिका-पुत्र माणवक जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया। जाकर भगवान्से···(कुशल प्रश्न)···पूछ, एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठकर संजिका-पुत्र माणवकने भगवान्से कहा—'भो गौतम ! बोधि-राजकुमार आपके चरणोंमें ०। ० बोधिराज-कुमारका कलका भोजन स्वीकार करें।"

भगवान्ने मौन द्वारा स्वीकार किया। तब संजिका-पुत्र माणवक भगवान्की स्वीकृति जान, आसनसे उठ जहाँ बोधि-राजकुमार था, वहाँ गया। जाकर बोधि-राजकुमारसे बोला—

"आपके वचनसे मैंने उन गौतमसे कहा—'भो गौतम ! बोधि-राजकुमार ०। श्रमण गौतमने स्वीकार किया।"

तब बोधि-राजकुमारने उस रातके बीतनेपर अपने घरमें उत्तम खादनीय-भोजनीय (पदार्थ) तैयार करवा, कोकनद-प्रासादको सफेद (= अवदात) धुस्सोंसे सीढ़ीके नीचे तक बिछवा, संजिका-पुत्र माणवकको संबोधित किया—

"आओ सौम्य ! संजिका-पुत्र ! जहाँ भगवान् हैं, वहाँ जाकर भगवान्से काल कहो—'भन्ते ! काल है, भात (= भोजन) तैयार हो गया।"

"अच्छा भो !"···काल कहा···।

तब भगवान् पूर्वाह्न समय पहिनकर पात्रचीवर ले, जहाँ बोधि-राजकुमारका घर (= निवेसन) था, वहाँ गये। उस समय बोधि-राजकुमार भगवान्की प्रतीक्षा करता हुआ, द्वार-कोष्ठक

---

[1] चुनार (? जि० मिर्जापुर)। [2] ब्राह्मण-तरुण।

(= नौबतखाना)के बाहर खड़ा था। बोधि-राजकुमारने दूरसे भगवान्‌को आते देखा। देखते ही अगवानी कर भगवान्‌की वन्दनाकर, आगे आगे करके जहाँ कोकनद-प्रासाद था, वहाँ ले गया। तब भगवान् निचली सीढ़ीके पास खड़े हो गये। बोधि-राजकुमारने भगवान्‌से कहा—"भन्ते! भगवान् धुस्सोंपर चलें। सुगत! धुस्सोंपर चलें, ताकि (यह) चिरकाल तक मेरे हित और सुखके लिये हो।"

ऐसा कहनेपर भगवान् चुप रहे।

दूसरी बार भी बोधि-राजकुमारने०। तीसरी बार भी ०।

तब भगवान्‌ने आयुष्मान् आनन्दकी ओर देखा। आयुष्मान् आनन्दने बोधि-राजकुमारसे कहा—

"राजकुमार! धुस्सोंको समेट लो। भगवान् पांवड़े (= चैल-पंक्ति)पर न चढ़ेंगे। तथागत आनेवाली जनताका ख्याल कर रहे हैं।"

बोधि-राजकुमारने धुस्सोंको समेटवा कर, कोकनद-प्रासादके ऊपर आसन बिछवाये। भगवान् कोकनद-प्रासादपर चढ़, संघके साथ बिछे आसनपर बैठे। तब बोधि-राजकुमारने बुद्धप्रमुख भिक्षुसंघको अपने हाथसे उत्तम खादनीय भोजनीय (पदार्थों)से संतर्पित किया, संतुष्ट किया। भगवान्‌के भोजन कर पात्रसे हाथ खींच लेनेपर, बोधिराजकुमार एक नीचा आसन ले, एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे हुये बोधि-राजकुमारने भगवान्‌से कहा—

"भन्ते! मुझे ऐसा होता है, कि सुखमें सुख प्राप्य नहीं, दुःखमें सुख प्राप्य है।"

"राजकुमार! बोधिसे पहिले = बुद्ध न हो बोधि-सत्त्व होते समय, मुझे भी यही होता था—'सुखमें सुख प्राप्य नहीं है, दुःखमें सुख प्राप्य है।' इसलिये राजकुमार! मैं उस समय दहर (= नव-वयस्क) ही, बहुत काले काले केशवाला, सुन्दर (= भद्र) यौवनके साथ ही, प्रथम वयसमें, माता-पिताके अश्रुमुख होते, घरसे बेघर हो प्रव्रजित हुआ। इस प्रकार प्रव्रजित हो, जहाँ आलार-कालाम था, वहाँ गया। जाकर आलार-कालामसे कहा—'आवुस कालाम! इस धर्मविनयमें मैं ब्रह्मचर्य-वास करना चाहता हूँ।' ऐसा कहनेपर राजकुमार! आलार-कालामने मुझे कहा—'विहरो आयुष्मान्! यह ऐसा धर्म है, जिसमें विज्ञ (= जानकार) पुरुष जल्द ही अपने आचार्यत्वको स्वयं जान कर = साक्षात् कर = प्राप्त कर विहार करेगा।' सो मैंने जल्द ही = क्षिप्र ही उस धर्म (= बात)को पूरा कर लिया। तब मैं उतने ही ओठ-छुये मात्र = कहने कहाने मात्रसे, ज्ञानवाद और स्थविरवाद (= वृद्धोंका सिद्धान्त) कहने लगा—'मैं जानता हूँ, देखता हूँ…'। तब मेरे मनमें ऐसा हुआ—आलार-कालामने 'इस धर्मको केवल श्रद्धासे स्वयं जानकर = साक्षात् कर = प्राप्त कर, मैं विहरता हूँ' यह मुझे नहीं बतलाया। जरूर आलार-कालाम इस धर्मको जानता देखता विहरता होगा। तब मैं जहाँ आलार-कालाम था, वहाँ गया। जाकर आलार-कालामसे पूछा—'आवुस कालाम! तुम इस धर्मको स्वयं जान कर = साक्षात् कर = प्राप्तकर (= उपसंपद्य) कहाँ पर्यन्त बतलाते हो?' ऐसा कहनेपर राजकुमार! आलार-कालामने 'आकिंचन्यायतन' बतलाया।

तब मुझे ऐसा हुआ—'आलार-कालाम ही के पास श्रद्धा नहीं है, मेरे पास भी श्रद्धा है। आलार-कालामहीके पास वीर्य नहीं ०। ० स्मृति ०। ० समाधि ०। ० प्रज्ञा ०। क्यों न, जिस धर्मको आलार-कालाम—'स्वयं जान कर = साक्षात् कर = प्राप्त कर विहरता हूँ' कहता है; उस धर्मको साक्षात्कार करनेके लिये मैं भी उद्योग करूँ। सो मैं विना देर किये = क्षिप्र ही उस धर्मको स्वयं जान कर = साक्षात् कर = प्राप्त कर विहरने लगा। तब मैंने राजकुमार!…आलार-कालामसे कहा—'आवुस कालाम! तुम इतना ही इस धर्मको स्वयं जान कर ० हम लोगोंको बतलाते हो?'—'आवुस! मैं इतना ही इस धर्मको स्वयं जान कर ० बतलाता हूँ।' आवुस!

इतना तो 'मैं भी इस धर्मको स्वयं जान कर ० विहरता हूँ ।' आवुस ! हमें लाभ ! हमें सुलाभ मिला, जो हम आयुष्मान् जैसे स-ब्रह्मचारी (= गुरु-भाई)को देखते हैं।···मैं जिस धर्मको स्वयं जान कर ० बतलाता (= उपदेश करता) हूँ; तुम भी उसी धर्मको स्वयं जान ० विहरते हो, तुम जिस धर्मको स्वयं ०; मैं भी उसी धर्मको ० । इस प्रकार मैं जिस धर्मको जानता हूँ, उस धर्मको तुम जानते हो। जिस धर्मको तुम जानते हो, उस धर्मको मैं जानता हूँ । इस प्रकार जैसे तुम, वैसा मैं; जैसा मैं, वैसे तुम हो । आवुस ! आओ अब हम दोनों ही इस गण (= जमात)को धारण करें । ' इस तरह मेरा आचार्य होते हुये भी, आलार-कालामने मुझ अन्तेवासी (= शिष्य)को अपने बराबरके स्थानपर स्थापित किया; बड़े सत्कार (= पूजा)से सत्कृत किया । तब मुझे यों हुआ—'यह धर्म न निर्वेद (= उदासीनता)के लिये है, न वैराग्यके लिये, न निरोधके लिये, न उपशम (= शांति)के लिये, न अभिज्ञा (= दिव्य-शक्ति)के लिये, न सम्बोधि (= परमज्ञान) के लिये, न निर्वाणके लिये है; 'आकिंचन्यायतन' तक उत्पन्न होनेहीके लिये (यह) है । सो मैं राजकुमार ! उस धर्मको अपर्याप्त मान, उस धर्मसे उदास हो चल दिया ।

"सो राजकुमार ! मैं 'क्या कुशल (= अच्छा) है' की गवेषणा करता, सर्वोत्तम श्रेष्ठ शांतिपदको खोजता, जहाँ उद्दक राम-पुत्त था, वहाँ गया । जाकर उद्दक (= उद्रक) राम-पुत्रसे बोला—'आवुस ! इस धर्म-विनयमें मैं ब्रह्मचर्य पालन करना चाहता हूँ ।' ऐसा कहनेपर राजकुमार ! उद्रक राम-पुत्र मुझसे बोला—

" विहरो आयुष्मान् ! यह वैसा धर्म है, जिसमें विज्ञ पुरुष जल्दही अपने आचार्यत्वको, स्वयं जान कर = साक्षात् कर = प्राप्त कर विहार करेगा' । सो मैंने तुरन्त क्षिप्रही उस धर्मको पूरा कर लिया । सो मैं उतनेही ओठ-छुये-मात्र = कहने कहाने मात्रसे ज्ञानवाद, और स्थविर-वाद कहने लगा—'मैं जानता हूँ, देखता हूँ···' । तब मुझे ऐसा हुआ—रामने मुझे यह न बतलाया "मैं इस धर्मको केवल श्रद्धासे, स्वयं जान कर = साक्षात् कर = प्राप्त कर विहरता हूँ" । जरूर राम इस धर्मको जानते देखते विहरता होगा । तब···उद्रक रामपुत्रसे मैंने पूछा—'आवुस रामपुत्र ! इस धर्मको स्वयं जान ० ० बतलाते हो ?' ऐसा कहने पर ! उद्रक राम-पुत्रने 'नैवसंज्ञा-नासंज्ञायतन' बतलाया । तब मेरे (मन)में हुआ—'उद्रक रामपुत्रके पासही श्रद्धा नहीं है, मेरे पास भी श्रद्धा है ० । क्यों न ० । इस तरह मेरा आचार्य होते हुये उद्रक रामपुत्रने मुझ अन्तेवासीको अपने बराबरके स्थानपर स्थापित किया ० । ० सो मैं ! उस धर्मसे उदास हो चल दिया ।

"राजकुमार ! 'क्या अच्छा है' की गवेषणा करता (= किंकुसल-गवेसी), सर्वोत्तम, श्रेष्ठ शांतिपद को खोजते हुए, मगध में क्रमशः चारिका करते, जहाँ उरुवेला सेनानी-निगम (= क़स्बा) था, वहाँ पहुँचा । वहाँ मैंने रमणीय भूमि-भाग, सुन्दर वन-खंड, बहती नदी श्वेत··· सुप्रतिष्ठित, चारों ओर रमणीय [1]गोचर-ग्राम देखा । तब मुझे राजकुमार ! ऐसा हुआ—'रमणीय है, हो ! यह भूमि-भाग० । प्रधान-इच्छुक कुल-पुत्रके [2]प्रधानके लिये यह बहुत ठीक (स्थान) है' । सो मैं 'प्रधानके लिये यह अलं (= ठीक) है, (सोच), वहीं बैठ गया । मुझे (उस समय) अद्भुत, अ-श्रुत-पूर्व, तीन उपमायें भान हुईं ।—

(१) 'जैसे ! गीला काष्ठ भीगे (= सस्नेह) पानीमें डाला जाये । (कोई) पुरुष 'आग बनाऊँगा,' 'तेज प्रादुर्भूत करूँगा' (सोच), [3]उत्तरारणी लेकर आये । तो क्या वह पुरुष गीले

---

[1] भिक्षाटन-योग्य पार्श्ववर्ती ग्राम । [2] निर्वाण-प्राप्ति करानेवाली योग-युक्ति । [3] रगड़ कर आग निकालनेकी लकड़ी ।

पानीमें पड़ी गीले काष्ठकी उत्तरारणीको ले कर, मथ कर अग्नि बना सकेगा, तेज प्रादुर्भूत कर सकेगा ?"

"नहीं भन्ते !"

"सो किस लिये ?" "(एक तो वह) स्नेह-युक्त गीला काष्ठ है, फिर वह पानीमें डाला है।...ऐसा करनेवाला वह पुरुष सिर्फ थकावट, पीड़ाका ही भागी होगा।"

"ऐसेही राजकुमार ! जो ब्राह्मण काया द्वारा काम वासनाओंमें लग्न हो विचरते हैं। जो कुछ भी इनका काम (= वासनाओं)में काम-रुचि = काम-स्नेह = काम-मूर्छा = काम-पिपासा = काम-परिदाह है, वह यदि भीतरसे नहीं छूटा है, नहीं शमित हुआ है तो प्रयत्नशील होनेपर भी वह श्रमण-ब्राह्मण दुःख(-द) तीव्र, कटु, वेदना (मात्र) सह रहे हैं। वह ज्ञान-दर्शन अनुत्तर-संबोध (= परम-ज्ञान)के अयोग्य है।

"राजकुमार ! यह मुझे पहिली अद्‌भुत, अश्रुत-पूर्व उपमा भान हुई।

(२) "और भी राजकुमार ! मुझे दूसरी अद्‌भुत अ-श्रुत-पूर्व उपमा भान हुई। राजकुमार ! जैसे स्नेह-युक्त गीला काष्ठ जलके पास स्थलपर फेंका हो। और कोई पुरुष उत्तरारणी लेकर आये—'अग्नि बनाऊँगा' 'तेज प्रादुर्भूत करूँगा'। तो क्या समझते हो राजकुमार ! क्या वह पुरुष अग्नि बना सकेगा, तेज प्रादुर्भूत कर सकेगा ?"

"नहीं भन्ते !"

"सो किस लिये ?"

"(एक तो) वह काष्ठ स्नेह-युक्त है, और पानीके पास स्थलपर फेंका हुआ भी है।...वह पुरुष सिर्फ थकावट, पीड़ा (मात्र)का ही भागी होगा।"

"ऐसे ही, राजकुमार ! जो कोई श्रमण या ब्राह्मण कायाके द्वारा वासनाओंसे लग्नहो विहरते हैं। ० अयोग्य हैं। राजकुमार ! मुझे यह दूसरी ०।

(३) "और भी राजकुमार ! तीसरी अद्‌भुत अ-श्रुत-पूर्वउपमा भान हुई।—जैसे नीरस शुष्क काष्ठ जलसे दूर स्थलपर फेंका है। और कोई पुरुष उत्तरारणी लेकर आये—'आग बनाऊँगा', 'तेज प्रादुर्भूत करूँगा।' तो क्या...वह पुरुष नीरस-शुष्क, जलसे दूर फेंके काष्ठको, उत्तरारणीसे मथन करके अग्नि बना सकेगा, तेज प्रादुर्भूत कर सकेगा ?

"हाँ भन्ते !"

"सो किस लिये ?"

"भन्ते ! वह नीरस सूखा काष्ठ है, और पानीसे दूर स्थलपर फेंका है।"

"ऐसेही राजकुमार ! जो कोई श्रमण ब्राह्मण, कायाद्वारा काम-वासनाओंसे अलग हो विहरते हैं। और जो उनका काम-वासनाओंमें ० काम-परिदाह है; वह भीतरसे भी सुप्रहीण (=अच्छी तरह छूट गया) है, सुशमित है। तो वह प्रयत्नशील श्रमण ब्राह्मण दुःख (-द), तीव्र, कटु वेदना नहीं भोगते। वह ज्ञान-दर्शन=अनुत्तर-संबोधके पात्र हैं। यदि वह प्रयत्नशील श्रमण ब्राह्मण दुःख, तीव्र, कटु वेदनाको भोगें भी, (तो भी) वह ज्ञान-दर्शन=अनुत्तर-संबोधके पात्र हैं। यह राजकुमार तीसरी ०।

"तब राजकुमार ! मेरे (मनमें) हुआ—"क्यों न मैं दाँतोंके ऊपर दाँत रख, जिह्वाद्वारा तालूको दबा, मनसे मनको निग्रह करूँ, दबाऊँ, संतापित करूँ। तब मेरे दाँतपर दाँत रखने, जिह्वासे तालू दबाने, मनसे मनको पकड़ने, दबाने, तपानेमें; काँखसे पसीना निकलता था; जैसे कि राजकुमार ! बलवान् पुरुष सीससे पकड़कर, कंधेसे पकड़कर, दुर्बल-तर पुरुषको पकड़े, दबाये, तपाये;

ऐसे ही राजकुमार ! मेरे दाँतपर दाँत ० काँखसे पसीना निकलता था। उस समय मैंने न दबनेवाला वीर्य (= उद्योग) आरम्भ किया हुआ था, न भूली स्मृति बनी थी, काया भी तत्पर थी।

"तब मुझे यह हुआ—क्यों न मैं श्वासरहित ध्यान धरूँ ? सो मैंने राजकुमार ! मुख और नासिकासे श्वासका आना जाना रोक दिया। तब राजकुमार ! मेरे मुख और नासिकासे आश्वास-प्रश्वासके रुक जानेपर, कानके छिद्रोंसे निकलते वातों (= हवाओं)का बहुत अधिक शब्द होने लगा। जैसे कि—लोहारकी धौंकनीसे धौंकनेसे बहुत अधिक शब्द होता है; ऐसे ही ०। ० न दबनेवाला वीर्य आरम्भ किया हुआ था ०।"

"तब मुझे यह हुआ—क्यों न मैं श्वास-रहित ध्यान करूँ ? सो मैंने राजकुमार ! मुखसे ०। तब मेरे मुख नासा और कर्णसे आश्वास-प्रश्वासके रुक जानेसे, मूर्धामें बहुत अधिक वात टकराते। जैसे बलवान् पुरुष तीक्ष्ण शिखरसे मूर्धा (= शिर)को मथे, ऐसे ही राजकुमार ! मेरे ०।

"तब मुझे यह हुआ—क्यों न श्वास-रहित ध्यान धरूँ ?—सो मैंने मुख, नासा, कर्णसे आश्वास-प्रश्वासको रोक दिया। तब मुझे मुख, नासा, कर्णसे आश्वास-प्रश्वासके रुक जानेसे सीसमें बहुत अधिक सीस-वेदना (= शिर-दर्द) होती थी। ० न दबाने वाला ०।...

"तब राजकुमार ! मुझे यह हुआ—क्यों न श्वास-रहित ही ध्यान धरूँ ?—सो मैंने ०। ० रुक जानेपर बहुत अधिक वात पेट (= कुक्षि)को छेदते थे। जैसे कि दक्ष (= चतुर गो-घातक या गो-घातकका अन्तेवासी तेज गो-विकर्त्तन (= छुरा)से पेटको काटे; ऐसेही ०। न दबनेवाला ०।

"तब मुझे यह हुआ—'क्यों न श्वास-रहित ही ध्यान (फिर) धरूँ' ०। राजकुमार ०। ० कायामें अत्यधिक दाह होता था। जैसे कि दो बलवान् पुरुष दुर्बलतर पुरुषको अनेक बाहोंमें पकड़कर अंगारोंपर तपावें; चारों ओर तपावें; ऐसे ही ०। न दबते ०।

"देवता भी मुझे कहते थे—'श्रमण गौतम मर गया।' कोई कोई देवता यों कहते थे—'श्रमण गौतम नहीं मरा, न मरेगा; श्रमण गौतम अर्हत् है। अर्हत्का तो इस प्रकारका विहार होता ही है।

"...मुझे यह हुआ—"क्यों न आहार को बिल्कुल ही छोड़ देना स्वीकार करूँ। तब देवताओंने मेरे पास आकर कहा—मार्ष ! तुम आहारका बिल्कुल छोड़ना स्वीकार करो। हम तुम्हारे रोम-कूपोंद्वारा दिव्य-ओज डाल देंगे; उसीसे तुम निर्वाह करोगे।...। तब मुझे यह हुआ—मैं (अपनेको) सब तरहसे निराहारी जानूँगा और यह देवता रोमकूपोंद्वारा दिव्य ओज मेरे रोम-कूपोंके भीतर डालेंगे; मैं उसीसे निर्वाह करूँगा। यह मेरा (तप) मृषा होगा। सो मैंने उन देवताओंका प्रत्याख्यान किया—'रहने दो'।

"तब मुझे यह हुआ—क्यों न मैं थोड़ा थोड़ा आहार ग्रहण करूँ—पसर भर मूँग का जूस, या कुलथीका जूस या मटरका जूस, या अरहरका जूस—। सो मैं थोड़ा थोड़ा पसर पसर मूँगका जूस ० ग्रहण करने लगा। थोड़ा थोड़ा पसर पसर भर मूँगका जूस ० ग्रहण करते हुये, मेरा शरीर (दुर्बलताकी) चरम सीमाको पहुँच गया। जैसे आसीतिक (= वनस्पति विशेष)की गाँठें,...वैसे ही उस अल्प आहारसे मेरे अंग प्रत्यंग हो गये। उस अल्प आहारसे जैसे ऊँटका पैर, वैसे ही मेरा कूल्हा (= आनिसद) हो गया, ० जैसे सूओंकी पाँती (= वट्टनावली) वैसे ही ऊँचे नीचे मेरे पीठके काँटे हो गये। ० जैसे पुरानी शालाकी कड़ियाँ (= टोड़े = गोपानसी) अहँण-वहँण (=ओलुग्ग-विलुग्गा) होती हैं, ऐसे ही मेरी पंसुलिया हो गई थीं। जैसे गहरे कूयें (= उदपान) में पानीका तारा (= उदक-तारा) गहराईमें, बहुत दूर दिखाई देता है, उसी ०। जैसे कच्चा

तोड़ा कड़वा लौका हवा-धूपसे चिचुक (= संपुटित) जाता है मुर्झा जाता है; ऐसे ही मेरे शिर-की खाल चिचुक गई थी, मुर्झा गई थी।···राजकुमार! यदि मैं पेटकी खालको मसलता, तो पीठके काँटोंको पकड़ लेता था, पीठके काँटोंको मसलता तो पेटकी खालको पकड़ लेता था। उस अल्पाहारसे मेरे पीठके काँटे और पेटकी खाल बिल्कुल सट गई थी।···यदि मैं पाखाना या मूत्र करता, वहीं भहराकर (= उपकुब्ज) गिर पड़ता था। जब मैं कायाको सहराते (= अस्सासेन्तो) हुये, हाथसे गात्रको मसलता था; तो हाथसे गात्र मसलते वक्त, कायासे सड़ी जड़ वाले (= पूति-मूल) रोम झड़ पड़ते थे।···मनुष्य भी मुझे देखकर कहते थे—'श्रमण गौतम काला है'। कोई कोई मनुष्य कहते थे—"श्रमण गौतम काला नहीं है, श्याम है।" कोई कोई मनुष्य यों कहते थे "श्रमण गौतम काला नहीं है, न श्याम ही है, मंगुर-वर्ण (= मंगुरच्छवि) है'। राजकुमार! मेरा वैसा परि-शुद्ध परि-अवदात (= सफेद, गोरा) छवि-वर्ण (= चमड़ेका रङ्ग) नष्ट हो गया था।

"तब मुझे यों हुआ—अतीत कालमें जिन किन्हीं श्रमणों ब्राह्मणोंने घोर दुःख, तीव्र और कटु वेदनायें सहीं, इतनेही पर्यन्त, (सही होंगी) इससे अधिक नहीं; भविष्य कालमें जो कोई श्रमण ब्राह्मण घोर दुःख, तीव्र और कटु वेदनायें सहेंगे, इतने ही पर्यन्त, इससे अधिक नहीं। आजकल भी जो कोई श्रमण ब्राह्मण घोर दुःख, तीव्र, और कटु वेदना सह रहे हैं ०। लेकिन राजकुमार! मैंने उस दुष्कर कारिकासे उत्तर-मनुष्य-धर्म [1]अलमार्य-ज्ञान-दर्शन-विशेष न पाया। (विचार हुआ) बोधके लिये क्या कोई दूसरा मार्ग है ?

"तब राजकुमार! मुझे यों हुआ—"मालूम है मैंने पिता (शुद्धोदन) शाक्यके खेतपर जामुनकी ठंडी छायाके नीचे, बैठ, काम और अकुशल-धर्मोंको हटाकर प्रथम ध्यानको प्राप्त हो, विहार किया था। शायद वह मार्ग बोधिका हो। तब राजकुमार! मुझे यह हुआ—क्या मैं उस सुखसे डरता हूँ, जो सुख काम और अकुशल-धर्मोंसे भिन्नमें है। फिर मुझे, राजकुमार यह हुआ—मैं उस सुखसे नहीं डरता हूँ, जो सुख ०। तब मुझे, राजकुमार! यह हुआ—इस प्रकार अत्यन्त कृश, पतले कायासे वह सुख मिलना सुकर नहीं, क्यों न मैं स्थूल आहार—भात-दाल (=कुल्माष) ग्रहण करूँ। सो मैं राजकुमार! स्थूल आहार ओदन-कुल्माष ग्रहण करने लगा। उस समय राज-कुमार! मेरे पास पाँच भिक्षु (इस आशासे) रहा करते थे; कि श्रमण गौतम जिस धर्मको प्राप्त करेगा, उसे हम लोगोंको (भी) बतलायेगा। लेकिन जब मैं स्थूल आहार ओदन कुल्माष ग्रहण करने लगा; तब वह पाँचों, भिक्षु, 'श्रमण गौतम बाहुलिक, (= बहुत संग्रह करनेवाला) प्रधानसे विमुख, बाहुल्य परायण हो गया' (समझ)-उदासीन हो, चले गये।

"तब राजकुमार! मैं स्थूल आहार ग्रहण कर, सबल हो काम और अकुशल-धर्मोंसे वर्जित, वितर्क तथा विचारसहित, एकान्ततासे उत्पन्न (= विवेकज), प्रीति-सुखवाले प्रथम ध्यानको प्राप्त हो विहरने लगा। वितर्क और विहारके उपशमित होनेपर, भीतरके संप्रसादन (= प्रसन्नता) = चित्तकी एकाग्रता-युक्त, वितर्क-विचार-रहित, समाधिसे उत्पन्न प्रीति-सुखवाले द्वितीय ध्यानको प्राप्त हो विहरने लगा।······प्रीति और विरागकी उपेक्षा कर, [2]स्मृति और संप्रजन्यके साथ, कायासे सुखको अनुभव (= प्रतिसंवेदन) करता हुआ, विहरने लगा। जिसको कि आर्यजन उपे-क्षक स्मृतिमान् और सुखविहारी कहते हैं; ऐसे तृतीय ध्यानको प्राप्त हो विहार करने लगा।···।

"सुख और दुःखके विनाश (= प्रहाण)से, पहिलेही सौमनस्य और दौर्मनस्यके पहिले

---

[1] परम-तत्व। [2] देखो स्मृति-सम्प्रजन्य।

अस्त हो जानेसे, दुःख-रहित, सुख-रहित उपेक्षक हो, स्मृतिकी परिशुद्धतासे युक्त चतुर्थ ध्यान-को प्राप्त हो विहार करने लगा।

(१) "तब इस प्रकार चित्तके परिशुद्ध = परि-अवदात, = अंगणरहित = उपक्लेश-रहित, मृदु हुये, काम-लायक, स्थिर = अचलता-प्राप्त = समाधिप्राप्त हो जाने पर, पूर्वजन्मोंकी स्मृतिके ज्ञान (= पूर्व-निवासानुस्मृति-ज्ञान)के लिये चित्तको मैंने झुकाया। फिर मैं पूर्वकृत अनेक पूर्व-निवासों (= जन्मों)को स्मरण करने लगा—जैसे एक जन्म भी, दो जन्म भी,...। आकार-सहित उद्देश-सहित पूर्वकृत अनेक पूर्व-निवासोंको स्मरण करने लगा। इस प्रकार प्रमाद-रहित, तत्पर हो आत्म-संयमयुक्त विहरते हुये, मुझे रातके पहिले याममें यह प्रथम विद्या प्राप्त हुई; अविद्या गई, विद्या आई; तम नष्ट हुआ, आलोक उत्पन्न हुआ।

(२) "सो इस प्रकार चित्तके परिशुद्ध ० समाहित होनेपर, प्राणियोंके जन्म-मरणके ज्ञान (= च्युति-उत्पाद-ज्ञान)के लिये मैंने चित्तको झुकाया। सो मनुष्य (के नेत्रों)से परेकी विशुद्ध दिव्य चक्षुसे, मैं अच्छे, बुरे, सुवर्ण, दुर्वर्ण, सु-गत, दुर्गत, मरते, उत्पन्न होते, प्राणियोंको देखने लगा। सो० ...कर्मानुसार जन्मको प्राप्त प्राणियोंको जानने लगा। रातके बिचले पहर (= याम) में यह द्वितीय विद्या उत्पन्न हुई। अविद्या गई ०।

(३) "सो इस प्रकार चित्तके ०। आस्रवों (= चित्त-मल)के क्षयके ज्ञानके लिये मैंने चित्तको झुकाया—सो 'यह [1]दुःख है' इसे यथार्थसे जान लिया; 'यह दुःख समुदय है' इसे यथार्थसे जान लिया; 'यह दुःख-निरोध है' इसे यथार्थ से जान लिया; 'यह दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपद् है' इसे यथार्थसे जान लिया। 'यह आस्रव हैं' इन्हें यथार्थसे जान लिया; 'यह आस्रव-समुदाय हैं' इसे ०, 'यह आस्रव-निरोध ०' 'यह आस्रव-निरोध = गामिनी-प्रतिपद् है' इसे ०। सो इस प्रकार जानते, इस प्रकार देखते, मेरा चित्त कामास्रवोंसे मुक्त हो गया, भवास्रवोंसे मुक्त होगया, अविद्यास्रवसे भी विमुक्त होगया। छूट (= विमुक्त) जानेपर 'छूट गया (विमुक्त)' ऐसा ज्ञान हुआ। 'जन्म खतम हो गया, ब्रह्मचर्य पूरा हो गया, करना था सो कर लिया, अब यहाँके लिये कुछ (करणीय) नहीं' इसे जाना। राजकुमार! रातके पिछले याममें यह तृतीय विद्या प्राप्त ० अविद्या चली गई ०। ०[2]।

"तब राजकुमार! पंचवर्गीय भिक्षु मेरे द्वारा इस प्रकार उपदेशित हो = अनुशासित हो, अचिरहीमें जिसके लिये कुल-पुत्र घरसे बेघर हो प्रव्रजित होते हैं, उस उत्तम ब्रह्मचर्यफलको, इसी जन्ममें स्वयं जानकर = साक्षात् कर = उपलाभकर, विहरने लगे।"

ऐसा कहनेपर बोधि-राजकुमारने भगवान्से कहा—

"भन्ते! कितनी देरमें तथागत (को) विनायक (= नेता) पा, भिक्षु जिसके लिये कुल-पुत्र घरसे बेघर हो प्रव्रजित होते हैं, उस उत्तम ब्रह्म-चर्य-फलको इसी जन्ममें स्वयं जान कर = साक्षात् कर = उपलाभकर, विहरने लगेगा?"

"राजकुमार! तुझसे ही यहाँ पूछता हूँ, जैसा तुझे ठीक लगे, वैसा बतला। हाथीवानी = अंकुश ग्रहणके शिल्प (= कला)में तू चतुर है न?"

"भन्ते! हाँ मैं हाथीवानी ० में चतुर हूँ।"

"तो राजकुमार! यदि कोई पुरुष—'बोधि-राजकुमार हाथीवानी = अंकुश-ग्रहण-शिल्प जानता है, उसके पाससे हाथीवानी = अंकुश-ग्रहण शिल्पको सीखूँगा' (सोचकर) आवे। और

---

[1] देखो पृष्ठ १५। [2] देखो पृष्ठ १०७-८।

वह हो-श्रद्धारहित, (तो क्या) जितना श्रद्धा-सहित (मनुष्य) द्वारा पाया जा सकता है, (उतना) वह पावेगा ? वह हो बहुत-रोगी, (तो क्या) जितना अल्प-रोगी-द्वारा पाया जा सकता है, (उतना) वह पावेगा । ० शठ मायावी ०, अशठ अमायावी ०, आलसी ०, ० निरालस ० । दुष्प्रज्ञ ०, प्रज्ञावान् ० तो राजकुमार ! क्या वह पुरुष तेरे पास हाथीवानी = अंकुश-ग्रहण शिल्पको सीखेगा ?"

"एक दोषसे भी युक्त पुरुष मेरे पास हाथीवानी = अंकुश-ग्रहण शिल्प नहीं सीख सकता, पाँचों दोषोंसे युक्तके लिये तो कहना ही क्या ?"

"तो राजकुमार ! यदि कोई मनुष्य 'बोधि-राजकुमार हाथीवानी ० जानता है ० शिल्पको सीखूँगा' (सोचकर) आवे । वह हो श्रद्धावान् ०; अल्प-रोगी ०; ० अशठ = अमायावी ०; निरालस ० । तो राजकुमार ! क्या वह पुरुष तेरे पास हाथीवानी = अंकुश-ग्रहण शिल्प सीख सकेगा ?"

"भन्ते ! एक बातसे युक्त भी पुरुष मेरे पास ० ।"

"इसी प्रकार राजकुमार ! निर्वाण-साधना (= प्रधान)के भी पाँच अंग हैं । कौनसे पाँच ?—(१) भिक्षु श्रद्धालु हो, तथागतकी बोधि (= परमज्ञान)पर श्रद्धा करता हो—'कि वह भगवान्, अर्हत्, सम्यक्-संबुद्ध, विद्या-आचरण-संपन्न, सुगत, लोक-विद्, अनु-उत्तरपुरुष-दम्य-सारथी, देव-मनुष्यके शास्ता, बुद्ध, भगवान् हैं । (२) अल्प-रोगी = अल्प-आतङ्की, न बहुत शीत, न बहुत उष्ण, साधनायोग्य, सम-विपाकवाली मध्यम प्रकृति (= ग्रहणी)से युक्त हो । (३) अ-शठ = अ-मायावी हो; शास्ता (= गुरु) और विज्ञ स-ब्रह्मचारियोंमें, कुशल धर्मोंके उत्पादनमें निरालस हो; (४) कुशल धर्मोंमें कंधेसे जुआ न हटानेवाला, दृढ़-पराक्रमी बलिष्ठ हो । (५) उदय-प्रज्ञावान् हो, उदय-अस्त-गामिनी, आर्यनिर्वेधिक सम्यक् दुःख-क्षय-गामिनी प्रज्ञासे युक्त हो । राजकुमार ! प्रधानके यह पाँच अंग हैं ।

"राजकुमार ! इन पाँच प्रधानीय अंगोंसे युक्त भिक्षु, तथागतको विनायक (= नेता) पा, अनुत्तर ब्रह्मचर्य-फलको इसी जन्ममें सात वर्षोंमें, स्वयं जानकर = साक्षात्कर = प्राप्तकर विहरेगा ।"

"राजकुमार ! छोड़ो सात वर्ष; इन पाँच प्रधानीय अंगोंसे युक्त भिक्षु ०, छः वर्षोंमें । ० पाँच वर्षोंमें । ० चार वर्षोंमें । ० तीन वर्षोंमें । ० दो वर्षोंमें । ० एक वर्षमें । ० सात मासमें । ० छः मासमें । ० पाँच मासमें । ० चार मासमें । ० तीन मासमें । ० दो मासमें । ० एक मासमें । ० सात रात-दिनमें । ० छः रात-दिनमें । ० पाँच रात-दिनमें । ० चार रात-दिनमें । ० तीन रात-दिनमें । ० दो रात-दिनमें । ० एक रात-दिनमें ।

"छोड़ो राजकुमार ! एक रात-दिन; इन पाँच प्रधानीय अंगोंसे युक्त भिक्षु, तथागतको विनायक पा, सायंकालको अनुशासन किया, प्रातःकाल विशेष (= निर्वाणपद)को प्राप्त कर सकता है, प्रातः अनुशासित सायं विशेष प्राप्त कर सकता है ।"

ऐसा कहनेपर बोधि-राजकुमार बोला—"अहो ! बुद्ध !! अहो ! धर्म !! अहो ! धर्मका स्वाख्यात-पन (= उत्तम वर्णन) !! जहाँ कि सायं अनुशासित प्रातः विशेषको पा जाये, प्रातः अनुशासित सायं विशेषको पा जाये ।"

ऐसा बोलनेपर संजिका-पुत्रने बोधि-राजकुमारसे कहा—"ऐसाही है, हे भवान् बोधि !—'अहो ! बुद्ध !! अहो ! धर्म !!, अहो ! धर्मका स्वाख्यात-पन ।' (यह) तुम कहते हो; तो भी उस धर्म और भिक्षु-संघकी शरण नहीं जाते ?"

"सौम्य ! संजिका-पुत्र ! ऐसा मत कहो। सौम्य ! संजिका-पुत्र ! ऐसा मत कहो। सौम्य संजिका-पुत्र ! मैंने अय्या (= आर्य्या)के मुँहसे सुना, (उन्हींके) मुखसे ग्रहण किया है। सौम्य ! संजिका-पुत्र एकबार भगवान् कौशाम्बीमें घोषितारामसें विहार करते थे। तब मेरी गर्भवती अय्या जहाँ भगवान् थे, वहाँ गई, जाकर भगवान्से अभिवादन कर एक ओर बैठ गई। एक ओर बैठी मेरी अय्याने भगवान्से यों कहा—"भन्ते ! जो मेरे कोखमें यह कुमारी या कुमार है, वह भगवान्की, धर्मकी और भिक्षु-संघकी शरण जाता है। आजसे भगवान् इसे सांजलि शरणागत उपासक धारण करें।

"सौम्य ! संजिका-पुत्र ! एकबार भगवान् यहीं भर्गमें सुंसुमार-गिरिके भेषकलावन मृगदावमें विहरते थे, तब मेरी धाई (= धाती) मुझे गोदमें लेकर जहाँ भगवान् थे, वहाँ गई। जाकर भगवान्को अभिवादनकर एक ओर खड़ी होगई। एक ओर खड़ी हुइ मेरी धाईने भगवान्से कहा—भन्ते यह बोधि-राजकुमार भगवान्की, धर्मकी, और भिक्षु-संघकी ०

"[1]सौम्य ! संजिकापुत्र ! यह मैं तीसरी बार भी भगवान्की, धर्मकी और भिक्षु-संघकी शरण जाता हूँ। आजसे भगवान् मुझे सांजलि शरणागत उपासक धारण करें।"

---

[1] उदयनके जन्म और बोधिराजकुमारके जन्म आदिके बारेमें देखो बुद्धचर्या, पृष्ठ ४२१-२२ टि०।

८६—अंगुलिमाल-सुत्तन्त (२।४।६)

अंगुलिमालका जीवन-परिवर्त (सबेरेका भूला शामको रास्ते पर)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथ-पिंडिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे।

उस समय राजा प्रसेनजित्‌के राज्यमें रुद्र, लोहित-पाणि, मार-काटमें संलग्न, प्राणि-भूतोंमें दया-रहित अंगुलिमाल नामक डाकू (= चोर) था। उसने ग्रामोंको भी अ-ग्राम कर दिया था, निगमोंको भी अ-निगम ०, जन-पदको भी अ-जनपद ०। तब भगवान् पूर्वाह्ण समय पहिनकर, पात्र-चीवर ले श्रावस्तीमें पिंडके लिये प्रविष्ट हुए। श्रावस्तीमें पिंड-चार करके भोजन बाद······ शयनासन सँभाल, पात्र-चीवर ले जहाँ, डाकू अंगुलिमाल रहता था, उसी रास्ते चले। गोपालकों, पशुपालकों, कृषकों, राहगीरोंने भगवान्‌को, जिधर डाकू अंगुलिमाल था, उसी रास्तेपर (जाते) हुये देखा। देखकर भगवान्‌से यह कहा—

"मत श्रमण! इस रास्ते जाओ। इस मार्गमें श्रमण! ० अंगुलिमाल नामक डाकू रहता है। उसने ग्रामोंको भी अ-ग्राम ०। वह मनुष्योंको मार मारकर अंगुलियोंकी माला पहनता है। इस मार्गपर श्रमण! बीस पुरुष, तीस पुरुष, चालीस ०, पचास पुरुष तक इकट्ठा होकर जाते हैं, वह भी अंगुलिमालके हाथमें पड़ जाते हैं।"

ऐसा कहनेपर भगवान् मौन धारण कर चलते रहे।

दूसरी बार भी गोपालकों ०। तीसरी बार भी गोपालकों ०।

डाकू अंगुलिमालने दूरसे ही भगवान्‌को आते देखा। देखकर उसको यह हुआ—'आश्चर्य है जी! अद्भुत है जी (= भो)!! इस रास्ते दस पुरुष भी, ० पचास पुरुष भी इकट्ठा होकर चलते हैं, वह भी मेरे हाथमें पड़ जाते हैं। और यह श्रमण अकेला=अद्वितीय मानों मेरा तिरस्कार करता आ रहा है। क्यों न मैं इस श्रमणको जानसे मार दूँ।' तब डाकू अंगुलिमाल ढाल-तलवार (= असि-चर्म) लेकर तीर-धनुष चढ़ा, भगवान्‌के पीछे चला। तब भगवान्‌ने इस प्रकारका योग-बल प्रकट किया, कि डाकू अंगुलिमाल मामूली चालसे चलते भगवान्‌को सारे वेगसे दौड़कर भी न पा सकता था। तब डाकू अंगुलिमालको यह हुआ—'आश्चर्य है जी! अद्भुत है जी!! मैं पहिले दौड़ते हुये हाथीको भी पीछा करके पकड़ लेता था, ० घोड़ेको भी ०, ० रथको भी ०, ० मृगको भी पीछा करके पकड़ लेता था। किन्तु, मामूली चालसे चलते इस श्रमणको, सारे वेगसे दौड़कर भी नहीं पा सकता हूँ।' खड़ा होकर भगवान्‌से बोला—

"खड़ा रह, श्रमण!"

"मैं स्थित (= खड़ा) हूँ अंगुलिमाल! तू भी स्थित हो।"

तब डाकू अंगुलिमालको यह हुआ—'यह शाक्य-पुत्रीय श्रमण सत्यवादी सत्य-प्रतिज्ञ (होते हैं); किन्तु यह श्रमण जाते हुये भी ऐसा कहता है—'मैं स्थित हूँ ०।' क्यों न मैं इस श्रमणसे पूछूँ। तब ० अंगुलिमालने गाथाओंमें भगवान्‌से कहा—

"श्रमण ! जाते हुये 'स्थित हूँ ।' कहता है, मुझ खड़े हुयेको अस्थित कहता है ।
श्रमण ! तुझे यह बात पूछता हूँ 'कैसे तू स्थित और मैं अ-स्थित हूँ ?' ॥१॥"
"अंगुलिमाल ! सारे प्राणियोंके प्रति दंड छोड़नेसे मैं सर्वदा स्थित हूँ ।
तू प्राणियोंमें अ-संयमी है, इसलिये मैं स्थित हूँ, और तू अ-स्थित है ॥२॥"
"मुझे महर्षिका पूजन किये देर हुई, यह श्रमण महावनमें मिल गया ।
सो मैं धर्मयुक्त गाथाको सुनकर चिरकालके पापको छोड़ूँगा" ॥३॥
इस प्रकार डाकूने तलवार और हथियार खोह, प्रपात और नालेमें फेंक दिये ।
डाकूने सुगतके पैरोंकी वन्दना की, और वहीं उनसे प्रव्रज्या माँगी ॥४॥
बुद्ध करुणामय महर्षि, जो देवों सहित लोकके शास्ता (= गुरु) हैं ।
उसको 'आ भिक्षु' बोले, यही उसका संन्यास हुआ ॥५॥

तब भगवान् आयुष्मान् अंगुलिमालको अनुगामी-श्रमण बना जहाँ श्रावस्ती थी वहाँ, चारिकाके लिये चले । क्रमशः चारिका करते जहाँ श्रावस्ती थी, वहाँ पहुँचे । श्रावस्तीमें भगवान् अनाथ-पिंडिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे । उस समय राजा प्रसेनजित् कोसलके[1] अन्तः-पुरके द्वारपर बड़ा जन-समूह एकत्रित था । कोलाहल (= उच्च शब्द, महाशब्द) हो रहा था— 'देव ! तेरे राज्यमें ० अंगुलिमाल नामक डाकू है । उसने ग्रामोंको भी अ-ग्राम ० । वह मनुष्योंको मार कर अंगुलियोंकी माला पहनता है । देव ! उसको रोक ।"

तब राजा प्रसेनजित् कोसल पाँच सौ घोड़-सवारोंके साथ मध्याह्नको श्रावस्तीसे निकल (और) जिधर आराम था, उधर गया । जितनी यानकी भूमि थी, उतनी यानसे जा, यानसे उतर पैदल जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया । जाकर भगवान्‌को अभिवादन कर एक ओर बैठा । एक ओर बैठे राजा प्रसेनजित् कोसलसे भगवान्‌ने कहा—

"क्या महाराज ! तुझपर राजा मागध श्रेणिक बिंबसार बिगड़ा है, या वैशालिक लिच्छवि, या दूसरे विरोधी राजा ?"

"भन्ते ! न मुझपर राजा मागध ० बिगड़ा है ० । भन्ते ! मेरे राज्यमें ० अंगुलि-माल नामक डाकू ० । भन्ते ! मैं उसीको निवारण करने जा रहा हूँ ।"

"यदि महाराज ! तू अंगुलि-मालको केश-श्मश्रु मुँड़ा, काषाय-वस्त्र पहिन, घरसे बेघर हो प्रव्रजित हुआ, प्राण-हिंसा-विरत, अदत्तादान-विरत, मृषावाद-विरत, एकाहारी, ब्रह्मचारी, शील-वान्, धर्मात्मा देखे, तो उसको क्या करे ?"

"हम भन्ते ! प्रत्युत्थान करेंगे, आसनके लिये निमंत्रित करेंगे, चीवर, पिंड-पात, शयना-सन, ग्लान-प्रत्यय, भैषज्य परिष्कारोंसे निमंत्रित करेंगे; और उनकी धार्मिक रक्षा = आवरण = गुप्ति करेंगे । किंतु भन्ते ! उस दुःशील पापीको ऐसा शील-संयम कहाँसे होगा ?"

उस समय आयुष्मान् अंगुलिमाल भगवान्‌के अ-विदूर बैठे थे । तब भगवान्‌ने दाहिनी बाँहको पकड़ कर राजा प्रसेनजित् कोसलसे कहा—

"महाराज ! यह है अंगुलिमाल ।"

तब राजा प्रसेनजित् कोसलको, भय हुआ, स्तब्धता हुई, रोमांच हुआ । तब भगवान्‌ने राजा प्रसेनजित् कोसलसे यह कहा—

"मत डरो, महाराज ! मत डरो महाराज ! (अब) इससे तुझे भय नहीं है ।" तब राजा

---

[1] नगरके भीतरी भागमें राजाके महल आदि होते थे, इसको अन्तःपुर, या राजकुल कहा जाता था ।

प्रसेनजित् कोसलको जो भय ० था, वह विलीन होगया।

तब राजा प्रसेनजित् कोसल, जहाँ आयुष्मान् अंगुलिमाल थे, वहाँ गया। जाकर आयुष्मान् अंगुलिमालसे बोला—

"आर्य अंगुलिमाल हैं?"

"हाँ, महाराज!"

"आर्यके पिता किस गोत्रके, और माता किस गोत्रकी?"

"महाराज! पिता गार्ग्य, माता मैत्रायणी।"

"आर्य गार्ग्य मैत्रायणी-पुत्र अभि-रमण करें। मैं आर्य गार्ग्य मैत्रायणी-पुत्रकी चीवर, पिंड-पात, शयनासन, ग्लान-प्रत्यय-भैषज्य परिष्कारोंसे सेवा करूँगा।"

उस समय आयुष्मान् अंगुलिमाल आरण्यक, पिंडपातिक, पांसु-कूलिक, त्रैचीवरिक थे। तब आयुष्मान् अंगुलिमालने राजा प्रसेनजित् कोसलसे कहा—

"महाराज! मेरे तीनों चीवर पूरे हैं।"

तब राजा प्रसेनजित् कोसल जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया। जाकर भगवान्को अभिवादन कर एक ओर बैठा। एक ओर बैठ···भगवान्से यह बोला—

"आश्चर्य भन्ते! अद्भुत भन्ते!! कैसे भन्ते! भगवान् अदान्तोंको दमन करते, अशांतोंको शमन करते, अ-परिनिर्वृत्तोंको परिनिर्वाण कराते हैं। भन्ते! जिनको हम दंडसे भी, शस्त्रसे भी दमन न कर सके, उनको भन्ते! भगवान्ने विना दंडके, विना शस्त्रके दमन कर दिया। अच्छा, भन्ते! हम जाते हैं, हम बहु-कृत्य = बहु-करणीय (= बहुत कामवाले) हैं।"

"जिसका महाराज! तू काल समझता है (वैसा कर)।"

तब राजा प्रसेनजित् कोसल आसनसे उठकर भगवान्को अभिवादन कर प्रदक्षिणा कर चला गया।

तब आयुष्मान् अंगुलिमाल पूर्वाह्न समय पहिनकर, पात्र-चीवर ले श्रावस्तीमें पिंडके लिये प्रविष्ट हुये। श्रावस्तीमें बिना ठहरे, पिंड-चार करते आयुष्मान् अंगुलिमालने एक स्त्रीको मूढ़-गर्भा = विघात-गर्भा (= मरे गर्भवाली) देखा। देखकर उनको यह हुआ—'हा! प्राणी दुःख पा रहे हैं!! हा! प्राणी दुःख पा रहे हैं।' तब आयुष्मान् अंगुलिमाल श्रावस्तीमें पिंड-चार करके भोजनोपरान्त···जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये। जाकर भगवान्को अभिवादन कर एक ओर बैठ गये। एक ओर बैठे आयुष्मान् अंगुलिमालने भगवान्से कहा—

"मैं भन्ते! पूर्वाह्न समय पहिन कर, पात्र-चीवर ले श्रावस्तीमें पिंडके लिये प्रविष्ट हुआ। श्रावस्तीमें ० मैंने एक स्त्रीको मूढ़-गर्भा ० देखा। '० हा! प्राणी दुःख पा रहे हैं'।"

"तो अंगुलिमाल! जहाँ वह स्त्री है, वहाँ जा। जाकर उस स्त्रीसे कह—भगिनि! यदि मैं जन्मसे, जानकर प्राणि-वध करना नहीं जानता, (तो) उस सत्यसे तेरा मंगल हो; गर्भका मंगल हो।"

"भन्ते! यह तो निश्चय मेरा जान कर झूठ बोलना होगा। भन्ते मैंने जान कर बहुतसे प्राणि-वध किये हैं।"

"अंगुलिमाल! तू जहाँ वह स्त्री है वहाँ···जाकर यह कह—'भगिनि! यदि मैंने आर्य-जन्ममें पैदा हो (कर) जान कर प्राणि-वध करना नहीं जाना, (तो) इस सत्य से ०।"

"अच्छा भन्ते!"···आयुष्मान् अंगुलिमालने···जाकर उस स्त्रीसे कहा—

"भगिनि! यदि मैंने आर्य जन्ममें पैदा हो, जान कर प्राणि-वध ०।"

तब स्त्रीका मंगल होगया, गर्भका भी मंगल होगया।

आयुष्मान् अंगुलिमाल एकाकी ... अप्रमत्त = उद्योगी संयमी हो विहार करते न-चिरमें ही, जिसके लिये कुल-पुत्र ... प्रव्रजित होते हैं, उस सर्वोत्तम ब्रह्मचर्य-फलको इसी जन्ममें स्वयं जान कर = साक्षात्कार कर = प्राप्त कर विहार करने लगे। 'जन्म क्षय होगया, ब्रह्मचर्य-पालन हो चुका, करना था सो कर लिया, अब और करनेको यहाँ नहीं है' (इसे) जान लिया। आयुष्मान् अंगुलिमाल अर्हतोंमें एक हुये।

आयुष्मान् अंगुलिमाल पूर्वाह्ण समय पहिन कर, पात्र-चीवर ले, श्रावस्तीमें भिक्षाके लिये प्रविष्ट हुये। किसी दूसरेका फेंका ढेला आयुष्मान्के शरीरपर लगा; दूसरेका फेंका डंडा ०; दूसरेका फेंका कंकड़ ०। तब आयुष्मान् अंगुलिमाल बहते-खून, फटे-शिर, टूटे-पात्र, फटी संघाटीके साथ जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये। भगवान्ने दूरसे ही आयुष्मान् अंगुलिमालको आते देखा। देखकर आयुष्मान् अंगुलिमालसे कहा—

"ब्राह्मण! तूने कबूल कर लिया। ब्राह्मण! तूने कबूल कर लिया। जिस कर्म-फलके लिये अनेक सौ वर्ष, अनेक हजार वर्ष, नर्कमें पचना पड़ता, उस कर्म-विपाकको ब्राह्मण! तू इसी जन्ममें भोग रहा है।"

तब आयुष्मान् अंगुलिमालने एकान्तमें ध्यानावस्थित हो विमुक्त-सुखको अनुभव करते, उसी समय यह उदान कहा—

"जो पहिले अर्जित कर पीछे, उसे मार्जित करता है।
वह मेघसे मुक्त चन्द्रमाकी भाँति इस लोकको प्रभासित करता है ॥ १ ॥
जिसका किया पाप-कर्म पुण्य (= कुशल)से ढँका जाता है।
वह मेघसे मुक्त ० ॥ २ ॥
जो संसारमें तरुण भिक्षु बुद्ध-शासनमें जुटता है। वह ० ॥ ३ ॥
दिशायें मेरी धर्म-कथाको सुनें, दिशायें मेरे बुद्ध-शासनमें जुड़ें।
वह संत पुरुष दिशाओंको सेवन करें, जो धर्मके लिये ही प्रेरित करते हैं ॥ ४ ॥
दिशायें मेरे क्षांति-वादियों, मैत्री-प्रशंसकोंके धर्मको;
समयपर सुनें, और उसके अनुसार चलें ॥ ५ ॥
वह मुझे या दूसरे किसीको भी नहीं मारेगा।
(वह) परम शांतिको पाकर स्थावर जंगमकी रक्षा करेगा ॥६॥
(जैसे) नाली-वाले पानी ले जाते हैं, इषु-कार शरको सीधा करते हैं।
बढ़ई लकड़ीको सीधा करते हैं, (वैसे ही) पंडित अपनेको दमन करते हैं ॥७॥
कोई दंडसे दमन करते हैं, (कोई) शस्त्र और कोड़ासे भी।
तथागत-द्वारा विना दंड, विना शस्त्रके ही मैं दमन किया गया हूँ ॥८॥
पहिलेके हिंसक मेरा नाम आज अहिंसक है।
आज मैं यथार्थ-नामवाला हूँ, किसीकी हिंसा नहीं करता ॥९॥
पहिले मैं [1]अंगुलिमाल नामसे प्रसिद्ध चोर था।
बड़ी बाढ़ (= महा-ओघ) में डूबते बुद्धकी शरण आया ॥१०॥

---

[1] अंगुलिमाल-चरित्र, देखो बुद्धचर्या ३७१-७२ टि०।

पहिले मैं अंगुलिमाल नामसे प्रसिद्ध खून-रंगे हाथवाला (= लोहित-पाणि) था।
देखो शरणागतिको ? भव-जाल सिमट गया ॥११॥
बहुत दुर्गतिमें ले जानेवाले कर्मोंको करके।
कर्म-विपाकसे स्पृष्ट(= लगा) (था) (जिन)से उऋण हो भोजन करता हूँ ॥१२॥
बाल = दुर्बुद्धि जन, प्रमाद (= आलस्य)में लगे रहते हैं।
मेधावी (पुरुष) अ-प्रमादकी, श्रेष्ठ धनकी भाँति रक्षा करते हैं ॥१३॥
मत प्रमादमें जुड़ो, मत काम-रतिका संग करो।
अप्रमाद-युक्त हो ध्यान करते (मनुष्य) विपुल सुखको पाता है ॥१४॥
(यहाँ मेरा आना) स्वागत है, अप-गत (= दुरागत) नहीं,
यह मेरी (मंत्रणा) दुर्मंत्रणा नहीं।
प्रतिमान (= ज्ञान) होनेवाले धर्मोंमें जो श्रेष्ठ है, उस (निर्वाण)को मैंने पा लिया ॥१५॥
स्वागत है, अपगत नहीं, यह मेरा दुर्मंत्रण नहीं।
तीनों विद्याओंको पा लिया, बुद्धके शासनको कर लिया ॥१६॥

८७—पियजातिक-सुत्तन्त (२।४।७)

प्रियोंसे शोक, दुःखकी उत्पत्ति

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें···जेतवनमें विहार करते थे ।

उस समय एक गृहपति (= वैश्य)का प्रिय = मनाप एकलौता-पुत्र मर गया था । उसके मरनेसे (उसे) न काम (= कर्मान्त) अच्छा लगता था, न भोजन अच्छा लगता था—'कहाँ हो (मेरे) एकलौते-पुत्रक ? कहाँ हो (मेरे) एकलौते-पुत्रक ?' तब वह गृहपति जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया ।···अभिवादन कर एक ओर बैठे उस गृहपतिसे भगवान्ने कहा—

"गृहपति ! तेरी इन्द्रियाँ (= चेष्टायें) चित्तमें स्थित नहीं जान पड़तीं; क्या तेरी इन्द्रियोंमें कोई खराबी (= अन्यथात्त्व) तो नहीं है ?"

"भन्ते ! क्यों न मेरी इन्द्रियाँ अन्यथात्वको प्राप्त होंगी ? भन्ते ! मेरा प्रिय = मनाप एकलौता-पुत्र मर गया । उसके मरनेसे न काम अच्छा लगता है, न भोजन अच्छा लगता है । सो मैं आदाहन (= चिता)के पास जाकर क्रंदन करता हूँ—'कहाँ हो एकलौते-पुत्रक (= पुतवा) !"

"ऐसा ही है गृहपति ! प्रिय-जातिक = प्रियसे उत्पन्न होनेवाले ही हैं, गृहपति ! (यह) शोक, परिदेव (= क्रंदन), दुःख = दौर्मनस्य, उपायास (= परेशानी) ?"

"भन्ते ! यह ऐसा क्यों होगा—'प्रिय जातिक ० हैं शोक ० उपायास ?"

वह गृहपति भगवान्के भाषणको न अभिनन्दन कर, निंदा कर आसनसे उठकर चला गया ।

उस समय बहुतसे जुआरी (= अक्ष-धूर्त) भगवान्के अदूरमें जुआ खेल रहे थे । तब वह गृहपति जहाँ वह जुआरी थे, वहाँ गया, जाकर उन जुआरियोंसे बोला—

"मैं जी ! जहाँ श्रमण गौतम है, वहाँ···जाकर···अभिवादन कर एक ओर बैठे मुझे श्रमण गौतम ने कहा—'गृहपति ! तेरी इन्द्रियाँ (= चेष्टायें) अपने चित्तमें स्थित-सी नहीं हैं ० प्रिय जातिक ० शोक ० हैं' । प्रियजातिक = प्रियसे उत्पन्न तो, आनन्द = सौमनस्य हैं । तब मैं श्रमण गौतमके भाषणको न अभिनन्दन कर ० चला आया ।"

"यह ऐसा ही है गृहपति ! प्रिय-जातिक = प्रिय-उत्पन्न तो हैं गृहपति ! आनन्द = सौमनस्य ।"

तब वह गृहपति 'जुआरी भी मुझसे सहमत हैं' (सोच) चला गया । यह कथावस्तु (= चर्चा) क्रमशः राज-अन्तःपुरमें चली गई । तब राजा प्रसेनजित् कोसलने मल्लिका देवीको आमंत्रित किया—

"मल्लिका ! तेरे श्रमण गौतमने यह भाषण किया है—'प्रिय-जातिक = प्रिय-उत्पन्न हैं शोक ० उपायास' ।"

"यदि महाराज ! भगवान्‌ने ऐसा भाषण किया है, तो यह ऐसा ही है।"

"ऐसा ही है मल्लिका ! जो जो श्रमण गौतम भाषण करता है, उस उसको ही तू अनुमोदन करती है—'यदि महाराज ! भगवान्‌ने ०'। जैसे कि आचार्य जो जो अन्तेवासीको कहता है, उस उसको ही उसका अन्तेवासी अनुमोदन करता है—'यह ऐसा ही है आचार्य। ० आचार्य !' ऐसे ही तू मल्लिका ! जो जो श्रमण ०। चल परे हट मल्लिका !"

तब मल्लिका देवीने नाली-जंघ ब्राह्मणको आमंत्रित किया—

"आओ तुम ब्राह्मण ! जहाँ भगवान् हैं, वहाँ जाओ। जाकर मेरे वचनसे भगवान्‌के चरणोंमें शिरसे वन्दना करना;···(कुशलक्षेम) पूछना—'भन्ते ! मल्लिकादेवी भगवान्‌के चरणोंमें शिरसे वन्दना करती है;—(= कुशलक्षेम) पूछती है।' और यह भी कहना—'क्या भन्ते ! भगवान्‌ने यह वचन कहा है—'प्रिय जातिक ० हैं, शोक ० उपायास'। भगवान् जैसा तुम्हें उत्तर दें, उसे अच्छी तरह सीख कर, मुझे आकर कहना; तथागत व्यर्थ नहीं बोलते।"

'अच्छा भवती !"···नाली-जंघ ब्राह्मण···जहाँ भगवान् थे, वहाँ···जाकर, भगवान्‌के साथ संमोदन कर, एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे नाली-जंघ ब्राह्मणने भगवान्‌से कहा—

"हे गौतम ! मल्लिका देवी ! आप गौतमके चरणोंमें शिरसे वन्दना करती है ०। और यह पूछती है—क्या भन्ते ! भगवान्‌ने यह वचन कहा है—'प्रिय जातिक ० हैं, शोक ० उपायास' ?"

"यह ऐसा ही है ब्राह्मण ! ऐसा ही है ब्राह्मण ! प्रिय जातिक = प्रिय-उत्पन्न हैं ब्राह्मण ! शोक ० उपायास। इसे इस प्रकारसे भी···जानना चाहिये कि कैसे—प्रिय जातिक ० शोक' ? पहिले समयमें (= भूत पूर्वमें) ब्राह्मण ! इसी श्रावस्तीकी एक स्त्रीकी माता मर गई थी; वह उसकी मृत्युसे उन्मत्त=विक्षिप्त-चित्त हो एक सड़कसे दूसरी सड़कपर, एक चौरस्तेसे दूसरे चौरस्ते-पर जाकर कहती थी—'क्या मेरी माको देखा, क्या मेरी माको देखा।' इस प्रकारसे भी ब्राह्मण ! जानना चाहिये कि कैसे ०। पहिले समयमें ब्राह्मण ! इसी श्रावस्तीमें एक स्त्रीका पिता मर गया था ०। ० भाई मर गया था ०। ० भगिनी मर गई थी ०। पुत्र मर गया था ०।० दुहिता मर गई थी ०। ० स्वामी (= पति) मर गया था ०।

"पूर्व कालमें ० एक पुरुषकी माता ०—० भार्या ०।"

"पूर्वकालमें ब्राह्मण ! इसी श्रावस्तीकी एक स्त्री पीहर गई। उसके भाई-बन्धु उसे उसके पतिसे छीनकर, दूसरेको देना चाहते थे; और वह नहीं चाहती थी। तब उस स्त्रीने पतिसे यह कहा—'आर्यपुत्र ! यह मेरे भाई-बन्धु मुझे तुमसे छीनकर दूसरेको देना चाहते हैं, और मैं नहीं चाहती।' तब उस पुरुषने—'दोनों मरकर इकट्ठा उत्पन्न होंगे' (सोच) उस स्त्रीको दो टुकड़ेकर, अपनेको भी मार डाला। इस प्रकारसे भी ब्राह्मण ! जानना चाहिये।"

तब नालि-जंघ ब्राह्मण भगवान्‌के भाषणको अभिनन्दन कर, अनुमोदन कर आसनसे उठ कर, जहाँ मल्लिकादेवी थी, वहाँ गया। जाकर भगवान्‌के साथ जो कथा-संलाप हुआ था, वह सब मल्लिकादेवीसे कह सुनाया। तब **मल्लिकादेवी** जहाँ राजा **प्रसेनजित्** था, वहाँ गई; जाकर राजा प्रसेनजित् कोसलसे बोली—

"तो क्या मानते हो महाराज तुम्हें[1] **वजिरी** (= वज्रिणी) कुमारी प्रिय है न ?"

"हाँ, मल्लिका ! वजिरी कुमारी मुझे प्रिय है।"

---

[1] अ. क. "वजिरी नामक राजाकी एकलौती पुत्री।"

"तो क्या मानते हो, महाराज! यदि तुम्हारी वजिरी कुमारीको कोई विपरिणाम (=संकट) या अन्यथात्व होवे, तो क्या तुम्हें शोक ० उपायास उत्पन्न होंगे?

"मल्लिका! वजिरी कुमारीके विपरिणाम-अन्यथात्वसे मेरे जीवनका भी अन्यथात्व हो सकता है, 'शोक ० उत्पन्न होगा' की तो बात ही क्या?"

"महाराज! उन भगवान् जाननहार, देखनहार अर्हत् सम्यक्-संबुद्धने यही सोचकर कहा है—'प्रिय-जातिक ०।' तो क्या मानते हो महाराज! वासभ क्षत्रिया तुम्हें प्रिय है न?"

"हाँ, मल्लिका! वासभ-क्षत्रिया मुझे प्रिय है।"

"तो क्या मानते हो महाराज! वासभ क्षत्रियाको कोई विपरिणाम = अन्यथात्व हो, तो क्या तुम्हें शोक ० उत्पन्न होंगे?"

"मल्लिका! ० जीवन का भी अन्यथात्व हो सकता है ०।"

"महाराज! ० यही सोच कर ० कहा है ०। तो क्या मानते हो महाराज! विडूडभ सेनापति तुम्हें प्रिय है न?" ०। ०।

" ०। तो क्या मानते हो महाराज! मैं तुम्हें प्रिय हूँ न?"

"हाँ मल्लिके! तू मुझे प्रिय है।"

"तो क्या मानते हो, महाराज! मुझे कोई विपरिणाम, अन्यथात्व हो, तो क्या तुम्हें शोक ० उत्पन्न होंगे?"

"मल्लिका! ० जीवनका भी अन्यथात्व हो सकता है ०।"

"महाराज! ० यही सोचकर कहा है ०। तो क्या मानते हो, महाराज! काशी और कोसल (के निवासी) तुम्हें प्रिय हैं न?"

"हाँ मल्लिके! काशी-कोसल मेरे प्रिय हैं। काशी-कोसलोंके अनुभाव (= बरक्कत) से ही तो हम...काशिकचन्दनको भोगते हैं, माला, गंध, विलेपन (= उबटन) धारण करते हैं।"

तो ० महाराज! काशी-कोसलोंके विपरिणाम = अन्यथात्व (= संकट) से, क्या तुम्हें शोक ० उत्पन्न होंगे?"

"० जीवनका भी अन्यथात्व हो सकता ० है?"

"महाराज! उन भगवान् ० ने यही सोचकर कहा है—'प्रिय-जातिक = प्रियसे उत्पन्न हैं, शोक ०।"

"आश्चर्य! मल्लिके!! आश्चर्य! मल्लिके!! कैसे वह भगवान् हैं!!! मानों प्रज्ञासे बेधकर देखते हैं। आओ, मल्लिके! हम दोनों...।"

तब राजा प्रसेनजित् कोसलने आसनसे उठकर, उत्तरासंग (= चद्दर) को एक (बायें) कंधेपर रख, जिधर भगवान् थे, उधर अंजली जोड़ तीन बार उदान कहा—

"[1] उन भगवान्, अर्हत्, सम्यक् संबुद्धको नमस्कार है; उन भगवान् अर्हत् सम्यक् सम्बुद्धको नमस्कार है; उन भगवान् अर्हत्, सम्यक् संबुद्धको नमस्कार है।"

---

[1] "नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मा सम्बुद्धस्स।"

८८—बाहीतिय-सुत्तन्त (२।४।८)

बुद्ध निन्दित कर्म नहीं कर सकते

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्ती ० जेतवनमें विहार करते थे।

तब आयुष्मान् आनन्द पूर्वाह्न समय (चीवर) पहिन कर, पात्र-चीवर ले, श्रावस्तीमें···पिंड-चार करके···दिनके विहारके लिये जहाँ मृगार-माताका प्रासाद पूर्वाराम था, वहाँ चले। उस समय राजा प्रसेनजित् ० एकपुंडरीक नाग (=हाथी) पर चढ़कर, मध्याह्नमें श्रावस्तीसे बाहर जा रहा था। राजा प्रसेनजित् ० ने दूरसे आयुष्मान् आनन्दको आते देखा। देखकर सिरिवड्ढ (श्रीवर्द्ध) महामात्यको आमंत्रित किया—

"सौम्य सिरिवड्ढ! यह आयुष्मान् आनंद हैं न?"

"हाँ महाराज!···।"···

तब राजा ० ने एक आदमीको आमंत्रित किया—

"आओ, हे पुरुष! जहाँ आयुष्मान् आनन्द हैं, वहाँ जाओ, जाकर मेरे वचनसे आयुष्मान् आनन्दके पैरोंमें वंदना करना···, और यह भी कहना—'भन्ते! यदि आयुष्मान् आनन्दको कोई बहुत जरूरी काम न हो, तो भन्ते! आयुष्मान् आनन्द कृपाकर एक मिनट (=मुहूर्त) ठहर जायें।"

"अच्छा देव!"

आयुष्मान् आनन्दने मौनसे स्वीकार किया।

तब राजा प्रसेनजित् जितना नागका रास्ता था, उतना नागसे जाकर, नागसे उतर पैदल ही···जाकर···अभिवादन कर एक ओर खड़ा हो, आयुष्मान् आनन्दसे बोला—

"भन्ते! यदि आयुष्मान् आनन्दको कोई अत्यावश्यक काम न हो, तो अच्छा हो भन्ते! आयुष्मान् आनन्द जहाँ अचिरवती नदीका तीर है, कृपा कर वहाँ चलें।"

आयुष्मान् आनन्दने मौनसे स्वीकार किया।

तब आयुष्मान् आनन्द, जहाँ अचिरवती नदी का तट था, वहाँ गये। जाकर एक वृक्षके नीचे बिछे आसनपर बैठे। तब राजा प्रसेनजित् ० जाकर, नागसे उतर पैदल ही···जाकर···अभि-वादन कर एक ओर खड़ा हुआ। एक ओर खड़े हुये राजा ० ने···यह कहा—

"भन्ते! आयुष्मान् आनन्द यहाँ कालीनपर बैठें।"

"नहीं महाराज! तुम बैठो, मैं अपने आसनपर बैठा हूँ।"

राजा प्रसेनजित् ० बिछे आसनपर बैठा। बैठ कर···बोला—

"भन्ते! क्या वह भगवान् ऐसा कायिक आचरण कर सकते हैं, जो कायिक आचरण, श्रमणों, ब्राह्मणों और विज्ञोंसे निन्दित (=उपारम्भ) है?"

"नहीं महाराज! वह भगवान् ०!"

"क्या भन्ते! ० वाचिक आचरण कर सकते हैं ०?" "नहीं महाराज!"

"आश्चर्य ! भन्ते !! अद्भुत ! भन्ते !! जो हम (दूसरे) श्रमणोंसे नहीं पूरा कर (जान) सके, वह भन्ते ! आयुष्मान् आनन्दने प्रश्नका उत्तर दे पूरा कर दिया। भन्ते ! जो वह बाल = अव्यक्त (= मूर्ख) बिना सोचे, बिना थाह लगाये, दूसरोंका वर्ण (= प्रशंसा) या अ-वर्ण भाषण करते हैं, उसे हम सार मानकर नहीं स्वीकार करते। और भन्ते ! जो वह पंडित = व्यक्त = मेधावी (= पुरुष) सोचकर, थाह लगाकर दूसरोंका वर्ण या अवर्ण भाषण करते हैं; उसे हम सार मानकर स्वीकार करते हैं। भन्ते ! आनन्द ! कौन कायिक आचरण श्रमणों, ब्राह्मणों, विज्ञोंसे निंदित है ?"

"महाराज ! जो कायिक-आचरण अ-कुशल (= बुरा) है।"

"भन्ते ! अकुशल कायिक आचरण क्या है !" "महाराज ! जो कायिक आचरण स-अवद्य (= सदोष) है।" "० सावद्य क्या है ?" "जो ० स-व्यापाद्य (= हिंसायुक्त) है।" "० स-व्यापाद्य क्या है ?" "जो ० दुःख विपाक (= अन्तमें दुःख देनेवाला) है।"

"० दुःख-विपाक क्या है ?"

"महाराज ! जो कायिक आचरण अपनी पीड़ाके लिये होता है, पर-पीड़ाके लिये होता है; दोनोंकी पीड़ाके लिये होता है। उससे अ-कुशल-धर्म (= पाप) बढ़ते हैं, कुशल-धर्म नाश होते हैं। इस प्रकारका कायिक आचरण महाराज ! ० निन्दित है।"

"भन्ते आनन्द ! कौन वाचिक-आचरण श्रमणों-ब्राह्मणों-विज्ञोंसे निन्दित है ?" ०। "महाराज ! जो वाचिक-आचरण अपनी पीड़ाके लिये है ०।"

"० कौन मानसिक आचरण ० ?" ०।

"भन्ते ! आनन्द ! क्या वह भगवान् सभी अकुशल धर्मों (= बुराइयों)का विनाश वर्णन करते हैं ?"

"महाराज ! तथागत सभी अकुशल धर्मोंसे रहित हैं, सभी कुशल-धर्मोंसे युक्त हैं।"

"भन्ते आनन्द ! कौन कायिक आचरण (= काय-समाचार) श्रमणों-ब्राह्मणों-विज्ञोंसे अनिन्दित है ?"

"महाराज ! जो कायिक आचरण कुशल है। ०। ० अनवद्य ०। ०। ० अव्यापाद्य ०। ०। ० सुख विपाक ०। ०। जो ० न अपनी पीड़ाके लिये होता है, न पर-पीड़ाके लिये; न दोनोंकी पीड़ाके लिये होता है। उससे अकुशल-धर्म नाश होते हैं, कुशल-धर्म बढ़ते हैं। ०।

० वाचिक आचरण कुशल हैं ? ० मानसिक आचरण कुशल हैं ? ०।

"भन्ते आनन्द ! क्या वह भगवान् सभी कुशल धर्मोंकी प्राप्तिको वर्णन करते हैं ?"

"महाराज ! तथागत सभी अकुशल-धर्मोंसे रहित हैं, सभी कुशल-धर्मोंसे युक्त हैं।"

"आश्चर्य ! भन्ते !! अद्भुत ! भन्ते !! कितना सुन्दर कथन (= सुभाषित) है, भन्ते ! आयुष्मान् आनन्दका !!! भन्ते ! आयुष्मान् आनन्दके इस सुभाषितसे हम परम प्रसन्न हैं। भन्ते ! आयुष्मान् आनन्दके सुभाषितसे इस प्रकार प्रसन्न हुये, हम हाथी-रत्न भी आयुष्मान्‌को देते, यदि वह आयुष्मान् आनन्दको विहित (= ग्राह्य = कल्प्य) होता, ० अश्व-रत्न (= श्रेष्ठ घोड़ा) भी ०, ० अच्छा गाँव भी ०। किन्तु भन्ते ! आनन्द ! हम इसे जानते हैं, यह आयुष्मान्‌को ग्राह्य नहीं है। मेरे पास राजा मागध अजातशत्रु, वैदेही-पुत्रकी भेजी···यह सोलह हाथ लम्बी, आठ हाथ चौड़ी वाहीतिक[1] है, उसे आयुष्मान् आनन्द कृपा-करके स्वीकार करें।"

---

[1] अ. क. "वाहीत राष्ट्रमें पैदा होनेवाले वस्त्रका यह नाम है।" सतलज और व्यासके बीचका प्रदेश वाहीत देश है। पाणिनीय (४ : २ : १७। ५ : ३ : ११४) ने इसे ही वाहीक लिखा है।

"नहीं महाराज ! मेरे तीनों चीवर पूरे हैं ।"

"भन्ते ! यह अचिरवती नदी आयुष्मान् आनन्दने देखी है, और हमने भी । जब ऊपर पर्वतपर महामेघ बरसता है, तब यह अचिरवती, दोनों तटोंको भर कर बहती है । ऐसे ही भन्ते ! इस वाहीतियसे आयुष्मान् आनन्द अपना त्रिचीवर बनावेंगे, जो आयुष्मान् आनन्दके चीवर हैं, उन्हें सब्रह्मचारी बाँट लेंगे । इस प्रकार हमारी दक्षिणा (= दान) मानों भर कर बहती हुई (= संविस्यन्दन्ती) होगी । भन्ते ! आयुष्मान् आनन्द मेरी वाहीतिकको स्वीकार करें ।"

आयुष्मान् आनन्दने वाहीतिकको स्वीकार किया । तब राजा ० ने कहा—

"अच्छा भन्ते ! अब हम जाते हैं, (= हम) बहु-कृत्य, बहु-करणीय हैं ।"

"जिसका महाराज ! तुम काल समझते हो ।"

तब राजा प्रसेनजित् ० आयुष्मान् आनन्दके भाषणको अभिनन्दन कर, अनुमोदन कर, आसनसे उठ, ० अभिवादन कर, प्रदक्षिणा कर चला गया ।

राजा ० के जानेके थोड़ी देर बाद, आयुष्मान् आनन्द जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये । एक ओर बैठ आयुष्मान् आनन्दने जो कुछ राजा प्रसेनजित् ० के साथ कथा-संलाप हुआ था, वह सब भगवान्को सुना दिया, और वह वाहीतिक भी भगवान्को अर्पण कर दी । तब भगवान्ने भिक्षुओंको आमंत्रित किया—

"भिक्षुओ ! राजा प्रसेनजित् ० को लाभ है, ० सुलाभ मिला है, जो राजा ० आनन्दका दर्शन सेवन पाता है ।"

यह भगवान्ने कहा, संतुष्ट हो उन भिक्षुओंने भगवान्के भाषणका अभिनन्दन किया ।

८९—धम्मचेतिय-सुत्तन्त (२।४।९)

भोगोंके दुष्परिणाम। बुद्धकी प्रशंसा

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् शाक्य (देश)में, मेतलूप (= मेतलुम्प) नामक शाक्योंके निगममें विहार करते थे।

उस समय राजा प्रसेनजित् कोसल किसी कामसे नगरकमें आया हुआ था। तब राजा प्रसेनजित् कोसलने [1]दीर्घ कारायणको आमंत्रित किया—

"सौम्य कारायण! सुन्दर यानोंको जुड़वाओ, सुभूमि देखनेके लिये उद्यान-भूमि जायेंगे।"

"अच्छा देव!"···

"देव! सुन्दर-सुन्दर यान जुत गये, अब जिसका देव काल समझते हों।"

तब राजा प्रसेनजित् ० भद्र (= सुन्दर) यानपर आरूढ़ हो, भद्र-भद्र यानोंके साथ, बड़े राजसी ठाटसे नगरकसे निकल कर, जहाँ आराम था, वहाँ गया। जितनी यानकी भूमि थी, उतना यानसे जा, यानसे उतर पैदल ही आराममें प्रविष्ट हुआ। राजा प्रसेनजित्ने टहलते हुये आराममें शब्द-रहित, घोष-रहित, निर्जन,···ध्यान योग्य मनोहर वृक्ष-मूलोंको देखा। देखकर भगवान्‌की ही स्मृति उत्पन्न हुई—यह वैसे ही ० मनोहर वृक्षमूल हैं, जहाँपर हम भगवान् ० सम्यक् संबुद्धकी उपासना (= सत्संग) करते थे। तब राजा ० ने दीर्घ कारायणसे पूछा—

"सौम्य कारायण! यह ० मनोहर वृक्षमूल हैं, जहाँपर ०। सौम्य कारायण! इस समय वह भगवान् ० कहाँ विहरते हैं?"

"महाराज! शाक्योंका मेतलूप नामक निगम (= कस्बा) है, वह भगवान् ० वहाँ पर विहर रहे हैं।"

" सौम्य कारायण! नगरकसे कितनी दूरपर शाक्योंका वह मेतलूप निगम है?"

"महाराज! दूर नहीं है, तीन योजन है। बाकी बचे दिनमें पहुँचा जा सकता है।"

"तो सौम्य कारायण! जुड़वा भद्र यानों को, हम भगवान् ० के दर्शनके लिये वहाँ चलेंगे।" "अच्छा देव!"···

···तब राजा प्रसेनजित् सुन्दर यानपर आरूढ़ हो० नगरकसे निकलकर,···उसी बचे दिनमें शाक्योंके निगम मेतलूपमें पहुँच गया। जहाँ आराम था, वहाँ चला। जितनी यानकी भूमि थी, उतनी यानसे जा, यानसे उतर कर पैदल ही आराममें प्रविष्ट हुआ।

उस समय बहुतसे भिक्षु खुली जगहमें टहल रहे थे ०। राजा प्रसेनजित्ने वहीं खड्ग और

---

[1] देखो बुद्धचर्या, पृष्ठ ४७३।

उष्णीष दीर्घ कारायणको देदिया। दीर्घ कारायणने सोचा—'मुझे राजा यहीं ठहरा रहा है; इसलिये मुझे यहाँ खड़ा रहना होगा।" तब राजा ० जहाँ वह द्वारबंद विहार था ० गया। भगवान्‌ने दर्वाजा खोल दिया। राजा ० विहार (= गंधकुटी)में प्रविष्ट हो, भगवान्‌के चरणोंमें शिरसे पड़कर [1] ०।

"क्या है महाराज! क्या बात देखकर महाराज! इस शरीरमें इतना गौरव दिखलाते हो, विचित्र उपहार (= संमान) प्रदर्शन कर रहे हो?"

"भन्ते! भगवान्‌में मेरा धर्म-अन्वय (= धर्म-संबन्ध) है—भगवान् सम्यक् संबुद्ध हैं, भगवान्‌का धर्म स्वाख्यात है, संघ सुमार्गपर आरूढ़ है। भन्ते! किन्हीं किन्हीं श्रमण ब्राह्मणोंको मैं स्वल्प-कालिक (= पर्यंतक) ब्रह्मचर्य पालन करते देखता हूँ—दश वर्ष, बीस वर्ष, तीस वर्ष, चालीस वर्ष भी। वह दूसरे समय सु-स्नात, सु-विलिप्त, केश-श्मश्रु बनवा (= कल्पित कर) पाँच कामगुणोंसे समर्पित = सम्-अंगीभूत हो, विचरण करते हैं। भन्ते! भिक्षुओंको मैं देखता हूँ, जीवनभर···परिपूर्ण, परिशुद्ध ब्रह्मचर्य पालन करते हैं। भन्ते! यहाँसे बाहर दूसरा इतना परिपूर्ण परिशुद्ध ब्रह्मचर्य नहीं देखता। भन्ते! यह भी (कारण है)कि भगवान्‌में मुझे धर्म-दर्शन (= धर्म-अन्वय) होता है,—'भगवान् सम्यक् संबुद्ध हैं, भगवान्‌का धर्म स्वाख्यात है, संघ सु-प्रतिपन्न (= सुमार्गारूढ़) है।

"और फिर भन्ते! राजा भी राजाओंसे विवाद करते हैं, क्षत्रिय क्षत्रियके साथ विवाद करते हैं, ब्राह्मण भी ०, गृहपति (=वैश्य) भी ०, माता भी पुत्रके साथ ०, पुत्र भी माताके साथ ०, पिता भी पुत्रके साथ ०, पुत्र भी पिताके साथ ०, भाई भी भाईके साथ ०, भाई भी बहिनके साथ ०, बहिन भी भाईके साथ ०, मित्र भी मित्रके साथ ०। किन्तु यहाँ भन्ते! मैं भिक्षुओंको समय (= एकराय), संमोदमान (= एक दूसरेसे मुदित), विवाद-रहित, दूध-जल-बने, एक दूसरेको प्रिय-चक्षुसे देखता विहार करता देखता हूँ। भन्ते! यहाँसे बाहर मैं (कहीं) ऐसी एकराय परिषद् नहीं देखता। यह भी भन्ते! ०।

"और फिर भन्ते! मैं (एक) आरामसे (दूसरे) आराममें, (एक) उद्यानसे (दूसरे) उद्यानमें, टहलता हूँ, विचरता हूँ; वहाँ मैं किन्हीं-किन्हीं श्रमण ब्राह्मणोंको कृश, रूक्ष, दुर्वर्ण, पीले-पीले, नाड़ी बँधे गात्रवाले (देखता हूँ); मानों लोगोंके दर्शन करनेसे आँखको बंद कर रहे हैं। तब भन्ते! मुझे ऐसा होता है—'निश्चय यह आयुष्मान् या तो बेमन (= अन्-अभिरत) हो ब्रह्मचर्य कर रहे हैं, या इन्होंने कोई छिपा हुआ पापकर्म किया है, जिससे कि यह आयुष्मान् कृश ०। उनके पास जाकर मैं ऐसे पूछता हूँ—'आयुष्मानो! तुम कृश ०?" वह मुझे कहते हैं—'महाराज! हमें बंधुक-रोग (= कुल-रोग) है।' किन्तु भन्ते! मैं यहाँ भिक्षुओंको हृष्ट, प्रहृष्ट = उदग्र, अभिरत = प्रसन्न-इन्द्रिय उत्सुकता-रहित, रोमांच-रहित,···मृदु-चित्तसे विहार करते देखता हूँ। यह भी भन्ते! ०।

"और फिर भन्ते! मैं मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा हूँ, मारने योग्यको मरवा सकता हूँ,··· निर्वासन योग्यका निर्वासन कर सकता हूँ। ऐसा होते भी भन्ते! मेरे (राज-)कार्यमें बैठे वक्त, (लोग) बीच-बीचमें बात डाल देते हैं। उनको मैं (कहता हूँ)—'मैं (काम करने) नहीं पाता, आप लोग कार्य करनेके लिये बैठे वक्त बीच बीचमें बात मत डालें; आप बात समाप्त हो जाने तक प्रतीक्षा करें।' तो (भी)···बीच-बीचमें बात डाल ही देते हैं। किंतु यहाँ भन्ते! मैं भिक्षुओंको देखता हूँ, जिस समय भगवान् अनेक शतकी परिषद्‌को धर्म-उपदेश करते हैं; उस

---

[1] देखो बुद्धचर्या, पृष्ठ ४४०।

समय भगवान्‌के श्रावकोंके थूकने खाँसनेका भी शब्द नहीं होता। भन्ते! पहिले एक समय भगवान् अनेक शत परिषद्‌को धर्म-उपदेश कर रहे थे; उस समय भगवान्‌के एक श्रावक (= शिष्य) ने खाँसा। तब उसे एक सब्रह्मचारीने घुटनेको दबाकर इशारा किया—आयुष्मान् निःशब्द हो, आयुष्मान् शब्द मत करें, शास्ता भगवान् हमें धर्म-उपदेश कर रहे हैं। तब मुझे ऐसा हुआ—'आश्चर्य है जी! अद्भुत है जी!! जो विना दंडके ही, विना शस्त्रके ही, इस प्रकारकी विनय-युक्त (= विनीत) परिषद् !!!' यहाँसे बाहर भन्ते! मैं दूसरी इस प्रकारकी सु-विनीत परिषद् नहीं देखता। यह भी ०।

"और फिर भन्ते! मैं किन्हीं किन्हीं निपुण, कृतपरप्रवाद (= प्रौढ़ शास्त्रार्थी) वाल-वेधी क्षत्रिय-पंडितोंको देखता हूँ; (जो) मानों (अपनी) प्रज्ञा-गत (युक्तियोंसे) (दूसरेके) दृष्टि-गत (= मतविषयक बातों)को टुकड़े टुकड़े करे डालते हैं। वह सुनते हैं—'श्रमण गौतम अमुक ग्राम या निगममें आवेगा' वह प्रश्न तय्यार करते हैं—इस प्रश्नको हम श्रमण गौतमके पास जाकर पूछेंगे; ऐसा पूछनेपर यदि ऐसा उत्तर देगा, तो हम इस प्रकार उससे वाद रोपेंगे। वह सुनते हैं—'श्रमण गौतम अमुक ग्राम या निगममें आ गया'। वह जहाँ भगवान् (होते हैं) वहाँ जाते हैं। वह भगवान्‌की धार्मिक-कथा द्वारा संदर्शित हो, प्रेरित हो, समुत्तेजित हो, संप्रहर्षित हो, भगवान्‌से प्रश्न भी नहीं पूछते, वाद कहाँसे रोपेंगे? बल्कि भगवान्‌के श्रावक ही बन जाते हैं। यह भी ०।

"और फिर भन्ते! मैं किन्हीं किन्हीं ० ब्राह्मण पंडितों ०।"

"० गृहपति पंडितों ०।"

"० श्रमण पंडितों ०। भगवान्‌से प्रश्न भी नहीं पूछते, वाद कहाँसे रोपेंगे; बल्कि भगवान्‌से ही घरसे बेघर हो प्रव्रज्या माँगते हैं। उन्हें भगवान् प्रव्रजित करते हैं। वह इस प्रकार प्रव्रजित हो एकाकी ० आत्म-संयमी हो विहरते, जल्दी ही जिसके लिये कुल-पुत्र ० प्रव्रजित होते हैं, उस अनुत्तर (= सर्वोत्तम) ब्रह्मचर्य-फलको इसी जन्ममें स्वयं अभिज्ञान कर, साक्षात्कार कर, प्राप्त कर विहरते हैं। वह ऐसा कहते हैं—हम नष्ट थे, हम प्र-नष्ट थे; हम पहिले अ-श्रमण होते ही 'श्रमण हैं' का दावा करते थे; अ-ब्राह्मण होते 'ब्राह्मण हैं' का दावा करते थे। अर्हत् न होते 'अर्हत् हैं' का दावा करते थे। अब हैं हम श्रमण, ० ब्राह्मण, ० अर्हत्। यह भी ०।

"और फिर भन्ते! यह ऋषिदत्त और पुराण स्थपति (= फीलवान्) मेरे ही (भोजनसे) भोजनवाले, मेरे ही (पानसे) पानवाले हैं, मैं ही उनके जीवनका प्रदाता, उनके यशका प्रदाता हूँ; तो भी (वह) मेरेमें उतना सन्मान नहीं करते, जितना कि भगवान्‌में। पहिले एक बार भन्ते! मैं चढ़ाईके लिये जाता था। ऋषिदत्त और पुराण स्थपतिने खोज कर एक भीड़वाले आवसथ (= सराय)में वास किया। तब भन्ते! वह ऋषिदत्त और पुराण बहुत रात धर्म-कथामें बिता, जिस दिशामें भगवान्‌के होनेको सुना था, उधर शिर कर, मुझे पैरकी ओर करके लेट गये। तब मुझे ऐसा हुआ—'आश्चर्य है जी! अद्भुत है जी!! यह ऋषिदत्त, और पुराण स्थपति मेरे ही भोजनसे भोजनवाले ०। यह आयुष्मान् उन भगवान्‌के शासनमें (= श्रद्धालु) हो, पहिलेसे अवश्य कोई विशेष देखते होंगे। यह भी ०।

"और फिर भन्ते! भगवान् भी क्षत्रिय हैं, मैं भी क्षत्रिय हूँ, भगवान् भी कोसलक (= कोसलवासी, कोसल-गोत्रज) हैं, मैं भी कोसलक हूँ। भगवान् भी अस्सी वर्षके, मैं भी अस्सी वर्षका। भन्ते! जो भगवान् भी क्षत्रिय ०, इससे भी भन्ते! मुझे योग्य ही है, भगवान्‌का परम सन्मान करना, विचित्र गौरव प्रदर्शित करना। हन्त! भन्ते! अब हम जायेंगे, हम बहुकृत्य

बहु-करणीय हैं ।"

"महाराज ! जिसका तुम काल समझते हो (वैसा करो) "

तब राजा प्रसेन-जित् ० आसनसे उठ, भगवान्‌को अभिवादन कर, प्रदक्षिणा कर चला [1]गया ।

राजा ० के जानेके थोड़ी ही देर बाद भगवान्‌ने भिक्षुओंसे कहा—

"भिक्षुओ ! यह राजा प्रसेनजित् ० धर्म-चैत्योंको भाषणकर, आसनसे उठकर चला गया । भिक्षुओ ! धर्मचैत्योंको सीखो, ० धर्मचैत्योंको पूरा करो, ० धर्मचैत्योंको धारण करो । भिक्षुओ ! धर्म-चैत्य सार्थक और आदि (= शुद्ध) ब्रह्मचर्यके हैं ।"

भगवान्‌ने यह कहा । सन्तुष्ट हो उन भिक्षुओंने भगवान्‌के भाषणका अभिनंदन किया ।

---

[1] अ. क. "राजगृह जाते हुये रास्तेमें कु-अन्न भोजन किया, और बहुत पानी पिया । सुकुमार स्वभाव होनेसे भोजन अच्छी तरह नहीं पचा । वह राजगृहके द्वारोंके बन्द हो जानेपर संध्या (= विकाल) को वहाँ पहुँचा ।···। नगरके बाहर (धर्म-)शालामें लेटा । उसको रातके समय दस्त- (= वुठ्ठान) लगने शुरू हुये । कुछ बार वह बाहर गया । फिर पैरसे चलनेमें असमर्थ हो, उस स्त्रीके अंकमें पड़कर बड़े भोर ही मर गया ।···। राजा (अजातशत्रु)ने···विडूडभके निग्रहके लिये भेरी बजाकर सेना जमा की···। अमात्योंने पैरों पर पड़कर···रोका···।"

९०—कण्णत्थलक-सुत्तन्त (२।४।१०)

सर्वज्ञता असंभव । वर्ण-व्यवस्था-खंडन । देव, ब्रह्मा

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् उजुका[1] (= उजुआ = उरुआ)में कण्णत्थलक (= कर्ण-स्थलक) मृग-दावमें विहार करते थे ।

उस समय राजा प्रसेनजित् कोसल किसी कामसे उजुका (= ऋजुका)में आया हुआ था, राजा प्रसेनजित् कोसलने एक आदमीको आमंत्रित किया—

"आओ हे पुरुष ! जहाँ भगवान् हैं, वहाँ जाओ । जाकर मेरे वचनसे भगवान्‌के चरणोंमें शिरसे वन्दना करना । अल्पाबाधा (= आरोग्य) = अल्पातंक लघु-उत्थान (= फुर्ती) बल, प्राशु-विहार (= सुख पूर्वक विहरना) पूछना—'भन्ते ! राजा प्रसेनजित् कोसल भगवान्‌के चरणोंमें शिरसे वन्दना करता है ० । और यह भी कहना—भन्ते ! आज भोजनोपरान्त, कलेऊ करनेपर, राजा प्रसेनजित् कोसल भगवान्‌के दर्शनार्थ आयेगा' ।"

"अच्छा देव !"

सोमा और सुकुला (दोनों) बहिनोंने सुना—'आज राजा···भगवान्‌के दर्शनार्थ जायेगा । तब [2]सोमा, सकुला बहिनोंने राजा प्रसेनजित् ० के पास, परोसनेके समय जाकर कहा—

"तो महाराज ! हमारे भी वचनसे भगवान्‌के चरणोंमें शिरसे वन्दना करना । अल्पाबाधा ० पूछना—० ।

तब राजा प्रसेनजित् कोसल कलेऊ करके भोजनोपरान्त जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया; जाकर भगवान्‌को अभिवादन कर···एक ओर बैठ भगवान्‌से बोला—

"भन्ते ! सोमा और सकुला (दोनों) बहिनें भगवान्‌के चरणोंको शिरसे वन्दना करती हैं ० ।"

"क्या महाराज ! सोमा और सकुला बहिनोंको दूसरा दूत नहीं मिला ?"

"भन्ते ! सोमा और सकुला बहिनोंने सुना, कि आज राजा···भगवान्‌के दर्शनार्थ जायेगा···। आकर मुझे यह कहा···।"

"सुखिनी होवें महाराज ! सोमा और सकुला (दोनों) बहिनें ।"

तब राजा प्रसेनजित् कोसलने भगवान्‌से यह कहा—

"भन्ते ! मैंने यह सुना है, कि श्रमण गौतम ऐसा कहता है—'ऐसा (कोई) श्रमण या

---

[1]अ. क. "उस राष्ट्रका और नगरका भी यही नाम (था) ।······। उस नगरके अविदूर (= समीप) कण्णत्थलक नामक एक रमणीय भूभाग था······। [2]अ. क. "यह दोनों बहिनें राजाकी स्त्रियाँ थीं ।"

ब्राह्मण नहीं है, जो सर्वज्ञ, सर्वदर्शी (हो), निःशेष ज्ञान दर्शनको जाने, यह सम्भव नहीं है।' भन्ते ! जो ऐसा कहते हैं कि श्रमण गौतम ऐसा कहता है—'ऐसा (कोई) ०।' क्या भन्ते ! वह भगवान्‌के बारेमें सच कहते हैं ? भगवान्‌को असत्य = अभूतसे लाञ्छन तो नहीं लगाते ? धर्मके अनुसार कहते हैं, कोई धर्मानुसारी कथन (= वादानुवाद) गर्हणीय (= निंदनीय)तो नहीं होता ?"

"महाराज ! जो ऐसा कहते हैं कि श्रमण गौतमने ऐसा कहा है—'ऐसा (कोई) श्रमण या ब्राह्मण नहीं है, जो सर्वज्ञ = सर्वदर्शी (होगा); निःशेष ज्ञान दर्शनको जानेगा, यह सम्भव नहीं है।' वह मेरे बारेमें सच नहीं कहते, वह अ-सत्य = अभूतसे मुझे लांछन लगाते हैं।"

तब राजा प्रसेनजित् ० ने विडूडभ सेनापतिको आमंत्रित किया—

"सेनापति ! आज राजान्तःपुरमें किसने बात (= कथावस्तु) कही थी ?"

"महाराज ! आकाश-गोत्र संजय ब्राह्मणने।"

तब राजा प्रसेनजित्‌ने ० एक पुरुषको आमंत्रित किया—

"आओ, रे पुरुष ! मेरे वचनसे ० संजय ब्राह्मणको कहो—'भन्ते ! तुम्हें राजा प्रसेनजित् बुलाते हैं '।"

"अच्छा देव !"

"तब राजा प्रसेनजित् ० ने भगवान्‌से कहा—

"भन्ते ! शायद आपने कुछ और सोच (यह) वचन कहा हो, आदमी अन्यथा······ न कहेगा।"

"तो भन्ते ! जो वचन कहा उसे कैसे भगवान् जानते हैं ?" "महाराज ! मैं जानता हूँ—जो वचन (मैंने) कहा।"

"महाराज ! मैंने जो वचन कहा उसे इस प्रकार जानता हूँ—'ऐसा श्रमण ब्राह्मण नहीं, जो एकही बार (= सकृद् एव) सब जानेगा = सब देखेगा, यह सम्भव नहीं'।"

"भन्ते ! भगवान्‌ने हेतु-रूप कहा; सहेतु-रूप भन्ते ! भगवान्‌ने कहा—'ऐसा श्रमण ब्राह्मण नहीं जो एकही बार सब जानेगा = सब देखेगा, यह सम्भव नहीं।' भन्ते ! यह चार वर्ण हैं—क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र। भन्ते ! इन चारो वर्णोंमें है कोई विभेद, है कोई नाना-करण ?"

"महाराज ! ० इन चार वर्णोंमें अभिवादन, प्रत्युत्थान, हाथ जोड़ने (= अंजलि-कर्म) = सामीची-कर्ममें दो वर्ण अग्र (= श्रेष्ठ) कहे जाते हैं—क्षत्रिय और ब्राह्मण।"

"भन्ते ! मैं भगवान्‌से इस जन्मके सब धर्मको नहीं पूछता, मैं···परलोकके सम्बन्ध (= सांपरायिक)में पूछता हूँ···।"

"महाराज ! यह पाँच प्रधानीय अंग हैं। कौनसे पाँच ? महाराज ! भिक्षु (१) श्रद्धालु होता है। तथागतकी बोधि (= बुद्ध-ज्ञान) पर श्रद्धा करता—'ऐसे वह भगवान् अर्हत् ०।[१] (२) अल्पाबाध (= अरोग) ० होता है। (३) शठ = मायावी नहीं होता है ० (४) ० आरब्ध-वीर्य (= उद्योगशील) होता है। (५) प्रज्ञावान् होता है ०। महाराज ! यह पाँच प्रधानीय अंग हैं। महाराज ! चार वर्ण—ब्राह्मण ० शूद्र हैं। वह यदि पाँच प्रधानीय-अंगोंसे युक्त हों, तो वह उनके दीर्घ-रात्र (= चिरकाल) तक हित, सुखके लिये होगा।"

---

[१] पृष्ठ २४-२५।

"भन्ते ! चार वर्ण ० हैं। और यदि वह प्रधानीय-अंगोंसे युक्त हों। तो भन्ते ! क्या उनमें भेद = नानाकरण नहीं होगा ?"

"महाराज ! उनका प्रधान, नानात्व (= भेद) नहीं करता । जैसेकि महाराज ! दो दमनीय हाथी, दमनीय घोड़े, = वैल, सु-दान्त = सु-विनीत (अच्छी प्रकार सिखलाये) हों, दो दमनीय हाथी, ० घोड़े, ० वैल अ-दान्त = अ-विनीत (= विना सिखलाये) हों तो महाराज ! जो वह ० सु-दान्त, सु-विनीत हैं, क्या वह दान्त होनेसे दान्त-पदको पाते हैं = दान्त होनेसे दान्त-भूमिको प्राप्त होते हैं ?"

"हाँ भन्ते !"

"और जो महाराज ! अ-दान्त, अविनीत हैं, क्या वह अदान्त (विना सिखाये) ० ही, दान्त = पदको पाते हैं, अदान्त हो दान्तभूमिको प्राप्त हो सकते हैं ? जैसेकि वह दो ० सुदान्त = सुविनीत ?"

"नहीं, भन्ते ?"

"ऐसेही महाराज ! जोकि श्रद्धालु, निरोग, अशठ = अमायावी, आरब्ध-वीर्य, प्रज्ञावान् द्वारा प्राप्य (वस्तु) है, उसे अ-श्रद्ध, वहुरोगी, शठ = मायावी, आलसी, दुष्प्रज्ञ पायेगा, यह संभव नहीं है ।"

"भन्ते ! भगवान्‌ने हेतु-रूप (= ठीक) कहा ० भन्ते ! चारों वर्ण क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र हैं, और वह यदि इन प्रधानीय अंगोंसे युक्त हों = सम्यक् प्रधानवाले हों । तो भन्ते ! क्या उनमें (कुछ) भेद नहीं होगा = कुछ नाना करण नहीं होगा ?"

"महाराज ! मैं उनमें कुछ भी 'यह जोकि विमुक्तिका विमुक्तिसे भेद (= नानाकरण)है' नहीं कहता । जैसे महाराज ! (एक) पुरुष सूखे शाककी लकड़ीको लेकर अग्नि तैयार करे, तेज प्रादुर्भूत करे, और दूसरा पुरुष सूखे शाल (= साखू)-काष्ठसे आग तैयार करे ०; और दूसरा पुरुष सूखे आमके काष्ठसे ०; और दूसरा पुरुष सूखे गूलर-काष्ठसे ०; तो क्या मानते हो महाराज ! क्या उन नाना काष्ठोंसे वनाई आगोंका, लौसे लौका, रंगसे रंगका, आभासे आभाका कोई भेद होगा ?"

"नहीं, भन्ते !"

"ऐसे ही महाराज ! जिस तेज (= मुक्ति)को वीर्य (= उद्योग) तैयार करता है । उसमें, इस विमुक्तिसे दूसरी विमुक्तिमें कुछ भी भेद मैं नहीं कहता हूँ ।"

"भन्ते ! भगवान्‌ने हेतुरूप (= ठीक) कहा ० । क्या भन्ते ! देव (= देवता) हैं ?"

"महाराज ! तू क्या ऐसा कह रहा है—'भन्ते ! क्या देव हैं' ?"

"कि भन्ते ! क्या देवता मनुष्यलोकमें आनेवाले होते हैं, या मनुष्यलोकमें आनेवाले नहीं होते ?"

"महाराज ! जो वह देवता लोभ-सहित हैं, वह मनुष्यलोक (इत्थत्त)में आनेवाले होते हैं, जो लोभ-रहित हैं, वह ० नहीं आनेवाले होते हैं ।"

ऐसा कहनेपर विडूडभ सेनापतिने भगवान्‌से कहा—

"भन्ते ! जो वह देवता लोभ-रहित मनुष्यलोकमें न आनेवाले हैं, क्या वह देवता अपने स्थानसे च्युत होंगे = प्रव्रजित होंगे ?"

तब आयुष्मान् आनन्दको यह हुआ—"यह विडूडभ सेनापति राजा प्रसेनजित् कोसलका पुत्र है, मैं भगवान्‌का पुत्र हूँ; यह समय है, जब पुत्रको, निमंत्रित करे ।" और आयुष्मान् आनन्द

ने विडूडभ सेनापतिको आमंत्रित किया—

"तो सेनापति ! तुम्हें ही पूछता हूँ, जैसा तुम्हें ठीक जँचे वैसा कहो। तो सेनापति ! जितना राजा प्रसेनजित् कोसलका राज्य (= विजित) है, जहाँपर कि राजा प्रसेनजित् ० ऐश्वर्य = आधिपत्य करता है; राजा प्रसेनजित् ० श्रमण या ब्राह्मणको; पुण्यवान् या अपुण्यवान्को, ब्रह्मचर्यवान् या अब्रह्मचर्यवान्को, क्या उस स्थानसे हटा या निकाल सकता है ?"

"० सकता हूँ।"

"तो क्या मानते हो सेनापति ! जितना राजा प्रसेनजित् ० का अ-विजित (= राज्यसे बाहर) है, जहाँ ० आधिपत्य नहीं करता है, ० क्या उस स्थानसे हटा या निकाल सकता है ?"

"० नहीं सकता।"

"तो क्या मानते हो सेनापति ! क्या तुमने त्रयस्त्रिंश देवोंको सुना है ?"

"हाँ, भो ! मैंने त्रयस्त्रिंश देव सुने हैं, आप राजा-प्रसेनजित् कोसलने भी त्रयस्त्रिंश देव सुने हैं।"

"तो क्या मानते हो सेनापति ! क्या राजा-प्रसेनजित् कोसल त्रयस्त्रिंश देवोंको उस स्थानसे हटा या निकाल सकता है ?"

"त्रयस्त्रिंश देवोंको राजा प्रसेनजित् ० देखनेको भी नहीं पा सकता, कहाँसे उनको स्थानसे हटाये या निकलेगा ?"

"ऐसे ही सेनापति ! जो देवता लोभ-सहित हैं, वह मनुष्य-लोकमें आते हैं, जो लोभ-रहित हैं, वह ० नहीं आते। वह देखनेको भी नहीं पाये जा सकते, कहाँसे उस स्थानसे हटाये या निकाले जायेंगे ?"

तब राजा प्रसेनजित् कोसलने भगवान्से कहा—

"भन्ते ! यह कौन नामवाला भिक्षु है ?"

"आनन्द नामक महाराज !"

"ओ हो ! आनन्द हैं !! ओहो ! आनन्द-रूप हैं !! भन्ते ! आयुष्मान् आनन्द ठीक कहते हैं। भन्ते ! क्या ब्रह्मा है ?"

"तू क्या महाराज ! ऐसे कहता है,—भन्ते ! क्या ब्रह्मा है ?"

"भन्ते ! क्या वह ब्रह्मा मनुष्यलोकमें आता है, या मनुष्य-लोकमें नहीं आता ?"

"महाराज ! जो···ब्रह्मा लोभ-सहित है ० आता है, लोभ-रहित ० नहीं आता।"

तब एक पुरुषने राजा प्रसेनजित् ० से कहा—

"महाराज ! आकाश-गोत्र संजय ब्राह्मण आ गया।"

तब राजा प्रसेनजित् ० ने ० संजय ब्राह्मणसे कहा—

"ब्राह्मण ! किसने इस बात (= कथा-वस्तु)को राज-अन्तःपुरमें कहा था ?"

"महाराज ! विडूडभ सेनापतिने।"

विडूडभ सेनापतिने कहा—"महाराज ! आकाश-गोत्र संजय ब्राह्मणने।"

तब एक पुरुषने राजा प्रसेनजित्से कहा—

"जानेका समय है, महाराज !"

तब राजा प्रसेनजित् ० भगवान्से यह बोला—

"हमने भन्ते ! भगवान्से सर्वज्ञता पूछी, भगवान्ने सर्वज्ञता बतलाई, वह हमको रुचती है, पसन्द है, उससे हम सन्तुष्ट हैं। चारों वर्णकी शुद्धि (= चातुर्वर्णी शुद्धि) ० पूछी ०। देवों

के विषयमें ० पूछा ०। ब्रह्माके विषयमें ० पूछा ०। जो जो ही भन्ते ! हमने भगवान्‌से पूछा, वही वही भगवान्‌ने बतलाया ; और वह हमको रुचता है, पसन्द है, उससे हम सन्तुष्ट हैं। अच्छा तो भन्ते ! अब हम जायेंगे, हम बहु-कृत्य हैं, बहु-करणीय हैं।"

"जिसका महाराज ! तू (इस समय) काल समझे।"

तब राजा प्रसेनजित् ० भगवान्‌के भाषणको अभिनन्दित कर, अनुमोदित कर, आसनसे उठ भगवान्‌को अभिवादन कर, प्रदक्षिणा कर चला गया।

(इति ९—राजवग्ग २।४)

९१—ब्रह्मायु-सुत्तन्त (२।५।१)

महापुरुष-लक्षण। बुद्धका रूप, गमन, गृहस्थोंके घरमें प्रवेश, भोजनका ढंग। ब्राह्मण, वेदगू आदिकी व्याख्या

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् पाँच सौ भिक्षुओंके महाभिक्षु-संघके साथ विदेह (देश)में चारिका कर रहे थे।

उस समय (एक) जीर्ण = वृद्ध = महल्लक = अध्वगत = वयःप्राप्त जन्मसे १२० वर्षोंका ब्रह्मायु नामक ब्राह्मण मिथिला (-नगर)में वसता था। (वह) पाँचवें इतिहास और निघंटु-केटुभ (= कल्प), अक्षरप्रभेद (= शिक्षा-निरुक्त)-सहित तीनों वेदों[1]का पारंगत, पद-ज्ञ, वैयाकरण, लोकायत(-शास्त्र) तथा महापुरुषलक्षण (= सामुद्रिक शास्त्र)में परिपूर्ण था। ब्रह्मायु ब्राह्मणने सुना—शाक्यकुलसे प्रव्रजित शाक्यपुत्र श्रमण गौतम पाँचसौ भिक्षुओंके महान् भिक्षु-संघके साथ विदेहमें चारिका कर रहे हैं। उन आप गौतमका ऐसा मंगल कीर्ति-शब्द फैला हुआ है—'वह भगवान् अर्हत् हैं[2] ० भगवान् बुद्ध हैं। वह ब्रह्मलोक सहित ०[2] ब्रह्मचर्यको प्रकाशित करते हैं। ऐसे अर्हतोंका दर्शन अच्छा होता है।

उस समय ब्रह्मायु ब्राह्मणका उत्तर नामक माणवक शिष्य था, (जोकि) पाँचवे इतिहास और निघंटु-केटुभ-अक्षरप्रभेद-सहित तीनों वेदोंका पारंगत, पदज्ञ, वैयाकरण, लोकायत(-शास्त्र) तथा महापुरुषलक्षणमें परिपूर्ण था। तब ब्रह्मायु ब्राह्मणने उत्तर माणवकको संबोधित किया—

"तात, उत्तर[3]! यह शाक्य कुलसे प्रव्रजित शाक्य-पुत्र श्रमण गौतम ० विदेहमें चारिका कर रहे हैं। उन आप गौतमका ऐसा मंगल कीर्ति-शब्द फैला हुआ है—० ब्रह्मचर्यको प्रकाशित करते हैं। ऐसे अर्हतोंका दर्शन अच्छा होता है। आओ, तात, उत्तर! जहाँ श्रमण गौतम हैं, वहाँ जाओ। जाकर, श्रमण गौतमको जानो, कि आप गौतमका शब्द यथार्थ फैला हुआ है; या अयथार्थ? क्या आप गौतम वैसे हैं, या नहीं! तेरे द्वारा हम आप गौतमको जानेंगे।"

"कैसे, भो! मैं उन गौतमको जानूँगा—कि आप गौतमका (कीर्ति-)शब्द यथार्थ फैला हुआ है, या अ-यथार्थ? क्या आप गौतम वैसे हैं या नहीं?

"तात, उत्तर! हमारे मंत्रोंमें बत्तीस महापुरुष-लक्षण आये हैं, जिनसे युक्त पुरुषकी येही गतियाँ होती हैं, और नहीं। यदि वह घरमें रहता है; तो जनपदों (के राजपदपर) स्थिरताको प्राप्त, चारों छोरों (तक पृथिवी)को जीतनेवाला, सात रत्नोंसे युक्त धार्मिक धर्मराज चक्रवर्ती राजा होता है। उसके यह सात रत्न होते हैं—(१) चक्र-रत्न, (२) हस्ति-रत्न, (३) अश्व-रत्न,

---

[1] उस समय (ई. पू. पाँचवीं, छठीं शताब्दी तक) अथर्वको वेदमें नहीं शामिल किया गया था।

[2] देखो पृष्ठ ११३। [3] तुलना करो अम्बट्ठसुत्त (दी. नि.)।

(४) मणि-रत्न, (५) स्त्री-रत्न, (६) गृहपति-रत्न, और (७) सातवाँ परिणायक-रत्न। सहस्राधिक इसके पर-सैन्य-प्रमर्दक, शूर, वीर पुत्र होते हैं। वह सागर-पर्यन्त इस पृथिवीको विना दण्ड, विना शस्त्रके धर्मसे जीत कर शासन करता है। यदि वह घरसे बेघरहो प्रव्रजित होता है; तो कपाट-खुला अर्हत्, सम्यक्-संबुद्ध होता है। तात उत्तर! तुम्हारा मंत्रोंका दाता हूँ, और तुम प्रतिगृहीता हो।"

ब्रह्मायु ब्राह्मणको—'हाँ, भो!' कह, उत्तर माणवक आसनसे उठ अभिवादनकर प्रदक्षिणा कर विदेहमें जिधर भगवान् थे, उधर चारिका (= यात्रा)पर चल पड़ा। क्रमशः चारिका करते जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया। जाकर भगवान्के साथ···सम्मोदनकर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे हुये उत्तर माणवक भगवान्के शरीरमें बत्तीस महापुरुष-लक्षणोंको ढूँढ रहा था। उत्तर माणवक ने भगवान्के शरीरमें दोको छोड़ बत्तीस महापुरुषलक्षणोंमेंसे अधिकांशको देख लिया। सुदीर्घ जिह्वा और कोषाच्छादित वस्ति दोके बारेमें सन्देहमें पड़ा हुआ था। तब भगवान्को यह हुआ—'यह उत्तर माणवक मेरे शरीरमें बत्तीस महापुरुषलक्षणोंको देख रहा है। उत्तर माणवक मेरे शरीर में दोको छोड़ ० सन्देहमें पड़ा हुआ है।"

तब भगवान्ने इस प्रकारका ऋद्धि-प्रभाव प्रकट किया, कि उत्तर माणवकने भगवान्की कोषाच्छादित वस्तिको देख लिया। तब भगवान्ने जिह्वाको निकालकर उससे दोनों कानोंकी जड़को छू दिया, नाकके दोनों छिद्रोंको छू दिया, जिह्वासे ललाटको आच्छादित कर दिया। तब उत्तर मावणवकको यह हुआ—'श्रमण गौतम बत्तीस महापुरुष लक्षणोंसे युक्त है। क्यों न मैं श्रमण गौतमका अनुगमन करूँ, और उसके ईर्यापथ (= चाल ढाल)को देखूँ'। तब उत्तर माणवक छः मास तक अनपायिनी (= न छोड़नेवाली) छायाकी भाँति भगवान्के पीछे पीछे फिरता रहा। तब सात मासके बाद उत्तर माणवक विदेह(-देश)में जहाँ मिथिला है, वहाँ चारिकाके लिये चला। क्रमशः चारिका करते जहाँ मिथिला थी, जहाँ ब्रह्मायु, ब्राह्मण था, वहाँ पहुँचा। पहुँच कर ब्रह्मायु ब्राह्मणको अभिवादन कर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे ब्रह्मायु ब्राह्मणसे उत्तर माणवकने यह कहा—

"क्या तात उत्तर! वैसा होते भगवान् गौतमका (कीर्ति-) शब्द सत्यके अनुसार ही उठा हुआ है, अन्यथा तो नहीं है? क्या वह आप गौतम वैसे ही हैं, अन्यादृश नहीं हैं?"

"भो! वैसा होते भगवान् गौतमका (कीर्ति-) शब्द सत्यके अनुसार (= यथार्थ) ही उठा हुआ है, अन्यथा नहीं। वह आप गौतम वैसे ही हैं, अन्यादृश नहीं। भो! आप गौतम बत्तीस महापुरुष-लक्षणोंसे युक्त हैं।—(१) आप गौतम **सुप्रतिष्ठित-पाद** (= जिसका पैर जमीन पर बराबर बैठता हो) हैं, यह भी आप महापुरुष गौतमके महापुरुष-लक्षणोंमें एक हैं। (२) आप गौतमके नीचे पैरके तलवेमें सर्वाकार-परिपूर्ण नाभि-नेमि (= पुट्ठी)-युक्त सहस्र-अरों वाले, चक्र हैं। (३) आप गौतम **आयत-पार्ष्णि** (= चौड़ी घुट्ठीवाले) हैं। (४) ० **दीर्घ-अंगुल** ०। (५) ० **मृदु-तरुण-हस्त-पाद** ०। (६) ० **जाल-हस्त-पाद** (= अंगुलियोंके बीच बत्तकके पंजेकी भाँति चमड़ा) ०। (७) ० उस्संखपाद (= गुल्फ ऊपर अवस्थित हैं, जिस पादमें) ०। (८) ० एणीजंघ (= मृग जैसा पेंडुली वाला भाग जिसका हो) ०। (९) (सीधे) खड़े विना झुके वह आप गौतम दोनों जाँघोंको अपने हाथके तलवोंसे छूते हैं (=आजालु-बाहु) ०। (१०) कोषाच्छादित वस्तिगुह्य (= पुरुष-इन्द्रिय) ०। (११) सुवर्ण-वर्ण ० कंचनसमान त्वचावाले ०। (१२) सूक्ष्म-छवि (छवि = ऊपरी चमड़ा) है ० जिससे कायापर मैल-धूल नहीं चिपटती ०। (१३) **एकैकलोम**, एक एक रोम कूपमें उनके एक एक रोम हैं ०। (१४) ० **ऊर्ध्वाग्र-लोमा**, ० उनके अंजनसमान नीले तथा प्रदक्षिणा (बायेंसे दाहिनी ओर)

से कुंडलित लोमोंके सिरे ऊपरको उठे है ०। (१५) ब्राह्म-ऋजु-गात्र (= लम्बे अकुटिल शरीर वाले) ०। (१६) सप्त-उत्सद (= सातों अंगोंमें पूर्ण आकारवाले) ०। (१७) सिंह-पूर्वार्द्ध-काय (= छाती आदि शरीरका ऊपरी भाग सिंहकी भाँति जिसका हो) ०। (१८) चितान्त-रांस (= दोनों कंधोंका बिचला भाग जिसका चित = पूर्ण है) ०। (१९) न्यग्रोध-परिमंडल है, ०, जितनी काया उसके अनुसार व्यायाम (= चौड़ाई), जितनी चौड़ाई उतनी काया ०। (२०) समवर्त-स्कंध (= समान परिमाणके कंधेवाले) ०। (२१) रसग्ग-सग्गी (= सुन्दर शिराओंवाले) ०। (२२) सिंह-हनु (= सिंहसमान पूर्ण ठोड़ीवाले) ०। (२३) चव्वालीस-दन्त ०। (२४) सम-दन्त ०। (२५) अ-विवर-दन्त ०। (२६) सु-शुक्ल-दाढ (= खूब सफेद डाढ़वाले) ०। (२७) प्रभूत-जिह्व (लम्बी जीभवाले) ०। (२८) ब्रह्म-स्वर, करविंक (पक्षीसे) स्वरवाले ०। (२९) अभिनील-नेत्र (= अतसी पुष्प जैसी नीली आँखों-वाले) ०। (३०) गो-पक्ष्मा (= गाय जैसी पलकवाले) ०। (३१) इस आप गौतमके भौंहोंके बीचमें श्वेत कोमल कपास सी ऊर्णा (= रोम-राजी) हैं ०। (३२) उष्णीषशीर्ष (= पगड़ी जैसे चारों ओर समानाकार शिरवाले) हैं आप गौतम, यह भी आप महापुरुष गौतमके महापुरुष लक्षणोंमें हैं। भो! आप गौतम इन बत्तीस महापुरुष-लक्षणोंसे युक्त हैं।

"वह भगवान् चलते वक्त पहिले दाहिना ही पैर उठाते हैं। वह न बहुत दूरसे पैर उठाते हैं, न बहुत समीप रखते है! वह न अति शीघ्र चलते हैं, न अति शनैः चलते हैं। न जानुसे जानुको घट्टित करते चलते हैं; न गुल्फ(= घुट्टी)से गुल्फको घट्टित (= रगड़ते) चलते हैं। चलते वक्त न वह शक्थि (= उरु)को ऊपर उठाते हैं; न शक्थिको नवाते हैं, न शक्थिका सन्नामन (= घुमाना) करते हैं, न विनामन (= हिलाना) करते हैं। चलते वक्त आप गौतमका निचला शरीर ही हिलता है, काय-बल (= शरीर फेंकने)से नहीं चलते। बिना अवलोकन करते वह आप गौतम सारी कायासे अवलोकन जैसे करते हैं। वह न ऊपरकी ओर अवलोकन करते हैं, न नीचेकी ओर अवलोकन करते हैं, न चारों ओर देखते चलते हैं। युगमात्र (= चार हाथ) देखते हैं, उससे आगे उनकी खुली ज्ञान-दृष्टि होती है।

"वह गृहस्थोंके घरके भीतर (= अन्तरघर) कायाका उन्नामन (= ऊपर उठाना) करते हैं, न अवनामन करते हैं, न कायाको सन्नामन करते हैं, न विनामन करते हैं। वह न आसनसे दूर न अतिसमीप (काया)को पलटते हैं। न हाथका अवलंब लेकर आसनपर बैठते हैं, न आसनपर कायाको फेंकते हैं। वह अन्तरघरमें न हाथकी चंचलता दिखलाते हैं, न पैर की चंचलता दिखलाते हैं; न जानु पर जानु रखकर बैठते हैं, न गुल्फको गुल्फपर चढ़ाकर ०, न हाथको ठुड्डीपर रखकर बैठते हैं। वह अन्तरघरमें बैठे हुये न स्तब्ध होते हैं, न काँपते हैं, न हिलते हैं, न परित्रास (= चंचलता)को प्राप्त होते हैं वह आप गौतम बिना स्तब्धतारहित, कम्पनरहित, वे जनरहित, परित्रासरहित, रोमांचरहित, विवेकयुक्त हो अन्तरघरमें बैठते हैं।

"वह पात्रमें जल ग्रहण करते वक्त न पात्रको ऊपर उठाते हैं, न पात्रका अवनामन (= नवाना) करते हैं, न पात्रको सन्नामन करते हैं, न पात्रको विनामन करते हैं। वह ओदन (= भात) न बहुत अधिक न बहुत कम ग्रहण करते हैं। आप गौतम व्यंजन (= तेवन)को व्यंजनकी मात्रासे ग्रहण करते हैं, ग्राममें अधिक मात्रामें व्यंजन नहीं ग्रहण करते। दो तीन बार करके आप गौतम मुखमें ग्रासको चबा कर खाते हैं। भातका जूठन अलग होकर उनके शरीरपर नहीं गिरता। भातका जूठन मुँहमें बँचे रहते वह दूसरा ग्रास (मुँहमें) नहीं डालते। आप गौतम रसको प्रतिसंवेदन (= अनुभव) करते आहार ग्रहण करते हैं, किन्तु रसमें रागको प्रतिसंवेदन

करते नहीं। आप गौतम आठ अंगों (= बातों)से युक्त आहार ग्रहण करते हैं—न चपलताके लिये, न मदके लिये, न मंडनके लिये, न विभूषणके लिये; जितना (आहार) इस कायाकी स्थिति और यापनके लिये, (भूखकी) पीड़ाकी शांतिके लिये, ब्रह्मचर्यकी सहायताके लिये (आवश्यक है उतना ही ग्रहण करते हैं); इस प्रकार (इस आहारकी मददसे) पुरानी वेदना (= भोग) को हटायेंगे, नई वेदनाको उत्पन्न न होने देंगे, मेरी (शरीर-)यात्रा भी होगी, निर्दोषता और सरल विहार भी होगा।

"वह भोजनके वाद पानी जल ग्रहण करते न पात्रका उन्नामन करते हैं, न अवनामन, सन्नामन या विनामन करते हैं। वह मात्रासे न वहुत कम न वहुत अधिक जल ग्रहण करते हैं। वह न पात्रको बुलबुल करते धोते हैं, न उलटते हुये पात्रको धोते हैं; न पात्रको भूमिपर फेंक कर हाथ धोते हैं। (उनके) हाथ धोते वक्त पात्र धुल जाते हैं, पात्र धोते वक्त हाथ धुल जाते हैं। वह पात्रके जलको न अति-दूर (से) छोड़ते हैं, न अति-समीपसे, न घुमाते छोड़ते हैं। वह भोजन कर चुकने पर न पात्रको भूमिपर फेंकते हैं, न, अति-दूर न अति-समीप (रखते हैं)। न पात्रसे बेपर्वा होते हैं, न सर्वदा उसकी रक्षामें ही तत्पर रहते हैं।

"भोजनोपरान्त वह थोड़ी देर चुपचाप बैठते हैं, और अनुमोदन (= भोजन संबंधी अनुमोदन)के कालको अति-क्रमण करते हैं। भोजनोपरान्त वह उस भोजनका अनुमोदन करते हैं, उसकी निंदा नहीं करते। और भक्त (= भात) नहीं चाहते। उस (भिक्षु-)परिषद्को धार्मिक-कथा द्वारा संदर्शन = समादपन = समुत्तेजन = संप्रशंसन करते हैं। धार्मिक कथा द्वारा संदर्शन ० करके आसनसे उठ कर चले जाते हैं।

" वह न अति-शीघ्र चलते हैं, न अति-शनैः चलते हैं; न छूटनेकी इच्छा (जैसे) चलते हैं। आप गौतमके शरीरमें चीवर न अत्यन्त ऊपर रहता है, न अत्यन्त नीचे, न कायामें अत्यधिक सटा, न कायासे अत्यधिक निकला हुआ। आप गौतमके शरीरसे हवा चीवर उड़ाती नहीं। आप गौतमके शरीरमें मल भी नहीं चिमटता।

"वह आरामके भीतर विछे आसन पर बैठते हैं। बैठकर पैर पखारते हैं। आप गौतम पादके मंडनमें तत्पर हो नहीं विहरते। वह पाद पखार कर, शरीरको सीधा रख, स्मृति (=होश) को सामने रखकर बैठते हैं। वह न आत्म-पीड़ाके लिये सोचते हैं, न पर-पीड़ाके लिये सोचते हैं, न दोनों (आत्म-पर-)पीड़ाके लिये सोचते हैं। आप गौतम आत्महित, पर-हित, उभय-हित, लोक-हितको चिन्तन करते ही आसीन रहते हैं।

"वह आरामके भीतर परिषद्में धर्मोपदेश करते हैं। न उस परिषद्को उत्साहित (= उठाते) करते हैं, न अपसादित (= गिराते) करते हैं। वल्कि धार्मिक कथा द्वारा उस परिषद्को संदर्शित, समादपित, समुत्तेजित, संप्रशंसित करते हैं। आप गौतमके मुखसे घोष आठ अंगों (= वातों) के सहित निकलता है—(१) प्रामाणिक, (२) विज्ञेय, (३) मंजु, (४) श्रवणीय, (५) विन्दु (= सार युक्त), (६) अविसारि (=अ-कटु), (७) गंभीर, और (८) निर्नादी (=खनखन)। परिषद् (के परिमाण)के अनुसार स्वरसे आप गौतम उपदेशते हैं, उनका घोष परिषद्से वाहर नहीं जाता, आप गौतमकी धार्मिक कथासे संदर्शित० (श्रोतागण) आसनसे उठकर विना (मुड़कर) देखते चले जाते हैं, (किन्तु) भावसे छोड़े नहीं (जाते)।

"भो ! हमने आप गौतमको गमन करते देखा, हमने आप गौतमको खड़े हुये देखा, अन्तरमें प्रवेश करते देखा; अन्तर-घर (= गृहस्थके घर)में चुपचाप बैठे देखा; भोजनोपरांत (भोजनको) अनुमोदन करते देखा। आरामको जाते देखा। आरामके भीतर चुपचाप बैठे देखा,

आरामके भीतर परिषद्को धर्मोपदेश करते देखा। आप गौतम ऐसे ऐसे हैं, इससे भी अधिक हैं।"

ऐसा कहनेपर ब्रह्मायु ब्राह्मणने आसनसे उठकर, उत्तरासंगको एक कंधेपर कर, जिस (दिशा-की) ओर भगवान् थे, उधर अंजलि जोड़ तीन बार उदान उदाना—"उन भगवान् अर्हत् सम्यक् संबुद्धको नमस्कार है, उन भगवान् अर्हत् सम्यक् संबुद्धको नमस्कार है, उन भगवान् अर्हत् सम्यक् संबुद्धको नमस्कार है। क्या कभी उन आप गौतमके साथ हमारा समागम होगा! क्या कुछ कथा-संलाप होगा!!"

तब भगवान् क्रमशः विदेहमें चारिका करते, जहाँ मिथिला थी, वहाँ पहुँचे। वहाँ मिथिला में भगवान् मखादेव-आम्रवनमें विहार करते थे। मैथिल ब्राह्मण गृहपतियोंने सुना—'शाक्य-कुलसे प्रव्रजित शाक्यपुत्र श्रमण गौतम विदेहमें चारिका करते पाँच सौके महान् भिक्षु-संघके साथ मिथिलामें प्राप्त हुये हैं; और मिथिलामें मखादेव-आम्रवनमें विहार करते हैं। उन भगवान् गौतमका ऐसा कल्याण कीर्तिशब्द उठा हुआ है—वह भगवान् अर्हत् ०[1] ऐसे अर्हतोंका दर्शन अच्छा होता है।'

तब मैथिल ब्राह्मण गृहपति जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये। जाकर कोई कोई भगवान्को अभिवादन कर एक ओर बैठ गये ०[2] कोई कोई चुपचाप हो एक ओर बैठ गये।

ब्रह्मायु ब्राह्मण ने सुना—"शाक्यकुलसे प्रव्रजित शाक्यपुत्र श्रमण गौतम ० मिथिलामें प्राप्त हुये हैं। और मिथिलामें मखादेव-आम्रवनमें विहार करते हैं। तब ब्रह्मायु ब्राह्मण बहुतसे माणवों के साथ जहाँ मखादेव-अम्बवन था, वहाँ गया। तब ब्रह्मायु ब्राह्मणको आम्रवनके पास जानेपर यह हुआ—'यह मेरे लिये ठीक नहीं, कि बिना पहिले सूचित किये मैं दर्शनके लिये जाऊँ'।"

तब ब्रह्मायु ब्राह्मणने एक माणव(= विद्यार्थी)से कहा—"आओ माणवक! तुम जहाँ श्रमण गौतम हैं, वहाँ जाओ। जाकर मेरे वचनसे श्रमण गौतमको अल्पाबाधा (= आरोग्य) = अल्पातङ्क; लघुत्थान (= फुर्ती) बल, प्रासु-विहार (= सुख पूर्वक विहरना) पूछना, 'भो गौतम! ब्रह्मायु ब्राह्मण आप गौतमकी अल्पाबाधा (= आरोग्य) ० पूछता है'। और यह भी कहना—'ब्रह्मायु ब्राह्मण जीर्ण = वृद्ध = महल्लक, = अध्वगत = वयोनुप्राप्त, जन्मसे एक सौ बीस वर्षका है। वह आप गौतमके दर्शनकी इच्छा रखता है'।"

"अच्छा, भो"—(कह) वह माणवक ब्रह्मायु ब्राह्मणको उत्तर दे, जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया, जाकर भगवान्के साथ···संमोदन कर एक ओर···खड़ा हो···भगवान्से बोला—

"भो गौतम! ब्रह्मायु ब्राह्मण आप गौतमकी अल्पाबाधा ० पूछता है। ० भो गौतम! ब्रह्मायु ब्राह्मण ० वृद्ध ० एक सौ बीस वर्षका है। वह ०[3] तीनों वेदोंका पारंगत ० महापुरुष लक्षणमें परिपूर्ण है। मिथिलामें जितने ब्राह्मण गृहपति बसते हैं, ब्रह्मायु ब्राह्मण, भोग, मंत्र (वेद), आयु और यश···सब तरह उनमें अग्र (= श्रेष्ठ) है, वह आप गौतम का दर्शन चाहता है।"

"माणवक! ब्रह्मायु ब्राह्मण इस वक्त जिसका काल समझे (वैसा करे)।"

तब वह माणवक जहाँ ब्रह्मायु ब्राह्मण था, वहाँ गया; जाकर ब्रह्मायु ब्राह्मणसे बोला—

"भो! श्रमण गौतमने आपको अवकाश दे दिया, अब आप जिसका काल समझें।"

तब ब्रह्मायु ब्राह्मण जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया। उस (ब्राह्मण-) परिषद्ने दूरसे ही ब्रह्मायु ब्राह्मणको आते देखा। देखते ही ज्ञात (= प्रसिद्ध) और यशस्वी, उसके लिये अवकाश कर दिया। तब ब्रह्मायु ब्राह्मणने उस परिषद्से यह कहा—

---

[1] देखो पृष्ठ १५८। [2] देखो पृष्ठ १६८। [3] देखो पृष्ठ ३८६।

"नहीं, भो ! आप सब अपने आसनपर बैठें । मैं यहाँ श्रमण गौतमके समीप बैठूँगा ।"

तब ब्रह्मायु ब्राह्मण जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया । जाकर भगवान्‌के साथ···संमोदन कर एक ओर बैठा । एक ओर बैठा ब्रह्मायु ब्राह्मण, भगवान्‌के शरीरमें महापुरुष लक्षणोंको ढूँढ़ रहा था ०[1] दोके बारेमें संदेहमें पड़ा हुआ था । तब ब्रह्मायु ब्राह्मणने भगवान्‌से गाथाओं द्वारा कहा—

"जो मैंने बत्तीस महापुरुष-लक्षण सुने हैं ।
उनमें से दोको आप गौतमके शरीरमें नहीं देखता ।
नरोत्तम ! क्या आपका वस्तिगुह्य कोपाच्छादित है -
स्त्री-इन्द्रिय-समान ? जीभ छोटी तो नहीं ?
दीर्घजिह्व तो हो ? जैसे हम उसे जानें,
(वैसे) इसे थोड़ा निकालें । ऋषे ! शंका दूर करें;
इस जन्मके हितके लिये और पर-जन्ममें सुखके लिये ।
आज्ञा पाकर जो कुछ अभीष्ट है, पूछूँगा ।"

भगवान्‌को यह हुआ—'यह ब्रह्मायु ब्राह्मण मेरे शरीरमें बत्तीस महापुरुष-लक्षणोंको देख रहा है ०[1] जिह्वासे ललाटको आच्छदितकर दिया । तब भगवान्‌ने ब्रह्मायु ब्राह्मणसे गाथाओंमें कहा—

"जो तूने बत्तीस महापुरुष-लक्षण सुने हैं ।
वह सब मेरे शरीरमें हैं, ब्राह्मण ! तुझे संदेह मत हो ।
अभिज्ञेय, अभिज्ञात हो गया, भावनीयको भावित कर लिया ;
प्रहातव्यको प्रहीण कर दिया, इसलिये ब्राह्मण ! मैं बुद्ध हूँ ।
इस जन्मके हितार्थ और जन्मान्तरके सुखार्थ ;
छुट्टी है, जो कुछ अभीष्ट हो पूछो ।"

ब्रह्मायु ब्राह्मणको यह हुआ—'श्रमण गौतमने मुझे अवकाश दे दिया । क्या मैं श्रमण गौतमसे इस लोकके संबंधमें पूछूँ, या परलोकके संबंधमें (पूछूँ) ? तब ब्रह्मायु ब्राह्मणको यह हुआ—'इस लोककी बातोंमें मैं चतुर हूँ, दूसरे भी मुझसे इहलौलिक बात पूछते हैं; क्यों न मैं श्रमण गौतमसे साम्परायिक (= परलोक-संबंधी) बातहीको पूछूँ' । तब ब्रह्मायु ब्राह्मणने भगवान्‌से गाथाओंमें कहा—

"भो ! कैसे ब्राह्मण होता है, कैसे वेदगू होता है ?
भो ! त्रैविद्य कैसे होता है, श्रोत्रिय क्या कहा जाता है ?
भो ! अर्हत् कैसे होता है, कैसे केवली होता है ?
भो ! मुनि कैसे होता है, बुद्ध क्या कहा जाता है ?"

तब भगवान्‌ने ब्रह्मायु ब्राह्मणको गाथाओंमें उत्तर दिया—

"जो पूर्व जन्मको जानता है, स्वर्ग-नरकको जानता है ।
और (जो) जन्मके क्षयको प्राप्त, अभिज्ञा तत्पर (है, वह) मुनि है ।
जो रागोंसे बिलकुल मुक्त, विशुद्ध-चित्तको जानता है ।
जन्म-मरण जिसका नष्ट हो गया, ब्रह्मचर्य (पूरा हो गया, वह) केवली है ।
सारे धर्मोंके पारगू (= पारंग)-तादिको बुद्ध कहा जाता है ।"

---

[1] देखो पृष्ठ ३८३ ।

ऐसा कहनेपर ब्रह्मायु ब्राह्मण उत्तरासंगको एक कंधेपर कर भगवान्‌के चरणोंमें शिर रख, भगवान्‌के चरणोंको मुखसे चूमता, हाथको भी फेरता; नाम भी सुनाता—"भो गौतम ! मैं ब्रह्मायु ब्राह्मण हूँ" "भो गौतम ! मैं ब्रह्मायु ब्राह्मण हूँ"

तब वह परिषद् विस्मित चकित हो गई—"आश्चर्य भो ! अद्‌भुत भो ! श्रमणकी महर्द्धिकता (= दिव्यशक्ति), महानुभावताको; जो कि ब्रह्मायु ब्राह्मण जैसा ज्ञात = यशस्वी इस प्रकार की परम नम्रता कर रहा है।"

तब भगवान्‌ने ब्रह्मायु ब्राह्मणसे यह कहा—

"अलम्, ब्राह्मण उठो, बैठो अपने आसनपर ब्राह्मण ! तुम्हारा चित्त मेरेमें प्रसन्न है।"

तब ब्रह्मायु ब्राह्मण उठकर अपने आसनपर बैठा।

तब भगवान्‌ने ब्रह्मायु ब्राह्मणके लिये अनुपूर्वि-कथा जैसे—दान-कथा, शील-कथा, स्वर्ग-कथा, काम वासनाओंके दुष्परिणाम, अपकार, दोष; निष्कामताका माहात्म्य प्रकाशित किया। जब भगवान्‌ने ब्रह्मायु ब्राह्मणको भव्य-चित्त = मृदु-चित, अनाच्छादित-चित्त, आह्लादित-चित्त, प्रसन्न-चित्त देखा; तब जो बुद्धोंकी उठानेवाली देशना (= उपदेश) है—दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग—उसे प्रकाशित किया। जैसे कालिमा-रहित श्वेत वस्त्र अच्छी तरह रंग पकड़ता है; वैसे ही ब्रह्मायु ब्राह्मणको उसी आसनपर, ० 'जो कुछ समुदय-धर्म (=उत्पन्न होनेवाला) है, वह निरोध-धर्म (= नाशमान) है'—यह विरज = विमल धर्म-चक्षु उत्पन्न हुआ।

तब ब्रह्मायु ब्राह्मण दृष्टधर्म = प्राप्त-धर्म = विदित-धर्म पर्यवगाढ़-धर्म, तीर्ण-विचिकित्स (= संशय-रहित), कथोपकथन-विरत, वैशारद्य-प्राप्त (= निपुण), शास्ताके शासनमें अति श्रद्धावान् हो, भगवान्‌से यह बोला—

"आश्चर्य ! भो गौतम ! आश्चर्य !! भो गौतम !! जैसे औंधेको सीधा कर दे ०[1] आजसे मुझे अंजलिबद्ध शरणागत उपासक धारण करें। भिक्षु-संघके साथ आप गौतम कलका मेरा भोजन स्वीकार करें।"

भगवान्‌ने मौनसे स्वीकार किया।

तब ब्रह्मायु ब्राह्मण भगवान्‌की स्वीकृतिको जान, आसनसे उठ, भगवान्‌को अभिवादन कर, प्रदक्षिणा कर चला गया।

तब ब्रह्मायु ब्राह्मणने उस रातके बीत जानेपर, अपने घरपर उत्तम खाद्य-भोज्य तैयार कर भगवान्‌को कालकी सूचना दी—

"समय हो गया, भो गौतम ! भोजन तैयार है।"

तब भगवान् पूर्वाह्ण समय पहिनकर पात्र-चीवर ले जहाँ ब्रह्मायु ब्राह्मणका घर था, वहाँ गये; जाकर भिक्षु-संघके साथ बिछे आसनपर बैठे। तब ब्रह्मायु ब्राह्मणने अपने हाथसे उत्तम खाद्य-भोज्य परोस कर, बुद्ध-प्रमुख भिक्षु-संघको संतर्पित = संप्रवारित किया।

तब भगवान् उस सप्ताहके बीतनेपर विदेह(देश)में चारिकाके लिये चल दिये। भगवान्‌के चले जानेके थोड़े ही समय बाद ब्रह्मायु ब्राह्मणने काल किया।

तब बहुतसे भिक्षु जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये; जाकर भगवान्‌को अभिवादन कर एक ओर बैठ गये। एक ओर बैठे उन भिक्षुओंने भगवान्‌से यह कहा—

"भन्ते ! ब्रह्मायु ब्राह्मण मर गया, उसकी क्या गति = क्या अभिसम्पराय है ?"

---

[1] देखो पृष्ठ १६।

"भिक्षुओ ! ब्रह्मायु ब्राह्मण पंडित था, धर्मके अनुसार चलनेवाला था, धर्मके विषयमें उसने मुझे पीड़ित नहीं किया। भिक्षुओ ! ब्रह्मायु ब्राह्मण पाँच अवरभागीय-संयोजनोंके क्षयसे औपपातिक (= देवता) हो, वहाँ निर्वाण प्राप्त करनेवाला है, उस लोकसे न लौट कर आनेवाला है।"

भगवान्‌ने यह कहा, सन्तुष्ट हो उन भिक्षुओंने भगवान्‌के भाषणको अभिनंदित किया।

९२—सेल-सुत्तन्त (२।५।२)

बुद्ध और धर्मके गुण । सेल ब्राह्मणकी प्रव्रज्या

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् साढ़े बारह सौ भिक्षुओंके महाभिक्षु-संघके साथ, अंगुत्तराप (देशमें) चारिका करते हुये, जहाँपर···आपण नामक निगम (=कस्बा) था, वहाँ पहुँचे ।

केणिय जटिलने सुना—शाक्य-कुलसे प्रव्रजित, शाक्य-पुत्र श्रमण गौतम साढ़े बारह सौ भिक्षुओंके महाभिक्षु-संघके साथ, अंगुत्तरापमें चारिका करते हुए, आपणमें आये हैं । उन भगवान् गौतमका ऐसा कल्याण कीर्ति-शब्द फैला हुआ है ० । ०[1] । इस प्रकारके अर्हतोंका दर्शन उत्तम होता है ।

तब केणिय जटिल जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया, जाकर भगवान्के साथ···संमोदन कर,··· (कुशल-प्रश्न पूछ) एक ओर बैठ गया । एक ओर बैठे केणिय जटिलको भगवान्ने धर्मके उपदेश द्वारा संदर्शन, समादपन, समुत्तेजन, संप्रशंसन किया । भगवान्के धर्म-उपदेश-द्वारा संदर्शित···हो, केणिय जटिलने भगवान्से कहा—

"आप गौतम भिक्षु-संघ-सहित कलका मेरा भोजन स्वीकार करें ।"

ऐसा कहनेपर भगवान्ने केणिय जटिलसे कहा—

"केणिय ! भिक्षु-संघ बड़ा है, साढ़े बारह सौ भिक्षु हैं; और तुम ब्राह्मणोंमें प्रसन्न (= श्रद्धालु) हो ।"

दूसरी बार भी केणिय जटिलने भगवान्से कहा—

"क्या हुआ, भो गौतम ! जो बड़ा भिक्षु-संघ है, साढ़े बारह सौ भिक्षु हैं, और मैं ब्राह्मणोंमें प्रसन्न हूँ ? आप गौतम भिक्षु-संघ-सहित कलका मेरा भोजन स्वीकार करें ।"

दूसरी बार भी भगवान्ने केणिय जटिलसे यही कहा—० ।

० तीसरी बार भी केणिय जटिलने भगवान्से यही कहा—० ।

भगवान्ने मौन रह स्वीकार किया ।

तब केणिय जटिल भगवान्की स्वीकृतिको जान, आसनसे उठ, जहाँ उसका आश्रम था, वहाँ गया । जाकर मित्र-अमात्य, जाति-बिरादरीवालोंसे बोला—

"आप सब मेरे मित्र-अमात्य, जाति-बिरादरी सुनें—मैने भिक्षु-संघ-सहित श्रमण गौतम-को कलके भोजनके लिये निमंत्रित किया है, सो आप लोग शरीरसे सेवा करें ।"

"अच्छा, हो !" केणिय जटिलसे, ०मित्र-अमात्य, जाति-बिरादरीने कहा । (उनमेंसे) कोई चूल्हा खोदने लगे, कोई लकड़ी फाड़ने लगे, कोई बर्तन धोने लगे, कोई पानीके मटके

---

[1] देखो पृष्ठ १५८ ।

(= मणिक) रखने लगे, कोई आसन बिछाने लगे। केणिय जटिल स्वयं पट-मंडप (= मंडल-माल) तैयार करने लगा।

उस समय निघण्टु, कल्प (= केटुभ)—अक्षर-प्रभेद सहित तीनों वेद तथा पाँचवें इतिहासमें पारङ्गत, पदक (= कवि), वैयाकरण, लोकायत (शास्त्र) तथा महापुरुष-लक्षण (= सामुद्रिक-शास्त्र)में निपुण (= अनवय), शैल नामक ब्राह्मण आपणमें, वास करता था; और तीन सौ विद्यार्थियों (= माणवक)को मंत्र (= वेद) पढ़ाता था। उस समय शैल ब्राह्मण केणिय जटिलमें अत्यन्त प्रसन्न (= श्रद्धावान्) था।···। तब (वह) तीन सौ माणवकोंके साथ जंघा-विहार (= चहल-कदमी)के लिये टहलता हुआ, जहाँ केणिय जटिलका आश्रम था, वहाँ गया। शैल ब्राह्मणने देखा कि केणिय जटिलके जटिलों (= जटाधारी, वाणप्रस्थी शिष्यों) में, कोई चूल्हा खोद रहे हैं ०, तथा केणिय जटिल स्वयं मंडल-माल तय्यार कर (रहा है)। देखकर (उसने) केणिय जटिलसे कहा—

"क्या आप केणियके यहाँ आवाह होगा, विवाह होगा, या महा-यज्ञ आ पहुँचा है? क्या बल-काय (= सेना)-सहित मगध-राज श्रेणिक बिंबसार, कलके भोजनके लिये निमंत्रित किया गया है?"

"नहीं, शैल! न मेरे यहाँ आवाह होगा, न विवाह होगा और न बल-काय-सहित मगध-राज श्रेणिक बिंबसार कलके भोजनके लिये निमंत्रित है, बल्कि मेरे यहाँ महायज्ञ है। शाक्य-कुलसे प्रव्रजित शाक्य-पुत्र श्रमण गौतम साढ़े बारह सौ भिक्षुओंके महाभिक्षु-संघ-के साथ अंगुत्तरापमें चारिका करते, आपणमें आये हैं। उन भगवान् गौतमका ऐसा मंगल कीर्ति-शब्द फैला हुआ है—वह भगवान् अर्हत्, सम्यक्-संबुद्ध, विद्या-आचरण-संपन्न, सुगत, लोकविद्, अनुत्तर (= अनुपम) पुरुषोंके चाबुक-सवार, देव-मनुष्योंके शास्ता, बुद्ध भगवान् हैं। वह भिक्षु-संघ-सहित कल मेरे यहाँ निमंत्रित हुये हैं। ०।

"हे केणिय! (क्या) 'बुद्ध' कह रहे हो?"

"हे शैल! (हाँ) 'बुद्ध' कह रहा हूँ।"

"० बुद्ध कह रहे हो?"

"० बुद्ध कह रहा हूँ।"

"० बुद्ध कह रहे हो?"

"० बुद्ध कह रहा हूँ।"

तब शैल ब्राह्मणको हुआ—'बुद्ध' ऐसा घोष (= आवाज) भी लोकमें दुर्लभ है। हमारे मंत्रोंमें महापुरुषोंके बत्तीस लक्षण आए हुए हैं, जिनसे युक्त महापुरुषकी दोही गतियाँ हैं। यदि वह घरमें वास करता है, तो चारों छोर तकका राज्यवाला, धार्मिक धर्म-राजा चक्रवर्ती···राजा (होता) है···। वह सागर-पर्यन्त इस पृथिवीको विना दण्ड-शस्त्रसे, धर्मसे विजय कर शासन करता है। और यदि घर छोड़ बेघर हो प्रव्रजित होता है, (तो) लोकमें आच्छादन-रहित अर्हत् सम्यक्-सम्बुद्ध होता है।"—"हे केणिय! तो फिर कहाँ वह आप गौतम अर्हत सम्यक्-संबुद्ध, इस समय विहार करते हैं?'

ऐसा कहने पर केणिय जटिलने दाहिनी बाँह पकड़ कर, शैल ब्राह्मणसे यह कहा—

"हे शैल! जहाँ वह नील वन-पाँती है।"

तब शैल तीन सौ माणवकोंके साथ जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया। तब शैल ब्राह्मणने उन माणवकोंसे कहा—

"आप लोग निःशब्द (= अल्प-शब्द) हो, पैरके बाद पैर रखते आवें। सिंहोंकी भाँति वह भगवान् अकेले विचरनेवाले, (और) दुर्लभ होते हैं। और जब मैं श्रमण गौतमके साथ संवाद करूँ, तो आप लोग मेरे बीचमें बात न उठावें। आप लोग मेरे (कथन)की समाप्ति तक चुप रहें।"

तब शैल ब्राह्मण जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया; जाकर भगवान्के साथ सम्मोदनकर··· (= कुशल प्रश्न पूछ)···एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठ शैल ब्राह्मण भगवान्के शरीरमें महापुरुषोंके बत्तीस लक्षण खोजने लगा। शैल ब्राह्मणने बत्तीस महापुरुष-लक्षणोंमेंसे दोको छोड़ अधिकांश भगवान्के शरीरमें देख लिये। दो महापुरुष-लक्षणों—झिल्लीसे ढँकी पुरुष-गुह्येंद्रिय, और अति-दीर्घ-जिह्वा—के बारेमें···सन्देहमें था···। तब भगवान्ने इस प्रकारका योग-बल प्रकट किया, जिससे कि शैल ब्राह्मणने भगवान्के कोष-आच्छादित वस्ति-गुह्यको देखा। फिर भगवान्ने जीभ निकालकर (उससे) दोनों कानोंके श्रोतको छुआ···, सारे ललाट-मंडलको जीभसे ढाँक दिया। तब शैल ब्राह्मणको ऐसा (विचार) हुआ—श्रमण गौतम अ-परिपूर्ण नहीं, परिपूर्ण बत्तीस महापुरुष-लक्षणोंसे युक्त है। लेकिन कह नहीं सकता—बुद्ध हैं, या नहीं। वृद्ध = महल्लक ब्राह्मणों आचार्य-प्राचार्योंको कहते सुना है—कि जो अर्हत् सम्यक्-सम्बुद्ध होते हैं, वह अपने गुण कहे जानेपर अपनेको प्रकाशित करते हैं। क्यों न मैं श्रमण गौतमके सम्मुख उपयुक्त गाथाओंसे स्तुति करूँ। तब शैल ब्राह्मण भगवान्के सामने उपयुक्त गाथाओंसे स्तुति करने लगा—

"परिपूर्ण-काया सुन्दर रुचि (= कांति) वाले, सुजान, चारु-दर्शन,
सुवर्णवर्ण हो भगवान्! सु-शुक्ल-दाँत हो, (और) वीर्यवान्॥ १॥
सुजात (= सुन्दर जन्मवाले) पुरुषके जो व्यंजन (= लक्षण) होते हैं,
वह सभी महापुरुष-लक्षण तुम्हारी कायामें (हैं)॥ २॥
प्रसन्न (= निर्मल)-नेत्र, सुमुख, बड़े सीधे, प्रताप-वान्,
(आप) श्रमण-संघके बीचमें आदित्यकी भाँति विराजते हो॥ ३॥
कल्याण-दर्शन, भो भिक्षु! कंचन-समान शरीरवाले!
ऐसे उत्तम वर्णवाले तुम्हें श्रमण-भाव (= भिक्षु होने)में क्या (रक्खा) है?॥ ४॥
तुम तो चारों छोरके राज्यवाले, जम्बूद्वीपके स्वामी।
रथर्षभ, चक्रवर्ती, राजा हो सकते हो॥ ५॥
क्षत्रिय भोज-राजा (= मांडलिक-राजा) तुम्हारे अनुयायी होंगे।
भो गौतम! राजाधिराज मनुजेन्द्र हो, राज्य करो॥ ६॥"

(भगवान्—)"शैल! मैं राजा हूँ; अनुपम धर्मराजा।
मैं न पलटनेवाला···चक्र धर्मके साथ चला रहा हूँ॥ ७॥"

(शैलब्राह्मण—) "अनुपम धर्म-राजा संबुद्ध (अपनेको) कहते हो?
भो गौतम! 'धर्मसे चक्र चला रहा हूँ' कह रहे हो॥ ८॥
कौन सा आप शास्ताका दन्तप (= नाग) श्रावक सेनापति है?
कौन इस चलाये धर्म-चक्रको अनु-चालन कर रहा है॥ ९॥

(भगवान्—"शैल!) मेरे द्वारा संचालित चक्र, अनुपम धर्म-चक्रको।
तथागतका अनुजात (= पीछे उत्पन्न) सारिपुत्र अनुचालितकर रहा है॥ १०॥
ज्ञातव्यको जान लिया, भावनीयकी भावना करली।
परित्याज्यको छोड़ दिया, अतः हे ब्राह्मण! मैं बुद्ध हूँ॥ ११॥

ब्राह्मण ! मेरे विषयमें संशयको हटाओ, छोड़ो ।
बार बार संबुद्धोंका दर्शन दुर्लभ है ॥ १२ ॥
लोकमें जिसका बार बार प्रादुर्भाव दुर्लभ हैं ,
वह मैं (राग आदि) शल्यका छेदनेवाला अनुपम, संबुद्ध हूँ ॥ १३ ॥
ब्रह्म-भूत तुलना-रहित, मार(= रागादि शत्रु)-सेनाका प्रमर्दक ,
(मुझे) देखकर कौन न संतुष्ट होगा, चाहे वह कृष्ण-[1]अभिजातिक क्यों न हो ॥१४॥''

(शैल—) ''जो मुझे चाहता है, (वह मेरे) पीछे आवे, जो नहीं चाहता, वह जावे ।
(मैं) यहाँ उत्तम-प्रज्ञावाले (बुद्ध)के पास प्रव्रजित होऊँगा ॥ १५ ॥''

(शैलके शिष्य—) ''यदि आपको यह सम्यक्-संबुद्धका शासन (= धर्म) रुचता है ।
(तो) हम भी वर-प्रज्ञके पास प्रव्रजित होंगे ॥ १६ ॥
यह जितने तीन सौ ब्राह्मण हाथ-जोड़े हैं ।
(वह) सभी भगवन् ! तुम्हारे पास ब्रह्मचर्यचरण करेंगे ॥ १७ ॥

(भगवान्—''शैल !) (यह) [2]सांदृष्टिक [3]अकालिक [4]स्वाख्यात ब्रह्मचर्य है ।
जहाँ प्रमाद -शून्य सीखनेवालेकी प्रव्रज्या अ-मोघ है ॥ १८ ॥''

शैल ब्राह्मणने परिषद्-सहित भगवान्‌के पास प्रव्रज्या और उपसंपदा पाई ।

तब केणिय जटिलने उस रातके बीतनेपर, अपने आश्रममें उत्तम खाद्य-भोज्य तैयार करा, भगवान्‌को कालकी सूचना दिलवाई···। तब भगवान् पूर्वाह्न समय पहिनकर पात्र-चीवर ले, जहाँ केणिय जटिलका आश्रम था, वहाँ गये । जाकर बिछे आसनपर भिक्षु-संघके साथ बैठे । तब केणिय जटिलने बुद्ध-प्रमुख भिक्षु-संघको अपने हाथसे, संतर्पित किया, पूर्ण किया । केणिय जटिल भगवान्‌के भोजनकर, पात्रसे हाथ हटा लेनेपर एक नीचा आसन ले, एक ओर बैठ गया । एक ओर बैठे हुये केणिय जटिलको भगवान्‌ने इन गाथाओंसे (दान-) अनुमोदन किया—

''यज्ञोंमें मुख अग्नि-होत्र है, छन्दोंमें मुख (= मुख्य) [5]साविन्नी है ।
मनुष्योंमें मुख राजा है, नदियोंमें मुख सागर है ॥ १ ॥
नक्षत्रोंमें मुख चन्द्रमा है, तपनेवालों में मुख आदित्य है ।
इच्छितोंमें (मुख) पुण्य (है), यजन (= पूजा) करनेमें मुख संघ है ॥ २ ॥''

भगवान् केणिय जटिलको इन गाथाओंसे अनुमोदित कर आसनसे उठकर चल दिये ।

तब आयुष्मान् शैल परिषद्-सहित एकान्तमें प्रमाद-रहित, उद्योग-युक्त, आत्म-निग्रही हो विहरते अचिरमें ही, जिसके लिये कुल-पुत्र घरसे बेघर हो प्रव्रजित होते हैं, उस अनुपम ब्रह्मचर्यके अन्त (= निर्वाण) को, इसी जन्ममें स्वयं जानकर, साक्षात्कर, प्राप्तकर, विहरने लगे । 'जन्म क्षय हो गया, ब्रह्मचर्य-वास पूरा हो गया । करणीय कर लिया गया, और यहाँ कुछ करना नहीं'—यह जान गये । परिषद्-सहित आयुष्मान् शैल अर्हत् हुये ।

तब आयुष्मान् शैलने शास्ता (= बुद्ध)के पास जाकर, चीवरको (दक्षिण कंधा नंगा रख) एक कंधेपर (रख), जिधर भगवान् थे, उधर अञ्जलि जोड़, भगवान्‌से गाथाओंमें कहा—

''भो चक्षु-मान् ! जो मैं आजसे आठ दिन पूर्व तुम्हारी शरण आया ।
भो भगवान् ! तुम्हारे शासन में सातही रातमें मैं दांत हो गया ॥ १ ॥

---

[1] दुर्गुणोंसे भरा । [2] प्रत्यक्ष फल-प्रद । [3] न कालान्तरमें फल-प्रद ।
[4] सुन्दर प्रकारसे व्याख्यान किया गाय । [5] सावित्री गायत्री ।

तुम्हीं बुद्ध हो, तुम्हीं शास्ता हो, तुम्हीं मार-विजयी मुनि हो ।
तुम (राग आदि) अनुशयोंको छिन्नकर, (स्वयं) उत्तीर्ण हो, इस प्रजाको तारते हो ॥२॥
उपधि तुम्हारी हट गई, आस्रव तुम्हारे विदारित हो गये ।
सिंह-समान, भव(-सागर)की भीषणतासे रहित, तुम [1]उपादान-रहित हो ॥३॥
यह तीन सौ भिक्षु हाथ जोड़े खड़े हैं ।
हे वीर ! पाद प्रसारित करो, (यह) नाग (=पाप-रहित) शास्ताकी वंदना करें ॥४॥"

९३—अस्सलायण-सुत्तन्त (२।५।३)

वर्ण-व्यवस्थाका खंडन

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथपिंडिकके आराम जेतवनमें विहार कर रहे थे।

उस समय नाना देशोंके पाँच सौ ब्राह्मण किसी कामसे श्रावस्तीमें ठहरे थे। तब उन ब्राह्मणोंको यह (विचार) हुआ—यह श्रमण गौतम चारों वर्णोंकी शुद्धि (= चातुर्वण्णी सुद्धि) का उपदेश करता है। कौन है जो श्रमण गौतमसे इस विषयमें वाद कर सके? उस समय श्रावस्ती में आश्वलायन नामक निघंटु-केटुभ (= कल्प)-अक्षर-प्रभेद (= शिक्षा)-सहित तीनों वेदों तथा पाँचवे इतिहासमें भी पारङ्गत, पदक (= कवि), वैयाकरण, लोकायत महापुरुष-लक्षण(शास्त्रों) में निपुण, वपित(= मुण्डित)-शिर, तरुण माणवक (= विद्यार्थी) रहता था। तब उन ब्राह्मणों को यह हुआ—यह श्रावस्तीमें आश्वलायन ० माणवक रहता है, यह श्रमण गौतमसे इस विषय में वाद कर सकता है।

तब वह ब्राह्मण जहाँ आश्वलायन माणवक था, वहाँ गये। जाकर आश्वलायन माणवकसे बोले—

"आश्वलायन! यह श्रमण गौतम[1] चातुर्वर्णी शुद्धि उपदेश करता है। जाइये आप आश्वलायन श्रमण गौतमसे इस विषयमें वाद कीजिये।"

ऐसा कहनेपर आश्वलायन माणवकने उन ब्राह्मणोंसे कहा—

"श्रमण गौतम धर्मवादी है। धर्मवादी वाद करनेमें दुष्प्रति-मंन्य (= वाद करनेमें दुष्कर) होते हैं। मैं श्रमण गौतमके साथ इस विषयमें वाद नहीं कर सकता।"

दूसरी बार भी उन ब्राह्मणोंने आश्वलायन माणवकसे कहा ०।

तीसरी बार भी उन ब्राह्मणोंने आश्वलायन माणवकसे कहा—

"भो आश्वलायन! यह श्रमण गौतम चातुर्वर्णी शुद्धिका उपदेश करता है। जाइये आप आश्वलायन श्रमण गौतमसे इस विषयमें वाद कीजिये। आप आश्वलायन युद्धमें विना पराजित हुये ही मत पराजित हो जायें।"

ऐसा कहनेपर आश्वलायन माणवकने उन ब्राह्मणोंसे कहा—

"...मैं श्रवण गौतमके साथ नहीं (पार) पा सकता। श्रमण गौतम धर्म-वादी है ०। मैं श्रमण गौतमके साथ इस विषयमें वाद नहीं कर सकता। तो भी मैं आप लोगोंके कहनेसे जाऊँगा।"

तब आश्वलायन माणवक बड़े भारी ब्राह्मण-गणके साथ जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया।

---

[1] केवल ब्राह्मणोंको नहीं, चारों वर्णोंकी ध्यान आदिसे पाप-शुद्धि मिलाओ माधुरिय सुत्त (३४०-४३) भी।

जाकर भगवान्‌के साथ ० संमोदन कर।···(कुशल-प्रश्न-पूछ)···एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे हुये आश्वलायन माणवकने भगवान्‌से कहा—

"भो गौतम! ब्राह्मण ऐसा कहते हैं—'ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण है, दूसरे वर्ण छोटे हैं। ब्राह्मण ही शुक्ल वर्ण है, दूसरे वर्ण कृष्ण हैं। ब्राह्मण ही शुद्ध होते हैं, अ-ब्राह्मण नहीं। ब्राह्मण ही ब्रह्माके औरस पुत्र हैं, मुखसे उत्पन्न, ब्रह्म-ज ब्रह्म-निर्मित, ब्रह्माके दायाद हैं'। इस विषयमें आप गौतम क्या कहते हैं।"

"लेकिन आश्वलायन! ब्राह्मणोंकी ब्राह्मणियाँ ऋतुमती, गर्भिणी, जनन करती, पिलाती देखी जाती हैं। योनिसे उत्पन्न होते हुए भी वह (ब्राह्मण) ऐसा कहते हैं—ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण है ०!!"

"यद्यपि आप गौतम ऐसा कहते हैं, फिर भी ब्राह्मण तो ऐसा ही कहते हैं—ब्राह्मण ही श्रेष्ठ ०।"

"तो क्या मानते हो आश्वलायन! तुमने सुना है कि [1]यवन और [2]कम्बोजमें और दूसरे भी सीमान्त देशोंमें दो ही वर्ण होते हैं—आर्य और दास (= गुलाम)। आर्य हो दास हो (सक) ता है, दास हो आर्य हो (सक)ता है?"

"हाँ, भो! मैंने सुना है कि यवन और कम्बोजमें ०।"

"आश्वलायन! ब्राह्मणोंको क्या बल = क्या आश्वास है, जो ब्राह्मण ऐसा कहते हैं—'ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण है ०?"

"यद्यपि आप गौतम ऐसा कहते हैं, फिर भी ब्राह्मण तो ऐसा ही कहते हैं ०।"

"तो क्या मानते हो, आश्वलायन! क्षत्रिय, प्राणि-हिंसक, चोर, दुराचारी, झूठा, चुगुल-खोर, कटुभाषी, बकवादी, लोभी, द्वेषी, मिथ्या-दृष्टि (= झूठी धारणावाला) हो; (तो क्या) काया छोड़, मरनेके बाद अपाय = दुर्गति = विनिपात = नरकमें उत्पन्न होगा, या नहीं? ब्राह्मण प्राणि-हिंसक ० हो ० नरकमें उत्पन्न होगा या नहीं? वैश्य ०? शूद्र ० नरकमें उत्पन्न होगा या नहीं?"

"भो गौतम! क्षत्रिय भी प्राणि-हिंसक ० हो ० नरकमें उत्पन्न होगा। ब्राह्मण भी ०। वैश्य भी ०। शूद्र भी ०। सभी चारो वर्ण भो गौतम! प्राणि-हिंसक ० हो ० नरकमें उत्पन्न होंगे।"

"तो फिर आश्वलायन! ब्राह्मणोंको क्या बल = क्या आश्वास है, जो ब्राह्मण ऐसा कहते हैं ०।"

"० फिर भी ब्राह्मण तो ऐसा ही कहते हैं ०।"

"तो क्या मानते हो, आश्वलायन! क्या ब्राह्मण ही प्राणि-हिंसासे विरत होता है, चोरीसे विरत होता है, दुराचार०, झूठ ०, चुगली ०, कटुवचन ०, बकवादसे विरत होता है, अ-लोभी, अ-द्वेषी, सम्यक्-दृष्टि (= सच्ची दृष्टिवाला) हो, शरीर छोड़ मरनेके बाद, सुगति स्वर्गलोकमें उत्पन्न होता है; क्षत्रिय नहीं, वैश्य नहीं, शूद्र नहीं?"

"नहीं, भो गौतम! क्षत्रिय भी प्राणि-हिंसा-विरत ० सुगति स्वर्ग-लोकमें उत्पन्न हो सकता है, ब्राह्मण भी ०, वैश्य भी ०, शूद्र भी ०, सभी चारों वर्ण ०।"

"आश्वलायन! ब्राह्मणोंको क्या बल ०?। ०

---

[1] रूसी तुर्किस्तान (?) जहाँ सिकन्दरके बाद यवन (ग्रीक) लोग बसे हुये थे; अथवा यूनान।

[2] काफिरस्तान (अफगानिस्तान), अथवा ईरान।

"तो क्या मानते हो, आश्वलायन ! क्या ब्राह्मण ही वैर-रहित द्वेष-रहित मैत्रचित्तकी भावना कर सकता है, क्षत्रिय नहीं, वैश्य नहीं, शूद्र नहीं ?"

"नहीं, भो गौतम ! क्षत्रिय भी इस स्थानमें, भावना कर सकता है ०। ०। सभी चारों भावना कर सकते हैं।

"यहाँ आश्वलायन ! ब्राह्मणोंको क्या बल ० ?" ०।

"तो क्या मानते हो, आश्वलायन ! क्या ब्राह्मण ही मंगल (= स्वस्ति) स्नान-चूर्ण लेकर नदीको जा, मैल धो सकता है, क्षत्रिय नहीं ० ?"

"नहीं, भो गौतम ! क्षत्रिय भी मंगल स्नान-चूर्ण ले, नदी जा मैल धो सकता है ०, सभी चारों वर्ण ०।"

"यहाँ आश्वलायन ! ब्राह्मणोंको क्या बल ० ?"०

"तो क्या मानते हो, आश्वलायन ! (यदि) यहाँ मूर्द्धा-भिषिक्त क्षत्रिय राजा, नाना जातिके सौ-पुरुष इकट्ठे करे (और उन्हें कहे)—आवें आप सब, जो कि क्षत्रिय कुलसे, ब्राह्मण-कुलसे और राजन्य (= राजसंतान) कुलसे उत्पन्न हैं; और शाल (= साखू)की या सरल (-वृक्ष) की या चन्दनकी या पद्म (काष्ठ)की उत्तरारणी लेकर आग बनावें, तेज प्रादुर्भूत करें। (और) आप भी आवे जो कि चण्डालकुलसे, निषादकुलसे बसोर (= वेणु)-कुलसे रथकार-कुलसे, पुक्कसकुलसे उत्पन्न हुये हैं, और कुत्तेके पीनेकी, सूअरके पीनेकी कठरीकी, धोबीकी कठरीकी, या रेंड-की लकड़ीकी उत्तरारणी लेकर, आग बनावें, तेज प्रादुर्भूत करें। तो क्या मानते हो, आश्वलायन क्षत्रिय-ब्राह्मण-वैश्य-शूद्रकुलोंसे उत्पन्नों-द्वारा शाल-सरल-चन्दन-पद्मकी उत्तरारणीको लेकर, जो आग उत्पन्नकी गई है, तेज प्रादुर्भूत किया गया, क्या वही अर्चिमान् (= लौवाला), वर्णवान् प्रभास्वर अग्नि होगा ? उसी आगसे अग्निका काम लिया जा सकता है ? और जो वह चांडाल-निषाद-बसोर-रथकार-पुक्कस-कुलोत्पन्नों द्वारा श्वपान-कठरीकी शूकर-पान-कठरीकी, रेंड-काष्ठकी उत्तराराणीको लेकर उत्पन्न आग है, प्रादुर्भूत तेज (है), वह अर्चिमान् वर्णवान् प्रभास्वर न होगा ? उस आगसे अग्निका काम नहीं लिया जा सकेगा ?"

"नहीं, भो गौतम ! जो वह क्षत्रिय ० कुलोत्पन्न द्वारा० आग बनाई गई है ० वह भी अर्चि-मान्० आग होगी, उस आगसे भी अग्निका काम लिया जा सकता है; और जो वह चांडाल ० कुलोत्पन्न द्वारा ० आग बनाई गई है ० वह भी अर्चिमान् ० आग होगी। सभी आगसे अग्निका काम लिया जा सकता है।"

"यहाँ आश्वलायन ! ब्राह्मणोंका क्या बल ० ?" ०।

"तो क्या मानते हो, आश्वलायन ! यदि क्षत्रिय-कुमार ब्राह्मण-कन्याके साथ संवास करे। उनके सहवाससे पुत्र उत्पन्न हो। जो वह क्षत्रिय-कुमार द्वारा ब्राह्मण-कन्यामें पुत्र उत्पन्न हुआ है, क्या वह माताके समान और पिताके समान, 'क्षत्रिय (है)', 'ब्राह्मण (है)' कहा जाना चाहिये ?" "भो गौतम ! ० कहा जाना चाहिये।"

"० आश्वलायन ! यदि ब्राह्मण-कुमार क्षत्रिय-कन्याके साथ संवास करे ० 'ब्राह्मण (है)' कहा जाना चाहिये ?" "० 'ब्राह्मण (है)' कहा जाना चाहिये।"

"० आश्वलायन ! यहाँ घोड़ीको गदहेसे जोड़ा खिलायें, उनके जोड़से किशोर (= बछड़ा) उत्पन्न हो। क्या वह माता ० पिताके समान, 'घोड़ा है' 'गदहा है' कहा जाना चाहिये ?"

"…भो गौतम ! वह अश्वतर (= खच्चर) होता है। यहाँ…भेद देखता हूँ। उन दूसरोंमें कुछ भेद नहीं देखता।"

"० आश्वलायन ! यहाँ दो माणवक जमुवे भाई हों। एक अध्ययन करनेवाला, और उपनीत (= उपनयन द्वारा गुरुके पास प्राप्त) है; दूसरा अनू-अध्यायक और अनू-उपनीत (है)। श्राद्ध, यज्ञ या पाहुनाई (= पाहुणे) में, ब्राह्मण किसको प्रथम भोजन करायेंगे ?"

"भो गौतम ! जो वह माणवक अध्यायक और उपनीत है, उसीको ० प्रथम भोजन करायेंगे। अनू-अध्यायक अनू-उपनीतको देनेसे क्या महाफल होगा ?"

"तो क्या मानते हो, आश्वलायन ! यहाँ दो माणवक जमुये भाई हों। एक अध्यायक उपनीत, (किन्तु) दुःशील (= दुराचारी) पाप-धर्मा (= पापी) हो; दूसरा अनू-अध्यायक अनू-उपनीत, (किन्तु) शीलवान् कल्याण-धर्मा। इनमें किसको ब्राह्मण साध्य या यज्ञ या पाहुनाईमें प्रथम भोजन करायेंगे ?"

"भो गौतम ! जो वह माणवक अनू-अध्यायक, अनू-उपनीत, (किन्तु) शील-वान् कल्याण-धर्म है, उसीको ब्राह्मण ० प्रथम भोजन करायेंगे। दुःशील = पाप-धर्मको दान देनेसे क्या महा-फल होगा ?"

"आश्वलायन ! पहिले तू जातिपर पहुँचा, जातिपर जाकर मंत्रों पर पहुँचा, मन्त्रोंपर जाकर अब तू चातुर्वर्णी शुद्धिपर आगया, जिसका कि मैं उपदेश करता हूँ।"

ऐसा कहनेपर आश्वलायन माणवक चुप होगया, मूक हो गया,...अधोमुख चिन्तित, निष्प्रतिभ हो बैठा।

तब भगवान्‌ने आश्वलायन माणवकको चुप मूक ० निष्प्रतिभ बैठे देख...कहा—

"पूर्वकालमें आश्वलायन ! जंगलमें, पर्णकुटियोंमें वास करते हुये सात ब्राह्मण-ऋषियोंको, इस प्रकारकी पाप-दृष्टि (= बुरी धारणा) उत्पन्न हुई—ब्राह्मणही श्रेष्ठ वर्ण है ०। आश्वलायन ! तब असित देवल ऋषिने सुना, ० सात ब्राह्मण ऋषियोंको इस प्रकारकी पाप-दृष्टि उत्पन्न हुई है ०। तब आश्वलायन ! असित देवल ऋषि सिर-दाढी मुँडा मंजीठके रंगका (= लाल) धुस्सा पहिन, खड़ाऊँपर चढ़, सोने-चाँदीका दंड धारणकर, सातों ब्राह्मण ऋषियोंको कुटीके आँगनमें प्रादुर्भूत हुये। तब आश्वलायन ! असित देवल ऋषि सातों ब्राह्मण ऋषियोंके कुटीके आँगनमें टहलते हुये कहने लगे—"हैं ! आप ब्राह्मण-ऋषि कहाँ चले गये ? हैं ! आप ब्राह्मण-ऋषि कहाँ चले गये ?" तब आश्वलायन ! उन सातों ब्राह्मण ऋषियोंको हुआ—'कौन है यह गँवार लड़केकी तरह सातों ब्राह्मण ऋषियोंके कुटीके आँगनमें टहलते ऐसे कह रहा है—हैं ! आप ० अच्छा तो इसे शाप देवें।' तब आश्वलायन ! सात ब्राह्मण-ऋषियोंने असित देवल ऋषिको शाप दिया—'शूद्र ! (= वृषल) भस्म हो जा।' जैसे जैसे आश्वलायन ! सात ब्राह्मण ऋषि असित देवल ऋषिको शाप देते थे, वैसेही वैसे...देवल ऋषि अधिक सुन्दर, अधिक दर्शनीय = अधिक प्रासादिक होते जा रहे थे। तब आश्वलायन ! सातों ब्राह्मण ऋषियोंको हुआ—'हमारा तप व्यर्थ है, ब्रह्मचर्य निष्फल हैं। हम पहिले जिसको शाप देते—'वृषल ! भस्म होजा', भस्मही होता था। इसको हम जैसे जैसे शाप देते हैं, वैसे वैसे यह अभिरूप-तर, दर्शनीय-तर, प्रासादिक-तर, होता जा रहा है।' (देवलने कहा)—'आप लोगों का तप व्यर्थ नहीं, ब्रह्मचर्य निष्फल नहीं, आप लोगोंका मन जो मेरे प्रति दूषित हो गया है, उसे छोड़ दें।' (उन्होंने कहा)—'जो मनोपदोस (= मानसिक दुर्भाव) है, उसे हम छोड़ते हैं, आप कौन हैं ?" 'आप लोगोंने असित देवल ऋषिको सुना है ?' 'हाँ, भो !' 'वही मैं हूँ।'

"तब आश्वलायन ! सातों ब्राह्मण ऋषि, असित देवल ऋषिको अभिवादन करनेके लिये पास गये। असित देवल ऋषिने कहा—'मैंने सुना...कि 'अरण्यके भीतर पर्णकु

करते, सात ० ऋषियोंको इस प्रकारकी ० उत्पन्न हुई है—ब्राह्मणही श्रेष्ठ वर्ण है ०।' 'हाँ भो!' 'जानते हैं आप, कि जननी = माता ब्राह्मणहीके पास गई, अ-ब्राह्मणके पास नहीं?' "नहीं।' 'जानते हैं आप, कि जननी = माताकी माता सात पीढ़ी तक मातामहयुगल (= नानी) ब्राह्मणहीके पास गई, अ-ब्राह्मणके पास नहीं?' 'नहीं भो!' 'जानते हैं आप कि जनिता = पिता ० पितामह-युगल (= दादा) सातवीं पीढ़ी तक ब्राह्मणीहीके पास गये, अ-ब्राह्मणीके पास नहीं?' 'नहीं भो!' 'जानते हैं आप, गर्भ कैसे ठहरता है?' 'हाँ जानते हैं भो! जब माता-पिता एकत्र होते हैं, माता ऋतुमती होती है, और गंधर्व (= उत्पन्न होने वाला सत्त्व) उपस्थित होता है; इस प्रकार तीनोंके एकत्रित होनेसे गर्भ ठहरता है।' 'जानते हैं आप, कि यह गंधर्व क्षत्रिय होता है, ब्राह्मण, वैश्य या शूद्र होता है?' 'नहीं भो! हम नहीं जानते, कि वह गंधर्व ०।' 'जब ऐसा (है) तब जानते हो कि तुम कौन हो?' 'भो! हम नहीं जानते हम कौन हैं।'

"हे आश्वलायन! असित देवल ऋषि-द्वारा जातिवादके विषयमें पूछे जानेपर,...वह सातों ब्राह्मण ऋषि भी (उत्तर) न दे सके; तो फिर आज तुम...क्या (उत्तर) दोगे; (जब कि) अपनी सारी पण्डिताई-सहित तुम उनके रसोईदार (= दर्विग्राहक) (के समान) हो।"

ऐसा कहने पर आश्वलायन माणवकने भगवान्से कहा—"आश्चर्य! भो गौतम!! आश्चर्य! भो गौतम!! ०[1] आजसे मुझे अंजलि-बद्ध उपासक धारण करें।"

९४—घोटमुख-सुत्तन्त (२।५।४)

चार प्रकारके पुरुष (आत्मंतप···)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय आयुष्मान् उदयन वाराणसीमें खेमिय-अम्बवनमें विहार करते थे।

उस समय घोटमुख ब्राह्मण किसी कामसे बनारस (वाराणसी) आया हुआ था। तब घोटमुख-ब्राह्मण जंघा-विहारके लिये घूमते टहलते जहाँ खेमिय-अम्बवन (= क्षेमिक-आम्रवन) था, वहाँ गया! उस समय आयुष्मान् उदयन खुली जगहमें टहल रहे थे।

तब घोटमुख ब्राह्मण जहाँ आयुष्मान् उदयन थे, वहाँ गया; जाकर आयुष्मान् उदयनके साथ···संमोदन कर, आयुष्मान् उदयनके पीछे पीछे ० टहलते हुये यह बोला—

"अहो श्रमण! मुझे ऐसा होता है—धार्मिक प्रव्रज्या (=संन्यास) नहीं है। आप जैसोंके अ-दर्शन (= न देखे जाने)से ही यह है; किन्तु जो धर्म यहाँ है (वही) हमारे लिये प्रमाण है।"

ऐसा कहनेपर आयुष्मान् उदयन चंक्रम (= टहलनेके चबूतरे)से उतर कर, विहार (= कोठरी)में प्रविष्ट हो बिछे आसनपर बैठे। घोटमुख ब्राह्मण भी विहारमें प्रविष्ट हो एक ओर खड़ा हो गया। एक ओर खड़े हुये घोटमुख ब्राह्मणके आयुष्मान् उदयनने यह कहा—

"ब्राह्मण! आसन मौजूद हैं, यदि इच्छा हो तो बैठो।"

"आप उदयनकी इसी (आज्ञा)की प्रतीक्षामें हम नहीं बैठते थे। मेरे जैसा (पुरुष) बिना निमंत्रणके कैसे (स्वयं आकर) आसन पर बैठ जायेगा।"

तब घोटमुख (= घोड़े जैसा मुँहवाला) ब्राह्मण एक नीचा आसन ले कर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे घोटमुख ब्राह्मणने आयुष्मान् उदयनसे यह कहा—

"अहो श्रमण! मुझे ऐसा होता है—० किन्तु जो धर्म यहाँ है, (वही हमारे लिये प्रमाण है)।"

"ब्राह्मण! यदि मेरी (कोई बात)को स्वीकरणीय समझना, तो स्वीकार करना, खंडनीय समझना, तो खंडन करना। जिस मेरे कथनका अर्थ न समझना, उसे मुझसे ही पूछना—'भो उदयन! यह कैसे है, इसका क्या अर्थ है?'—इस प्रकार हमारा यहाँ कथा-संलाप हो।"

"आप उदयनकी स्वीकरणीय (बात)को स्वीकार करूँगा, खंडनीयको खंडन करूँगा। आप उदयनकी जिस बातका अर्थ न समझूँगा, उसे आपसे ही पूछूँगा—'हे उदयन यह कैसे है, इसका क्या अर्थ है'—इस प्रकार हमारा कथा-संलाप हो।"

"ब्राह्मण! लोकमें चार (प्रकारके) पुद्गल (= पुरुष) विद्यमान हैं। कौनसे चार?—ब्राह्मण! (१) यहाँ कई पुद्गल आत्मंतप अपनेको संताप देनेवाले कामोंमें लगा होता है; (२)

० परंतप ०[1] ; (३) ० आत्मंतप-परंतप ० ; (४) ० न-आत्मन्तप-न-परंतप ०[1] सुखानुभवी ब्रह्मभूत(= विशुद्ध)-आत्मासे विहरता है। ब्राह्मण ! इन चार पुद्‌गलोंमें कौन सा तुम्हारे चित्तको पसन्द आता है ?"

"भो उदयन ! ०[1] जो यह अनात्मंतप-अ-परंतप ० पुद्‌गल है, वह ० मुझे पसंद है।"

"ब्राह्मण ! क्यों यह तीन पुद्‌गल तुम्हारे चित्तको पसंद नहीं हैं ?"

"भो उदयन ! ०[2] (जो) ब्रह्मभूत आत्मासे विहरता है; ० यह पुद्‌गल मेरे चित्तको पसन्द आता है।"

"ब्राह्मण ! यह दो (प्रकारकी) परिषद् होती है। कौन सी दो ?—(१) ब्राह्मण ! यहाँ एक परिषद् मणि-कुंडलमें सारत्त्व (= धन आदि)में रक्त (= अनुरक्त) होती है; पुत्र-भार्या चाहती है, दास-दासी ०, क्षेत्र-वास्तु (= खेत-मकान) ०, सोना-चाँदी चाहती है। और (२) ब्राह्मण ! यहाँ एक परिषद् मणि-कुंडलोंके विषयमें, सारत्त्वमें नहीं रक्त होती, पुत्रभार्या छोड़ ० सोना-चाँदी छोड़ घरसे बे घर हो प्रव्रजित हुई है। ब्राह्मण ! जो यह पुद्‌गल न आत्मंतप ०, न परंतप ०, न-आत्मंतप-न-परंतप ० है, वह अनात्मंतप-अपरंतप पुद्‌गल इसी जन्ममें शांत, निर्वाण-प्राप्त, शीतल (-स्वभाव) सुखानुभवी, ब्रह्मभूत आत्मासे विहरता है। ब्राह्मण ! इस पुद्‌गलको तू किस परिषद् (= मंडल)में अधिक देखता है ? जो यह सारत्त्वमें रक्त होती है ०; उसमें; या जो कि ० सारत्त्वमें नहीं रक्त होती ० उसमें ?"

"भो उदयन ! जो यह पुद्‌गल ० अनात्मंतप-अपरंतप है०, उसको इस परिषद्‌में अधिक देखता हूँ, जो कि ० सारत्त्वमें रक्त नहीं होती, ० बेघर हो प्रव्रजित हुई है।"

"ब्राह्मण ! अभी तूने कहा था, हम ऐसा जानते हैं—अहो श्रमण ! मुझे ऐसा होता है ०[3] ?"

"तो भो उदयन ! मैंने सदोष बात कही; 'है धार्मिक प्रव्रज्या'—ऐसा मुझे होता है, ऐसा मुझे आप उदयन समझें। आप उदयनने जो यह चार पुद्‌गल, विस्तारसे न विभाजित कर संक्षेपसे कहें; अच्छा हो आप उदयन कृपाकर उन चारों पुद्‌गलोंको मुझे विस्तारसे कहें।"

"तो ब्राह्मण ! सुनो अच्छी तरह मनमें करो, कहता हूँ।"

"अच्छा भो !"—(कह) घोटमुख ब्राह्मणने आयुष्मान् उदयनको उत्तर दिया।

आयुष्मान् उदयनने यह कहा—"ब्राह्मण ! कौनसा पुद्‌गल आत्मंतप, अपनेको सतानेवाले कामोंमें लग्न है—ब्राह्मण ! यहाँ कोई पुद्‌गल ! अचेलक ०[4] ऐसे अनेक प्रकारसे कायाके आतापन परितापनके व्यापारमें लग्न हो विहरता है। ब्राह्मण ! यह पुद्‌गल आत्मंतप ० कहा जाता है।

"ब्राह्मण ! कौनसा पुद्‌गल परंतप ० है ?—ब्राह्मण ! यहाँ कोई पुद्‌गल औरभ्रिक (= भेड़ मारनेवाला) ०[5] दूसरे क्रूर व्यवसाय हैं (उनका करनेवाला होता है) ०[5]।

"ब्राह्मण ! कौनसा पुद्‌गल आत्मंतप-परंतप ० है ?—यहाँ कोई पुरुष मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा होता है ०[6] इसके दास ०[6] भी ०[6] होते कामोंको करते हैं। ०[6]।

"ब्राह्मण ! कौनसा पुद्‌गल अनात्मंतप-अपरंतप ० है ?—ब्राह्मण ! यहाँ लोकमें तथागत ०[6] चतुर्थध्यानको प्राप्त हो विहरता है। सो वह इस प्रकार चित्तके एकाग्र परिशुद्ध ०[7] अब

---

[1] देखो पृष्ठ ४८, २०६-७। [2] देखो पृष्ठ २०६। [3] देखो पृष्ठ ५४-५५।
[4] देखो पृष्ठ २०६-७। [5] देखो पृष्ठ २०४ [illegible] [6] देखो पृष्ठ १५८।
[7] देखो पृष्ठ १५-१६ (वाक्यमें उत्तम पुरुषके स्थानमें प्रथम पुरुष करके)।